理整張承思





AND

ORIGINAL NIRYUKTI

OF

STHAVIR ARYA BHADRABAHU SWAMI

AND

A Bhashya by Shri Sanghadas Gani Kshamashramana thereon with a Commentary begun by Acharya Shri Malayagiri and Completed by Acharya Shri Kshemakirti.

Volume II

CONTAINING

PRATHAMA UDDESHA

[Pralamba Prakrita & Masakalpa P

rita & Masakaipa Krakrua

EDITED BY

GURU SHRI CHATURVIJAYA

AND HIS

SHISHYA PUNYAVIJAYA

THE FORMER BEING THE DISCIPLE OF

PRAVARTAKA SHRI KANTIVIJAYAJI

INITIATED BY

NYAYAMBHONIDHI SHRIMAD VIJAYANANDA SURIJI,

1st Acharya or

BRIHAT TAPA GACHCHHA SAMVIGNA SHAKHA.

Publishers:-SHRI ATMANAND JAIN SABHA, BHAVNAGAR

Vir Samvat 2463 Vikrama Samvat 1992

Copies 500

Atma Samvat

D. 1936

40

Printed by Ramchandra Lecu Shedge, at the Hirnaya Sagar Precs, 26-28, Rolbhat Hane, Bomtay.



Publiched by Vallabhadas Frískuvandas Gandhi, Secretary, Jain Atmananda Sabha, Bhavnagar, श्रीभात्मानन्द-जैनप्रन्थरतमालायाः ज्यशीतितमं रत्नम् (८३) स्थविर-आर्यभद्रबाहुस्वामिप्रणीतस्वोपज्ञनिर्धुक्तयुपेतं

बृहत् कल्पसूत्रम्।

श्रीसङ्घदासगणिक्षमाश्रमणसङ्गलितमाष्योपद्यंहितम्।

जैनागम-प्रकरणाद्यनेकग्रन्थातिग्र्हार्थप्रकटनप्रौहटीकाविधानसमुपलव्ध-'समर्थटीकाकारे'तिख्यातिभिः श्रीमद्भिर्मलयगिरिस्नरिभिः प्रारव्धया वृद्धपोद्यालिकतपागच्छीयैः श्रीक्षेमकीर्त्या-चार्यैः पूर्णीकृतया च वृत्त्या समलङ्कृतम् ।

> तस्यायं द्वितीयोविभागः

प्रथम उद्देशः ।

[प्रलम्बप्रकृत-मासकल्पप्रकृतात्मकः ।]

तत्सम्पादकौ--

सकलागमपरमार्थप्रपञ्चनप्रवीण-बृहत्तपागच्छान्तर्गतसंविमशाखीय—आद्याचार्य— न्यायाम्भोनिधि—श्रीमद्विजयानन्दसूरीश(प्रसिद्धनाम—श्रीआत्मारामजी— महाराज)शिष्यरत्नप्रवर्त्तक-श्रीमत्कान्तिविजयमुनिपुङ्गवानां

शिष्य-प्रशिष्यौ चतुरविजय-पुण्यविजयौ ।

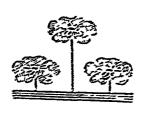
प्रकाशं प्रापयित्री--

🕛 भावनगरस्था श्रीजैन-आत्मानन्दसभा ।

वीरसंवत् २४६३) इंस्ती सन १९३६)

प्रतयः ५००

विक्रम संवत् १९९२ आत्मसंवत् ४० इदं पुस्तकं सुम्बय्यां कोलभाटवीथ्यां २६–२८ तमे गृहे निर्णयसागर-सुद्रणालये रामचन्द्र येसु शेडगे-हारा सुद्रापितम्



प्रकाशितं च तत् "बहुभदास त्रिभुवनदास गांधी, सेकेटरी श्रीआत्मानन्द जेन सभा, भावनगर" इत्यनेन





अ र्प ण

जे महापुरुषे, स्वर्गवासी गुरुदेव
श्री १००८ श्री विजयानंद सूरीश्वर
(प्रसिद्ध नाम श्री आत्मारामजी महाराज)
नी आज्ञा अने आंतर इच्छाओने शिरोधार्य करी तेमज
तेने सांगोपांग पार उतारवा अथाग प्रयत्न सेवी,
एमना पवित्र पट्टने शोभावेल छे
ए धर्मधुरंधर धर्मरक्षक पुरुषसिंह
श्री १००८ श्री विजयवस्लभ सूरिवरनी सेवामां
बृहत्कलपसूत्रनो आ द्वितीय भाग
सादर अर्पण करीए छीए

चरणसेक्को-मुनि चतुर विजय ^{अने} पुण्य विजय.

बृहत्कल्पसूत्रसंशोधनकृते सङ्गृहीतानां प्रतीनां सङ्गेताः।

भा०	पत्तनस्थ भाभा पाटकसत्कचित्कोशीया प्रतिः ।
त०	पत्तनीयतपागच्छीयज्ञानकोशसत्का प्रतिः।
डे०	अमदावाद डेला उपाश्रयभाण्डागारसत्का प्रतिः ।
मो०	पत्तनान्तर्गत मोंका मोदीभाण्डागारसत्का प्रतिः ।
ले॰	पत्तनसागरगच्छोपाश्रयगतलेहेरुवकीलसत्कज्ञानकोशगता प्रतिः ।
æť.	पुलर्वकशीयक्यान्त्रिकित्वगुगुक्का प्रतिः ।

- ताडपत्रीया मूलसूत्रप्रतिः भाष्यपतिर्वा । (सूत्रपाठान्तरस्थाने सूत्रपतिः, ता० भाष्यपाठान्तरस्थाने भाष्यप्रतिरिति ज्ञेयम् ।)
- प्रत्यन्तरे (टीप्पणीमध्योद्धृतचूर्णिपाठान्तः वृत्तकोष्ठकगतपाठेन सह यत्र प्र० इति To स्यात् तत्र प्रत्यन्तरे इति ज्ञेयम्, दश्यतां पृष्ठ २ पंक्ति २७-३२ इत्यादि ।)

मुद्यमाणेऽस्मिन् मन्थेऽस्माभिर्येऽशुद्धाः पाठाः प्रतिपूर्विञ्यास्तेऽस्मत्कल्पनया संशोध्य (ग्वृत्तकोष्ठकान्तः स्थापिताः सन्ति, दृश्यतां पृष्ठ १० पद्भि २६, पृ० १७ पं० ३०, पृ० २५ पं० १२, पृ० ३१ पं० १७, पृ० ४० पं० २४ इत्यादि । ये चासाभिगीलेताः पाठाः सम्भावितास्ते [एताष्टक्चतुरस्रकोष्ठकान्तः परिपूरिताः सन्ति, दश्यतां प्रष्ठ ३ पंक्ति ९, पृ० १५ पं० ६, पृ० २८ पं० ५, १० ४९ पं० २६ इत्यादि।

टीकाकृताऽस्माभिर्वा निर्दिष्टानामवतरणानां स्थानदर्शकाः सङ्केताः ।

- حقق

अनुयो० आचा० शु० अ० इ० आव० हारि० बृत्ती स्रावि नि गा ? ञ्चाव० निर्द्यु० गा० 🕽 आवट मृठ माठ गाठ ह० सु० उत्त० अ० गा० ओवनि० गा० कलपृहद्धाप्य गा० चृगि र्जान० मा० गा० तस्त्रर्थ० द्यु० अ० उ० गा० द्यु० २० गा०] दर्शवै० अ० गा०∫ दश० चृ० गा० टेवेन्द्र० गा० प्रमुद्द गाट निग्टनि० गा० प्रज्ञा० पद প্রয়ুদ্ধ প্রাণ महानि० अ० विशेष, गाव विशेषचुर्गि व्यव संव पीव गाव व्यव ह० माट गाट

अनुयोगद्वारसूत्र <u> आचाराङ्गसूत्र शुतस्त्रन्य अध्ययन उद्देश</u> आइस्यकम्त्र-हारिभद्रीय-यूत्री आवश्यकसूत्र निर्वृक्ति गाथा व्यवस्थकमूत्र मृतमाप्य गाथा टह्य सुत्र टत्तराव्ययनसूत्र अव्ययन गाथा व्यायनियुक्ति गाया *बृह्त्करम* बृह्*द्याय* गाथा **बृहत्क**स्पच्राणे र्जातकस्यमाप्य गाथा तत्त्वार्थाधिगमसूत्राणि दश्चैकालिकमूत्र अध्ययन उद्देश गाथा द्श्वेकालिकसूत्र अध्ययन गाथा दश्चेत्रालिकसूत्र चृलिका गाया देवेन्द्र-नरकेन्ड्रप्रकरणगत देवेन्द्रपकरण गाथा पञ्चवस्तुक गाया विण्डनिर्युक्ति गाथा प्रज्ञाणनीपाद्रसर्टाकः पद **प्रश्नमग्ति** आर्था नर्ज्यगिरीया टीका महानिर्छायमुत्र अव्ययन विशेषावव्यक्तमहामाव्य गाथा **ब्रह्कस्यविशेषवृ**र्णि व्यव्हारसुत्र भान्य पीठिका गाया व्यवद्यासूत्र दहेश मात्र्य गाया

श्च० ड० श्च० अ०, ड० सि०) सिद्ध० } सि० हे० औ० सू हैमाने० द्विस्व० शतक उद्देश श्रुतस्कन्ध अध्ययन उद्देश सिद्धहेमशब्दानुशासन ----सिद्धहेमशब्दानुशासन औणादिक सूत्र हेमानेकार्थसङ्गह द्विस्तरकाण्ड

यत्र टीकाकृद्धिर्मन्थाभिधानादिकं निर्दिष्टं स्यात् तत्रासाभिरुष्टिखितं श्रुतस्कन्ध-अध्ययन-उद्देश-गाथादिकं स्थानं तत्तद्धन्थसत्कं ज्ञेयम्, यथा पृष्ठ १५ पं० ९ इत्यादि । यत्र च तन्नोष्टिखितं भवेत् तत्र सृचित- सुदेशादिकं स्थानमेतन्मुद्यमाणबृहत्करुपमन्थसत्कमेव ज्ञेयम्, यथा पृष्ठ २ पंक्ति २-३-४, ५० ५ पं० ३, ५० ८ पं० २७, ५० ११ पं० २७, ५० ६० पं० १२ इत्यादि ।

प्रमाणत्वेनोद्धृतानां प्रमाणानां स्थानद्र्शक-प्रन्थानां प्रतिकृतयः।

जैनसाहित्यसंशोधक समिति ।

अनुयोगद्वारसूत्र— अनुयोगद्वारसूत्र चूर्णी-अनुयोगद्वारसूत्र सटीक मलधारीया टीका आचाराङ्गसूत्र सटीक-आवश्यकसूत्र चूर्णी-आवश्यकसूत्र सटीक (श्रीमलयगिरिकृत टीका)∫ आवश्यकसूत्र सटीक (आचार्य श्रीहरिभद्रकृत टीका) आवश्यक निर्युक्ति---ओधनिर्युक्ति सटीक--करपचूर्णि--कल्पबृहद्भाष्य---कल्पविशेपचूर्णि-कल्प-व्यवहार-निशीथसूत्राणि-

शेठ देवचन्द्र ठाठभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड ग्रुरत।
रतलाम श्रीऋषभदेवजी केशरीमरुजी श्वेताम्बर संस्था।
शेठ देवचन्द्र ठाठभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड ग्रुरत।
आगमोदय समिति।
रतलाम श्रीऋषभदेवजी केशरीमरुजी श्वेताम्बर संस्था।
आगमोदय समिति।

जीवाजीवामिगमसूत्र सटीक-द्गवैकालिक नियुक्ति टीका सह-द्याश्रुतस्कन्य अष्टमाध्ययन 🕽 (क्ल्यसूत्र) देवेन्द्रनरकेन्द्र प्रकरण सटीक नन्दीसृत्र सटीक (मस्यगिरिकृत टीका) निशीयचूर्णि--पिण्डनिर्वेक्ति-'प्रजापनीपाल सरीक-वृहक्कमीविपाक-महानिश्रीयसुत्र-राजपश्चीय सटीक-विपाकसूत्र सटीक विद्येषणवती--विशेपावस्थक सर्दाक-व्यवहारमुत्रनियुक्ति माप्य टीका-सिद्ध्यामृत सदीक-सिद्धहेमश्रन्त्रानुश्रासन-सिद्धान्त्रविचार-सुत्रकृताह सटीक-स्वानाहसूत्र सदीक

आगमोद्य समिति । शेठ देवचन्द्र लालमाई वैन पुन्तकोद्वार फण्ड सुरत । शेठ देवचन्द्र राख्याई नैन पुस्तकोद्धार फंड सुरत । श्रीनेन आत्मानन्द्र समा भावनगर् । खागमोदय समिति । हम्बलिसित्र । **बेठ देवचन्द्र ठाडमाई वैन प्रन्तकोद्वार फंड मुग्त ।** आगमोद्य समिति । श्रीजैन जात्मानन्द समा भावनगर । हम्त्रलिम्बित् । ञागमोदय समिति । " रतकान श्रीऋषमदेवजी केश्ररीमक्जी श्रेताम्बर संखा ।

श्रीयश्रोविनय नैन पाठशास बनारस । श्रीमागेक्संनिजी सम्पादित । श्रीतेन श्रातानन्द समा मावनगर । शेठ मनमुखमाई मगुमाई अमदाबाद । इनलिनित् । आगमाद्य समिति ।

मासंगिक निवेदन ।

, प्रस्तुत निर्युक्ति-भाष्य-वृत्तिसहित बृहत्कल्पसूत्रना वीजा विभागना संशोधनमाटे अमे ते ज अने तेटली ज हस्तलिखित प्रतिओं कामें लीधी छे जे अने जेटली प्रतिओं पीठिका विभागना संशोधनमां कामें लीधी छे। ए प्रतिओंनो विस्तृत परिचय पीठिका विभागमां (मुद्रित प्रथम विभागमां) आप्या पछी आ विभागमां पुनः ए प्रतिओंनो परिचय आपवानी आवश्यकता रहेती नथी।

नात्र पीठिकाविभागना 'लिखित प्रतिओनो परिचय'मां निर्युक्ति-भाष्य-पृत्तिसिहत वृह-त्कल्पसूत्रना खंडो—विभागोना संवंधमां अमे जणाव्युं छे के ''पाटण खंभात लींवडी जेसलमेर आदिना भंडारोमांनी ताडपत्र उपर लखाएल प्रतिओ त्रण खंडमां अने कागळ उपर लखाएल प्रतिओ चार खंडमां लखाएल नजरे पडे छे" आ संबंधमां अमारे अहीं मात्र एटलुं ज उमेरवानुं छे के चालु बृहत्कल्पसूत्रनी ताडपत्रीय प्रतिओनी जेम केटलीक वार कागळनी प्रतिओ पण त्रण खंडमां लखाएली जोवामां आवे छे अने ए रीते अमारा पासे पाटण—भाभाना पाडाना भंडारनी कागळनी जे प्रति छे ए त्रण खंडमां लखाएली छे।

प्रतिओना खंडो केटलीक वार पुस्तक लखनार-लखावनारनी गफलतने लीघे अनियत रीते लखाएला जोवामां आवे छे। दाखला तरीके दरेक हस्तलिखित प्रतोमां प्रथमखंडनी समाप्ति मासकल्पप्रकृतनी पूर्णता थाय छे त्यां थाय छे ज्यारे भाभाना पाडानी प्रतिमां २०५० गाथाना अवतरण पछी थाय छे (जुओ मुद्रित विभाग पत्र ५९३ पंक्ति २ अने टिप्पणी १)। आ ठेकाणे खंडनी समाप्ति थवी ए मात्र लखनार-लखावनारनी गफलतनुं ज परिणाम छे। कारण के ते पछी थोडे ज अंतरे मासकल्पप्रकृतनी समाप्ति थाय छे।

मुद्रित प्रथम विभागमां पीठिकानो समावेश करवामां आव्यो छे अने ते पछीना आ बीजा विभागमां प्रथम उद्देशनी शुरुआत थाय छे। ए उद्देशनां वे प्रकृतोनो—प्रकरणोनो अर्थात् 'प्रलंबप्रकृत' अने 'मासकल्पप्रकृत'नो आ विभागमां समावेश थाय छे। प्रथम उद्देशनां एकंदर पचास सूत्रो छे ए पैकीनां नव सूत्रोनो ज मात्र आ विभागमां समावेश थयो छे। आ पछीना मुद्रित त्रीजा विभागमां प्रथम उद्देश समाप्त थइ चूक्यो छे।

आ विभागमां प्रलंबप्रकृत अने मासकल्पप्रकृत ए वे विभागो पाडवामां आव्या छे ए अमे पाड्या नथी परंतु भाष्यकार-चूर्णीकारना जमानाना ए विभागो छे।

प्रतिओनी समविषमता—पीठिकाविभागमां प्रतिओनो परिचय आपतां अमे जणाव्युं छे के ''कां० प्रति मो० छे० प्रतिओनी साथे समानता धरावे छें' परंतु अमे जेम जेम आगळ चाल्या तेम तेम कां० प्रति घणी खरी वार वधीये प्रतिओधी जुदी पढी गई छे। अमने लागे छे के कां० प्रतिनो आदर्श जे प्रति उपरथी थयो छे तेमां गमे तेणे

गमें तारे अने गमें ते कारणे केटलीक बार बहुत फेरफार करों छे। आ फेरफार केट-लीक बार संगत अने ठीक पण होय छे अने केटलीक बार नहन माधारण पण होय छे। केटलीक बार नहीं फेरफार करतां भृष्ट्यां पहें छाना पाठों काढी नागवा रही गया छे तेवें टेकाण नवा-जुना पाठों से खींचहुं थनां गोटाळों पण थह गयों छे। अस्तु ए गमें तेम हो पण एवा पाठों जोतां आपणने गात्री थाय छे के आ जानना सुधारों वधारों कोइए पाछ-ळयी हराहा पूर्वक कर्यों छे। कां० प्रति घणी ग्वरी घाग भा० प्रतिना पाठमें साथे अंन सुधी मळनी पण रही छे। कां० भा० प्रतिना खास साम पाठमें होने अमे टिप्पणमां ज नोंध्या छे अने मो० छ० त० डे० प्रतिना पाठोंने ज मुख्यन्वे करीने मूळमां गान्या छे। ग्वास करी चाली ठांक खांसुधी मो० ले० प्रतिना पाठोंने ज मुख्यां राज्या यह कर्यों छे।

प्रमुत प्रकाशनना संशोधन मादे नियुक्ति-भाष्य-प्रक्तिसहित घुहन्कल्यम् प्रथमणंडनी एकंदर असे जे छ प्रतो भेगी करी छे तेमां मो० छ० प्रतिनो एक वर्ग छे, त० डे० नो वीजो वर्ग छे, कां० त्रीजो वर्ग छे अने भा० नो चोथो वर्ग छे। आ चारे वर्गमां केट- कीये चार एवं चन्युं छे के अमुक उपयोगी पाट अमुक एक ज वर्गमां होय अने वीजा वर्गनी प्रतिओमां ए पाट मदंतर पड़ी ज गयो होय; आवे खळे घणी खरी बार अमे ते ते उपयोगी पाठने अ अ आवा चिह्ना वचमां मृष्ठमां आपी, कई कई प्रनोमां ए पाट नथी अथवा कई प्रनमां ए पाट छे ए अमे नीचे टिण्पणीमां जणाच्युं छे।

यम्तृत विभागना संशोधनमां तेम ज पाठान्तर वगेरेनी नोंव करवामां अमे शुरु-शिष्ये अति सावधनता गाली छे छतां ए संबंधमां जे म्बळनाओं थई होय ते बदछ अमे 'मिथ्यादुष्कृत' दहए छीए। जे महाशयों अमारी स्प्रजनाओं तरफ अमार्क ध्यान मेंचें वे तेनो यथायोग्य सामार स्थानर करीहों एटछं कही विरमीए छीए।

निवंदक—गुरु-शिष्य छनि चतुरविजय-प्रण्यविजय ॥ अहम् भे

बृहत्करपसूत्र द्वितीय विभागनी प्रथम उद्देश।

गाथा

विपय

पत्र

८०६--१०८५

१ प्रलम्बप्रकृत सूत्र १-५

अनुगमद्वार

२५५–३४०

८०६–१०००

८१५-६२

८१६–२२

८१५

प्रलम्बसूत्र १ छुँ निर्प्रन्थ-निर्प्रन्थीओमाटे ताल अने प्रलंब लेवानो

२५५ २५६–३१५

निपेध

२५७–६०

२५७-५८

प्रलम्बसूत्रनो संहिता, पद आदि विधिथी शब्दार्थ

२५६–५७

८०६–१५

प्रथम प्रलम्बसूत्रनी संक्षिप्त व्याख्या 'नो' शब्द अने 'निर्प्रन्थ' शब्दनी व्याख्या

508--C [गाथा ८०७-तालप्रलम्बने अंगे अपवाद] प्रथम प्रलम्बसूत्र 'नो'शब्दथी शरु थतुं होई अमं-**८०९**–१४

गलरूप होवाने कारणे प्रस्तुत सम्पूर्ण शास्त्र पण अमंगलरूप थई जाय छे ए प्रकारनी शिष्यनी शंका अने तेनुं समाधान प्रलम्बसूत्रनी विस्तृत व्याख्या

२५८–६० २६१-७५ २६१ २६१--६२

प्रलम्बसूत्रनी व्याख्यामाटे द्वारगाथा १ आदिनकार द्वार 'अ'कार 'मा'कार 'न'कार अने 'नो'कार द्वारा

पदार्थनो निपेध करवामां अर्थनो फरक, ए फरक वताववामाटेनां उदाहरणो अने प्रस्तुत प्रथम प्रल-म्बसूत्रमां रहेला 'नो' पदना अर्थनी संगति

२६३–६७ २६३

८२३-३८ २ ग्रन्थद्वार 'प्रन्थ' पदनी व्याख्या ८२३–२४ ८२५-३०

क्षेत्र १ वास्तु २ धन ३ धान्य ४ संचय ५ मित्र-ज्ञातिसंयोग ६ यान ७ शयन-आसन ८ दासी-दास ९ कुप्य १० ए दश प्रकारनी बाह्य प्रन्थ अने तेनुं

२६३–६४

स्वरूप

१२	बृहत्कस्पसृत्र द्वितीय विभागनो विषयानुकम ।	
गाथा	निपय	पत्र
	[गाथा ८२८ टीका—मत्तर प्रकारनां धान्य]	
८३१	क्रोध, मान, माया, छोभ आदि चाद प्रकारना	
011	अभ्यन्तर ग्रन्थतुं सम्प	२६४
	दिकामां—मिण्यात्वना प्रकारो, नयवाद, पर-	
	समय अने मिण्यात्यनी संख्यानी समानता]	-
८३२–३८	'निर्घन्य' पद्नुं स्त्ररूप	₹६७-७०
	[८३४-३५—उपञमंत्रणि अने अपक्रेत्रणितं	
	वर्णन]	
८३९–४६	३ आमद्वार	२७०-७२
•	'आम'पदना निश्लेपा	
८४७-४८	ं ४ ताल्हार	ર્હર
	'नार्ख'पदना निक्रेपो	
८४९-५७	५ प्रसम्बद्धार	રૂ હર્ -હર્ષ
८४९	'प्रलम्ब'पदना निक्षेपा	२७२
640	ताल अने प्रलम्बनो अर्थ	ર્હેલ્ફ
648-42	मृलप्रलम्ब अने अग्रप्रलम्बनुं स्वरूप	२७३
८५३–५७	'प्रलम्ब' पद सृत्रमां मृकवाथी उत्पन्न थती शंका अने	
	तेर्नु समाधान	२७३-७५
८५८–६२	६ भिन्नद्वार	રેહાંય
_	'सिन्न' पदना निशेषो, द्रव्यसिन्न भावसिन्नपदनी	
-	चतुर्मर्झा अने तेने छगतां प्रायश्चित्ता	
८६३–९२३	प्रसम्बग्रहणने स्वानां प्रायिश्वत्तो	२७३–९२
८६३	प्रख्म्बप्रहणने ख्यातां प्रायिश्वनोनी द्वारगाथा	२७६
८६४–८९	प्रलम्बद्यहणने आश्री अन्यत्रग्रहणना प्रकारो	
e *	अने तेने छगतां प्रायश्चित्तो	२७६-८३
८६५	अन्यत्रप्रटम्बप्रहणना अर्थान् जे स्थानमां ताड	
	आदिनां युक्षो होय ते करतां वीजा स्थानमां रहेळ	
	प्रस्वादिने प्रहण करवाने छगता प्रकारी	ર્હ્
८६५-७१	ंद्रव्य, क्षेत्र, काळ अने भावने आश्री चर्तीवाळा	
	प्रदेशमां रहेल प्रलम्बादिना प्रहणने लगनां प्रायिक्षेती	२७६-७९

	बृहत्करुपसूत्र द्वितीय विभागनी विपयानुकम ।	१३
गाथा	विषय	पत्र
८७२–७६	अटवीमां रहेल प्रलम्बादिना प्रहणने आश्री दिवसः	,
	रात्रि, मार्ग-उन्मार्ग, उपयुक्त-अनुपयुक्त अने सालम्ब-	
	निरालम्ब पदो द्वारा १६ भांगाओं अने ते भांगा-	
	ओनो शुद्धाशुद्ध विभाग	268-60
C90-C0	अटवीमां रहेल प्रलम्बादिना ब्रह्णनिमित्ते वतावेल	
	१६ भांगाओमां यथायोग्य प्रायश्चित्तोतुं निरूपण	260-69
८८१–८४	अटवीमां रहेल प्रलम्बादिना प्रहणद्वारा एकाकी	
	भिक्षुने थती आत्मविराधना—तेने पोताने थतां नुक-	
	शानो अने तेने छगतां प्रायश्चित्तो	२८१-८२
८८५–८९	अटवीमां रहेल प्रलम्बादिना प्रहण निमित्तं जनार	
	भिक्षुना सहायकोना प्रकारो अने तेने छगतां	
	प्रायश्चित्तो	२८२-८३
८९०-९२३	तत्रप्रलम्बग्रहणनुं स्वरूप	२८३–९२
८९०	तत्रप्रलम्बमहण अर्थात् जे स्थानमां ताड आदिनां वृक्षो	
	होय त्यां जइने पोतानी मेळे पडेलां अचित्त प्रलम्बा-	•
	दिने प्रहण करवाने लगतां प्रायश्चित्त वगेरेनी भलामण	* २८३
८९१	जे स्थानमां ताड आदिनां झाडो होय त्यां जई	
	सचित्त प्रसम्बादिना प्रहणने स्रगती प्रतिपादनीय	-
	वस्तुनो निर्देश	२८४
८९२–९४	देव, मनुष्य अने तिर्यचनी मालकीवाळा प्रलम्बा-	
	दिनुं स्वरूप	२८४–८५
८९५–९०६	देव, मनुष्य वगेरेए खाधीन करेल पोतानी मेळे	•
•	पडेल अचित्त प्रलम्बादिने तेना खामीनी सम्मति	•
	सिवाय लेवाथी भद्र-प्रान्त-सज्जन-दुर्जन मनुष्यादि-	
	द्वारा उभा थता दोषो, ए टोषोनुं खरूप अने तेने	
	अंगेनां प्रायश्चित्तो	२८५–८७
९०७	सचित्त प्रलम्बादिना तत्रप्रहणने अंगे प्रतिपादनीय	5.44
0	विषयनी भलामण अने वधाराना विषयनो निर्देश	२८८
९०८–२३	सचित्त प्रलम्वादिना तत्रप्रहणने लक्षी प्रक्षेपण, आरोहण अने पतनतुं तेमज ते द्वारा थती आत्म-	
	संयमादि विषयक विराधनानुं खरूप अने प्रायिक्षतो	२८८ –९२
	त्रमाद विषयम विरोधमाञ्च अस्त अस तामाल पा	, , ,

बुह्तकन्पमृत्र	द्विनीय	विभागनी	विषयानुकम ।	
----------------	---------	---------	-------------	--

गाया	निषय	पत
९२४–३५	प्रत्रम्यादिना महणथी छागना आज्ञासंग, अनयम्या,	
	मिथ्यात्व अने आत्म-संयमविग्यना ए चार देशेंगेतुं	
	विस्तृत घर्णन	२९२–९५
623-50	अपराध करनार करनां आज्ञामंग करनार घघारे	
	होषपात्र छे ए विषये 'राजमान्य छ पुरुषोनी रक्षा-	
	माटे राजानी घाषणा नं उदाहरण	
९६६-५०	प्रलम्बादिना प्रहणने अंगे बनावेल विध विध प्रका-	
	रनां प्रायश्चित्तो आचार्यादि गीतार्थ अगीतार्थ पैकी	
	कोने कोने छर्शने छे ? एतुं कथन	२९५-३००
	[गाथा ९३६ टीकामां-आचार्यविषयक अष्टमंगी	
	गाथा ९३७-३९—गच्छनी संसाछ नहि छेनार	
	आचार्यने। अज्ञान अने व्यमनी राजानी जेम त्याग	
	गाथा ९४०—मात व्यमनो	
	गाथा ९४१—श्राचार्य विषयक चतुर्भर्गा]	
668-8000	गीतार्थना विद्याष्ट गुणो–लक्षणो	300-96
80,9-45	र्गातार्थना विशिष्ट गुणानुं खरूप	₹00 - ₹
946	र्गातार्थने प्रायश्चित्त नहि छागवानां कारणा	इ०२
९५९-६०	'छ्तयोगी'पदनी व्याख्या	કું ૦૨–કું
	उत्सर्ग अपवादना बळावळने विचारी अपवादने	
	मेवनार गीवार्थनुं योगिषणुं अने ते गीनार्थनी दीर्थ-	
	ऋर साथे सरखामणी	
65%-8000	गीतार्थनी नीर्थकर साथे सरग्वामणी	303-14
९६१–६६	१ श्रुतकेवली गीतार्थनी केवली साथे	
	समान ता	3,03,-4,
९६१–६३	हृत्य, क्षेत्र, काउ अने भाषविषयक, तेम ल	
	सचिन, अचिच, मिश्र, अनन्त वनसनि, प्रसेक	
	यनस्पनि आदि प्रद्यापनीय-वर्णनी प्रकाय तेवा	
	पदार्थीनो तेनां विशिष्ट छक्षणा द्वारा निर्णय	
	करवानी अपेक्षाए क्षतकेवर्छ। सीनार्थ अने केवरू-	
	इतिर्तुं सरनापणुं	इ०इ
<i>૬</i> ૬૪	प्रमापनीय अप्रकापनीय पदार्थीतुं प्रमाण	३०४

	बृहत्करुपसूत्र द्वितीय विभागनो विपयानुकम ।	१५
गाथा	विषय	पत्र
९६५	श्रतकेवितां वृद्धि-हानिनां पट्खानो	पन ३०४
९६६	पदार्थोना निर्वचन-निरूपणना प्रकारनी अपेक्षाए	२०४
	गीतार्थ अने केवलिनुं समानत्व	३०५
९६७-८०	२ चतुर्विध ज्ञानद्वार	३०५-८
	द्रव्य, क्षेत्र, काल अने भाव ए चतुर्विध ज्ञाननी अपेक्षाए प्रत्येक अने अनन्त वनस्पतिनां लक्षणो अने तेना सचित्त, अचित्त, मिश्र विभागनुं निरूपण [गाथा ९७३-७५—लवण, हरिताल, मणसिल, खजूर, द्राक्षा वगेरेना सचित्त-अचित्तपणानो विभाग, तेनां कारणो अने तेनुं आचीर्ण-अनाचीर्णपणुं]	
९८१	३ ग्रहणद्वार	३०८
	प्रलम्बना प्रहण अने प्रक्षेपक—भक्षणविषयक चतु- र्भगी अने तेने लगतां प्रायश्चित्तो	
९८२–८४	४ तुल्ये राग-द्वेषाभावे द्वार	३०८-९
	प्रायश्चित्तो आपवामां सामान्य रीते देखाती विपम- ताने अंगे आचार्य उपर राग-द्वेषपणानो आक्षेप अने तेनुं समाधान	
964-2000	५ अनन्तकायवर्जनाद्वार	३०९-१५
	अनन्तकायनो निपेध, तेनां कारणो, अचित्त प्रतेक चनस्पति अने अनन्त वनस्पतिना प्रहणमां अजीवत्व समान होवा छतां प्रायश्चित्तमां भेद पाडवानुं कारण चगेरे वावतोनुं उदाहरण साथे निरूपण [गाथा ९८८-९४—इक्षुकरण, महर्द्धिक, दारु- भर, खली, पिश्चितवर्जक अने मद्यपनां दृष्टान्तो गाथा ९९५-९९—गुरुओए आचरेटा मार्ग पेकी योग्य मार्गोनुं ज अनुसरण करवानी आज्ञा अने ते प्रसंगे भगवान् महावीरे अनाचीर्ण गणेल अचित्त तलनां गाडां, दृहनुं अचित्त पाणी अने अचित्त स्थण्डिलभ्मीना प्रसंगनी यादगारी]	

गाथा	विषय	पत्र
१००१–३३	प्रलम्बस्त्र २ जुं	३१५–२५
• •	निर्घन्य-निर्घन्याञ्जोमाटे भागेला नाल-प्रलम्बने प्रहण	
•	करवा विषयक अपवाद	
, ;	बीजा प्रलम्बसूचनी व्याख्या	३१५
१००१-२	वीजा प्रलम्बसृत्रनुं आपवादिक सृत्र नर्गके समर्थन	\$? v.— ? &
१००३–११	हष्टान्त हाग बीजा प्रलम्बसृत्रना आपयादिक सम-	
	र्थन सामे शिष्यनो विरोध अने तेनो परिदार	३१६-१८
	[गाथा १००५—विषोपसोगत्तं दृष्टांन]	
१०१५-१७	बीजा प्रसम्बस्त्रज्ञं आपवादिक सूत्र वर्राके महत्त्व	
	म्थापित करवा सारे चार मरुकतुं दृष्टान्त अने तेनो	
	उपनय	३१८—२०
१०१८–२२	अध्यहार	इ२०-२१
	निर्प्रन्थ-निर्प्रन्थाओमाटे देशान्तर गमननां कारणो	
4.55.55	अने तेनो विधि	586 84
१०२३–३३	ग्छानद्वार	३२१–२४
१०२३,–२४	गेग अने आर्तकनो भेद	ફર १— ૨૨
१०२५-२६	ग्छानअवम्या—मांद्गीमाट विवि	३२२
१०२७-३३	ग्छानमाट यवनाश्री	३२२-२४
	[गाथा १०२८—आठ प्रकारना वेद्यो	. ,
	गा० १०३०—मंडी अने पोतनां उदाहरणो]	
१०३४-८५	त्रीजुं चोथुं पांचमुं प्रलम्बस्त्र	३२५–४०
	निर्यन्य-निर्यन्याञोमाटे पक्षनाडप्रछंबप्रहण-निर्पेघ	
	विषयक मुत्रो	
રં૦કેક્ષ—કંજ	'पर्क' पदना निश्रेपो	ર્ર્ય
ડં૦કંટ–૪૪	भिन्न अने अभिन्न पद्नी च्याख्या, नद्विपयक पङ्मर्झा	
	अने तेने छगनां प्रायिश्वची	ક ઼ર દ્—રૃહ
१०४५-५४	'अमिन्न' पर्ना सम्त्रन्यमां निर्त्रन्थीने आश्री विस्तृत	
	<u>व्याच्या</u>	३२७–३०
	[गा० १०५१—देवीतुं-राजराणीतुं द्यान्त]	
3000-06	अविधिमिन्न अने विधिमिन्न नाल्प्रलंब	३३०–३१

गाथा	विषय - र्	पत्र
१ ०५९–६७	निर्मन्थ-निर्मन्थीओने विधिमिन्न अने अविधिमिन्न	••
	ताडप्रलंव जे प्रकारना देश काळमां जे रीते	i
	कल्पनीय अकल्पनीय छे, तेने अंगे जे जे गुण, दोप	
	अने प्रायश्चित्तो छे ए आदिनुं विस्तृत वर्णन	३३१ –३४
१०६८-८५	निर्प्रेन्थ-निर्प्रेन्थीओने दुकाल आदिना समयमां एक	
	षीजाना अवगृहीत—अनुज्ञात क्षेत्रमां रहेवानो विधि,	
	तेना १४४ भांगाओ अने तेने लगतां प्रायश्चित्तो	३३४–३६
9025 2000		
१०८६–२११४		३४१—६१०
१०८६-२०३३	मासकल्पविषयक प्रथम सूत्र	३४१-५८८
१०८६–८७	प्रलंबप्रकृत साथे मासकल्पप्रकृतनो संबंध	३४१
_	मासकल्पविषयक प्रथम सूत्रनो संक्षिप्त अर्थ	३४१
१०८८–९३	मासकल्पविष्यक प्रथम सूत्रनी विस्तृत व्याख्या	३४२–४३
	म्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर,	
	द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश,	
	संवाध, घोष, अंशिका, पुटभेदन, शंकर आदि	
0 - 0 ->	प्रथम सूत्रान्तर्गत पदोनी व्याख्या ग्रामपदना निश्लेपो	202
8088	श्रामपदना निर्मा श्रामपदनो द्रव्यनिक्षेप अने तेनी नयो द्वारा विचारणा	३४३ ३४३ - ४८
3034-8888		484 - 86
	[गाथा ११०३—८ उत्तानकमहक, अवाङ्मुखम- ह्रक, संपुटकमहक, उत्तानकखंडमहक, अवाङ्मुख-	
	खण्डमहक, सम्पुटकखण्डमहक, भित्ति, पडालि,	
	वलभी, अक्षाटक, रुचक, काश्यपक आदि गामना	
	प्रकारो अने तेनुं खरूप]	
१११२-१३ पू०	भूतमाम, आतोद्यमाम, इन्द्रियमाम, पितृमाम अने	
	मारुप्राम निक्षेपो	३४८
१११३ उ०-१९	भावप्राम निश्चेप	386-40
११२०	नगर, खेड, कर्वटक आदि पदोना निश्चेपोनी भलामण	- ३५०
	परिश्लेपपदना निक्षेपी	३५०-५१
११२६–३०	मासपदना निक्षेपो	३५१–५३
	[११२८-३० — नक्षत्रमास, चंद्रमास, ऋतुमाम,	
	आदिलमास अने अभिवर्धितमासनुं स्वरूप]	

ग्रया	विषय	पत्र
११३१	सासकर्स विद्यापित्री	३५३
११३२–१४२४	जिनकत्पिकतं स्वरूप	\$ 4.5- 276
११३२–४२	१ जिनकल्पिकनी दीक्षा	₹ <i>6</i> .5—76.0
-	वर्म, वर्मोपदेशक, वर्मोपदेशने छायक सवसि-	
	द्विकादि जीवो अने घमींपदेशनो विधि-ऋम अने ए	
	क्रमना सङ्गर्थी थना दोष आदिनुं निरूपण	
	[गाया १९४१—चीरग्रुनिकानं दृष्टान्त]	
११४३–१२१८	२ जिनकल्पिकनी शिक्षा	કૃષ્:હ–દૃષ
११४३–६१	दीक्षा केनारे संयममागेतुं आरायन जतुं करी झामांडे	
	अभ्यात करवो ए संवंघमां आचार्य अने शिष्यनो	
	संवाद अने एक वीजाए स्वपन्नना समर्थनमाटे	
	अपेटां राजन्तान, श्रीपदी, आतुर, अन्ध्रस्त्रविर	
	(मोमिल त्राद्यण) थने यवराजर्पिनां द्यान्तो	
	अने अंतमां ञालाभ्यासनी आवश्यकतातुं समर्थन	ટ્ ઇડ-ક્ર
₹ 5 8 ±? 5	शास्त्राध्यासयी थना ञान्महिन, पनिज्ञा—यन्नुसक्पनी	
	ञोळख, भावसंवर–तास्विकसाग, संवेग–वराग्व,	
	संयममार्गमां निष्कस्पना, साध्यायरूप नास्त्रिक	
	वपनी बृद्धि, निर्जरा, परवारक्षपणुं आदि गुणो	ર્દર–દૃષ્ટ
११७२	जिनकन्पिक क्यारे होच ?	કેક્ષ્ટ
११७३–७५	ख़बर आहिने छोडी वीयंकरनी पासे शासाध्यास-	
	माटे रहेवामां दोषो	કુ દૃષ્ટ—૬५
११७३-१२१७	समवसरणनी वक्तव्यता	522-53
	कैंन तीर्थकरोने घर्मीपरेश आपत्रामादेतुं व्यामपीठ	
82	& & &	æ.
११७६	समवसर्गवक्तव्यताविषयत्र द्वारगाया	ક દ્વ
११७७– ९ ४	२ समवसरणहार	३६६–७१
११७७-८०	वैमानिक, ज्योतिष्क, सवनगति, क्यंतर आदि देवो	
	एकीसार्थे एकत्र मळ्या होच त्यारे समनसरणनी	
~	नर्मान साफ ऋत्वी, सुगंबी पागी फूछ आहिनो	
	नरसाद नरसावनो, समनसरणना प्राकार, कांगना,	
	दरवाजा, पनारा, ध्वज, नोरण, चित्र, चैत्रवृक्ष, 🔻	

बृहत्कल्पसूत्र द्वितीय विभागनो विपयानुकम ।	१९
विषय	पत्र
पीठिका, देवच्छंदक, आसन, छत्र, चामर आदिनी	• • •
र्रचना व्यवस्था वगेरे कोण अने केवा प्रकारे करे ?	
तेनुं वर्णन	३६६

इन्द्र वरोरे महर्द्धिक देवो एकले हाथे पण समवस-	26
रणनी रचना करे	३६७
समवसरणमां तीर्थकरो क्यारे, कई दिशाथी अने	
केवी रीते प्रवेश करे ? तेमज कई दिशामां मुख	
राखी उपदेश आपे ? मुख्य गणधर क्यां वेसे ?	
वीजी दिशाओमां भगवाननां प्रतिविंबो केवां होय ?	
वगेरे	३६७-६८
गणधर, केवली, अतिश्यवान् साधु, साध्वी, देव,	
देवी, मनुष्य वगेरे पर्षदाओ समवसरणमां क्यां	
वेसे अथवा उभी रहे ? तेनुं वर्णन	३६८–६९
समवसरणमां धर्मश्रवणमाटे एकत्र थयेला देव,	
मनुष्य, तिर्यंच वगेरेनी मर्यादा तेमज पारस्परिक	
ईर्षा वैरवृत्ति वगेरेनो साग	३६९
समवसरणमां वीजा त्रीजा प्राकारमां तेमज वहारना	
भागमां छुं छुं होय तेनुं वर्णन	३७०
तीर्थकरनी अमोघ देशना अने तेमनुं अमृढलक्ष्य	३७०
धर्मोपदेशनी आदिमां तीर्थकरोद्वारा तीर्थने नमस्कार	
अने तेनां कारणो	३७०-७१
२ केवइयाद्वार	३७१
समवसरणमां श्रमणे केटले दूरथी आववुं जोइए	३७१
•	३७१-७२
३ रूपद्वार	70, 01
तीर्घकर, गणधर, आहारकशरीरी, अनुत्तर देव	
आदि देवो, चक्रवर्त्ती, वलदेव, वासुदेव आदिना	

रूपनुं तथा तेमना संघयण, संठाण, वर्ण, गति, सत्त्व, उच्छ्वास आदिनुं तेमज शुभाशुभ प्रकृतिओनुं

गाथा

2868

११८२-८४

११८५-८८

११८९

११९०

११९५

१२०१

११९६-१२००

खंद्धप

४ पृच्छाद्वार

तीर्धकरनं रूप सर्वेत्रुष्ट होवानं फारण

११९१-९२ 88-588

হ্ওহ

२०	बृह्क्क्ससुत्र द्विताय विभागनो विषयानुक्रम ।	
गाया	ग्रियन	धत्र
१२०२–३	५ व्याकरणद्वार	કુંબર,७३
	र्तार्थकरो श्रोनाना संश्योनं समायान कई गंदे करे ?	
१२०४-६	६ श्रोनुपरिणामद्वार	કુંબર્-જડ
	दीर्थकर्ता एक रूपे बोर्डाई। भाषा मिन्न मिन्न	•
•	भाषामार्था श्रोताञ्चाने ऋवा रूपे परिगमे ? वेसज	
	तेमनी वार्गा मांमळवामां श्रोतानी रमष्ट्रित केवी	, ,
	रहे ? तेतुं बर्गन अने ने निषे क्रिटिनाणिजदा-	
	सीतुं च्हाइरण	_
१२०७-१०	् ७ दानद्वार	₹08–0 <i>4</i>
-	र्वार्यकरना आगमनेन छगवा समाचार निवेदन कर-	
	नारने चप्रवर्त्त, वर्डद्व, वासुद्देव आदि नरफर्या	
	अपानुं श्रीविदान अने वेथी थना गुगा	<u>.</u> .
१२११–१२	८ देवमाल्य-चिछहार	इउ५
	समवसरणमां र्वार्थकर सामे उछाळाती बिलमांड	
	अक्षन-चोन्ता वर्गेरे क्रोग नैयार करे ?	
१२१३-६४	९ देवमाल्यान्यनद्वार	કંજફ
	समनसरणमां विक्रेन क्यारे छाववामां आहे शिते	
	क्र्वा रीते उद्याख्यामां आवे ? ते बिलेने द्येप	
	तरीके कांग कांग उई जाय ? अने ए छेउने छवायी	
ধ্ হ্ধ্–ধ্ড	थवा प्रायदाञ्चातुं वर्णन १० चर्पारतीर्थद्वार	2 0.5 1000
4444-40	२० इपारवायहार वीर्यकर बर्मीपर्ज आपी देवच्छंदामां जाव वे पछी	₹ ⊘ ₹—' 5 '9
	गणबर दर्देश थापे, गणबगेना दर्देश आपवार्था	
	थना छामा अने देमना झानाहि गुणानुं बरीन	•
æ		&
2226	जिनक्र-पिक्ता आस्विषयक शिक्षा	ક્ ઇડ
१२१९–२२	३ जिनकल्पिकनी झास्त्रना अर्थविषयक	
	ग्रि श	इऽ७
	[गाया १२१५— दृषम अने छालिक्त्रणनां दृष्टान्ते।	
	गाया १२२१—संद्रापुर, स्वसमयपुर, परम्बर्य-	•
	स्रः, रसर्गस्त्रः, अपवादस्रुरः, द्यानाक्ररस्त्रः, अधि-	

<i>ગા</i> થા	विपय	पत्र
•	काक्षरसूत्र, जिनकल्पिकसूत्र, स्थविरकल्पिकसूत्र, आर्यासूत्र, कालसूत्र, वचनसूत्र आदि सूत्रोना प्रकारो]	•
१२२३-४०	४ जिनकल्पिकनो अनियतवास	३८८-८४
,	भावी आचार्यने देशदर्शननी आवश्यकृता अने तेथी थता लाभो	^
१२४१-७९	५ जिनकल्पिकनी निष्पत्ति	३८४–९५
	जिनकल्पिके कल्प स्तीकारवा पहेलां तैयार करेलो शिष्यसमुदाय	•
१२४१–४९	देशदर्शनमाटे नीकळेला भावी आचार्यना गुणोनी ख्याति सांभळी तेमनी पासे अन्य समुदायना	·
	श्रमणोनी ज्ञानादिमाटे उपसंपदा	३८४-८६
१२५०-७९	उपसंपदा स्वीकारवाने लगती सामाचारी	३८६–९५
	जपसंपदाना प्रकारो, जपसंपदा स्वीकारनार अने आपनारनी श्चिरता—सहनशीलता—सामर्थ्य, उपसं- पदा लेनारने आलोचना अने सामाचारीनुं कथन, उपसंपदा स्वीकारनारनो स्वीकार अने तेमने वाचना, जे निमित्ते उपसम्पदा लीधी होय ते विषयमां प्रमाद करनार शिष्योने आर्द्र छगण—लीलुं छाण, घट्टना, रुश्चना, पत्रज्ञात, दुष्ट अश्व, अने चश्च- रोगी राजानां दृष्टान्तो द्वारा तेमनी फरजनुं भान करावनुं अने प्रायश्चित्तो [गा० १२४३—४९—भावी आचार्यनी तेमना	
	गुणो द्वारा प्रसिद्धि	•
	गा० १२५९-६०-सुपा-पुत्रवधृतुं दृष्टान्त]	
१२८०-१३७१	६ जिनकल्पिकनो विहार	३९५-४१६
१२८१–८४	जिनकल्प स्त्रीकारचा पहेलां जिनकल्पिकनी आत्म-	
	श्रेय माटे विचारणा	३९५–९६
१२८५	जिनकल्प स्वीकारवामाटे विधि अने तेनां उपकरणो	३९६
१२८६-१३५७	जिनकिएकनी भाष्रनाओं	<u> </u>

गाया	रिष् य	पत्र
१२८६–९२	जिनकल्पिकर्ना मायनाओं, ठेना प्रशस्त, अप्रद्यन्त	
	वे प्रकार अने देना ज्याच्याननो क्रम	३९८
×	× × ×	×
१२९३-१३२७	अप्रज्ञस्त भावनाओ	इं९८-४०इ
૧૨ ૧ ૨− ૧૪	अग्रञस्त भावनाओं अने देतुं फळ	399
१२९५-१३०१		±66-800
	कंद्रपं, कीन्क्रच्य, द्रवशील, हासकर, परविसा-	
	पक्र पदोनी व्याख्या	
१३०२-७	२ देवकिल्विपिकी भावना	301-5
	ह्यानावर्णवाद, केवस्यवर्णवाद, धर्माचार्यावर्णवाद,	
	साध्ववर्णवाद, सार्था पदोत्तं च्यास्यान	
१३०८–१४	३ व्याभियागी भावना	%o≦−%
	कौतुक, सृतिकर्म, प्रश्न, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त पदोनी	
	व्याख्या	
१३१५-२०	४ आसुरी भावना	308-n
	अनुबद्धविषद्, संसक्तवपाः, निमित्तादेशा, निष्क्षप,	
	निरनुकंप पदोर्नु सक्प	
१३२१-२६	५ सामगेही भावना	Se <i>ri−</i> €
	ज्न्मार्गदेशना, मार्गदृषगा, मार्गविष्ठविपत्ति, मोह,	
	परमोहक पदोतुं स्वरूप	
१३२७	अप्रयस्य भावनाथोर्तुं फळ	૪૦૬
\$\$\$C-40	प्रदास्त भावनाओ	१०७-१२
१३२८	प्रशन्त यावनाञ्चोना प्रकार	४०७
१६२९–६२	१ तपामावना	४०७
१३३३–३९	२ सन्त्रमावना अने नेना अध्यास्माद पांच	
	प्रतिमात्रो	806-8
3530-23	३ सृत्रभावना	४०९
१३४५-५२	४ एक वमावना अने ते विषे पुष्पचृत्र अनगारनं	
enie i	행면 1	880-88
₹ ३५३—५७ : ••	५ बर्डमावना	886-65
	× , × , ,	× ,

विषय

गाया

पत्र

१३५८-६५	जिनकल्पविषयक चघारानी विधि	883-88
	जिनकल्प स्वीकारवा पूर्वे जिनकल्पनी तुलना—	
	अभ्यास	_
१३६६-७७	जिनकल्प स्त्रीकारती वेळानो विधि	. 88 - 88
	जिनकल्प स्वीकारनार आचार्ये कल्प स्वीकारती	
	वखते गच्छपालनमाटे नवीन आचार्यनी स्थापना,	
	गच्छ तथा नवीन आचार्यने शिखामण अने गच्छ,	
	संघ वगेरे साथे खामणां आदि	
१३७८-१४१२	. ७ जिनकल्पिकनी सामाचारी	४१७२३
१३७८-८१	जिनकस्पिकनी दृशविध चक्रवाल सामाचारी पैकीनी	
	सामाचारीओ	४१७
१३८२-१४१२	श्रुत, संहनन, उपसर्ग, आतंक, वेदना, कतिजनाः,	
	खण्डिल, वसति, कियचिर, उचार, प्रश्रवण, अव-	
	कारा, रूणफलक, संरक्षणता, संस्थापनता, प्राभू-	
	तिका, अग्नि, दीप, अवधान, चत्स्यथ कति जनाः,	
	भिक्षाचर्या, पानक, लेपालेप, अलेप, आचाम्ल,	
	प्रतिमा, मासकल्प ए २७ द्वारवडे जिनकल्पिकनी	
	सामाचारीसुं विस्तारथी वर्णन	४१७–२३
१४१३–२४	८ जिनकल्पिकनी स्थिति-विद्यमानता	४२३–२६
	क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थ, पर्याय, आगम, वेद,	
	कल्प, लिङ्ग, लेश्या, ध्यान, गणना, अभिम्रह, प्रज्ञा-	
	जना, मुण्डापना, प्रायश्चित्त, कारण, निष्प्रतिकर्म,	
	भक्त-पंथ ए १९ द्वारो वडे जिनकल्पिकनी विद्यमा-	-
A	नतानुं वर्णन	_
१४२५-३७	परिहारविद्युद्धिकनुं स्ररूप	४२७–२९
१४३८-४५	यथालन्दिककल्पनुं खरूप	४२९–३१
१४४६-१६५५	गच्छवासीओ अने तेमनो मासकल्प-	
	विषयक विधि	४३१-८७
१४४६	गच्छवासीओमाटे प्रव्रज्या १ शिक्षापद २ अर्थ-	
	प्रहण ३ अनियतवास ४ अने निष्पत्ति ५ ए पांच	
	द्वारोनी जिनकस्पिकनी जैम भलामण	े ४६४

ग्रा	विषय	पत्र
ইধ্যত	६ गच्छवासीओंनों विहार	४३३
१४४७–४९	गच्छवासीओना विहोरनो समय अने मर्यादा	ઝ ક્ર
१४५०–६३	विहार करवा अगाउ गच्छना निवास अने निर्वाह	
	चोन्य क्षेत्रने पडिलेहवानो-तपासवानो विवि अने	-
	क्षेत्रनी पहिलेहणामाटे क्षेत्रप्रत्युपेक्षकोने मोकलवा	
	पहेलां आला गच्छने तेनी योग्य सन्मति वेमन	
	सलाह लेवामादे बोलाववानी विवि	ઝરૂર–રે ષ
१४६४-७०	टस्सर्ग अने अपवाद्यी योग्य-अयोग्य क्रेंत्रप्रस्युरेक्षकों	
	अर्थान् गच्छने–साव्वसमुद्रायने रहेवा छायक तेनज	
	नहि रहेवा छायक क्षेत्रना गुग-होषोनी पडिछे-	-
• •	हणा-यरीसा ऋरनाराञी	૪૩઼૬−३઼હ
१४७१	गच्छने वसवा योग्यं क्षेत्रनी पहिल्हणानाटे जवानी	•
	विधि अने क्षेत्रमां नपास करवा योग्य वावतो	४३७
⁻ १४७२	स्त्रनी पडिछेहगा माटे केटला जग जाय अने केवी	
	रीवे नाय ?	<i>ઇ</i> ફેડ
8	£	*
\$89 ≟- 98	गमनद्वार, नोदऋषृच्छाद्वार आदि द्वारो	% ४ ३८ −३९
_	गमनद्वार, नोदक्षपृच्छाद्वार आदि द्वारो क्षेत्र पडिलेहणानाटे जनार क्षेत्रप्रसुपेक्षकोए विहा-	-
_	गमनद्वार, नोद्कृषुच्छाद्वार आदि द्वारो क्षेत्र पडिलेहणानाटे जनार क्षेत्रप्रसुपेक्षकोए विहा- रना नार्गा, रस्तानां संहिलमूनि, पार्गा, विसामानां	-
_	गमनद्वार, नोदकपुच्छाद्वार आदि द्वारो क्षेत्र पिंडलेंडणानांट जनार क्षेत्रप्रखुपेक्षकोए विहा- रना नार्गा, रत्नानां संडिलमूनि, पार्णा, विसामानां स्थान, मिक्षा, रहेवानांट वसति—उराष्ट्य, चोर	-
_	गमनद्वार, नोदक्रपृच्छाद्वार आदि द्वारो क्षेत्र पिंडलेंडणानांट जनार क्षेत्रप्रखुपेक्षकोए विहा- रना नार्गा, रक्षानां संडिलमूनि, पार्णा, विसामानां स्थान, मिक्षा, रहेवानांट वसति—उराण्य, चोर बंगली प्राणी वगेरेनो उपद्रव श्राहिनी तपास करवी	-
१४७ ३ –७८	गमनद्वार, नोदक्षपृच्छाद्वार आदि द्वारो क्षेत्र पिंडेट्रियानाट जनार क्षेत्रप्रत्युपेक्षकोए विद्या- रना नार्गा, रत्यानां संदिलमूनि, पार्गा, विसामानां स्थान, मिक्षा, रहेवानाटे वसति—उगाश्य, चोर जंगठी प्राणी वगेरेनो उपद्रव श्राहिनी तपास करवी आहि	-
_	गमनद्वार, नोदक्रपृच्छाद्वार आदि द्वारो क्षेत्र पिंडलेंडणानांट जनार क्षेत्रप्रखुपेक्षकोए विहा- रना नार्गा, रक्षानां संडिलमूनि, पार्णा, विसामानां स्थान, मिक्षा, रहेवानांट वसति—उराण्य, चोर बंगली प्राणी वगेरेनो उपद्रव श्राहिनी तपास करवी	-
१४७ ३ –७८	गमनद्वार, नोदक्षष्ट्रच्छाद्वार आदि द्वारो क्षेत्र पिंडलेइणानाट जनार क्षेत्रप्रत्युपेक्षकोए विद्या- रना नागी, रत्यानां खंडिलमूनि, पाणी, विसामानां स्थान, मिक्षा, रहेवामाटे वसति—उगाश्य, चोर जंगली प्राणी वगेरेनो उपद्रव श्यदिनी तपास करवी आदि पिंडलेइणा करवा योग्य क्षेत्रमां प्रवेश करवानों	-
१४७ ३ –७८	गमनद्वार, नोदक्षष्ट्रच्छाद्वार आदि द्वारो क्षेत्र पिंडलेइणानाटे जनार क्षेत्रप्रत्युपेक्षकोए विद्या- रता नार्गा, रत्यानां स्थंडिलमूनि, पार्णा, विसामानां स्थान, मिक्षा, रहेवानाटे वसति—उगाश्य, चोर बंगली प्राणी वगेरेनो उपद्रव श्राहिनी तपास करवी आदि पिंडलेइणा करवा योग्य क्षेत्रमां प्रवेश करवानों विवि अने मिक्षाचर्या द्वारा क्षेत्रमी अर्थान् त्यांना	-
१४७ ३ –७८	गमनद्वार, नोदक्षपृच्छाद्वार आदि द्वारो क्षेत्र पिंडलेंडणानांट जनार क्षेत्रप्रत्युपेक्षकोए विहा- रता नार्गा, रत्नानां संडिलमूनि, पार्णा, विसामानां स्थान, मिक्षा, रहेवानांट वसति—उराण्य, चोर वंग्रली प्राणी वगेरेनो उपद्रव श्राहिनी तपास करवी आदि पिंडलेंडणा करवा योग्य क्षेत्रमां प्रवेश करवानों विवि अने मिक्साचर्ण द्वारा क्षेत्रनी अर्थान् त्यांना निवासी लोकोनी ननोष्टति, मिक्स औष्य वगरे	-
१४७ ३–७८ १४७ ९– ९३	गमनद्वार, नोदक्षपृच्छाद्वार आदि द्वारो क्षेत्र पिंडेट्डणानाट जनार क्षेत्रप्रत्युपेक्षकोए विहा- रता नार्गो, रत्नानां संडिटमूनि, पार्णा, विसामानां स्थान, मिक्षा, रहेवानाटे वसाति—उराष्ट्रय, चोर जंगर्जी प्राणी वगेरेनो उपद्रव श्राहिनी तपास करवी आहि पिंडेट्ट्या करवा योग्य क्षेत्रमां प्रवेश करवानों विवि अने मिक्षाच्या द्वारा क्षेत्रमी अर्थान् त्यांना निवासी ठोकोनी मनोष्ट्रित, मिक्स औयव वगरे वस्तुनी सुडमता-दुर्डमता, निर्देश वसति—उपाशय	४ ३८ —३ ९
१४७ ३–७८ १४७ ९– ९३	गमनद्वार, नोदक्षपृच्छाद्वार आदि द्वारों क्षेत्र पिंडलेइणानांट जनार क्षेत्रप्रत्येषक्रोए विद्या- रना नार्गा, रक्षानां संडिलमूनि, पार्णा, विसामानां स्थान, मिक्षा, रहेवानांट वसति—उराश्य, चोर जंगली प्राणी वगेरेनो उपद्रव श्राहिनी तपास करवी आहि पिंडलेइणा करवा योग्य क्षेत्रमां प्रवेश करवानों विवि अने मिक्षाचणे द्वारा क्षेत्रमां प्रवेश करवानों विवि अने मिक्षाचणे द्वारा क्षेत्रमां अवेश कर्णान् त्यांना निवासी लोकोनी मनोवृत्ति, मिक्षा औषय वगरे वस्तुनी मुल्मता-दुर्लमता, निदीन वसति—उपाश्य आहिनी पिंडलेइणा—तग्रस गच्छवासीओना निवासयोग्य उपाश्यो अने तेनी पिंडलेइणानो विवि	४ ३८ —३ ९
१४७ ३–७८ १४७ ९– ९३	गमनद्वार, नोदक्षपृच्छाद्वार आदि द्वारो क्षेत्र पिडिलेहणानाट जनार क्षेत्रप्रत्युपेक्षकोए विहा- रना नार्गा, रत्यानां संडिल्मूनि, पार्णा, विसामानां स्थान, मिक्षा, रहेवानाटे वसति—उगाश्य, चोर जंगली प्राणी वगेरेनो उपद्रव श्राहिनी तपास करवी आहि पिडिलेहणा करवा योग्य क्षेत्रमां प्रवेश करवानो विधि अने मिक्षाचर्ण द्वारा क्षेत्रमां प्रवेश करवानो विधि अने मिक्षाचर्ण द्वारा क्षेत्रमां अवेश करवानो निवासी लोकोनी मनोष्टित, मिक्षा औष्य वगरे वस्तुनी सुल्मता-हुल्मता, निर्दोग वसति—उपाश्य आहिनी पिडिलेहणा—त्यास गच्छवासीओना निवासयोग्य उपाश्यो अने देनी	४३८ –३ ९ ४३९– ५ २

नाथा	विषय	पत्र
१५१३–२०	प्रतिलिखित क्षेत्रनी अनुज्ञानी विधि 🗸 🕝	88 <i>0-</i> 86
१५२१–३०	क्षेत्रप्रत्युपेक्षकोए आचार्यादि समक्ष क्षेत्रना गुण-	
	दोपोने निवेदन करवानी अने जवा लायक क्षेत्रनी	
•	निर्णय करवानो विधि	४४९–५१
१५३१–४२	विहार करवा अगाउ जेनी वसतिमां रह्या होय तेने	
	पूछवानो विधि. अविधियी पूछवामां दोप अने	
	प्रायश्चित्तो. विहार करवा पहेलां विधिपूर्वक	
	वसतिना स्वामीने उपदेश आपवा पूर्वक विहारना	~ ·
	समयतुं सूचन	४५१–५४
१५४५–४६	गच्छवासीओए विहार करती वेळाए शुभ दिवस	
	अने शुभ शकुन जोवानां कारणो	४ ५५
१५४७–५०	शुभ शकुन अने अपशकुनो	- ४५५–५६
१५५१	विहार करती वेळाए आचार्ये शय्यातर–चसतिना	٠
5 5	मालीकने उपदेश देवो आदि	४५६
१५५२–५३	विहार करती वेळाए आचार्य, बाळसाधु आदिनां	
	उपिधने कोण केवी रीते उपाडे ?	४५६–५७
१५५५–६१	अननुज्ञात क्षेत्रमां निवास विपयक प्रायश्चित्तो 🧻	४५७–५९
१५६२–६८	गच्छवासीओनो पडिलेहेला क्षेत्रमां प्रवेश अने	
	शुभाशुभ शक्कनोतुं जोवुं	४५९–६०
१५६९७२	आचार्ये वसतिमां प्रवेश करवानी विधि -	४६०–६१
१५७३-७६	वसतिमां प्रवेश कर्या पछी गच्छवासीओनी मर्यादा	
	अने स्थापनाकुछोनी व्यवस्था	४६१–६२
१५७७-७८	वसतिमां प्रवेश कर्यो पछी झोळी-पात्रां लीघेल अमुक	
	साधुओने साथे रुई आचार्य आदिनुं जिनचैत्यवंद-	
ţ .	नार्थे नीकळबुं अने झोळी-पात्रां साथे लेवानां कारणो	४६२
१५७९	जिनचैस्रोना वंदन निमित्ते जतां घरजिनमंदिरना	
	दर्शनार्थे जबुं भने दानश्रद्धालु, धर्मश्रद्धालु, ईप्यीलु,	
	धर्मपराद्युप आदि श्राद्वकुलोतुं ओळपवुं	४६३
१५८०-८८	स्थापनाकुलादिनी व्यवस्था, तेनां कारणो अने	
	वीरशुनिकानुं दृष्टान्त	४६३–६५
१५८९-९०	चार प्रकारना प्राघूर्णक-प्राहुणा साधुओ	४६५–६६
4		

ৰ্মাথা	निषय	पत्र
\$665	स्थापनाकुछोमां ज्ञानो विधि अर्ने एकांतरे वैआंतरे	
	खापनाक्षुलोमां निह जियामां दोषो तेमन ते उपर	- 1 5
	चंसुकी गएली गायं अने आराम-त्रगीचानां	
	ह ष्टांनो	% हं ह
१५९२-१६०१	श्रीपनाक्रिक्रीमां ज्या छायक अधवा मीकछ्या	, .,
	छायक चैयाष्ट्रसकरो-गच्छनी सेवा करनार साधुकी	
	श्रने तेमना राण-दोषो	४६७–६८
१६०२–८	वयाष्ट्रस करनारना गुणोनी संपाम करवानां	
-7	कारणो अने श्रावकोने गीचरचर्याना दोपो समजा-	
	चयाची थता छाभो 🗍 📑	ं ४६९ —७१
	[गाथा १६०७—हुइध्रक्तं देशन्त]	
१६०९-१०	स्थापनाकुळोमांथी विधिपूर्वक योग्य कृत्योर्ज छेतुं	४७३
१६११–१४	ने क्षेत्रमां एक न गच्छ रहेलो होयं तेमने आशी	
,	स्थापनाञ्चलोमांथी मिश्रा हेवानी सामाचारी	४७२–७३
१६१५–२२	ने क्षेत्रमां वे प्रण आदि गच्छो एक वसतिमा	•
-	अथया जुदी जुदी बमतिओमां रहा। होय तेमने	
.	आश्री भिक्षा छेया आदिनी मामाचारी	. ५०४–० ६
& ,	· * * * * * * * * * * * * * * * * * * *	₩.
१६२६-६३	७ गच्छवासीयोनी सामाधारी	४७६–७९
, ,	स्यविरकस्पिकी-गच्छवासीओनी चक्रवाछ सामा-	, , , ,
	चारी तेमज श्रुत, गंद्दनन, उपसर्ग, आतेक,	
	वेदना, कृतिजनाः, खंडिल, घमति, उद्यार, प्रम्न-	
	घण, श्रवकारा, ऋणफरूक, संरक्षणता, संस्थापनता,	į
	प्राकृतिका, अग्नि, दीप, विद्याचर्या, पानक, छेपा-	
	छेप, श्राचाम्छ श्रादि द्वारोने छक्षीने मामाचारी	४७६–७९
१६३४-५५	ट स्थविरकल्पिकोनी स्थिति	४७९-४७
	स्यविरकन्पिकोनी अर्थान् गच्छवासीओनी छेत्र,	
	काल, चारित्र, सीर्थ, पर्योय, आगमं, चेद, कल्प,	
	हिंग, छेडचा, ध्यान, गणना, अभिमह, प्रवाजन,	
	मुंडापन, कारण, प्रतिकर्म आदि द्वारोने आशी	
	स्थिति-विद्यमानुता	

५०४–६५

विपय प्रा िगाया १६३९-४६-- छेड्या, ध्यान, चिता. ध्यानान्तरिका, द्रव्यलेश्या, भावलेश्या वगेरेनुं खरूप गाथा १६४७-स्थविरकल्पिकोना द्रव्य, क्षेत्र, काल अने भावविषयक अभिमहोतं खरूप] بلاد गच्छवासीनी वधारानी सामाचारी १६५६-२०३३ 222-628 गच्छवासीओनी वधारानी सामाचारीने लगतां द्वारो १६५६-५९ ४८७ १ प्रतिलेखनाद्वार १६६०--६९ 866-65 वस्तादिनी पडिलेहणानी काळ, प्राभाविक प्रतिलेख-नाना समयने लगता विविध आदेशो, प्रतिलेख-नाना दीपो अने प्रायश्चित्तो, प्रतिलेखनामां अपवाद अने ते विषे अंगारगर्त्तपतित पुत्रन्तं उदाहरण २ निष्क्रमणद्वार १६७०-७३ गच्छवासी आदिए उपाश्रयनी वहार क्यारे अने केटली वार नीकळबुं ? ३ प्राभृतिकाद्वार १६७४-९१ ४९३–९७ सुक्मं अने वादर प्राभृतिकातं वर्णन, गृहस्थादिना निमित्ते तैयार कराएल, लिंपाएल तेमज छापकं चळाएल घर, वसति आदिमां रहेवा न रहेवाने लगतो विधि अने प्रायश्चित्तो ४ भिक्षाद्वार **१६९२-१७०४** ४९७–५०४ जिनकस्पिक आदि मात पिंहेपणा-पानैपणा पंकी 9592-94 'कई कई एपणाधी पिंड आदि प्रहण करे ? 896-96 १६९६-१७०४ गच्छवासीओनो भिश्राने छगतो विधि 295-408 गच्छवासीओए फेटली बार अने क्ये बग्रते भिक्षामादे जबं ? संघाटकरूपे-माध्यगल मळीने मिक्षामाटे जुबं, एकडा भिक्षाचर्याए जनामाटेनां कल्पित कारणी अने तेने लगतां प्रायभित्ती, भिक्षा-साटेनां उपकरणी बरोरे

५ कल्पकरणहार

१७०५–४७

चाया	विष्य	′पत्र
	गच्छवासी साधु आदिने छगतो पात्रां घोवा विप-	
	यक दिथि	
१७०५–१३	लेपकृत अलेपकृत इच्यो	५०४–६
-	[विकृति अविकृतिनुं संहर]	100 q
१७१४–१६	पात्रानो छेप-रंग सफाइदार होवायी यता फायदाओ	
	अने ते विषे एक अमणतुं दृष्टान्त	५०६
१७१७–४७	पात्रांने कल्पकरवानां-धोवानां कारणो अने तेने	•••
	ल्गर्वा प्रश्नोत्तरी	५०७-१५
হঁড४८–ई७	६ गच्छशतिकादिहार	ૡ ૄઌૣૢૢૢૢ૱૱ૢ૽
	साव प्रकारनी सोवीरिणीओ, तेना संकहो अवांवर	17.55
	सेद-असेदो अने ए सेद-असेद पैकीनी विशोधि अवि-	
	शोधि कीटिओं वगेरे	
१७६८–१८१५	७ परिहरणा अनुयानहार	५२१–
१७६८–७०	वीर्यकर आदिना जमानामां न्यारे सेंकडो गच्छो	347
	एकीसाये विद्यमान होय तारे आवाक्रमिकादि पिंड	
	वगरे छेत्रायां केम बनातुं हुगे ? ए प्रकारनी	
•	शिष्यनी शैंका अने वैना समावानमादे अन्यान	-
	एडले रययात्रादि प्रसंगतुं वर्गन	५२१२३
×	× × •	X
१७७१–१८१६	अनुयान-स्थयात्रामां जवानो विकि	
१७७१—७२	रययात्रा ने नगरमां होय त्यां तेने लोवामाटे जनां	५,२३–३४
•	रधामा छानवा दोषो	
१७७३	ने नगरमां रथयात्राना ठाठमाठ सर्यो नेळाली	े ५२३ :
	गणवा हाथ त्या पहाच्या एकी कालक 🍱	
_	भणन करना मादनी हारनाथा	
१५७४-७७	१ चैलहार	५२३
	चायनिक्चेंद्र, नंगटचेंद्र, शाश्ववचेंद्र अने मकि-	५२३–२४
_	चेत ए चार प्रकारना चलोतुं खुरूप	
१७७८-८इ	र अधिकमहार	4.5
	स्ययात्राना नेळामां जनार सामने नालने	<i>५२५</i> –३६
	मिन्न दोष	ين لا مناس

विषय

गाथा

'पञ

	[तीर्थंकर तेमज साधुओं तीर्थंकर अने तेमनी	•
المسارين المسارين	प्रतिमाने निमित्ते करायेल संवर्तकमेघ, पुष्पदृष्टि	
	आदि प्राभृतिकानो उपभोग करे के नहि ? अने करे	
	वो तेनुं कारण]	
१७८४	२−४ उद्गमदोपद्वार अने शैक्षद्वार ं	**25
,	रथयात्राना मेळामां ज्ञवायी साधुओने लागतो	५२६
	रद्यपात्रामा मळामा प्रामुखा साबुजान लागता उद्गमदोप अने नवदीक्षितोनुं भ्रष्ट थवुं	
१७८५		44714
3064	५-६ स्त्रीद्वार अने नाटकद्वार	५२७
	रथयात्रामां जनार साधुने स्त्री, नाटक आदिना	
0	जोवाथी लागता दोपो	
१७८६	७ संस्पर्शनद्वार	५२७
	रथयात्राना मेळामां साधुने स्त्री आदिना स्पर्शथी	
_	लागता दोपो	
१७८७	८ तन्तुद्वार	५२७
•	रथयात्राना मेळामां जनार साधुने मंदिर वगेरे	
	खळोमां वाझेलां करोळियानां जाळां, पंखीना	
*	माळा, भमरीनां घर आदिने खेरववानुं कहेवा न	•
	कहेवाने अंगे छागता दोपो 🕝	
१७८८–८९	९–१० क्षुल़कद्वार अने निर्धर्मकार्यद्वार	५२७–२८
	रथयात्राना मेळामां जवाधी पार्श्वस्य आदिना क्षुहक	
	शिष्योने अलंकृतविभूपित जोई श्रुहक श्रमणो पतित	
	थइ जाय तेमज ते मेळामां जनार साधुओने पार्श्वस	
	साधुओना आपसआपसना झघडाओ पताववानां	
	कार्यों करवां पडे तेने छगता दोपो	
१७९०-१८०१	रथयात्रामां जवामाटेनां आगाद-	
	खास कारणो	५२८-३०
१७९०	रथयात्राना मेळामां श्रमणोने अवश्य जवा लायक	
	कारणोनी सूचक द्वार गाथा	4.2.6
१७९१-१८०१	१ चैत्यपूजाद्वार २ राजनिमंत्रणद्वार	
12.11 7006	३ संज्ञिद्वार ४ वादिद्वार ५ क्षपकद्वार	`
•	६ कथिकद्वार ७ शङ्कितद्वार ८ पात्र-	•
•	T TIMBLE V HIBUKIN V TI	e e

द्वार १ प्रसादनाद्वार १० प्रवृत्तिर्द्वार ११ कार्यद्वार सने १२ रहाइद्वार

चैतनी प्रच निनिद्दे, राजा अने शक्तना निनंत्र-गरी देननी श्रद्धानां ववारो ऋरवानादे, रययात्राना चलवनो संगान पाइनार ब्राहीना प्रयानयमादे, हरहुं अने हे द्वारा धर्वहुं महात्म्य ववाखानांडे, वर्नक्या व्याच्यानादिहास वर्नेनी उन्नति कंरना-साडे, बंक्ति के कृटाइ गाउँछ सुत्रापनि पृष्ठवासाडे, राञ्चले खाद्यारमूत चोत्य रिज्य खादिनी तनास क्रवासाटे, टीर्वरी प्रमावनानाटे, झाचार्व-द्याध्याय काति देनद राज्यना उत्तर कातिने छन्ता सनाबार सेव्यवसारहे, इन्टनाय-संय व्यक्ति छगतां नार्योनाटे दया बर्नना उड्डाइनी रहामाटे चावुझोए रययात्राना समाग्रेहमर्यी-ठाठनाठवाळा मेळानां परस्य नतुं नोह्ये.

[गाया १७९८ टीहानां—शाठ हमाबको]

१८०२-१५

= =

्र रयपात्राना भैद्यामां यतनाओ च्छरूना, राजा बगेर्सा विनंती आहि , ब्हारपीने ट्हे रपयात्रना नेळानां जनार साबुद्रोप च्याण्य वगेरेनी पहिलेहमा क्रेम कर्दा ? उनदेश क्लां अने देवी घेटे बारकों ? मिहादयी केन देवी ? की बाटक क्रोरेना वर्रन प्रसंगे कैन क्रमेतुं ? मंहिर जातिनां क्रोक्रियानां काळां, पंखीना साळा, मम-र्धनं वर वर्गेर होय देवा यदना केन कर्दा ? हुइन हिप्यों अर्र न यात्र देनादे तेनज पार्वस चाइलीना जर्मान कादिने छगेटा विवाही प्रवाहवा हं व्याह ? इसाहिने व्याची तकाली

[गाम १८१६—इरब्रह्मन्त] X

४ इस्कर्में इस्

इएवर्ने हुं सहर वर्गरहानहै द्वाराया

पत्र

५२८–३०

ધ્રેર–રેઇ

X -438-23

438

१८१६-६९ १८१६

÷

गांचा	विपय	पन
१८१७–२०	१ किंद्वार	५३४-३५
	पुरःकर्म एटले हुं ?	
१८२१–२९	२ कस्यद्वार	५३५-३७
	पुरःकर्मदोप कोने लागे ?, क्यारे लागे ?, पुर:-	•
	कर्मदोषविषयक अष्टभंगी, पुरःकर्म शामाटे कर-	
	बामी आवे ?, पुर:कर्म कर्या पछी जे ज्यां के रीते	
	कल्पी शके तेनुं निरूपण, पुरःकर्म अने उदकार्त्रो-	
	पमां फरक	•
१८३०	र आरोपणाद्वार	५३८
	पुरःकर्म लेवाने लगतां प्रायश्चित्तो	•
१८३१–६९	्र ४ परिहरणाद्वार 	५ ३८–४६
	पुरःकर्म लेवाना निपेधने लगता अविधिनिपेधो	,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,
_	अने विधिनिपेधो	
१८३१–४०	सात प्रकारना अविधिनियेधो	436-39
, .	पुरःकर्म छेवाना निषेधने लगता सात प्रकारना	
	शिष्योना सात अविधिनिपेधरूप आदेशो-प्रकारो	
१८४१–६९	पुरःकर्म छेवाने छगता आठ विधिनिपेधो	ૼ ૡ૪૦ <u>-</u> ૪६
	[गाथा १८५६—पुरःकर्म विषे प्रहाहत्याउं	
	लॅीिक द्रष्टान्त]	
.	B	ؿ
१८७०-२०१३	९ ग्लान्यद्वार	५४७–८२
१८७०-७३	ग्लान साधुना समाचार मळतां साधुओए ते ग्लान	
•	साधुनी खबर लेवा जबुं जोइए	५४७
१८७४	ग्लानद्वारनी वक्तव्यताने छगती द्वारगाथा	५४७
**	8 8 § .	\$\$ _. .
१८७५- ७६	१ शुद्धहार -	५४८
	ग्छान साधुनी रावर पढतां त्यां जर्र ते साधुनी	
	सेवा करनार आदि छे के नहि तेनी तपास फरवी.	
	तपास नहि फरनारने प्रायश्चित्त	
१८७७-८ ६	२ अञ्चानान्द्रार	486–85

A -2	•	
नाथा	विषय	पत्र
* (न्छान साधुनी सेवा करवाघी महा निर्करा याय छे	~ ~ ~
	ए प्रकारनी श्रद्धायी सेवा करवा आवनार माटे	
	सेवाना प्रकारो	
१८८ ३–८ ४	३ इच्छाकारद्वार	<i>पृ</i> ष्ठ
₹ ८८ ₹ <u></u>	न्छान साधुनी सेवामाटे सामा साधुनी भछामण के	
	विनंतीनी अपेक्षा राखनारने प्रायिक्षतादि अने ते	
	विषे सहद्विक राजातं दृष्टान्त	
5.4.0	४ अशक्तहार	द्रभर
१८८५	ग्हाननी सेवा करवामां अक्सक्ति जाहेर करनारने	
•	शिलामण	` -
5 4 4 5 4 m	५ सुवितद्वार	ધુષ્
3556=50		, , , , , , , ,
	न्हान-साधुनी सेवा करवा ज्ञतां हुःख माननारने शयिक्तो	
		**** 0
3666-66	६ अवसानद्वार	યુપ્ય
	उड़ानती सेवा करवा जतां उड़म कादि दोषो छाग-	
	वानी वावने आगळ घरनारने प्रायिश्वत	
१८९०-६६	७ हुन्धद्वार	्र धुपुर-५४
	न्छान साधुनी सेवाने बहाने गृहस्थोने खोयी उन्हर	
	पदार्घ, बल, पात्र आदि छात्रनारने तेमज क्षेत्रा-	
	विज्ञान्त, कालाविकान्त आदि दोषो सेवनारने	
£ _ ?	वया वे होर्ना साधुने निनित्ते धती रहान साधु	•
	तेमज ते क्षेत्रमां वसता गृहस्योनी हेरानगतिने	
	नारणे लागता दोषो अने प्रायक्षित्तो	
3800-65		५५ ५-७५
		5 c €
१९००-६	१ ग्लानानुवर्चना	વષ્ષ્ટ–ષદ્
	ग्लान साधुमाटे पच्यापच्य केन लाववुं ? क्यांची	
	होवतुं ? क्यां राखतुं ? अने ते मेळववांमाटे	
60	गवेपणा-शोध केम कर्वी ?	
980U	२ वेद्यातुवर्त्तना	
·- • • • • • • • • • • • • • • • • •	68 60 7 66	69 - "

विषय

गामा	विषय 🧻	पन्न
१९०७–१०	ग्ळान साधुमाटे विशोपणसाध्य रोगमाटे उपवासनी	-
	चिकित्सा	448-40
१ ९१ १ 📝	आठ प्रकारना वैद्यो	· - 440
१९१२	अन्याचार्येनी मान्यता मुजर्च प्रकारान्तरे आठ प्रका-	
	रना वैद्यो	५५८
१९१३	ग्ळान साधु माटे वैद्य लाववामां आठ प्रकारना	
" 3	वैद्यो पैकी क्रमभंग करनारने प्रायश्चित्तो	५५८
१९१४–३१	ग्लान साधुमाटे वेद्य पासे जवानो विवि	५५९–६३
0	0 0 00 00 00	0.0
१९१४	ग्ळान साधुमाटे वैद्य पासे जवाना विधिने छगती	
	ह्रारगाथा	. ५५९
१९१५–१८	१ नोदकपृच्छाद्वार	५५९
	वैद्य पासे ग्लान साधुने लइ जवो १ के ग्लान साधु	
	पासे वैद्यने ठाववो ^१	
	[गाथा १९१६—प्राप्टितकानो अर्घ]	
१९१९–२०	२ गमनद्वार	५६०
	ग्छान माधुमादे वैद्य पासे केवो साधु जाय ^१	
१९२१	२–४ प्रमाणद्वार अने उपकरणद्वार	५६०
	ग्छान साधुमाटे वैद्य पासे केटला साधु जाय ^१ अने	
	तेमणे पहेरेलां कपडां केवां होय ?	
१९२२–२४	५ शकुनद्वार	५६०-६३
	चेटा पासे जतां केवा शकुन जोवा ^१	
१९२५	६ च्यापारद्वार	५६१
	वैद्य पासे जनार साधुए वैद्यने कयां कयां काम	
	फरतो होय ट्यारे ग्लानने माटे पू छवुं ^१ अने फयां	
	कयां काम करतो होय स्वारे न पृछद् <mark>ुं ^१</mark>	
१९२६२७	७ संगारद्वार	५६१
	वैद्य पासे जनार साधुए वैद्यने घेर आववा शायकने	•
	संकेत करवी	
	वैद्य पासे जईने ग्लान माधुनी तवीअतना समाचार	•
•	फेवा क्रमधी कहेवा ^१ .	•
3		

•	_	पत्र
रत्वा	वि षय -	ধ্ হৃহ
१९२८–२९	८ चपदेशद्वार	
	ग्हान साधुमाटे वैद्यनी भ्रहामण	V. Co. C3
१८ २०–२१	९ तुलनाहार	५६२–६३
	न्छान साबुमादे वैद्ये कहेलां पध्यापध्य आदि छम्य	
	छे के नहि एनी विचारणा अने छभ्य न होय तो	
	वैचने हुं कहेंबुं !	
96		40
१९३२	ग्डान साधुमाटे वेदानुं टपाश्यमां आवतुं	५६३
१९३३–४७	उपाश्रयमां आवेला वेद्य साये केम वर्चर्त्र तेनो विवि	५६३–६७
: : :	; <u>X</u> : :X: :X:	:ž:
१९३३	उपाश्रयमां आवेला वैद्य नाथे केवो वर्त्तीव राज्ववो ?	
	एने छनती द्वारनाथा	<i>६</i> , ६ ३
१९३४–३६	१–२–३ अम्युत्यानद्वार आसनद्वार	
	अने दर्शनाद्वार	ષદ્ધ–૬૪
	वैद्य उपाश्रयमां आने त्यारे आचार्य आदिए उठ-	
	वानो, वैद्यने आसन आपवानो अने न्छान साघुने	
	देखाडवानो विधि. अविधियी उठवा नहि उठवामां	
	तेमज वैद्यने आसन आपवा नहि आगवामां दोषो	
	अने प्रायश्चित्तो	
१९३७	४ भद्रकद्वार	५६४
	ग्लान साधुमाटे खाँपवादिनो प्रवंध क्रोण करहो ए	
	नाटे भद्रक वैद्यनी प्रश्न	
१९३८-४७	५-६-७ भृतिद्वार, आहारद्वार अने	
	ग्डानाहारद्वार	ષ્ દ્ધ–૬૭
	धर्मभावना रहित वैद्यमाडे भोजनादिनी वेमज तेना	
	ञापव आदिना मृत्यनी व्यवस्था करवानो विवि	
: X :	:¤: ;¤: ;¤:	:×;
१९४८–६१	बदारगानची वैद्यने बोछाववानो विवि अने देना	••
	जानपाननी व्यवस्थानी विशिष्ट विवि	५६७–७१
**	**	85 85
१९६२	ग्छान साध अने वैद्यनी सेवा करवानां जारणी	५७१
	· · · · ·	•- 1

गाया	विषय	पत्र	
१९६३	ग्छान साधुनी शरीरछुश्रूपाने रुगता विधिनी		
	भलामण	५७१	
१९६४	ग्लानविषयक अने वैद्यविषयक अनुवर्त्तनाने लगता		
	वक्तव्यनी विशाळता	५७१-७२	
१९६५–७०	वास्तव्य तेमज वहार गामथी वोलावेल वेदाने		
	औपध आदिनुं मृल्य आपवा-अपाववाना विशिष्ट		
	प्रकारो	<i>ૡહર્–હ</i> ૪	
0.040	[गाथा १९६५—ऋयिकतुं दृष्टान्त] ग्टानने तेमज तेनी सेवा करनारने अपवाद सेववा	•	
१९७१	अदि कारणे प्रायश्चित्त	A. co. 19	
१९७२ पृ०	ग्लान् कार्ण प्रायाश्चत्त ग्लानविपयक तेमज वैद्यविपयक अनुवर्त्तनानो उप-	५७४	
1704 %	संहार	५७५	
\$ o \$		***	
	० ९–१० चालनाद्वार अने संकामणद्वार	५७५–७७	
\$ \$ 0 \$ 60 mg	ग्लान साधुने स्थानांतरमां लइ जवानां कारणो तथा	40400	
	एक वीजा समुदायना ग्लान साधुनी सेवामाटे फेर-		
	बदली		
१९८१–८८	ग्लान साधुनी उपेक्षा करनार साधुओने ग्लाननी		
	सेवा करवामाटे शिखामण नहि आपनार आचार्यने		
	प्रायश्चित्त	400-06	
१९८९–९७	जे आचार्य आदि निर्देयपणे ग्लान साधुने संविद्म,		
	असविम, गीतार्थ, अगीतार्थ वगेरे ने ने जातना		
	श्रमणोनी निशामां तेमज उपाधयमां, सेरीमां,		
	गामनी वचमां वगेरे जुदे जुदे ठेकाणे पटना मृकी	•	
	चालता थाय तेमने स्थान वगेरेने लक्षीने वियविध	terret in D	
	प्रकारनां प्रायश्चित्तो	५७८–७९	
१९९८–२००१	१ एक गच्छ, ग्लान साधुनी सेवा केटला बग्गन सुधी करे अने ते पट्टी ते ग्लान माधुने क्यां राखे—संपि		
	कर अन्त त पछ। त कान माधुन प्रया राखन्याप		
	पने स्वाती संघ ज्यवस्था	449-60	
2002-92	एने लगती संघ व्यवस्था केवा प्रकारनां आगार फारणोने प्रसंगे, केटला	५७९–८०	
२००२–१३	एने लगती संघ व्यवस्था केवा प्रकारनां आगाड फारणोने प्रसंगे, केटला विवेकपूर्वक, फेवा प्रफारना ग्लान साधुने पदनो	५५९–८०	

m 411		तिपय		पत्र
गाथा	अक्रवा तेनं निरू	पण अने नेम कर	वाथी ग्छान साधु	.
	श्रुन तनी सेवा	करनारने थना व	ावा	1.60-62
B.	E.	<i>\text{g}</i> .	E.	B,
ವ ೦ ನ ನಿ−್ರತ ಶ ∞.	•	पतिबद्धयथार्वद	क द्वार	५८३–८५
4015-44	चाचना आहिन	कारण गच्छ मा	वे संबंध गणना	
	यथार्छदिककन्य	यारिकाना यन्द्रन	हि ज्यवहार अने	
	नेसना सायकल			
505 <u>5</u> -50	११ उपरि	दोपहार		५८५-८६
	ऋनुबह रोप क	लिमां एक क्षेत्रमां	एक संहना करता	•
	बधारे रहेवाथी	लागना दोषो		
2027-53	१२ अपन			460-66
• , , ,	ऋनुत्रद्ध काळग	यां एक ख़ेत्रमां ए	क मासकत्य करती	ř
			क कारणा अने है	ī
	क्षेत्रमां रहेवाने	तं तेमज मिक्षाच	यो लेबानी विधि	
H	乎	*	外	#
२०३१-४६	७ मास	करपविषयक	वीजुं सुत्र	466-63
•	गाम नगर छ	गादि, किहानी औ	दर अने बहार ए	न
			नुबद्ध काळमां अंदर	
	अने चढ़ार स	ळी व माम एक	क्षेत्रमां निर्धन्थार्थ	Ť
	रश्री हाकाय	,		
२०६४-४६	गाम नगगरि	र्ना बहार बीजो	मासकत्य करतां ह	गं
		र्गार छह जवाना		
	श्रविविश्री छ	र जवामां देश थ	ने प्रायश्चित्त आदि	466-47.
२०४७–२१	७५ ८ मा	तकरपविषय य	त्रीज्ञं सूत्र	५९२-६०६
	निधन्यीना स	।।यकस्पनी सर्याद	7	
२०४७			निधन्थनी माफ	
			ने विशेष है ते	ना
•	कथननी प्रति			५५३
さっととーざん	०५ विद्यार		,	60,5-508
	निप्रन्याना (वहारनुं वर्णन		

३ ८	बृहत्कल्पसृत्र हितीय विभागनो विषयानुकम ।	
गाथा	नि पय	पत्र
२१०३-५	१० द्विमासद्वार	६०६
	साध्वीओ ऋतुवद्घ द्येष काळमां एक क्षेत्रमां वे	
	महिना रही शके तेनां कारणो	
२१०६–८	९ मासकल्पविषयक चोथुं सूत्र	६०८
	गास नगर आदि, किहानी अंदर अने वहार एम	
	वे विभागमां वसतां होय तो ऋतुवद्धकाळमां अंदर	
	अने बहार मळी चार माम एक क्षेत्रमां साध्वी-	
	ओधी रही शकाय. तेथी वयारे रहेवामां प्रायश्चित्त	
	अने दोषो. आपवादिक कारणे रहेवामाटेनी यतनाओ	
२१०९–२४	गच्छवासी अने जिनकल्पिक ए वेमां महर्द्धिक	
	कोण एनुं कथन अने ते विषे गुहासिंह, वे स्त्रीओ	
	अने वे गोवर्ग-वे गायोना टोळानां दृष्टांतो	६०७-१०

॥ अर्हम् ॥ पूज्यश्रीभद्रवाहुखामिविनिर्मितखोपज्ञनिर्युक्तयुपेतं ब्रुह्हित् कुल्पसूत्रम् ।

श्रीसङ्घदासगणिक्षमाश्रमणसूत्रितेन लघुभाष्येण भृ्पितम् । आचार्यश्रीमलयगिरिपादविरचितयाऽर्थपीठिकावृत्त्या तपाश्रीक्षेमकीर्त्या-चार्यवरानुसन्धितया शेपसमग्रवृत्त्या समलङ्गृतम् ।

प्रथम उद्देशः।

[प्रसम्यप्रकृत-मासकलपप्रकृतात्मकः द्वितीयो विभागः]

बृहत्कल्पसूत्रद्वितीयविभागस्य शुद्धिपत्रकम्

पत्रम्	पद्धिः	अ शुद्धम्	ग्रदम्	
२७५	२९	रस गीयत्थे	°स्सऽगीयत्थे	
२८ 8	१९	षड	षड्	
२८५	6	यदुक्त	यदुक्तम्	
२८७	२ १	पश्चात्कृतः	'पश्चात्कृतः'	
३०३	१३	तुह्धे राग°	तुह्रेऽराग [°]	
३२५	१२	गाहित्तए	गाहित्तए,	
इ४४	39	ર	Ę	
३५६	२८	सुमतयः	सुमतयः !	
३९२	२१-२२	[कि प्रमत्तः]	. (किसु प्रमत्तः)	
३९५	१०	°सुत्त°	[°] सत्त [°]	
४८६	१८	एकेक°	एकेक ²	
१७६	१८	স্বার্থা-	वाऽर्था-	
४७६	१९	असई इ	असई्ड्	
855	२४	प्रतिलेख निका°	प्रतिलेखनिका°	
५०१	ॅ २ ४	कारणै.सङ्घा°	कारणैः सद्वा°	
વર શ્	३३	'इतरत्'	'इनरत्' मा॰॥	
५२४	२६	अर्भूत°े	अन्तर्भूत°	
५५१	२५ -	ं अथापमा°	अथावमा [°]	
५५६	. 9	्ञावृत्त्य	आ न् रय	
५८८	३१	द्ा	दो	
६०४	२८	किमुकं॥	किमुकं त० डे॰ कां०॥	
६०६	३१	मात्रकं-	मात्रकृत	



॥ णमो त्यु णं अणुओनमहत्तराणं सुयहराणं ॥

पूज्यश्रीभद्रवाहुखामिसंद्यध्योपज्ञनिर्श्वकिसमेतं

बृहत्कलपसूत्रम् ।

श्रीसङ्घदासगणिक्षमाश्रमणसूत्रितेन रुघुमाप्येण भृपितम् । तपाश्रीक्षेमकीर्त्याचार्यविहितया वृत्त्या समरुद्गृतम् ।

प्रथम उद्देशः।

[मलम्बस्त्राधिकारः।]

अथानुगमद्वारम् । स चानुगमो द्विधा—निर्युक्तयनुगमः स्त्रानुगमधः । निर्युक्तयनुगमिन-विधः—निक्षेपनिर्युक्तयनुगम उपोद्धातिनर्युक्तयनुगमः स्त्रस्पर्शिकनिर्युक्तयनुगमधः । तत्र निर्धेपनि-र्युक्तयनुगमोभिहितः, ओघनिष्पन्ने निक्षेपेऽध्ययनपदस्य नागनिष्पन्ने च कल्पपदस्य निश्चिमत्वाद् वस्यते च स्त्रालापकनिष्पन्ने स्त्रपदाना निक्षेष्त्यमानत्वात् १ । उपोद्धातनिर्युक्तयनुगमः पुनराभ्या द्वारगाथाभ्यामनुगन्तव्यः । तद्यथा—

उद्देसे निद्देसे, य निग्गमे खेत काल पुरिसे य । कारण पचय लज्जल, नग् समोयारणाऽणुगग् ॥ (आव० नि० गा० १४०) कि कड्विटं कम्म करि, केमु कहं केचिरं हवर कालं । कड् संतरगविरहियं, भवाऽऽगरिस फामणनिक्ती ॥ (आव० नि० गा० १४१)

अनयोरथों मृहावञ्यकादिटीकानोऽवसातव्यः २ । सृतस्पर्शकानिर्युक्त्यनुगमः सृत्रपत्या-10 स्थानस्य , स चावसरप्राप्तोऽपि नाभिषीयते, छुनः ! दति नेत , उच्यते—सृत्रमेव तादद्यापि न प्राप्यते, अतः सृत्राभागात् प्रस्य सर्थन परोक्तमो ! इति, अतः क्ष्मप्राप्ते सृत्रानुगमे यत्र मृतं वस्यते तव्य साधवार्थ सृत्रस्थिकनिर्देक्तिमि वस्थान इति । ननु यदि रयस्त्र प्राप्ताप्तमाऽपि नोच्यते नतः क्षमादत्राप्तरे पद्यते ' उच्यते—(प्रस्पाप्तम् —२०००) निर्देक्तिमात्रमाणा-दमावत्राभिषीयन त्यदोप ३ । अतः सृत्रानुगन , स नेत्रानीननगरमान एत्रेन्यत्र सृत्रानुगने सृतः । ध्राप्ताप्तिस्य त्यावत्राभिषीयम् , तत् स्वारापत्रनिर्वेषयेण निर्मपर्यायम्, तनोऽपि स्वप्तार्थन्तिः वर्षयिनार्यायम् । अत्र न स्वारापत्रनिर्वेषयेण निर्मपर्यायम्, तनोऽपि स्वप्तार्थन्तिः वर्षयिनार्यायम् । अत्र न स्वारापत्रनिर्वेषयेण निर्मपर्यायम् । अत्र न स्वारापत्रनिर्वेषयेण निर्मपर्यायम् । वर्षयिनम्यत्यस्य इष्टन्य—पद्यन्तिः

तया मंदिनया मृत्रमुजार्थ मृत्रानुगमः छूनार्था गवित, नामादिनिक्षेपविनियोगं विधाय मृत्राख-पक्षिनप्यतिन्क्षेपः, पदार्थ-पद्धिप्रद्य-वाण्जा-प्रत्यवस्थानच्छाणच्याच्याचनुष्ट्ये कृते सृत्रस्पर्धिक-निर्धुक्तिः । नगमाद्यो नया अपि प्रायः सृत्रगनपदार्थादिगोचम इति तत्त्वनो नयन्छ्यंणं चनुर्थ-मनुयोगद्वारमपि सृत्रसर्धिकनिर्युक्तयन्तःपति प्रतिपत्तच्यम् ।

तथा चार् श्रीजिनसह्यणिक्षमाश्रमणपृत्यः—

हैं।ह् क्रयंथा बार्नु, सपयच्छेयं सुयं सुयाणुगमा । युत्ता यवगनामा, नासाहन्नासविणिश्रोगं ॥ (विद्रो० गा० १००९.) युत्तण्यासियनिज्ञितिश्रोगो संसक्षा पयन्थाई । पायं सा चित्र नेगमन्यादिसयगाश्रमे होह ॥ (विद्रो० गा० १०१०)

10 ानं च सुत्रानुगमाद्यः सुत्रेण समफ्रांच ब्रजन्ति । यन उत्तम---

मृतं सृताणुगमा, यृतायवगगश्रो य निक्रंयेते । यृत्तप्रामियनिज्ञृती, नया य वर्यनि समगं तु ॥

नत्र प्रथमं स्त्रानुगमे मृत्रमुचारणीयम , नचाटानाश्चमदि गुणोपेनम् । तद्यथा—अहीनाश्च-गम् अन्त्यश्चरम् अत्याधिद्धाक्षां अम्पतिनम् अमितिनम् अव्यत्याष्ट्रदिनं प्रतिष्णे प्रतिपृणेचोपं १० कर्ण्टाष्ट्रविप्रमुक्तं गुम्त्राचनापगनम् । एवं च सृत्रे समुचारिनं सित कपाद्मिद् भगवनामुद्धदित-ज्ञानां केचिद्रश्राविकाग अधिगता मविन्न, केचिन् पुनर्नियगताः, तनोऽनिविगनार्थाधिगमनाय व्याप्या प्रकृति । अत्रान्तरं "निक्षेत्रवं" (गाया १४९) द्रत्यादि मृत्याथामुचितं सुत्रार्थद्वारं समापतिनम् । नवदं सुत्रम्—

नो कप्पह निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे तालपछंत्रे अभिन्ने पडिगाहित्तण ॥ [स्त्रम् १]

अय च ज्याच्या पादा । तद्यया---

र्गीतृता च परं चैत्र, परार्थः परित्रित्रदः । चाप्ना प्रयत्रम्यानं, ज्याच्या तत्रम्य पडवित्रा ॥

तत्र मंहिना—ना क्रव्यंत निर्धन्यानां वा निर्धन्यानां वा आमं नाउपलम्बमिनन्नं प्रतिप्रहीतुम् १ । अथ पर्वानित पर्विच्छेटः कर्नच्यः । स चायम्—ना इति पर्वं कर्यने इति पर्वं निर्धन्यानामिति पर्वं वा इति वा इति पर्वं वा इति वा इति

अय पदार्थ उच्यंने—म च चनुर्द्धा, तयथा—काम्कविषयः समासविषयः तिहृतविषयो निम्कितिषयश्च । तत्र कारकविषयः पन्नीति पाचकः, पट्यिति पाटकः, भुज्यत इति माजअनम्, स्विति जनेटिनेनि स्वानीयं चूणम्, क्षयनेटिने इति दानीयोऽतिथिः, विमेति जनेडिमाविति भीमः, शैम्तेड्न्यामिति व्यय्या इत्यादि । ममामिविषयो यथा—आरुदो वानरो यं वृक्षं स आकृत्वानमे युद्ध इति बद्ध्वीदः १, महायाः मनीपमुष्मक्षमित्यव्ययीमावः २, राजः पुरुषो
१ क्ष्यक्षणं तुष्मानुषो ॥॥। राजपुरुप इति तत्पुरुप ३, नील च नटुत्वलं च नीलोललमिति कर्मघारय ४. चतुर्णा गानानां समाहारश्चतुर्मासी इति द्विगु ५. धवश्च खदिरश्च पलागश्च धव-म्वदिर-पलागा इति द्वन्द्व ६ इत्यादि । तद्धितविषयः—नाभेरपत्यं नाभेयः. जिनो देवनाऽन्येति जैन , भट्टवाहुणा प्रोक्तं गाम्बं भाद्रवाहवमित्यादि । निरुक्तविषय·—अमित च रोति चेति अमर , मणा दोते महिष , जीवनस्य—जलस्य मृतः—पुटवन्धो जीमृत इत्यादि, कृतं विम्तरेण । एप चतुर्विधोऽपि पदार्थं ६ समस्तो व्यस्तो वा यो यत्र सुत्रे सम्भवति स तत्र योजनीय इति । सम्प्रति प्रकृतसृत्रस्य पटार्थ उच्यते—नोगळः प्रतिपेघे, "कृपोइ सामर्थ्यं" इत्यत्य धातोर्वर्त्तमानाविभक्तेरात्मनेपर्वायान्यदः-र्थेकवचनान्तस्य कल्पते इति रूपम्, ततश्च 'नो कल्पते' नो समधीभवति, न युज्यते इत्यर्व । एव सर्वत्र प्रकृति-प्रत्ययविभाग शब्दशानानुसारेण स्विया योजनीयः। तथा अन्य -परिगर्ः, स च वाह्या-SSभ्यन्तरभेदाद् द्विधा, वाटाः क्षेत्र-वास्त्वादिः, आभ्यन्तरः क्रोधादि , ततो निर्गता 10 मन्थादिति निर्मन्थाः-साधवस्तेपाम् । एव 'निर्मन्थीना' साम्वीनाम् । वाशव्यावुभवस्यापि वर्गस्य मलम्बकल्यताप्रतिपेधमधिकृत्य तुल्यकक्षतासूचका । 'आमम्' अपकम् । तल⁻-मृक्षविदोपन्तन भवं तालं-तालफलम्, प्रकर्षेण लम्बते इति प्रलम्ब-मूलम्, ताल च प्रतम्बं च तालपरम्बं समाहारद्वन्द्वः । 'अभिन्नं' द्रव्यतो अविदारित भावतोऽव्यपगतजीवम् । किम् ! दत्यात्—'प्रति-महीतुम्' आदात्रमिति पदार्थ ३। 15

पदिवमहस्तु यानि समासमाज्ञि पदानि तेपु. पदार्थमध्य एव वर्णित इति ४ ।

चारुना-प्रत्यवस्थाने तु भाष्यगाथाभिरेव सविस्तर भावयिष्येते इति स्वयमासार्थः ॥ जैध भाष्यकारः प्रतिपद्मेव स्त्रं व्याचिष्त्यायु प्रथमतो नोकारपद निर्वन्थपद च न्यास्यानयति—

अंकार-नकार-मकारा, पडिसेहा होति एवमाईया ।

सहिरत्रगो सगंथो, अहिरच-सुवन्नगा समणा ॥ ८०६ ॥

अज्ञार-नकार-मकारा एवमादयः शब्दा , अज्ञाऽऽदिग्रहणाद् नोकारो गृगते. एते प्रतिपेध्या-चका द्रष्टव्याः, 'अकरणीयं न करोषि, मा कार्षा , नो दुरुषे' उत्यादिष्यगीपा प्रतिपेध्या-चिनां प्रयोगदर्शनात् । तथा सहिरण्यकः समन्ध उच्यते, अत्र हिरण्यमरणं वाणा-ऽऽभ्यन्तर्गार-प्रहोषलक्षणम् , ततो य सपरिम्रहः स नग्रन्थः । श्रमणाः पुनरिरण्य-मुवर्णका अनो निर्मन्या । हिरण्यं-कृष्यं सुवर्ण-कनकम् । अत्र न "कन्यते" इति पद गुगण्याद् भाष्यकृता न क्ष्यास्यातम् , निर्मन्यीशब्दब्युत्पनिर्णि निर्मन्थशब्दवद् द्रष्टन्याः विक्रनामकृतभेदन्यादनयोदिनि ॥ ८०६ ॥ अथ नोकारराव्यन्येव भाषनां फरोति—

> नोकारो रालु देसं. पडिसेहयई कवाइ कप्पिसा । आमं च अणणात्ते. तली य रालु उम्मए होइ ॥ ८०७ ॥

नोरान्द्रः प्रायो देशप्रतिभेभे वर्शते. यथा "नोपट " रत्युक्ते पर्यस्यक्षान् क्यान्यद्विकः प्रशायनं, १३ एक्सप्रापि नोजारो देश प्रतियेशयति । नवधेदर्शकं भप्रति—-स्वाचितः स्वयंत्र नावप्रवर्शः, दलार्थप्रदक्षे देशे तावस कन्यते धार्त्यान्यके पुनरप्रसार्थे सन्तिवर्शति भाव । '-एम न'

१ अध सूत्रस्पशिकनिर्मुक्तिविस्तरेण प्रति^० स०॥ २ आपर णकार मकरा अ०॥

आन्द्रज्य 'अन्यत्वे' अन्यमांत्र वर्ते । तिसुक्ते गत्रि :—पृषेक क्याविनीमण्याव्याम-पृथ्य नदुक्तका त्याविनी पत्रावस्य अन्या—अग्राधीमत्रीयेने, नद्रमञ्जये ज्यावस्या-याममञ्ज्यो वर्तेने । नक्ष्यज्ञक्षोत्त्रवे मदिन, द्रावीय स्क्रम्यक्षेणोत्त्रकृषेणोत्त्रिते। यो सूत्र-विद्योगः म नद्र--नालहरू इति सावः; नत्र सर्वे नाके-नालह्यस्यस्य ॥ ८०० ॥

पहिलंबणा पर्छवं, अविदारिय सो वर्यति उ असिर्घ । अहवा वि द्व्य सावे, तंपहराहणं निवारेह ॥ ८०८ ॥

'अतिस्मात' अति—अक्षेंग स्वतं इति 'अस्मान' नस्य तसहस्य मुस्त् । तथा स्वद् अविद्यतितं 'को' इति पद्युर्गा तद् वदन्ति शृतंगिद्रतो अभिन्न । अथ्या अभिन्ने द्विया— 10द्वस्यते मावत्व । तत्र द्वस्यां यद् अविद्यतित्त , भावतः पुत्रस्थागतदीवस् । 'तस्रतिष्ट्गं' तस्य—अस्तास्मान्यस्याभिन्नस्यद्वातं निवास्थित रोकार इति । एत स्वस्तादेः ॥ ८०८ ॥

र्ज गालयने पात्रं, में लाइ व छह्ममंगलं ने ने । जा य अणुज्या मच्चा, कहमिन्छनि मंगलं ने तु ॥ ८०९ ॥

इह सहन्यवास निर्के पृष्टिंगिर्माण्यमीयवायने—मां 'कानि' दुर्गना पननां गृहानि एपं च गान्यनीति महाव्य । गृन्छ निरुक्तमञ्जीर व्यते, यन आह्—यदिदं 'नो कायट' ह्यादि सुतं नन एपं सांनवदनयनियहणानां गान्यनि, तथा मामिनि—आपद्रव्यं नग्नानां ध्रमनां कानि—अपद्रव्यं नग्नानां प्राप्तां कानि अपद्राप्तां निर्वाचित्रकां । विष्ठ—यदि प्रतियमवायद्रमाहां महत्त हृष्टम् तते। या अन्वद्राह्मा प्राप्तां वर्मना वा सा सर्वाच्या महत्त्रं महत्ते । यदि नामेनं ततः किन् । ह्याह—'कार्यं केन महाने पा सर्वाच्यानां महत्त्रमान्यन्ति । विष्ठानं महाने—यदि प्रतिवृद्धां प्रतियम् विष्यविद्धान्यादेव महत्त महत्त्रमान्यने नार्द्ध धर्म-प्राप्ताह्मयोः महत्त्रमान्यन्ति, उन्तर्भविद्धान्यादेव महत्त्र महत्त्रमान्यन्ति नार्दि धर्म-प्राप्ताह्मयोः महत्त्रमान्यन्ति, उन्तर्भवानां महत्त्रमान्यन्ति । क्ष्यान्यन्ति । क्ष्यान्ति । क्ष्यान्य प्रतिविद्यान्यन्ति । क्ष्यान्ति महत्त्रमान्यन्ति । क्ष्यान्ति । क्ष्यान्यन्ति । क्ष्यान्ति । क्ष्यान्यन्ति । क्ष्यान्यन्ति । क्ष्यान्यन्ति । क्ष्यान्यन्ति । क्ष्यान्ति । क्ष्यान्यन्ति । क्ष्यान्ति । क्ष्यान्ति । क्ष्यान्ति । क्ष्यान्ति । क्ष्यान्यन्ति । क्ष्यान्ति । क्ष

पात्राणं समणुण्णा, न चेत्र सन्त्रस्मि अत्थि समयस्मि ।

तं जह अमंगलं ते, कयरं णु हु मंगलं तुन्झं ॥ ८१० ॥ 'पापाना' माणिवधादीनां समनुज्ञा नेवान्ति सबीन्मन्नपि 'समये' सिद्धान्ते. न केवलमंत्रव सुत्रे इत्यपिशब्दार्थः, किन्तु सर्वत्रापि प्रतिषेघ एवः ततो यदि ते 'तत्' नयाविषयपि पापप्र-तिषेधकं सूत्रममद्रस्य ततः कतरद् 'नुः' इति वितर्के 'हु.' निश्चये तव मजलं भविष्यति ?, न ऽ किमपीत्यर्थः ॥ ८१० ॥ किञ्च-

> पावं अमंगलं ति य, तप्यिंडसेही हु मंगलं नियमा। निक्खेंचे वा बुत्तं, जं वा नवमम्मि पुट्यम्मि ॥ ८११ ॥

पापं नियमादम् रहम् , तत्रतिपेधः पुनर्नियमाद् मङ्गरून् , यत एवं नतो माङ्गलिकनेतन् स्त्र-मिति । तथा चात्र प्रयोग —माइलिकं "नो कप्पर् निगाथाण वा निगांथीण वा" (३० १ 10 स्०१) इत्यादि स्त्रम् , पापप्रतिपथकत्यात् , इह यद् यत् पापप्रतिपेधकं तत् तद् माङ्गलिकम् . यथा ''सब्बे जीवा न हंतव्या'' इत्यादि वचनम् . पापप्रतिपेधक चेद सूत्रम् , तसाद् माहाल-कम् । अथवा 'निक्षेपे' नामनिप्पन्नरुक्षणे ''छिष्टि १ सत्तिविहे या २, दसविह ३ बीमज्ञि-है य ४ वायाला ५ ।" (गा० २०४) इति पञ्चविधभावकल्यमन्त्रन्धायातन्य पञ्चकल्पस्यादी

वंटामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिमसयलसुयनाणि ।

15

युत्तस्य कारगमिसिं, दमाण कप्पे य ववहारे ॥ (गा० १)

इत्यधिकृतस्त्रकारनमस्काररूपं यद् मुझलमुक्तम्, यद्वा 'नवमे पृवें' प्रत्याख्याननामके प्रथमपारम्मे यद् मझलाभिधान कृतं तनवास्य स्त्रम्य माजलिकत्व मन्तन्त्रमिति ॥ ८१२ ॥ अथेरथमपि स्थापितं सृत्रस्य माजलिकत्वं स्वामहाभिनिवेशादप्रतिपयमानं परगुपरुभ्य स्रिरिटमाह—

अदागसमी साह, एवं मुत्तं पि जी जहा वयह । तह होइ मंगलममंगलं व कछाणदेसिस्स ॥ ८१२ ॥

: 3

''अद्दाग''चि आदर्श.—दर्पणग्नलामं —तलादृशः साधुः । क्रिमुक्त भवति '—यथा वर्षशे स्वय्यतो निर्मलेऽपि तत्तदुपाधिवशनः सुन्दरा-ऽसुन्दरस्याणि प्रतिरपाणि विस्तेत्यन्ते नथा माधुमपि परममङ्गलभूत दृद्धा मङ्गलबुद्धि कुर्वत प्रशनन्त्रतोवृत्तेभैन्यम्य मङ्गल भवति, तदिनम्स संक्षिप्रकर्मणो दूरभन्यादेरमङ्गलयुद्धि कुर्बाणस्मामङ्गल भवति । 'एवम्' आउर्ध-मायुद्धान्तेन १३ सूत्रमपि स्वरूपनः परममङ्गलभूत यो यथा बदति तस तथव 'मङ्गल्यमङ्गलं वा भवति' मङ्गल-बुच्या परिगृतामाण महत्वम् अमहत्वतुच्या तु परिगृतामाणममहत्वं भवतीत्वर्थः । एवं न गाहत्वि-फेडिप सूत्रे यदि त्यममहत्वुहिं करोपि भन्तु तरिं कल्याणहेरियो भवनोऽनहत्य् ॥ ८१२ ॥

किन्नान्यत्-

जह वा मञ्जनिमेहो, हवेज तो कप्पणा भवे एसा । नंदी य भारमंगल, युन्तं तत्तो अणसमिटं ॥ ८१३ ॥ याशब्दः प्रत्यस्थानस्य प्रजाननगेण्यर्थनार्थः ।

स्यान् तनो भवेन् तावकीना प्रतिषेषकत्वाडमङ्गळमित्येषा कत्र्यना । यन्नान् पुनरत्र नोशव्दै। डेशप्रति-पेघ एव वर्तत अतः परिफल्गुरियं भवटीया कल्पनेति । यद्वा 'नर्न्टा च' पञ्चप्रकारज्ञानस्तपा नावमद्गरुसुच्यते, तच "नटी य मंगलद्वा" (गा० ३) इत्यादिना प्रन्येन पीटिकायां प्रोक्त-मेव । यदि नाम प्रोक्तं तनः किमायातम् व्हत्याह्—'तस्माच' नन्दीरूपाट् भावमङ्गलात् 'अन-उन्यत्' अप्रयामृतमिदं म्त्रम्, अस्यापि श्रुनत्वान् श्रुतस्य च ज्ञानपञ्चकान्तर्गतत्वादिति भाव इति; अतोऽपि माइिक्हमिटम् ॥ ८१३ ॥ तदेवं स्यापिनमनेकथा भाष्यकृता मृत्रस्य माइिक्हलम् । संन्यति निर्युक्तिकृद् नोशक्दामियेयस्य प्रतिषेयस्य निर्वेषमनन्तरोक्तमर्थं च मृचयन्नाह—

पडिसेहम्मि उ छकं, अमंगलं सो नि ने मने बुढ़ी। पात्राणं नदकरणं, तदेव रालु मंगलं परमं ॥ ८१४ ॥

'प्रतिपेवे' प्रतिपेवित्रपयं 'पर्कं' नाम-स्यापना-द्रव्य-खेत्र-काल-भावलक्षणं निक्षेपणीयम् । 10 तत्र नान्न' प्रतिपेयः 'न वक्तव्यममुकं नाम' इतिलक्षण , यथा-

थज्ञण पज्ञण वा वि, वर्षा जुड़िपड ति य ।

माउँढो भायणिज्ञ त्ति, पुत्ता नत्तुणिय त्ति य ॥ (दृग० थ्र० ७ गा० १८)

है हो हले चि अने चि, महा मामिय गोमिय ।

होल गोल वसुल ति, पुरिसं नेवमालवे ॥ (दब्ब० अ० ७ गा० १९) इत्यादि । 15 स्यापना आकारा मूर्त्तिरिति पर्यायाः, तस्याः प्रतिपेवो यथा—

वितर्ह पि तहामुचि, जो तहा मासए नरे।

मो वि ना उद्दो पावेणं, किं पुणं नो सुसं वए १॥ (ढञ्च० अ० ७ गा० ५)

द्रव्यप्रतिपेघो ज्ञर्शर-मञ्ज्यवर्शरव्यतिरिक्तः युनरयम्—

नो कप्पद्द निमायाण वा निमायाण वा आमे नाल्यलंबे अमिन्ने पंडिगाहित्तए ति । 20 क्षेत्रपतिषेत्रो यथा—नो कप्पइ निमांथाण वा निमांथाण वा [रातो वा वियाले वा] अद्भाणगमणं प्त्रण् (ह० १ स्० १७०)। काल्यतिपेवो यथा-

25

अत्थंगयन्मि आङ्बे, पुरत्था य अणुनाए ।

आहारमञ्चं सर्वं, मणसा वि न पत्थए ॥ (दश्च० अ० ८ गा० २८)

मावप्रतिषेघ श्राद्रयिकमावनिवारणरूपो यथा—

कोहं माणं च मायं च, लोमं च पावबहुणं ।

वमें चर्चार दोसे ट, इच्छंतो हियमपणा ॥ (दश्च० अ० ८ गा० २७) इत्यादि ।

अत्र च मुत्रे द्रव्ययतियेथेनाथिकारः । तथा 'स इति' यतियथोऽमङ्गलिनि 'ते' तव बुद्धि-80 भेंदेन् सा चायुक्ता, यन पापानां यदकरणं तदेव न्वलु परमं मझलं ज्ञातव्यमिति पूर्वमेव सावि-

१ "अवेदानीमनमेवार्वं स्वस्पारीकानियुक्तया दिनान्यनि" दनि सूर्णो ॥ २ "साव्यनिपेवने-हाविद्यारः, द्यान्तदनुष्क्षेत्र व्याद्याताः । सान्यतिषेत्रेऽपि एटेन्द्रियनस्यनियतिष्वेनाधिकार् " दति चृषिकाराः॥

ņ,

तम् ॥ ८१४ ॥ तदेवमुक्तः सह्नेपतः सृत्रार्थ । सम्प्रति विन्तरार्वं सृत्रस्पशिकनियुक्ता प्रतिपाद्यितुमाह—

आइनकारे गंथे, आमे ताले तहा पलंबे य । भिन्नस्स वि निक्खेबो, चउक्कओ होइ एकके ॥ ८१५॥

तत्राऽऽदिनकारपदं वित्रियते । शिप्यः प्रश्नयति—योऽयमादे प्रतिपेषः न नजरेण भवनु मा नोकारेण, तद्यथा—

"न कप्पइ निगंथाण वा निगंथीण वा आमे तालपलंते अभिन्ने पडिगाहित्तए"। 10 एवं च कियमाणे सूत्रं लघु मवति, "मात्रयाऽपि च सृत्रत्य लाघव महानुत्यवः" इति विहत्य-वादः, नोशव्देन पुनः प्रतिपेवे विधीयमाने स्त्रगोरवं भवति । अत्राचार्य प्रतियक्ति—भद्र ! कारणमत्रास्ति यतो नोकारेण प्रतिपेधः कियते । आह—िक पुनन्तन् कारणम् द उच्यते—

पिंडसेहों उ अकारों, मांकारों नो अ तह नकारों अ । तन्भाव दुविहकालें, देसे संजीगमाईसु ॥ ८१६ ॥

प्रतिषिध्यतेऽनेनेति 'प्रतिषेधः' प्रतिषेधको वर्ण.. स चतुर्गा—अजारो माकारा नोकार-स्तथा नकारश्च । तत्राऽकारग्नद्भावप्रतिषेध करोति । माकार पुनिद्धंविध्ययारुविषय प्रतिषेषग्, तद्यथा—प्रत्युत्पन्नविषयम् अनागतविषयं च । नोकारो देजप्रतिषेयग् । नकार पुनः 'सर्योगादि'पु' स्योग-समवाय-सामान्य-विद्योपचत्रप्रयप्रतिषेधं करोति ॥ ८१६ ॥

तत्राकार-माकार-नोकाराणामुदाहरणान्याह---

निवरिसणं अवडोऽयं, मा य घडं भिंद मा य भिंदिहिति।
नो उ घडो घडदेसो, तिव्यवरीयं च जं दच्यं।। ८१७॥

्व निर्दर्शनमिति जातावेकवचनम् , ततोऽमीपा प्रतिपेषकवर्णाना यभागमं निर्दर्शनानि । - अकारस्य तङ्गावप्रतिपेधे निर्दर्शन यथा—अघटोऽयिगति । न एटा अघट । एटन्यिति न एटा अघट । एटन्यिति न एटा छिकः पदार्थ तस्यर्थ । माकारो वर्षमाना-ऽनागनक्ष्यिति पर्य य । ना घट निर्दर गाः पट भिल्यि । मोकारो वर्षमाना-ऽनागनक्ष्यिति पर्या ना घट निर्दर गाः पट भिल्यि । नोकारो देशप्रतिष प्रकारक्ष्य । या या — नोषट एसुक्ते घटकदेश क्षालादिकोऽवयव । निर्दर्शन या अस्य इत्य पटा विकास ॥ ८१७॥

अप नयोगाडिविषयं नक्तारप्रतिपेध गावयति---

मंजोगे समदाए, सामने चन्द्र नहा दिसेने अ। कालनिए पटिसेतो, जन्युदर्शामी नकारम्य ॥ ८१८॥

25

संयोगे समबाये सामान्ये विद्योप चिति चतुर्घा प्रतिपयो नकारस्य मवति । म च प्रत्येकम-तीता-ऽनागत-वर्तमानस्थ्रणकारुत्रिकविषयन्वाद्देककिन्निय इति मर्यमद्द्यया द्वाद्यविष्यो नकार-प्रतिपेषः । यत्र च कापि नकाग्स्यापयोगा भवति नत्रामीपां द्वाद्यानां मेटानामन्यतमः प्रतिपेषः प्रतिपत्तस्य इति ॥ ८१८ ॥ अय सयोगादिषु यथाक्रमं प्रतिपष्यसुदाहरति—

नित्य घरे जिणद्त्तो, पुट्यपिस्द्वाण तेनि द्राण्हं पि । संजोगा पिडिसिज्बह, न सच्चसा तेसि अन्यित्तं ॥ ८१९ ॥ समजाए खर्गसंगं, सामन्त्रे नित्य चंदिमा अनो । नित्य य घडप्यमाणा, विसेमओ होति म्रुताओ ॥ ८२० ॥

'नानि गृहे जिनदत्तः' इत्यत्र प्रयोगे पृत्रेप्रसिद्धयोन्त्रयोगृह-जिनदत्त्रयोद्धयोर्पि 'संयोगः' 10सम्बन्यमात्रं प्रतिपित्र्यते न पुनः मर्थेयेव तयोगन्तित्वमिति संयोगप्रतिषयः ॥ ८१९ ॥

समवायप्रतिषये तु न्वरशृहसुदाहरणम् न्वरोऽप्यन्ति शृहसप्यन्ति परं खरिश्वरिति शृहं नान्तीति 'समवायः' एक्त्र सर्छेष उमयोगिष प्रतिषित्र्यते द्ति नमवायप्रतिषयः । सामान्यप्रतिषयो यया—नास्यन्तिन् स्थाने जन्य इंद्रग्रश्चन्द्रमा इति । विद्यापमाश्रित्य पुनरयं प्रतिषयः —न सिन घट्यमाणाः 'सुन्ताः' सुन्ताप्रह्णानीत्र्ययः, मिन सुन्ताप्रह्णानि परं न घट्यमाणानीति घट- १६ भमाणत्त्रच्छणस्य विद्योषस्य प्रतिषिच्यमानत्वाद् विद्योषप्रतिषयः ॥ ८२०॥

मानितः संयोगादिचतुष्टयनिषयः प्रतिषयः । सैम्यित काल्त्रयनिषयं तमेव मानयति— नेत्राऽऽसी न मनिम्मद्द, नेत्र घडो अन्यि इति तिहा काले ।

पडिसेहें नकारा, नर्ज तु अकार-नोकारा ॥ ८२१ ॥

नेवागीत् न मिविष्यिति नेवान्ति घट इति यथाक्रममतीता-ऽनागत-वर्तमानमेदात त्रिया काल-१९ विषयं वस्तु नक्षारः प्रतिषययित । अकार-नोकारा तु 'सद्यः' वर्तमानकालमेव प्रायः प्रतिषय-यतः, यथा—अकरोषि त्वस्, नो कल्पने ताल्पल्यंते ॥ ८२१ ॥

इत्यं सपरखं प्रतिपेत्रसुपवर्ण्यं प्रम्नुतार्थयोजनामाह—

नम्हा खढ़ पडिसेहं, नोकारणं करेंति णऽणोणं।

नम्हा उ होज गहणं, कयाइ अववायमामञ्ज ॥ ८२२ ॥

यन्मान् खु प्रतिषेत्रं नोकारणय कृतंन्ति सगवनः सृत्रकृतो नान्येन नकारादिना नत एव ज्ञायन-भवेद् प्रहणं कृताचिन ताज्यकम्बस्यापवादपदमासाँचति ॥ ८२२ ॥

त्र्यान्यानमीदिनकाग्परम् । अयं यन्थारदम—नस्य च नामादिमदाचनुर्या निक्षेपः । तत्र नाम-स्यापने गन्नार्थे । द्रव्ययन्थिषया—सिचना-ऽचित्त-मिश्रमदान् । तत्र सचित्रश्रम्यक्रमाले-४०स्यादि, अचिन एकार्वाबद्दागदिकः, सिश्रः शुक्तरत्रमिश्रिना यस्नुमाठा । मानयन्थम्नु स

१ पम्य प्र° में। के। शाह ॥ १ "आह मारुएम कालेग्डेशः इत , यम—हित्यक कातिषेषक इति, न तु रोषापम, तम्बद्धका रोषणां कार्यक्रम उच्चते १ प वा १" कव्यतरां सूर्णों ॥ ३ अका-रोषि दें। में। के। ॥ ४ मादिनोक्ता में। के।॥ ५ त्यादिमाला । असि में। के।॥

15 दश

30

वार प्रन

उच्यते येन क्षेत्र-वास्त्वादिना कोधादिना वा अगी जन्तव. कर्मणा सहाऽऽत्मान ग्रन्थयन्ति । त च भाष्यकार एव सविग्तरं व्याख्यानयति—

> सो वि य गंथो दुविहो, वज्झो अन्मितरो अ वोधन्तो । अंतो अ चोदमविहो, दसहा पुण वाहिरो गंथो ॥ ८२३॥

यदि नामैव द्विविधो प्रन्थमतो निर्भन्य इति किमुक्तं भवति ? इत्याह—

सहिरत्रगो सगंथो, नित्य सँ गंथो ति तेण निग्गंथो। अहवा निराऽवकरिसे, अवचियगंथो व निग्गंथो॥ ८२४॥

सिहरण्यक इति ''एकग्रहणे तज्ञातीयग्रहणम्'' इति न्यायाद् हिरण्य-सुवर्णादिवाद्यग्रन्थसित 10 उपलक्षणत्वाद् आन्तरग्रन्थयुक्तश्च सग्रन्थ उच्यते । 'नाम्ति' न विद्यते ''से" तस्य तथाविधो द्विविधोऽपि ग्रन्थः स निर्मन्थ । अथवा निर्मन्थ इत्यत्र यो निर्म्थन्दः स. 'अपकर्षे' अपचये वर्षते, ततश्चापचित'—मतनृकृतो ग्रन्थो वाद्य आभ्यन्तरश्च येन स निर्मन्थ उच्यते ॥ ८२४ ॥

अथ यदुक्तं ''त्राब्वो ग्रन्थो दगधा'' (गा० ८२३) इति तद् विवरीपुराह— स्रेतं १ वत्थुं २ धण ३ धन्न ४ संचओ ५ मित्त-णाइ-संजोगो ६।

जाण ७ सयणा-ऽऽसणाणि य ८, दांसी-दासं च ९ कुवियं च १० ॥ ८२५ ॥

'क्षेत्रं' धान्यनिप्यत्तिस्थानम् १, 'वास्तु' भृमिगृहादि २, 'धनं' सुवर्णादि ३, 'धान्यं'

बीजेंजाति १, 'सञ्चय' तृण-काष्ठादिसङ्ग्रहः ५, मित्राणि-सहदो ज्ञातय.-स्वजनाः सयोगःश्वसुरकुरुसम्बन्ध इति त्रिभिरप्येक एव प्रन्थ. ६, 'यानानि' वाहनानि ७, 'शयना-ऽऽसनानि च'
पर्यद्व-पीठकादीनि ८, दाखध दासाध दासी-दासम् ९, 'कुप्यं च' उपस्कररूपम् १० इति । 20
एप दश्विधो प्रन्थः ॥ ८२५ ॥ अथेनमेव प्रतिभेदं यथाकम व्याचष्टे-

खेत्तं सेउं केउं, सेयऽरहट्टाइ केउ वरिसेणं। भृमिघर वत्यु सेउं, केउं पासाय-गिहमाई॥ ८२६॥

क्षेत्रं द्विधा—सेतु केतु च । तत्र ''सेयऽरहट्टाइ''ित अरहट्टादिना सिच्यमानं यद् निप्प-धते तत् सेतु, अत्राऽऽदिशब्दात् तडागादिपरिग्रहः । यत् पुनः 'वर्षण' मेघवृष्ट्या निप्पद्यते ²⁵ तत् केतु । वास्त्यपि सेतु-केतुभेदाद् द्विधा । भृमिगृह सेतु, प्रासाद-गृहादिकं केतु । तत्र नरे-न्द्राध्यासितः सप्तभ्मादिरावासविदोपः प्रासादः, गृहं रोपजनाधिष्ठितमेकभूमादिकम्, आदिग्रह-णात् कुटी-मण्डपा-ऽपैवरकादिकं परिगृष्यते ॥ ८२६ ॥

तिविहं च भवे वत्थुं, खायं तह ऊसियं च उभयं च । भूमिघरं पासाओ, संबद्धघरं भवे उभयं ॥ ८२७ ॥

अथवा वास्तु त्रिविधं भवेत्, तद्यथा—खातं तथा उच्छितं च 'उभयं च' खातोच्छित-

१ दासो दासी य कु॰ ता॰॥ २ भा॰ षा॰ विनाडन्यत्र—वीजजाति ४ डे॰ त॰ छे॰। बीजादि ४ मो॰॥ ३ °पवारिका॰ मो॰ छे॰ का॰॥

मित्यवेः । त्रिविधमपि कमणोडाहरति—"मृमिधर"मित्यादि । खानं मृमिगृहम् । उच्छिनं पासाद , उपलक्षणन्वाद्न्यद्प्येकमृम-द्विम्माद्किं गृह्मुच्छितम । यत् पुनः पासाद-गृहादिकं मृमिगृहेण सम्बद्धं तद् मवत् 'उमय' खातोच्छितम् ॥ ८२७ ॥

घडिएयरं खलु घणं, सणसत्तासा विया भवे घन्ने।

तण-कहु-नेछ-चय-मंग्रु-चन्याई संचओ बहुहा ॥ ८२८ ॥ 5

यद् घटितम् 'इनरद् वा' अघटिनं नुवर्णादिकं नद् घनमुच्यते । तथा शणं सप्तदशं येपां तानि वणमप्तद्शानि बाजानि घान्यं भवदिति । तानि चामृनि---

धान्यमप्त-हेशक्रम

प्रस्य

त्रीहियंत्रो मस्रो, गोष्युमा सुद्र-माप-तिल-चणका ।

अणवः प्रयद्भ-कोद्रवनकुष्ठकाः शालिराहक्यः ॥

किञ्च करु।य-कुळ्या, शणसमद्रशानि बीजानि । इति । 10

तया तृण-काष्ट^{भे}ल-चृत-म*यु-बम्मादीनाम् चादिश्च*डाद् वुम-यलालादीनां सद्वहरूपः सङ्घयो बहुया इष्टन्य इति ॥ ८२८ ॥

सहजायगाइ मिना, नाई माया-पिईहिं मंत्रद्धा । समुरकुलं संजागो, निष्णि वि मित्ताद्यो छहो ॥ ८२९ ॥

महजातकाद्य सुहरो मित्राणि, आदिग्रहणान् महवर्द्धिनकाः सहपांशुक्रीडिनकाः महदार-15 द्धिनश्चेति । ज्ञानयो मानु-पिनृमन्यद्धाः, नानृकुङमम्बद्धाः पिनृकुङमम्बद्धाःश्चेन्यर्थः । तत्र मानु-कुळ्यम्बद्धाः मानुन्र-मानाप्रहाद्यः, पितृकुळ्यम्बद्धाः पितृत्य-पिनामहादयः । श्रयुर्कुळं सयी-गाँडमिर्वायते, किसुक्तं भवनि ?—श्वसुरकुरुपक्षिका ये केचिन् श्वसुर-श्वश्रृ-शालकादयसेपां सम्बन्धः संबोग उच्यने । एने मित्रादयस्त्रयोऽपि पत्नाः पष्टो ब्रन्थः ॥ ८२९ ॥

जाणं तुं आसमाई, पहुंक्तग-पीटिगाइ अहुमओ । 20 दामाइ नवम दसमी, लोहाइउयक्यमे कृष्यं ॥ ८३० ॥

यानमिति लानावेकत्रचनम्, तनाऽयम्यः—यानानि पुनरश्चादीनि, आदिखळाद् गन-वृषम-य-ग्रिविकार्तानि । तथा पञ्चङ्कार्तानि ग्रयनानि, पाठिकार्तानि च आयनानि, एप ग्रय-ना-ऽऽसनक्षेगेऽष्टमा ग्रन्थ । दासादिकः सर्वोऽप्यनुजीविवर्गो नवमा ग्रन्थः । तथा छोहादिक

था उपन्तरः क्षुप्यमुच्यते । तत्र छोड्रापन्त्रमा छोड्मयस्यक्षी-सुद्दालिका-सुटार्गादकः । आदिसञ्जाद् मानिकोपन्क्रमे बर्टादकः, कांस्रोपन्करः स्त्राव-कचोलकादिक इत्यादिक सर्वाटीय परिगृद्धते । एय दशमी बन्ध ॥ ८३०॥

प्रकारितो द्यावियोऽपि वाब्यन्यः, सम्यति चतुद्यवियमम्यन्तरं मन्यमाह्— कोही ? माणो २ माया ३, लोमी ४ पंज ५ तहेब दानी अ ६।

श्विमच्छन ७ वेद ८ अन्द ९, न्द १० हाम ११ सोगो १२ मय १३ दुर्गुछा १४॥८३१॥ केथे। माना माग छामेश्रीन चन्द्रांगेऽपि प्रनीता ४ । येमघटंद्रेनामित्रहरूखणा गगाऽपि-र्धायने ५ । दोपदाळेन त्वर्यानिकरुक्षणो हैय॰ ६ । 'मिय्याचन' अईत्यर्णाननस्वविषरीताव-

१ तृ रहमाई नः । २ दारिकादि देः॥

वोधरूपम् । तच द्विविध वा त्रिपष्टाधिकशतत्रयभेट वा अपरिमितभेद वा । तत्रानाभिम्रहिक-माभिम्रहिकं चेति द्विविधम् । अनाभिम्रहिक प्रथिव्यादीनाम् । आभिम्रहिकं तु पड्विधम्—

नित्थ न निचो न कुणइ, कयं न वेएइ नित्याण ।

नित्थ य मोक्खोवाओ, छिबह मिच्छत्तऽभिगगहिय ॥ (कल्पवृहद्भाप्ये)

त्रिपष्टाधिकशतत्रयविध पुनरिटम्---

5

असियसयं किरियाणं, अकिरियवाईण होइ चुल्सीई । अण्णाणी सत्तद्दी, वेणइयाणं च वत्तीसा ॥ (सूत्रकृ० नि० गा० ११९)

अपरिमितभेद तु-

जावइया नयवाया, तावइया चेव होंति परसमया । जावइया परसमया, तावइया चेव मिच्छत्ता ॥

10

एवमनेकविकल्पमपि सामान्यतो मिथ्यात्वशब्देन गृह्यते इति सप्तमो मेढः ७ । वेढिसि-विधः की-पु-नपुंसकभेटात् । तत्र यत् खियाः पित्तोदये मधुराभिलाप इव पुर्स्यभिलापो जायते स क्षीवेदः, यत् पुनः पुसः केप्मोदयादम्लाभिलापवत् स्त्रियामभिलापो भवति स पुंचेदः, यतु पण्डकस्य पित्त-केप्पोदये मिल्लाकाभिलापवदुभयोरिप स्त्री-पुंसयोरिभिलापः समुदेति स नपुंसकवेद इति त्रयोऽप्येक एव भेदः ८ । तथा यदमनोज्ञेषु अल्द्रादिविपयेषु सयमे वा जीवस्य चित्तो-15 हेगः सा अरतिः ९ । यत् पुनस्तेष्वेव मनोज्ञेषु असयमे वा रमणं सा रतिः १० । यतु सिनिमत्तमित्तमित्त वा हसति तद् हास्यम् ११ । प्रियविप्रयोगादिविह्रलचेतोष्टत्तिराकन्दनादिकं यत् करोति स शोकः १२ । सिनिमत्तमनिमित्तं वा यद् विभेति तद् भयम् १३ । यत् पुनर-स्नाना-ऽदन्तपवन-मण्डलीभोजनादिकमपर वा मृतकलेवर-विष्टादिकं जुगुप्सते सा जुगुप्सा १४ । एप चतुर्दशविधोऽप्याभ्यन्तरग्रन्थ उच्यते ॥ ८३१ ॥ प्रस्तुतयोजनामाह—

सीवज्ञेण विमुक्ता, सर्विभतर-वाहिरेण गंथेण । निग्गहपरमा य विदु, तेणेव य होंति निग्गंथा ॥ ८३२ ॥

सावद्यः—सपापः कर्मोपादाननिवन्धनत्वाद् यो प्रनथस्तेन साभ्यन्तर-वाह्येन ये मुक्तास्ते निर्भन्था उच्यन्ते, येऽपि चाऽऽन्तरप्रनथेन न सर्वथा मुक्तास्तेऽपि; येन विद्वांसः क्रोधादिदोप-वेदिनस्तथा 'निप्रहपरमाः' तिर्विजयप्रधानाः, तेनैव कारणेन ते निर्भन्था भवन्ति ॥ ८३२ ॥ 25

अधाऽऽन्तरग्रन्थमधिकृत्य ये मुक्ता ये चामुक्तारतदेतदभिधित्सुराह—

केई सव्वविमुका, कोहाईएहिं केइ भइयव्वा । सेढिदुगं विरएत्ता, जाणसु जो निग्गओ जत्तो ॥ ८३३ ॥

'क्रोधादिभिः' आन्तरग्रन्थेः केचित् 'सर्वविमुक्ताः' सर्वेरिप विषमुक्ताः, केचित् पुनः 'भक्तव्याः' विकल्पनीयाः, केश्चिद् मुक्ताः केश्चिदिप न मुक्ता इत्यभिष्रायः । अत्र शिष्यः ३० प्राह—कथ नु नामेव ज्ञास्यते 'अमी सर्वथा मुक्ता अमी च न मुक्ता ' हति, उच्यते— 'श्रेणिद्विकम्' उपग्रमश्रेणि-क्षपकश्रेणिरुक्षण 'विरचय्य' यथोक्तपरिपाट्या स्थापयित्वा ततो जानीहि

१ °न्यदाब्देन ° मो० छे०॥ २ सावज्ञगंथमुका ता०॥

यः 'यनः' क्रोबोटोर्नर्गनो अनिगनो वित् ॥ ८३३ ॥ अय केयसुण्यमश्रेणिः १ का वा साकः श्रेणिः १ इन्याग्रङ्कारनादाय प्रयम्त उरग्ययेगीमाह्-

द्धरहरू-3797:

अण इंस नपुंति-योवेय च्छकं च पुरिसवेयं च । द्ये द्ये एतंतरिए, मस्मि समितं उत्रसमेह ॥ ८३४ ॥

इद्रोक्युमें श्रेणः प्रारम्बद्रोध्यमननंयनः, समावै। युनः प्रमन्त्ययेगे विकासम्यन्द्रियं। संका । यन उनसः - -

> उन्मानगर्महीण, पहुनुजो अप्यनतिकाजो छ । पक्तवसाँग से वा, होह पमनो अविग्यो वा ॥ (विद्योव गाव १२८५)

अविग्द-देश्विग्द-अम्ना-अम्नुनंबरानासन्बरमः प्रतिप्रवेतं इत्येक् । प्रतिपनिकस्थायम्— 10''श्रण''नि प्रथमतो शुगण्यन्तर्भहर्त्वेनानन्तातुर्थन्यनः क्रोध-मान-माया-छोमानुपञ्चमयि । ननः 'दर्शनं' मिळान्द-सन्योग्य्यान्द-सन्यन्दर्शनमेदान चित्रियमी युगम्दुयशमयनि । सर्वत्र युगपदु-पग्रमनकार्गे उन्तर्नेहर्नेदमार्गे। हष्ट्रच्यः । तने। यदि पुन्यः प्राप्यकृतनः प्रथमं नर्नुमक्तेवस्यः, पश्चान् कीवेदम्, नने हान्य-गत्य-उनि-छोङ्ग-मय-जुगुऱ्नायद्कल्, तनः पुरुपवेदम्; अय की यागिनका ततः ययमं नरुंकक्षेत्मः, पथात् पुरुष्टेदमः, तते हान्यादिपद्क्षमः, ततः छीवेदमः; 1) अथ नर्रुसक एव प्रारमकानतः प्रथमे कीवेदम्, एक्षात पुरुषेवदम्, ततः पर्कम, ततो नर्एक्कंडम । तथा क्वा है। अप याच्यान-अत्याच्यानकी क्रायदिकी 'एकार्नाकी' सड्य-जनकोबायनारितः 'सहका' तुरुणवुष्यमच्य सहयोगवेग्यनयति । इयमय भावना-अयन्या-म्यान-प्रन्याच्यानी कोवी कें वन्त्रेन एम्परं सहवी सुगपतुष्यम्यति, तनः सङ्बन्यकोषमैकाकिन नंपदः तत्रोऽप्रन्याच्यान-ययाच्यांना मानाः तदः सङ्कलनमानमः तत्रोऽप्रत्याच्यान-यन्याच्याने ४) मार्थे. ततः सङ्घञ्जनायामः ; तैतोऽप्यययाच्यान-ययाच्याने। छोसी, ततः सङ्घन्नकोरम् । तं नोण्डमणॅबिया कोति, आधी है। माँग युगम्हुम्यमयनि, तृर्तार्य मार्ग मक्सेयानि खाडानि क्रोनि. त्रान्यीत पृथक पृथकः कार्यमेदंनोपश्यमपति, पुनः सद्येयस्वयद्यानां चरमस्यदम-मकंग्यानि नग्हानि क्रोनि, तदः समये समये एक्ट्रें नग्हन्तरामयनि । इह च द्रश्नसमके उप्यानं गति निवृत्तिवाद्र.. ततः उर्त्वमिववृत्तिवाद्रंग यावद् क्रीमस्य द्विचरमं सङ्गेयखण्डम्,

25न्मसम्द्रेण्यन्यन्त्रस्य पुनरमद्वेण्यन्यन्यस्यम्यन्, मृद्दसप्रथमयः उच्यने । स्यापना—

१ "तने अस्तामानं च नोसं प्रस्कातात्रमा च कीसं उपने दवासित, तने संदर्भा कीसं संदे-क्री बंदाि क्रोति, गर्दमंदं व बंदे प्रकासितो बादम्बंग्माची य द्वापक्षे राज्यति, एग्में खंदं दब-र किंगे को क्वेडिक शिले करे को कात गाँउ ते अक्वेडिक बंदाि क्वेति, क्वेस व बंदर्थ व परार्गामने रहम्मागुर्थ र उपरामके लक्ष्मी, रमा, रमा ग्रीके ग्रीटे उपमामित, उदा ते अतिके अमेंबेर्ट्स केरे द्वानीके करते नदा द्वानीकारिये मर्गत ' देते चूर्णिः ।।

म॰ होभ अप्र॰ होग प्र॰ होग स॰ माया। अप्र॰ साया प्र॰ गाया नि॰ सान |अप्र॰ मान । प्र॰ मान | स॰ की र ्राप्र-काय प्रश्नेभ पुर्च० | द्याय | रित | अरित | भय | शोक | जुगुणा | न० वे० मि॰ मिश्र म॰। अने काथ अने मान अने गाया अने होम। एव निःश्रेयसपटमश्रुते, उत्कर्पन पुनर्देशो-

एव समापितोपञमश्रेणीक उपञान्तमोह-वीतरागगुणस्थानकमनुभवन् यथाख्यातचारित्री भवति । स च यदि वद्धायुः प्रतिपद्यते तद-यस्थश्च श्रियते ततो नियमादनुत्तरविमानवा-सिपृपपद्यते, अणिप्रच्युतस्य पुनरनियम्: 15 अथावद्वायुम्नतो जवन्थेनकसमयमुत्कर्पतोऽन्त-मुंहूर्त्तमुपगमकनिर्भन्थो भृत्वा नियमतः कापि वम्तुनि छुव्धः पुनरप्युदितकपायः श्रेणिमति-लोममावर्च्य देचाप्रतिपातेन सर्वप्रतिपातेन वा मतिपतित, यतो नामौ जघन्यतोऽपि तद्भव 10

नापाई,पुद्गलपरावर्त ससारं ससरति । यत उक्तम्-

तम्मि भन्ने निघाणं, न लहड उक्कोसओ नि ससारं। पोग्गलपरियदृद्धं, देमृण कोइ हिडेजा ॥ (विद्यो० गा० १३०८)

अस्यां चोपञमश्रुण्यां प्रविष्टेन येन यद् अनन्तानुबन्ध्यादिकमुपञमितं स उपञमनां प्रतीत्य 15 तेन विप्रमुक्त उच्यते ॥ ८३४ ॥ प्ररूपिता उपगमश्रेणिः । क्षपकश्रेणिमाह— अण ४ मिच्छ ५ मीस ६ सम्मं ७, अद्व १५ नपुंसि १६ न्थिवेय १७ छकं च २३। पुमवेयं च २४ खवेई, कोहाईए अ संजलणे २८ ॥ ८३५ ॥

क्षपक-श्रेणि

20

इह् क्षपक्षेत्रणिमविरत-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसयतानामन्यतम उत्तमसहननः प्रशम्तध्यानी-पगतमानसः प्रतिपद्यते । तेंदुक्त क्षपकश्रेणिप्रक्रमे-

पडिवत्तीए अविरय-देस-पमत्ता-ऽपमत्तविरयाणं ।

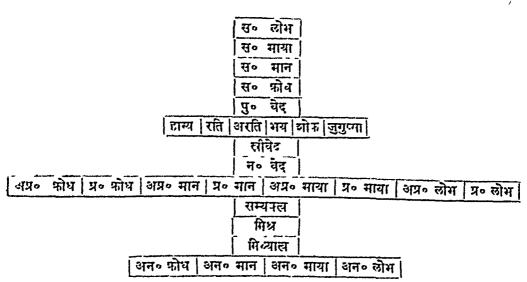
अन्नयरो पडिवज्जट, सुद्धःज्ञाणोवगयचित्तो ॥ (विद्यो० गा० १३१४)

तत्र पृ्वेविटपमत्तः शुक्काध्यानोपगतोऽपि प्रतिपद्यते, शेपाम्तु धर्मध्यानोपगता एवेति । प्रति-पत्तिक्रमश्चायम्---प्रथममन्तर्मुह्र्त्तेनानन्तानुवन्धिनः क्रोधार्टीश्चत्वारोऽपि युगपत् क्षपयति । तद-नन्तभागं तु मिश्र्यात्वे प्रक्षिप्य तेन सह मिश्र्यात्वं क्षपयति । तस्याप्यनन्तभागं सम्यग्मिश्र्यात्वे 25 प्रक्षिप्य तदिप सावरोपं क्षपयित । आह कि पुनः कारणं सावरोपं क्षपयित र इति, उच्यते— यथा खल्वतिसम्भृतो दावानलो दरदम्धेन्धन एवेन्धनान्तरमासाद्योभयमपि दहति एवमसावपि क्षपकम्तीत्रशुभपरिणामत्वात् प्राक्तने कर्मण्यैनि शेपित एवापरं क्षपयितुमारभते । एवं सम्यग्मि-थ्यात्वस्यावरोपं सम्यक्तवे प्रक्षिप्य तेन सह सम्यक्तवं निरवरोपमेव क्षपयति । यदाह चूर्णिकत्-30

जं तं सेसं तं सम्मते छुभित्ता निरवसेस खवेइ ति ।

ग्तच बद्धायुष्कापेक्षं सम्भाव्यते, औवश्यकादो तमेवाधिकृत्य सम्यक्त्वनिरवशेपक्षपणस्यो-क्तत्वात् । इह च यदि बद्धायुः प्रतिपद्यते अनन्तानुवन्धिक्षये च व्युपरमते ततो मिथ्यादर्शनोद-

१ यदुक्तं हे॰ त॰ ॥ २ °ण्यल्पदो° हे॰ त॰ ॥ 3 हारिमहीयटीका पत्र ८४-१॥



एनां च क्षपकश्रेणिमध्यासीनेन येन यदनन्तानुबन्ध्यादिक क्षपितं स तेन मुक्त इत्यवसात-व्यम् । येऽपि श्रेणिद्वयमद्यापि न प्रतिपद्यन्ते किन्तु सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-कानामन्यतमस्मिन् तयमे वर्त्तन्ते तेऽपि सङ्ग्वलनचतुष्टयवर्जद्वीद्यभिः कपायेर्मुक्ता इत्यवगन्त-व्यम् । यत उक्तम्—

वारसविहे कसाए, खिवए उवसामिए व जोगेटि । हिन्म विसेसा इमे पंच ॥ (आव० नि० गा० ११३)॥८३५॥ ततश्च—

जे वि अ न सन्त्रगंथेहिं निग्गया होति केइ निग्गंथा। ते वि य निग्गहपरमा, हवंति तेसिं खउज्जुत्ता॥ ८३६॥

येऽपि च सरागस्यमवर्तिन. सर्वेभ्य आन्तरमन्येभ्यो न निर्गताः तेऽपि 'तेपां' सङ्घलनक-10 पायादीनां 'क्षयोद्यक्ताः' उदयनिरोधोदयप्राप्तविफलीकरणाभ्यां क्षयकरणायोद्यताः सन्तः 'निम्रह-परमाः' आन्तरमन्थनिम्रहमधाना भवन्ति इत्यतो निर्मन्था उच्यन्ते ॥ ८३६ ॥ अपि च—

कलुसफलेण न जुजह, किं चित्तं तत्थ जं विगयरागो । संते वि जो कसाए, निगिण्हई सो वि तत्तुल्लो ॥ ८३७ ॥

कलुपयन्ति—सहजिनर्मलं जीवं कर्मरजसा मिलनयन्तीति "अच्" (सिद्ध० ५-१-४९) 15 इति अच्प्रत्यये कलुपा —कपायास्तेषां यत् फलं—परुपभाषण-नयनमुखिवकार-रौद्धध्यानानुबन्धा-दिक तेन सह यद् 'न युज्यते' न सम्बन्धमुपयाति 'विगतरागः' विशेषेण—अपुनर्भावेन गतो रागो यसात् स विगतरागः, क्षीणमोह इत्यर्थः । तत्र 'किं चित्रम् " किमाश्चर्यम् कष्णयस्यस्य कष्णकारणाभावाद् न किञ्चिदित्यर्थः । यस्तु 'सतोऽपि' विद्यमानानिष कपायान् 'निगृह्णाति' उदीयमानानेव प्रथमतो निरुणद्धि कथञ्चिद्धव्यप्राप्तान् वा विकलीकरोति सोऽपि 'तत्तुल्यः' 20 वीतराग इव निष्कपायो मन्तन्यः, सतामपि कपायाणामसत्कल्पताकरणात् । अतः सरागसय-तोऽपि निर्मन्थोऽभिधीयते इति ॥ ८३० ॥ अथ परः प्रश्नयति—

जइ अटिंभतरमुका, वाहिरगंथेण मुक्कया किह णु । गिण्हंता उवगरणं, जम्हा अममत्तया तेमु ॥ ८३८ ॥

यद्यनन्तरोक्तप्रकारेणाऽभ्यन्तर्यम्थमुक्ताग्नतो वन्त्र-पात्रादिकमुपकरणं गृहन्तः कथं 'नुः' इति वितर्कं वाद्यप्रन्थेन मुक्ता उच्येरन ', वन्त्रांटर्पि अन्यन्त्रपत्यादित्यिमप्रायः । सृरिराह—यसात् उ 'तेषु' वन्त्र-पात्रादिषु न विद्यते ममत्वं—मूच्छी येषां ते 'अममत्वकाः' ''द्रोपाद्वा'' (सिद्ध० ७— ३—१७५) इति कच्प्रत्ययः मूच्छीरहितास्तेन वाद्यप्रन्थमुक्ता अप्यमियीयन्ते । इयमत्र मावना— मूच्छी परिग्रहो गीयते न तृपकरणादिधारणमात्रम् , ''मुच्छा परिग्रहो वुत्तो'' (दर्यवे० ख० ६ गा० २१) इति वचनात् । अतः सयमोपष्टम्मादिनिमित्तमुपकरणं धारयन्त्रपि विद्युद्ध-चेतोष्टित्परिग्रह एव ज्ञातच्यः । तद्वक्तं परमगुरुभिः—

10 अज्ञत्यविमोहीए, उनगरणं बाहिरं परिहरंतो । अपरिग्गहो त्ति भणिओ, जिणेहिं तेलोक्टंसीहिं॥ (ओवनि० गा० ७४५)॥ ८३८॥ गनं अन्थपटम् । अथाऽऽमपटं विवरीपुराह—

> नामं ठवणा आमं, द्व्यामं चेव होह भावामं । उस्सेह्म संसेह्म, उवक्पाइं चेव पिलयामं ॥ ८३९ ॥

ाठ स्तर्भ स्तर्भ, उपम्याज प्रमाण १ प्राप्ताम । उर् । व्यामं चतुर्था, तद्या—नामामं स्थापनाम द्रव्यामं भावामम् । तत्र नाम-स्थापने गतार्थं । द्रव्यामं पुनश्चतुर्था, तदेव दर्भयति—"उस्तेद्दम" द्वत्यादि । उन्-ऊर्द्धं निर्गच्छता वाप्पेण यः स्तरः स उत्तेदः, उत्तेदंन निर्वृत्तपुत्तेदिसम्, "भावादिमः" (सिद्धः ६—४—२१) इति स्त्रेण द्वमप्रत्ययः, उत्तेदिमं च नदामं च उत्तेदिमामम् १ । सम्-एकीभावेन स्तेदः संस्तेदः, तेन निर्वृत्तं सस्तेदिमम्, तदेवामं सस्तेदिमामम् २ । तथोपम्कृता—राद्धा ये वस्त-चणकादयः, 20 तेषा मध्ये यदाम तदुपस्कृतामम् ३ । पर्यायः—स्वामाविक आपाधिको वा फलाना पाकपरिणामः, तिसन् प्राप्तेद्रिप यदामं तत् पर्यायामम् ४ ॥ ८३९ ॥ अथोत्सेदिमादिचतुष्ट्यमेव व्याचष्टे—

उस्तेहम पिट्टाई, तिलाह संसेहमं तु णगिवहं । कंकडुयाह उनक्खड, अविपक्करसं तु पिलयामं ॥ ८४० ॥

उल्लेदिमं 'पिष्टादि' पिष्टं-सुक्मनन्दुलादिचुणेनिष्पत्रम्, तद्धि वस्त्रान्तरितमधःस्वितस्यो25 प्णादकस्य वाप्पेणोन्तिद्यमानं पच्यतं, तत्र यदामं तद् उल्लेदिमायम्, आदिग्रहणाद् भरोलादिपरिग्रहः । सलेदिम पुनन्तिलादिकमनेकविधम्, इह कवित् पिठरादो पानीयं तापियत्वा पिठरिकाया प्रक्षिप्तान्तिलानेनोष्णोदकेन सिन्धन्ते नतमे तिलाः संस्थिनते, तेषां संस्थिनानां मध्ये
ये आमान्तत् संस्विदिमामम्, आदिग्रहणेन यदन्यद्ष्येतेन क्रमेण मस्त्रिद्यते तत् संस्विदिमामम् ।
तथा चणक-सुदार्दानासुपस्कृताना ये कङ्गदुकाद्य आमान्ते उपम्कृतामम् । पर्यायामं पुनरिवपकरसं
30 फलादिकसुच्यते ॥ ८२० ॥ तच्चविंचम्, तद्यथा—

इंघण धृमे गंघे, वच्छप्पलियामए अ आमविही । एमा राह्य आमविही, नेयच्ची आणुपुर्चीए ॥ ८४१ ॥

१ सिध्यन्ते दे० त० का ०॥

õ

इन्धनपर्यायामं धूमपर्यायामं गन्धपर्यायामं वृक्षपर्यायामित्येव पर्यायामे आमिविधिश्चतुः-प्रकारः । एप खलु आमिविधिर्ज्ञातच्यः 'आनुपूर्व्या' यथोक्तया परिपाट्या । यद्वा आनुपूर्वी नाम वक्ष्यमाणलक्षणा पलालवेष्टन-गर्जाखनन-करीपप्रक्षेपणादिका यथायोगमामफलपाचनाय रचना तया ज्ञातच्य आमिविधिरिति ॥ ८४१ ॥ अथेन्धन-धूमपर्यायामे विवृणोति—

> कोद्दवपलालमाई, धृमेणं तिंदुगाइ पचंते । मञ्झऽगडाऽगणि पेरंत तिंदुया छिद्धृमेणं ॥ ८४२ ॥

कोद्रवपलालादिकिमिन्धनमुच्यते, आदिग्रहणेन गालिपलालपरिग्रहः, तेन चाऽऽप्रफलादीनि फलानि वेष्टियता पाच्यन्ते, तत्र यान्यपकानि फलानि तद् इन्धनपर्यायामम् । तथा धूमेन तिन्दुकादीनि फलानि पाच्यन्ते, कथ पाच्यन्ते ? इत्याह—"मज्झऽगडाइ"ित प्रथमतो गर्ताया मध्ये करीपः प्रक्षिप्यते, तत्याश्च गर्तायाः पार्श्वेप्वपरा गर्ताः खन्यन्ते, तासु च गर्तासु तिन्दु-10 काटीनि फलानि प्रक्षिप्य मध्यमायां करीपगर्तायां "अगणि"ित अग्निर्दीयते, तासां च "परंत"ित पर्यन्तगर्ताना श्रोतांसि मध्यमगर्त्तया सह मीलितानि कियन्ते, ततस्तस्याः करीपगर्तायाः सकागाद् धूमन्तैः श्रोतोभिः पर्यन्तगर्तासु प्रविगति, ततस्तिच्छद्रसम्बन्धिना धूमेन प्रसरता तानि फलानि पाच्यन्त इति, तेपा मध्ये यदामं तद् धूमपर्यायामम् ॥ ८४२ ॥

अथ गन्ध-वृक्षपर्यायामे भावयति-

15

अंवग-चिव्भिडमाई, गंधेणं जं च उवरि रुक्खस्स । कालप्पत्त न पचइ, वत्थप्पलियामगं तं तु ॥ ८४३ ॥

आम्रक-चिभेटादीनि आदिशब्दाद् बीजपूरकादीनि यान्यपकानि फलानि तेपां मध्ये पकानि प्रक्षिप्यन्ते, तेपां गन्धेन प्राक्तनान्यामकानि पच्यन्ते, तत्र यद् अपकं फलं तद् गन्धपर्यायामम् । तथा ''जं च''त्ति चशब्दस्य पुनर्श्वत्वाद् यत् पुनर्श्वस्योपिर शाखाया वर्त्तमानं काले—बसन्ता-20 दिलक्षणे पाकसमये प्राप्तेऽपि परिपकेप्वप्यपरफलेपु न पच्यते तद् वृक्षपर्यायामम् ॥ ८४३ ॥

व्याख्यातं चतुर्विधमपि पर्यायामम् । तद्याख्याने च समर्थितं द्रव्यामम् । अथ भावामखरूपं निरूपयति---

> भावामं पि य दुविहं, वयणामं चेव नो य वयणामं । वयणाम अणुमयत्थे, आमं ति हि जो वदे वर्क ॥ ८४४ ॥ नोवयणामं दुविहं, आगमतो चेव नो अ आगमतो । आगमें नाणुवउत्तो, नोआगमओ इमं होइ ॥ ८४५ ॥

25

भावाममपि द्विविधम्—वचनामं चैव नोवचनामं च । वचनरूपमामं वचनामम्, अनुमतार्थे 'आमम्' इति यः 'वाक्यं' वचनं वदेत् तद् वचनामम्। यथा—कोऽपि साधुरीरूणां कार्येण गच्छन्न-परेण पृष्टः—आर्थ ! किं गुरुकार्येण गम्यते ?, स प्रत्याह—आमम्, एवमेतदित्यर्थः ॥ ८४४॥ ३०

नोवचनामं द्विविधम्—आगमतश्चेव नोआगमतश्च । तत्रागमत आमपदार्थज्ञानयुक्तस्तत्र नोपयुक्तः, उपयोगस्य भावरूपत्वाद् ज्ञानस्य चागमरूपत्वात् । नोआगमतो भावाममिदं भवति ॥ ८४५ ॥ तदेवाह—

उगामदोसाईया, भावतों अस्तंतमो अ आमिविही । असो वि य आएसो, तो वरिससयं न प्रेह ॥ ८४६ ॥

उद्गमदोषाः—आचाकमीद्यः, आद्यहणाद् उत्पादनादोषा गृषणादोषाश्च, एतद् भावामं प्रतिपत्तव्यम् । तथा च आचागङ्गसूत्रम्—

सज्ञामगंधं परिचाय निरामगंधो परिचए (श्रु० १ अ० २ उ० ५)।

'अनंबमश्च' पृथित्राद्युगर्न्ड्ट्यणे मावतः आमिवविदेव ज्ञातत्रयः, चारित्रापकताकरणात् । बद्दाऽन्योऽपि 'आदेखः' प्रकागे मञ्चते—यो वर्षद्यतायुः पुरुष आद्युक्तोषक्रमेण वर्षद्यतमपूर्विचा त्रियते मोऽपि मावत आमः, आयुषः परिपाक्तमन्तरेण मरणात् । अत्र च द्रव्यामेणाविकारः, तत्रापि वृक्षप्रयोगांनण, द्रोपाणामुचारित्वमद्द्यतया विनेयद्युत्पाद्नार्थं प्रसद्भतः प्रकृषित10त्वात् ॥ ८२६ ॥ व्यान्व्यातमामग्रदम् । अय ताल्यदं विवृणोति—

नामं ठवणी द्विए, नालो भावे य होह नायव्यो । जो भवित्रो सो नालो, द्व्ये मृहत्तरगुणेसु ॥ ८४७ ॥

नामनाङः खारनाताङो इत्यनाङो सावताङ्ख सवित ज्ञातत्र्यः । तत्र नाम-खापने क्षुणे । इत्यनाङः पुनर्यम्—"को भविउ' नि यः खुड 'भव्यः' भाविनाङ्पर्यायः । स च विद्या—

15 एकसविको बढायुकोऽसिमुखनाम-गोत्रथ । तत्रकमिवको नाम यो विवक्षितस्वानन्तरं ताङ्केने नाप्यक्ते, बढायुकोऽसिमुखनाम-गोत्रथ । तत्रकमियुक्ते नाम यो विवक्षितस्वानन्तरं ताङ्केने नाप्यक्ते, बढायुको येन ताङोप्यियोग्यनायुःकम् बढम्, असिमुखनाम-गोत्रः पुनर्विपाको-द्यासिमुक्ताः वृद्यक्तिम्बनाम-गोत्रकर्मा नाङ्केनोतिन्त्रया विविध्वज्ञाव्यव्याद्यास्य इत्यताङो । यहा इत्यताङो हिविधः—मृत्युणिनवीर्तन चन्त्रुणिनवीर्तन्थ । तत्र चायुषः परिक्षयाद्यगत्रज्ञांको यः स्वन्यादिक्षम्नाङ स मृत्युणिनवीर्तनः, यस्तु काष्ट-चित्रकर्माद्विवाङित्तिः स उत्तर्गुणिन
29विर्तितः । एष इत्यताः ॥ ८४७ ॥ सम्यति सावनाङमाह्—

माविष्म होंति नीवा, जे तस्म पिनगहे समक्लाया । विद्ञा वि य आंद्रमा, ना तस्म विजाणका पुरिसो ॥ ८४८ ॥

'भावें' भावविषयमाळे ये जीवाः 'तस्य' ताल्य परिग्रहे मृल-कन्द्रादिगनासे सर्वेऽपि सर्श्वादनाः सन्तो भावनाल इति समास्याताः, नोआगमन इति भावः । द्वितीयोऽप्यत्रादेखोऽस्ति— 25यः 'तस्य' नाल्य 'विद्याणकः' उपयुक्तः पुरुषः सोऽपि भावनाल उच्यने, आगमन इत्यर्थः । अत्र च नोआगमनो भावनालेनाविकारः, तस्य सम्बन्धि यन् पत्नं तदिह ताल्याकेन प्रत्येनव्यम् ॥ ८४८ ॥ गनं ताल्यदम् । अथ प्रलम्बादं विद्युगोनि—

नामं टबण पलंबं, दब्बे माबे थ होह बोबव्यं । अडबिह कम्मगंठी, जीबो उ पलंबए लेणं ॥ ८४९ ॥

१० नामप्रक्रमं स्वापनाप्रक्रमं द्रव्यप्रक्रमं सावप्रक्रमं च सर्वति बोद्धव्यम् । नाम-स्वापने सुगमे । द्रव्यप्रक्रमं प्रमिवन-पद्मायुक्ता-ऽभिद्यन्वनामगात्रमेदिमत्तं मृखोत्तरगुणमेदिमतं च द्वव्यताख्यद् माव्यक्रमं च सावनाक्रद् वक्तव्यम् । यद्वा अष्टविधः क्रमंग्रन्थिमावप्रक्षमुख्यते । क्षतः १

१ पाताछो द्वे भाव नः॥

इत्याह—येन कर्मणा जीवः तुशब्दः संसारीति विशेषणार्थः 'प्रलम्बते' नेरियकादिकां गति गतिं प्रति लम्बत इति तद् भावतः प्रलम्बम् ॥ ८४९ ॥ अत्र परः प्राह—

तालं तलो पलंबं, तालं तु फलं तलो हवइ रुक्खो । पलंबं च होइ मूलं, झिन्झिरिमाई मुणेयव्वं ॥ ८५० ॥

किमिदं तारुम् १ को वा तरुः १ किं वा प्ररुम्बम् १। अत्र सूरिराह—तारु तावत् फर्रुं तरु- ६ वृक्षसम्यन्धि, तच्चात्रप्ररुम्बमुच्यते । तलः पुनस्तदाधारभृतो वृक्षः । प्रलम्बं पुनर्मूलं भवति, प्रल-म्वराव्देनेह मूलप्रलम्बं गृहीतमिति भावः । तच 'झिज्झियीदिकं' झिज्झिरिप्रमृतिवृक्षसम्बन्धि "मुणेयवं" ज्ञातन्यम् ॥ ८५० ॥ तदेव मूलपलम्बमाह-

> क्षिज्ञिरि-सुरभिपलंबे, तालपलंबे अ सल्लह्पलंबे । एतं मूलपलंत्रं, नेयन्त्रं आणुपुन्त्रीए ॥ ८५१ ॥

10

झिज्झिरी-व्हीपरांगकः सुरभिः-सिग्गुकः तयोः प्ररुम्बं-मूलम् । एवं तालप्ररुम्बं च सलकीपरुम्यम् , चशव्दादैन्यदिष मूरुं यद् लोकस्योपभोगमायाति तदेतद् मूलपरुम्यं ज्ञातव्यमानु-पूर्व्या ॥ ८५१ ॥ अथाम्रमलम्बं विवृणोति---

> तल नालिएर लउए, कविट्ट अंवाड अंवए चेव। एअं अगगपलंबं, नेयन्वं आणुपुन्त्रीए ॥ ८५२ ॥

15

तलफलं नालिकेरफलं लकुचफलं कपित्थफलम् आम्रातकफलम् आम्रफलं चशव्दस्यानुक्त-समुचयार्थत्वादृ अन्यदिप कदलीफल-वीजपूरादिकम् एतदग्रपलम्बं ज्ञातव्यमानुपूर्व्यो ॥ ८५२ ॥ अथ परः प्राह---

> जइ मूल-ऽग्गपलंवा, पिंसिद्धा न हु इयाणि कंदाई। कप्पंति न वा जीवा, को व विसेसी तदग्गहणे ॥ ८५३ ॥

20

यदि मूलप्ररुम्वा-ऽयप्ररुम्वे प्रतिपिद्धे न पुनः 'इदानीम्' असिन् सूत्रे 'कन्दादयः' कन्द-स्कन्ध-त्वक्-शाखा-प्रवाल-पत्र-पुप्प-वीजानि प्रतिपिद्धानि, यतश्चेतेषां प्रतिषेधं न करोति सूत्रं ततो मदीयायां मतो प्रतिभासते—अवस्यमेते कन्दादयः कल्पन्ते प्रतिग्रहीतुं जीवा अपि सन्तः, अथवा तत्त्वतो नाऽमी जीवा भवन्ति, यदि हि जीवा भवेयुस्ततः प्रतिपेघोऽप्यमीषाम-सिन् सूत्रे कृतः स्यात् ; अथेत्थं भणिप्यन्ति भवन्तः—जीवा एवामी न च कल्पन्ते ततः सूत्रं 25 दुर्वद्भम्; अथ व्रवीध्वम्-जीवा अमी न च कल्पन्ते सूत्रं च सुवद्धम्, ततः को वा विशेष-हेतुस्तेपां—कन्दादीनामग्रहणे येन ते न गृहीताः ? इति ॥ ८५३ ॥ अत्र सूरिः प्रतिवचनमाह—

चोयग ! कन्नसुहेहिं, सदेहिं असुच्छितो विसह फासे । मज्झिम्म अह विसया, गहिया एवऽह कंदाई ॥ ८५४ ॥

हे नोदक! यथा दशवैकालिके-

30

१ °दन्यद्प्येवंविधमेतद् मूलप्रलम्बं द्वातव्यमाजुपूर्व्या । आह किमन्येपां सहकारादीनां मूलानि न भवन्ति येनैतान्येवाभिधीयन्ते १ उच्यते—भवन्ति, परमेतेपामेव वाहुल्येन लोकस्य भक्षणोपयोगितेत्येतान्येवोपात्तानीति ॥ ८५१ ॥ अथाग्र° मा॰ ॥

कृष्णमोक्लेहिँ सहेहिं, पेमं नामिनित्रेसए । दाल्गं कक्रमं फामं, काएण अहियामए ॥ (अ० ८ गा० २६)

इत्यसिन् श्लोके "क्रणेनुन्व" नुश्रवः श्रञ्जेरमृज्यिनो मवत्" इति श्रञ्जविषयो रागः प्रतिषिद्धः, "विषद्देन स्पर्धे दारणम्" इत्यनेन नु स्पर्शविषयो द्वेष इति श्रञ्ज्ञ-पन्य-गन्ध-स्पर्शानामिष्टा-६ निष्टरूपत्रया दश्चविधानां मञ्जादिष्टश्चा-ऽनिष्टस्पर्शयोराद्यन्तेयोरेव सृत्ररूपयाये प्रदृणं कृतम्, अन्यथा हेष्ट्रमिष्णत्रच्यं स्थान्—

> कन्ननोक्नेति सहेहिं, पेमं नामिनिवेमण् । दाम्मं कन्नमं महं, सोण्ण अहियामण् ॥ चक्रवसोक्नेति स्वेहिं. पेमं नामिनिवेसण् ।

दारणं कळमं रूवं, चक्तुणा अहियामण ॥ इत्यादिः

परम् "आद्यन्तग्रह्णे मञ्चन्यापि श्रहणनं" इति न्यायाद्यश्चापि मञ्चर्यात्तेनोऽनिष्टशक्टाद्या इष्ट-न्यश्चीना विषया गृहीता नवन्तिः एवनश्चाित 'नृत्रं बृहत्तं ना मृत्' इति हेतोराद्यान्ययोरश्च-मृख्यकम्बयोर्प्रहणे मञ्चर्वात्तनः कन्द्राद्योऽष्टाव्यि गृहीता द्रष्ट्रव्याः । एतेषां मृत्र-कन्द्रादीनां द्यानामपि मेदानां मुख्यतिपत्त्वर्यमियं गाया लिप्त्यते—

गृष्टे कंद्रे खंदे, तथा य माले पद्मल पत्ते य । पुण्के फले य बीए. पलंदयुत्तिम दस मेया ॥

11 642 11

प्रकागन्तरेण प्रतिक्चनगाह—

अहवा एगग्गहणे, गहणं तझातियाण मच्चेमि । तेणऽन्गपलंत्रणं, तु सहया सेमगपलंत्रा ॥ ८५५ ॥

29 अथवा ''एक्ट्रप्रहणे तज्ञानीयानां मर्वेषां प्रहणं मवति' इति न्यायो यन समित तेनाप्रप्र-लम्ब्रप्रहणेन नुशक्काद् मृत्ययनम्ब्रप्रहणेन च शेषाणि—क्रन्टादीनि प्रलम्बानि सुचितानि ॥ ८५५॥ अथ पुनर्षि परः प्राह—

> वलगहणाउ नलस्सा, न कप्पें सेसाण कपाई नामं । एगग्गहणा गहणं, दिष्टंतो होह सालीणं ॥ ८५६ ॥

25 'तळ्प्रहणात् इति उपलक्षणत्वात् वालपल्यत्रप्रधात् वाल्येष सम्बन्धित मृत्य-क्रवादीति प्रस्माति व कर्रान्ते 'शेषाणां पुनः' आम्रादीनां प्रस्माति कर्र्यन्त इत्ययाद्यप्रम्म । 'नाम' इति सन्मान्यनायाम्, सन्मान्यते अयमर्थ इति सादः । सृतिगह—एक्त्यहणात् वज्ञानीयानां सर्वेषां प्रहणं यदित, द्रष्टान्तः शालिस्वन्दि अत्र सर्वति । यथा 'निष्यतः शालिः' इत्युक्ते नेक एव शालिक्त्यो निष्यतः प्रतीयने किन्तु शालिज्ञातिः, तथाऽत्रापि वाल्यक्रव्यद्यंगन न केवरुक्तेव वाल्य अत्र सर्वेषां वृद्यज्ञातीयानां प्रस्मात्युणवानि प्रतिपवन्त्यानि ॥ ८५६ ॥ अय पुनरि प्रश्नयति—

को नियमा उ तन्हेणं, गहणं अनेमि नेण न क्यं तु ।

१ भोरेतन्स्त्र^० त० दे०॥ २ भ्यान्त्रयो^० ने० छे० जिना ॥ २ भ्याः । मृटादीनां द्शाः नामपि सुस्रावयोषाय इयं सङ्ग्रहगाया—मृद्धे मा०॥

उभयमवि एइ भोगं, परित्त साउं च तो गहणं ॥ ८५७ ॥

को नाम नियमस्तलेन येन तस्येव ग्रहणं कृतं नान्येषां वृक्षाणाम् ?। सूरिराह—तालस्य सम्बन्धि मूला-ऽग्रप्रलम्बरूपमुभयमपि 'भोगम्' उपयोगमेति, तथा 'परीत्तं' प्रत्येकगरीरं 'सादु च' मधुरं तद् भवति, अतस्तस्य प्रतिपेधे मुतरामनन्तकायिकादीनां प्रतिपेधः कृतो भवति, ततस्तालस्य ग्रहणं कृतमिति ॥ ८५७॥ गतं प्रलम्बपदम् । अथ भिन्नपदं व्याचिख्याद्यराह— 5

नामं ठवणा (मन्थायम्-२५००) मिन्नं, दन्वे भावे अ होइ नायन्वं। दन्वम्मि घड-पडाई, जीवजढं भावतो भिन्नं॥ ८५८॥

नामभिन्नं स्थापनाभिन्नं द्रव्यभिन्नं भावभिन्नं च भवैति वोद्धव्यम् । नाम-स्थापने क्षुण्णे । द्रव्यभिन्नं घट-पटादिकं वस्तु यद् भिन्नं-विदारितम् । भावतो भिन्नं तु यद् जीवेन जढं-परि-त्यक्तं तद् मन्तव्यम् ॥ ८५८ ॥ अत्र चतुर्भङ्गीमाह---

भावेण य दन्वेण य, भिन्ना-ऽभिन्ने चउक्तमयणा उ । पढमं दोहि अभिन्नं, विड्यं पुण दन्त्रतो भिन्नं ॥ ८५९ ॥ तद्दयं भावतों भिन्नं, दोहि वि भिन्नं चउत्थगं होह । एएसिं पच्छिनं, वोच्छामि अहाणुपुन्त्रीए ॥ ८६० ॥

भावेन च द्रव्येण च भिन्ना-ऽभिन्नयोः 'चतुप्कभजना' चतुर्भङ्गीरचना कर्तव्या । तत्र 'प्रथमं' 15 प्रथमभद्गवर्त्ति प्ररुप्तं 'द्वाभ्यामपि' भावेन द्रव्येण च अभिन्नम् । द्वितीयं पुनर्द्रव्यतो भिन्नं भावतस्त्वभिन्नम् ॥ ८५९ ॥

तृतीयं भावतो भिन्नं द्रव्यतः पुनर्भिन्नम् । चतुर्थ 'द्वाभ्यामिप' भावतो द्रव्यतश्च भिन्नं भवति । 'एतेपां' चतुर्णामिप प्रायश्चित्तं 'यथाऽऽनुपूर्व्यां' यथोक्तपरिपाट्या 'वक्ष्यामि' भणिष्यामि ॥ ८६० ॥ प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

लहुगा य दोसु दोसु य, लहुओ पढमम्मि दोहि वी गुरुगा। तवगुरुअ कालगुरुओ, दोहि वि लहुओ चउत्थो उ ॥ ८६१॥

प्रथम-द्वितीययोर्द्वयोर्भङ्गयोश्चत्वारो लघुकाः, भावतोऽभिन्नतया सचेतनत्वात् । 'द्वयोस्तु' वृतीय-चतुर्थयोर्मासलघु । तथा प्रथमे भङ्गे ये चत्वारो लघुकास्ते द्वाभ्यामि गुरवः तपसा कालेन च । द्वितीये भङ्गे ये चत्वारो लघवस्ते तपसा गुरवः कालेन लघवः । वृतीयभङ्गे यद् मासलघु 26 तत् कालेन गुरु तपसा लघु । चतुर्थस्तु भङ्गो द्वाभ्यामि लघुकः तपसा कालेन च । लघुकं तत्र (त्वत्र) मासलघु द्रष्टन्यमित्यर्थः ॥ ८६१ ॥

उग्घाइया परित्ते, होंति अणुग्घाइया अर्णतम्मि । आणाऽणवत्थ मिच्छा, विराहणा कस्स गीयत्थे ॥ ८६२ ॥

एतानि प्रायश्चित्तानि 'उद्घातिकानि' लघुकानि 'परीत्ते' प्रत्येकप्रलम्बे भणितानि । 'अनन्ते' ३० अनन्तकाये पुनरेतान्येव 'अनुद्धातिकानि' गुरुकाणि ज्ञातन्यानि, प्रथम-द्वितीययोश्चत्वारो गुरुकाः वृतीय-चतुर्थयोस्तु भद्गयोर्मासगुरु प्रायश्चित्तं तपः-कालविशेपितं पूर्ववद् वक्तन्यमिति भावः ।

९ °वति शातव्यम् भा॰॥

15

तथा प्रक्षं गृहता तीर्थकृतामाज्ञामतः कृतो भवति, अनवस्या मिथ्यातं विगवना च संयमा-इत्यविषया कृता भवति । ग्रियः पृच्छिति—क्ष्यतत् प्रायिश्वतमाज्ञाद्यश्च दोषाः १। गृह-शाह—अगोतार्थस्य मिलोरिति । एतच नप्रपञ्चमुपरिष्टाह् भाविष्यते ॥ ८६२ ॥

अय युक्त्वयहणा विम्तरेण प्रायधितं वर्णयितुकाम हमां द्वारगाथामाह---

अन्नन्थ-तन्यगहणे, पडिने अचिनमेव मचिने । स्रुमणाऽऽम्हणा पडणे, उन्नहीं ननी य उट्टाही ॥ ८६३ ॥

प्रस्वप्रहणं हिया—अन्यवप्रहणं तत्रप्रहणं च । इक्षादन्यत्र—अन्यन्मिन् प्रदेशे प्रहणम् अन्यवप्रहणम्, तत्रेय-बृक्षप्रदेशे प्रहणं तत्रप्रहणम् । तथा पतितं वृक्षस्यायन्ताद् यद् गृहाति तद् हिया—अचितं सचितं च । तन्य पतितस्यापामी वृक्षोपार्गस्यतम्बर्गातनाय "स्तुमण" ति १०काष्टादं प्रक्षेपणम् । तथाऽप्यप्राप्ती "आरहण" ति तन्मिन् वृक्षे आगेहणं करोति । आरुदस्य च क्राचित् पतनं भवत् । प्रस्वं गृहनं हृद्य च प्रान्तेन केनचितुपविरपहियेत । तत्रश्रीद्वाहः सङ्गायेतित हारगाथानमानार्थः ॥ ८६३ ॥

त्रिन्तर्गर्वं प्रतिद्वारं त्रिमणिषुः प्रथमनोऽन्यत्रप्रदर्ण निवृणोनि--

अन्णगहणं तु दुविहं, वसमाणेऽटवि वैमंति अंतों विहं । अंताऽऽवण तव्यके, रच्छा गिह् 'अंतों पायं वा ॥ ८६४ ॥

अन्यत्रप्रशं हिविषम्, तयथा—यसित अट्ट्यां च । तत्र यद् वसित प्रदेशे तद् हिया— आमार्डानामन्ता बहिश्च । यद् आमार्डानामन्त्रन्त पुर्नाईविषम्—आपणे तहर्ने च । आपणः— हृद्दः, तत्र स्वितस्य प्रक्रमस्य यद् यद्णं तद् आपणविषयम् । यन् पुनगपणवर्ने गृहे वा ग्र्यायां वा गृहित तत् तह्नेविषयम् । तत्र यद् आपणविषयं तद् आपणसान्त्रवा मवेत् पार्थतो वा । यत् १७ तह्नेविषयं तदि रच्याया गृहस्य वा अन्तर्वा मवेत् पार्थतो वेति । एतच सवेमिष हिया— अपियदं सप्रियदं च । तत्रापणे तहने वा अपियदं गृहानस्य द्रव्य-क्षेत्र-कारु-भावमेदात् चतुवियं प्रायक्षितम् ॥ ८६० ॥ तत्र द्रव्यतुलावदाह—

कत्वदृदिहें छहुआँ, अहुपत्तीय छहुग ते चेव । परिवहमाणदेशि, दिहाई अनगहणिम्म ॥ ८६५ ॥

१६० कररासः सपवर्णरमापण वाष्ट्र टच्यते, तेन प्रक्रवमचित्तं गृहानां यदि दृष्टमदा मास-गृह । अय नंयतं प्रक्रवं गृहन्तं दृद्धा कररासकसार्यः—प्रयोजनं तस्तोत्पत्तिः—'अहमपि गृहापि' इत्यवं छर्गा भवित तदश्चतुर्ण्यवः । अय न करप्रस्थेन किन्तु महता पुरुषण प्रक्रवं गृहानो इष्टमदा 'ति चेव' ति न एव चन्यांन छ्यवः । अय तस्याप्ययांत्रितिः—'अहमि गृहापि' हैनि-ग्रहणा वार्यते तत्रोऽपि चन्यांग छ्यवः । अय च ये दृष्टाद्यः परिवर्द्धमाना दोषा अन्यत्रप्रहेणे १०भवन्ति दानतन्तरमाश्या वृद्यमाणान् शृणुत ॥ ८६५ ॥ तानेवाह——

दिहे संका याह्य-वाडि-निज्ञा-ऽऽरिक्त-सेडि-राईणं। चर्चार छत्र सह गुरु, छेटो मुखं तह दुर्ग च॥ ८६६॥

१ वर्सने हः ॥ २ अंत पा दा ॥ ३ इति वर्ता मा ० त० हे ॥

युवादिना महता पुरुपेण प्रलम्वानि गृहन् दृष्टः चतुर्रुघु । ततस्तस्य शङ्का जायते 'किं सुव-र्णादिकं गृहीतम् ² उत प्रलम्बम् ²' तदाऽपि चतुर्रुषु । निःशङ्किते चत्वारो गुरवः । अथासी "भोइय" त्ति भोजयति भर्त्तारमिति भोजिका-भार्या तस्याः कथयति-'प्रिये! मया सयतः फलानि गृह्वानो दृष्टः' इत्युक्ते यदि तया प्रतिहतः 'मैवं वादीः, न सम्भवत्येवेद्दर्ग महात्मनि साघो' इति ततश्चतुर्गुरुकमेव । अथ तया न प्रतिहतस्ततः पड् रुघवः । आसन्नतरः सम्बन्ध इति छ कृत्वा प्रथमं भोजिकाया अग्रे कथयतीति, एवं मित्रादिप्यिप मन्तव्यम् । ततः "घाडि" ति घाटः सद्घाटः सौहृदमित्येकोऽर्थः, स विद्यतेऽरयेति 'घाटी' सहजातकादिः वयस्य इत्यर्थः, तस्याग्रे तथैव कथयति, तेनापि यदि प्रतिहतस्तदा पड् रुघव एव । अथ न प्रतिहतस्ततः पड् गुरवः । ततो निजाः—माता-पित्रादयस्तेपां कथयति, तैः प्रतिहतः पड् गुरव एव । अप्रतिहते पुनश्छेदः । तत आरक्षिकेण आरक्षिकपुरुपैर्वा तस्य सकागादन्यतो वा प्रलम्बग्रहणवृत्तान्ते श्रुते ततः प्रतिहते 10 छेद एव । अप्रतिहते पुनर्मूलम् । ततः श्रेष्ठिनः श्रीदेवैताध्यासितसोवर्णपद्दविभूपितोत्तमाङ्गस्य ततोऽन्यतो वा वृत्तान्तश्रवणे तेन च प्रतिहते मूलमेव । अप्रतिहतेऽनवस्थाप्यम् । ततो राज्ञा उपलक्षणत्वाद् अमात्येन च ज्ञाते ततः प्रतिहतेऽनवस्थाप्यम् । अप्रतिहते पाराश्चिकम् । पश्चार्द्धे यथाकमममीपामेव प्रायश्चित्तान्यभिहितानि, तानि च भावितान्येव । नवरं ''दुगं'' ति अनवस्थाप्य-पाराश्चिकद्वयम् ॥ ८६६ ॥ 15

ऐवं ता अदुगुंछिएं, दुगुंछिए लसुणमाइ एमेव । नवरिं पुण चउलहुगा, परिग्गहे गिण्हणादीया ॥ ८६७ ॥

एवं तावद् 'अजुगुप्सितं' आम्रादो प्रलम्बे गृह्यमाणे प्रायिश्चित्तं द्रष्टव्यम् । जुगुप्सितं पुनिरदं नानात्वम् । जुगुप्सितं द्विधा—जातिजुगुप्सितं स्थानजुगुप्सितं च । तत्र जातिजुगुप्सितं लगुनादिं, आदिम्रहणेन पलाण्डप्रभृतिपरिम्रहः । स्थानजुगुप्सितं पुनरगुन्तिस्थाने कर्दमादो 20 पिततम् । द्विविधेऽपि जुगुप्सितं 'एवमेव' अजुगुप्सितवत् प्रायिश्चत्तं वक्तव्यम् । 'नवरं' केवलं पुनः कल्पस्थकदृष्टं जुगुप्सितं गृह्यानस्य चतुर्लघवोऽत्र ज्ञातव्याः । अजुगुप्सिते पुनः "कव्यदृदिहें लहुओ" (गा० ८६५) ति लघुमास एवोक्त इति विशेषः । एतच सर्वमप्यपरिम्रहमधिकृत्योनक्तम् । "परिमाहे गिण्हणादीय" ति यत् पुनः प्रलम्बं कस्यापि परिमहे वर्त्तते तिसान् जुगुप्सितं वा अजुगुप्सिते वा प्रायिश्चत्तं तथेव वक्तव्यम् , परं यस्य श्रेष्ट्यादेः परिमहे तानि प्रलम्बानि 25 वर्तन्ते तत्कृता म्रहणा-ऽऽकर्पण-व्यवहारादयो दोपा अत्राधिका भवन्तीति ॥ ८६० ॥

गतं द्रव्यतः प्रायश्चित्तम् । अथ क्षेत्रतः कालतश्च प्ररूपयति---

'खेते निवेसणाई, जा सीमा लहुगमाइ जा चरिमं। केसिंची विवरीयं, काले दिण अंद्वमे सपदं॥ ८६८॥

क्षेत्रतो निवेशनमादौ कृत्वा यावद् श्रामस्य सीमा एतेषु स्थानेषु गृह्णानस्य रुघुकादिकं यावत् 30 'चरिमं' पाराञ्चिकम् । किमुक्तं भवति 2—निवेशने—महागृहपरिवारमृतगृहसमुदायरूपे गृह्णाति

१ °देव्यध्या° हे॰ ॥ २ गाथेयं चूर्णों "भावऽद्वार सपदं॰" ८७० गाथाऽनन्तर व्याख्याताऽस्ति ॥ ३ आदिशब्देन पला॰ का॰ ॥ ४ खेत्ततों नि॰ ता॰ ॥ ५ अट्टहिं। सप॰ ता॰ चूर्णिं, विना ॥

15

चन्त्रागे छत्रव', पार्ट्य गृहाति चन्त्रागे गुग्ब-, नाहिकाया—गृहपदिक्यपाया गृहाति यद् छत्रवः, एवं आमनव्ये पह गुर्बः, आमहारे च्छेड , आमन्य बहिर्मुक्तम्, उद्यानेऽनवस्थाप्यम्, आममीनायां पाराख्रिकत् । केपाखिदाचार्याणां मनेन 'विपरीनम्' उक्तविपयेनं पायिख्यनम् । नद्यथा—न्यामा-यामन्यआमे वा गृहाति चतुर्छेद्व, उद्याने च चतुर्गुन, आमहिद्देः पहत्रव्यु, आमहारे पद्गुन, अआममव्ये च्छेदः, नाहिकायां मूल्य, पाटकेऽनवस्थाप्यम् , निवंद्यने पागिखिकमिति । नथा 'काले' बालविपयं प्रायिख्यतमप्टमे दिने 'खण्दं' पागिखिकम । इयमत्र मावना—पत्यन्यानि गृहनः प्रथमे दिवसे चन्त्रागे लवन , हिनीये चन्त्रागे गुरव - तृतीये पद लवनः, चतुर्थे पद- गुग्ब-, पद्यमे च्छेटः, पष्टे मृत्यम् , सममेऽनवस्थान्यम , अटमे पाराखिकम् ॥ ८६८ ॥

अथ प्रकागन्तरेण क्षेत्रत एव प्रायधिनमाह—

निवेमण वाडग साही, गाममञ्ज्ञे अ गामदारे अ । उज्जाणे सीमाए, अन्नग्गामे य खेनिम्म ॥ ८६९ ॥

क्षेत्र प्रकागन्तरेण प्रायश्चित्तमेदम्—निवेशन चतुर्छतु, पाटक चतुर्गुरु, माहिकायां पद्-छत्रु, शाममध्ये पद्गुरु, शामहारे च्छेतः, उद्याने मृत्यु, सीमायामनवस्थाप्यम् , अन्यप्रामे पाग-श्चिकम् ॥ ८६९ ॥ अथ मावतः प्रायश्चित्तमाह्—

> भावऽहवार सपदं, लहुगाई मीन दसहि चिरमं तु । एमेव य वहिया वी, सन्धे जनाइटाणेमु ॥ ८७० ॥

भावे अष्टामिन्नीरं. 'चपदं' पागिवकम् । किसुक्तं मर्वान ?—एकं वारं प्रस्कानि गृहाति चन्त्रागे छ्यव . हिनीयं वारं चन्त्रागे गुग्व , तृनीयं वारं एइ छ्यव , चतुर्व वारं पइ गुग्व , पद्ममं वारं छेदः, पष्टं वारं मुख्यः, सप्तमं वारमनदस्याप्यम् . अष्टमं वारं गृहनः पाराख्रिकस् । २० एउच सर्वर्माप सचित्तप्रक्यविषयं भणितम् । मिश्रप्रक्यं तु गृहमाणे क्युनामादिकं दशिनः स्रानः 'चरमं' पाराधिकम् । नद्यथा—निष्ठप्रकन्त्रं गृहाने कळ्यन्यंकन होष्ट्र मासकृष्टु, महना पुरुषण दृष्टे ग्रह्मायां मामरुष्टु, नि ग्रहे मानगुरु, मोजिकाया कथने चतुरुष्टु, घाटिनो निवेदने चनुर्गुरु, ज्ञातीना ज्ञापने पद्युष्ठु, आरक्षिकाणां निवेदने पद्गुरु, सार्यवाहज्ञाने च्येदर, श्रेष्ठिकयने म्लम्, अमान्यनिवेदितं अनवस्याप्यम्, गज्ञो ज्ञापिने पागिबक्तमः। एनद् द्रव्यतः प्रायश्चित्तम्, 25 क्षेत्रतः पुनिन्दम—निज्ञाने मामळ्बु, पाटके मामगुरु, माहिकायां चतुर्छेबु, ब्राममध्ये चतुर्गुरु, यापद्वारे पद्छब्रु, यासर्वेहः पद्गुरु, उद्याने च्छेदः, उद्यानमीन्नोर्न्टरे मृत्रम्, मीमायापनवस्या-प्यम्, सीमायाः पर्तोऽन्यधानादा पागुख्यिकम् । काल्तः पुनः प्रथमे दिवसे सामल्खुः हिनीये यासगुरु, एव यात्रद् दशमिदिवेसेः पागिधकम् । मावनः प्रथमं वारं गृहतो मामछवु, हिनीय मामगुन, एवं यावद् द्रशमिबीरैः पागिञ्चकम् । गनमापण-नद्वनिमदाद् द्विविधमित श्रामान्तर्वि-३९ पर्य अहणम् । अय आपविद्यमित्रप्रहणमाह—''एमेत्र य' इत्यदि पश्चार्द्धम् । एतमेव विद्यपि यामस्य यहणं यणित्त्र्यस् । तन् पुनर्विह्येहणं "मस्य" चि मार्थावासस्याने वा मंबद् यात्रादि-खाने वा । यात्राम्यानं यत्र होक उद्यानिकादियात्रया गच्छिनि, आदिशब्दादन्यसाय्येवविषसा-नस परिप्रहः ॥ ८७० ॥ अय बहिर्प्रहणे प्रायश्चित्तमतिदिश्रनाह्-

अंतो आवणमाईगहणे जा विणया सवित्थारा । विदया उ अन्नगहणे, पिडयम्मि उ होइ स चेव ॥ ८७१ ॥

प्रामादीनाम् 'अन्तः' मध्ये आपणादी—आपणे आपणवर्जे वा जुगुप्सितेऽजुगुप्सिते वा सपरिप्रहेऽपरिप्रहे वा प्रहणे या सविस्तरा "दिष्टे सका मोइय" (गा० ८६६) इत्यादिरुक्ष-णप्रपञ्चसिहता वर्णिता जोधिरित्युपस्कार सेव प्रामादीनां विहः पिततप्रलम्बविषयेऽन्यत्रप्रहणे इ निरवशेषा द्रष्टच्या ॥ ८७१ ॥ उक्तं विहर्भहणम्, तद्भणने च समर्थितं वसत्प्रदेशविषयं ग्रह-णम् । अथाटवीविषयमाह—

कोइगमाई रन्ने, एमेव जणो उ जत्थ पुंजेइ। तहियं पुण वचंते, चउपयभयणा उ छद्तिया॥ ८७२॥

'जनः' लोकः प्रचुरफलायामटन्यां गत्वा फलानि यावत्पर्याप्तं गृहीत्वा यत्र गत्वा शोपयित, 10 पश्चाद् गन्नी-पोहलकादिभिरानीय नगराटो विक्रीणाति तत् कोहकर्मुंच्यते । ततश्चारण्ये कोहकादौ प्रदेशे यत्र जनः फलानि शोपणार्थ 'पुज्जयित' पुज्जीकरोति तत्र प्रलम्बग्रहणे 'एवमेव' यथा विसमे ''दिट्टे सका मोइय'' (गा० ८६६) इत्यादिकमुक्त तथेव प्रायश्चित्तमवसातन्यम् । विशेषः पुनरयम्—''तिहयं पुण'' इत्यादि । 'तत्र पुनः' कोहकादौ त्रजतः चतुर्भिः पढेः 'भजना' मङ्गकरचना 'पड्टिशका' पोडशमङ्गप्रमाणा कर्त्तन्या ॥ ८७२ ॥ कथम् १ इति चेद् उच्यते— 15

वचंतस्स य दोसा, दिया य रातो य पंथ उप्पंथे । उवउत्त अणुवडत्ते, सार्लव तहा निरालंते ॥ ८७३ ॥

तत्र त्रजतो वहवो दोपा भवन्ति, ते चोपरिष्टाद् भणिप्यन्ते । दिवा च रात्रिश्च पन्था उत्पथश्च उपयुक्त अनुपयुक्तः सारुम्वस्तथा निरारुम्बश्चेति अक्षरयोजना । अथ भावार्थ उच्यते—दिवा गच्छित पथा उपयुक्तः सारुम्वः १ दिवा गच्छित पथा उपयुक्तो निरारुम्वः १ दिवा गच्छिति पथा अनुपयुक्तो निरारुम्वः १ दिवा गच्छिति पथा अनुपयुक्तो निरारुम्वः १, एवमुत्पथपदेनापि चत्वारो भङ्गाः प्राप्यन्ते, जाता अष्टो भङ्गाः ८, एते दिवापदममुख्चता रुव्धाः, एवं रात्रिपदम-मुख्चताऽप्यष्टौ भङ्गा रुभ्यन्ते, सर्वसद्दयया पोड्य भङ्गाः ॥ ८७३ ॥ अमीपां रचनोपायमाह—

अद्वग चउक दुग एकगं च लहुगा य होंति गुरुगा य । सुद्धा एगंतरिया, पढमरिहय सेसगा तिण्णि ॥ ८७४ ॥

इहाक्षाणां चतस्रः पद्मयः स्थाप्येन्ते । तत्र प्रथमपद्मी प्रथमपटी रुघुकास्ततोऽप्यष्टी गुरुका इत्येवं पोडशाक्षा निक्षेपणीयाः, द्वितीयपद्मी चत्वारः प्रथमं रुघुकास्ततश्चत्वारो गुरुकाः पुनश्च-त्वारो रुघुकास्तदनु चत्वारो गुरुकाः, नृतीयपद्माविष पोडशाक्षा द्वी रुघुकी द्वी गुरुकानित्य-

१ "कोहां णाम जत्य भिहा लोगो वा अववीए परफलए गंतुं फलिण पुंजेति" इति चूर्णिः ॥
२ °प्यन्ते । एकेकस्यां च पङ्को पोडदा पोडदााक्षाः स्थाप्याः । तत्र च प्रथमपङ्को दिवाप्रहणं कुर्विद्धरघोऽघोऽसान् निक्षिपद्धिरधौ लघुका अक्षाः स्थापनीयाः तेपामघो रात्रिप्रहणं कुर्वाणैरधौ गुरुका अक्षा निक्षेपणीयाः । द्विती भा० ॥ ३ °यपङ्को द्वौ लघुको द्वौ
गुरुको पुनर्द्धो लघुको द्वौ गुरुकावित्यनेन क्रमेण पोडद्याक्षा निक्षेप्याः । चतुर्थं भा० ॥

15

20

25

नेन कमेण निक्षेप्याः, चतुर्थपद्गावको छष्ठक एको गुरुक इत्येकान्तरितछष्ठ-गुरुरूपाः पोढ्ये-वाक्षाः स्थापियतन्याः । एवमन्यत्रापि भक्तकप्रमारं यत्र यावन्ता भक्तकास्तत्र तावदायामः चर्-मप्रक्षाविकान्तरितानाम् अवीक्तनपिक्षिषु पुनिर्द्विगुणिहगुणानां छष्ठ-गुन्दणानक्षाणां निक्षेपः कर्तव्यः । उक्तस्त्र—

> मगपमाणायामो, रुहुओ गुक्तओ य अक्खनिक्खेवा । आरओं दुगुणा दुगुणो, पत्यारे होड निक्खेवो ॥ (कस्यवृहङ्काप्ये)

एतेप्वेव ग्रुहा-ऽग्रुहसूरूप वर्शयति — "सुद्धा एगतिरया" इत्यादि । प्रथमे मङ्गकाष्टके प्रथममहरहिताः शेषास्त्रयो भङ्गका एकान्तरिताः ग्रुह्धाः । इवमुक्त भवति — प्रथमो मङ्गकश्चतुप्वेषि पदेषु निरवद्यतादेकान्तेन ग्रुद्ध इति न काचिन् तदीया विचारणा, तं मुक्ता ये प्रथ10 माष्टके शेषा भङ्गकाले एकान्तरिताः तृतीय-पञ्चत-सप्तत्ररूप, स्त्रयः कचिद्दस्यादा पदेऽग्रुद्धाः अपि
साल्यनत्वाच्छुद्धाः प्रतिपत्वयाः । अर्थाद, पन्न द्वितीय-चतुर्य पष्टा-ऽष्ट्या भङ्गका दिवादो पदे ग्रुद्धाः अपि निराल्यनत्वादगुद्धाः । एव द्वितीयाष्टकेऽपि प्रथमो भङ्गः ग्रुद्धः शेषास्त्रयः एकान्तरिताः ग्रुद्धाः, साल्यनत्वात्ं ॥ ८७४ ॥ अत एवाह्—

पहमी एन्थ उ सुद्धो, चित्मो पुण सन्त्रहा असुद्धो उ । अवसेसा वि य चउदम, भंगा महयन्त्रगा होति ॥ ८७५ ॥

प्रथमो मङ्गः 'अत्र' एषा पोडग्रानां मङ्गाना मध्ये 'ग्रुद्धः' सर्वथा निर्देषः, चरमश्च मङ्गः सर्वथा अग्रुद्धः, अवदोष श्चतुर्वश्च मङ्गाः 'मक्तन्याः' विकल्पि,यतन्या भवन्ति, केचित् ग्रुद्धाः केचित् पुनरग्रुद्धा इति मावः ॥ ८७५ ॥ कथम् १ इति चेद् उच्यते—

आगाहिम्म उ कले, संस असुद्धो वि सुन्त्रए भंगो । न विसुन्त्रें अणागाहे, संसपदिहिं जह वि सुद्धो ॥ ८७६ ॥

'आगाहे कार्य' पुष्ट आलम्बन गच्छनः 'द्रोपे ' राज्युत्यथानुपयुक्तलक्षणे. पंदरशुद्धोऽपि मङ्गः शुम्यति । 'अनागाहे' आलम्बनामाचे द्रोपे —िद्रवापथोपयुक्तलक्षणे. पंदर्यद्यपि शुद्धस्तथापि न विशुष्यति ॥ ८७६ ॥ अथ किं कुत्र प्रायक्षित्त मत्रति १ द्रस्युच्यते—

लहुगा य निगलंबे, दिवसतों रित हवंति चउगुरुगा । लहुगो य उप्पहेणं, रीयादी चेवऽणुवउत्ते ॥ ८७७ ॥

यत्र यत्र निरान्ध्रमन्त्रत्र तत्र दिवसनो गच्छतः चत्वारो लघुकाः, गत्री चन्चारी गुरुकाः। यत्र यत्र दिवसत उत्तयेन गच्छति नत्र नत्र मासरुष्ठु । यत्र यत्र दिवसन ईर्याप्रमृतिसमिनि-ष्वनुपयुक्तो गच्छति तत्र तत्र मानलघु । रात्रानुत्ययगमनेऽनुगयुक्तगमने च मासगुरु ॥ ८७७ ॥

१ °व्याः। "सुडा पगर्नारया" इत्य दिना पश्चाडंन भङ्गकानां गुद्धा-उगुद्धस्त्रक्ष्यं निर्द्धा-रिनम् । तथाहि—प्रथमे भङ्गकाष्ट्रके मा॰ ॥ २ एतह यानन्तरः चूर्णिकृष्टि "इटाणि एते । पन्छिनं सण्यति" इत्यतीर्व "दिवन्तानो राहु-गुरुगा०" ८०८ गाया न्याङ्गाङ्क्ति, तदनन्तरम् "श्चम् व्याष्ट्र्या" द्रपुष्टिप्रेनहायात्र्याच्यानन्त्रेण "राहुगा व गिरालंद्रे०" ८७७ गाया व्याष्ट्र्याना वर्तते ॥ ३ °वसे ग° त० दे०॥

अथ प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमाह—

दिय-राओ लहु-गुरुगा, आणा चउ गुरुग लहुग लहुगा य । संजम-आयविराहण, संजमें आरोवणा इणमो ॥ ८७८ ॥

अशुद्धेषु भन्नेषु सर्वेप्विप दिवसतो गच्छतश्चत्वारो रुघुकाः, रात्री पुनश्चत्वारो गुरुकाः। तीर्थकराणामाज्ञाभद्गे चतुर्गुरुकाः । अनवस्थाया चत्वारो लघुकाः । मिथ्यात्वेऽपि चत्वारो छ लघुकाः । अत्र चानवस्था-मिथ्यात्वे प्रक्रमाट् द्रष्टव्ये । विराधना द्विविधा--संयमे आत्मिन च । तत्र सयमविराधनायाम् 'इयं' वक्ष्यमाणा 'आरोपणा' प्रायश्चित्तम् ॥ ८७८ ॥ तामेवाह-

छकाय चउसु लहुगा, परित्त लहुगा य गुरुग साहारे। संघद्दण परितावण, लहु गुरुगऽतिवायणे मूलं ॥ ८७९ ॥

'पट्काया'' पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसरूपाः । तेपां प्रध्ये 'चतुर्पु' पृथिव्यप्तेजोवायुषु सङ्घ-10 हनादों लघुकपर्यन्तं प्रायश्चित्तम् । 'परीत्ते' प्रत्येकवनस्पतिकायेऽपि लघुकान्तम् । 'साधारणे' अन-न्तवनः(पतौ गुरुकान्तम् । तथा द्वीन्द्रियादीनां सङ्घट्टने परितापने च यथायोगं रुघुका गुरुकाश्च प्रायश्चित्तम्, 'अतिपातने' विनाशने मूलम् । इयमत्र भावना—पृथिवीकायं सङ्घटयति मास-लघु, परितापयति मासगुरु, अपद्रावयति चतुर्लघु, एवमप्काये तेजःकाये वायुकाये प्रत्येकवन-स्पतिकाये च द्रष्टव्यम् , अनन्तवनस्पतिं यदि सङ्घष्टयति तटा मासगुरु, परितापयति चतुर्रुघु, 15 अपद्रावयति चतुर्गुरु; द्वीन्द्रियं सद्घट्टयति चतुर्रुघु, परितापयति चतुर्गुरु, जीविताद् व्यपरोपयति पड्लघु; त्रीन्द्रिय सङ्घट्टयतश्चतुर्गुरु, परितापयतः पड्लघु, जीविताद् व्यपरीपयतः पड्गुरु; चतुरि-न्द्रिय सङ्घट्टयतः पड्लघु, परितापयतः पड्गुरु, जीविताद् व्यपरोपयतः छेदः; पञ्चेन्द्रियं सङ्घट-यतः पड्गुरु, परितापयतो लघुमासिकच्छेदः, अपद्रावयतो मूलम् ॥ ८७९ ॥

अथैतदेव पायश्चित्तं रात्री विशेषयनाह -

20

जिंह लहुगा तिह गुरुगा, जिंह गुरुगा कालगुरुग तिह ठाणे। छेदो य लहुय गुरुओ, काएसाऽऽरोवणा रित्त ॥ ८८०॥

यत्र दिवसतः 'लघुकानि' मासलघु-चतुर्लघु-पदलघुरूपाणि तत्र रात्रावेतान्येव 'गुरुकाणि' मासगुरु-चतुर्गुरु-षड्गुरुरूपाणि कर्त्तव्यानि । यत्र पुनर्ग्रेऽपि गुरुकाणि मासादीनि तत्र स्थाने तान्येव कालगुरुकाणि दातव्यानि । यत्र च च्छेदो लघुकस्तत्र स एव गुरुकः कर्तव्यः । 'काये' 25 कायविषया एषा आरोपणा रात्री ज्ञातच्या ॥ ८८० ॥ अथाऽऽत्मविराधनामाह-

कंट-ऽड्डि खाणु विञ्जल, विसम दरी निन्न मुच्छ-सल-विसे। वाल-ऽच्छमछ-कोले, सीह-विग-वराह-मेच्छित्थी ॥ ८८१ ॥ तेणे देव-मणुरुसे, पिडणीए एवमाइ आयाए।

मास चंउ छच लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ।। ८८२ ।।
स साधुः कोष्टकादो व्रजन् कण्टकेन वा अस्था वा स्थाणुना वा पदयोः परिताप्येत । 'विज्ञलं',
पिक्किलम् 'विषमं' निक्नोज्ञतम् 'दरी' कुसारादिका 'निक्नं' गम्भीरा गर्चा; एतेषु पतितस्य मूर्च्छाः वा मवेत्, शूळं वा अनुधावेत, "विस" ति विषकण्टकेन वा विध्येत, विषक्ष्णं वा मक्षयेत्, तथा

व्यालेन—सर्पादिना अच्छमछेन वा—ऋशेण कोलेन वा—महाशूकरेण सिंहेन वा वृकेण वा वरा-हेण वा उपदूर्वेत, म्लेच्छ पुरुषः प्रान्ततया प्रहारादिकं दद्यात्, स्त्री वा त साधुमुपसर्गयेन्, अथवा म्लेच्छस्ती—पुलिन्टीप्रमृतिका तमुपसर्गयेत्, तिन्निमित्त म्लेच्छः कुपितो वथ-यन्यादि कुर्यात्॥ ८८१ ॥

क्लेनो द्विविघ:—गरीरखेन उपिष्टेनश्च, तेनोपद्रवः क्रियेत, देवता वा प्रान्ता तं सार्धुं प्रमत्तं हृद्वा च्छल्येत्, अपरो वा कोऽपि प्रत्यनीको मनुष्यो विजनमरण्यं मत्वा मारणादि क्र्यात्, एवमादिका आत्मिन विराधना भवति । तत्रेद प्रायश्चित्तम्—"मास चड" इत्यादि पश्चार्द्धम् । कण्टकादिमिरनागाद परिताप्यते चनुर्लेषु, आगाद परिनाप्यते चनुर्गुरु, अथ महादुःखमुत्पद्यते ततः पद्लघु, मूर्च्छामूर्च्छं पद्गुरु, क्रच्छ्रपाण च्छेदः, क्रच्छ्रोच्छ्वासं मृलम्, मारणान्तिकसमुद्धातेऽ10 नवस्याप्यम्, काल्यते पाराध्विकम् ॥८८२॥ अथाऽऽत्मविराधनायामव सामान्यतः प्रायश्चित्तमाह—

कंटै-ऽहिमाइएहिं, दिवसतों सच्चत्य चउगुरू होंति । रत्ति पुण कालगुरू, जत्य व अन्नत्य आयवहो ॥ ८८३ ॥

कण्टका-ऽस्थिकादिमिः परितापनायां सर्वत्र दिवसनश्चतुर्गुरवो भवन्ति । रात्रा पुनस्त एव चतुर्गुरवः कालगुरवो ज्ञातन्त्राः । अन्यत्रापि यत्र 'आत्मवघः' आत्मविराधना भवति तत्र सर्वत्रापि १६ चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तम् ॥ ८८३ ॥ तथा—

पोरिसिनासण परिवाय ठावणं तेण देह उवहिगतं । पंतादेवयञ्चलणं, मणुस्सपहिणीयबहणं च ॥ ८८४ ॥

कण्टकादिना पीडितः सन् स्त्रपारुषीं न करोति मासल्घु, अर्थपारुषीं न करोति मासगुरु, स्त्रं नाशयित चतुर्लघु, अर्थ नाशयित चतुर्लघु, । "परितान" ति अनागादपरितापे चतुर्लघु, श्राहारं स्थापयित चतुर्लघु, आहारं स्थापयित चतुर्लघु, परीत्तं स्थापयित चतुर्लघु, अनन्तं स्थापयित चतुर्लघु, अन्नहं स्थापयित चतुर्लघु, सम्नहं स्थापयित चतुर्लघु, सम्नहं स्थापयित चतुर्लघु, सम्नहं स्थापयित चतुर्लघु, । नथा "तण" ति उपियत्नेनाः, नं उपयो द्वियमाणे उपियतं ज्वान्यमध्यमी- क्ष्रियपिविनिप्पत्रं पायिश्चत्तम् । "देह" ति देहन्तेनाः—श्ररीरापहारिणन्त्ररेकः साधुः द्वियते मूलम्, द्वयोद्वियमाणयोरन्त्रस्थाप्यम्, त्रिषु द्वियमाणेषु पाराविकम् । प्रान्तया देवतया यदि च्छल्नं १५ क्रियते तत्वश्चतुर्ग्ह। प्रत्यन्तसमनुप्येण पुरुषण स्त्रिया नपुंसकेन वा हन्येत चत्वारो गुरव ॥८८४॥ अथ प्रकृतमर्थसुप्रसंहरत्वर्यान्तरसुपन्यस्त्रहाह—

एवं ता असहाए, सहायसहिए इमे भवे मेदा । जय अजय इत्थि पंड, अस्तंजह संजर्हिह च ॥ ८८५॥

एवं तावत् 'असहायस्य' एकाकिनो त्रजतो दोषा उक्ताः । सहायसहिते त्रजति विचार्यमाण 30 एते सहायस्य भेदा भवन्ति । तद्यया—'यताः' सयताः 'अयताः' असंयताः "इत्यि" ति पाप-ण्डिन्नियः 'पण्डकाः' नपुंसकाः 'असंयत्यः' गृहस्यन्तियः 'संयत्यः' साळ्यः, एतेः सार्द्धं गच्छति ॥ ८८५ ॥ इदमेव व्याचेष्ट—

१ गांवर्यं चूर्णी नास्त्रास्त्रा ॥

संविग्गाऽसंविग्गा, गीया ते चेव होंति अग्गीया। लहुगा दोहि विसिद्धा, तेहिं समं रत्ति गुरुगा उ॥ ८८६॥

संविमा गीतार्थाः, असंविमा गीतार्थाः, संविमा अगीतार्थाः, असविमा अगीतार्थाः; एतैः समं गच्छतः 'द्वाभ्यां' तपः-कालभ्यां विशिष्टा लघुकाः प्रायश्चित्तम् । तद्यथा—सविमेर्गातार्थैः समं त्रजति चत्वारो लघवस्तपसा कालेन च लघुकाः, असंविमेर्गातार्थैः समं गच्छति चतुर्लघवः वित्तपसा लघुकाः कालेन गुरुकाः, सविमेरगीतार्थैः सार्द्धं याति चतुर्लघु कालेन लघु तपसा गुरु, असविमेरगीतार्थैः समं त्रजति चतुर्लघु तपसा कालेन च गुरु । एतद् दिवसतो ज्ञातन्यम् । रात्रौ तैः समं त्रजतः एवमेव तपः-कालविदोपिताश्चतुर्गुरुकाः ॥ ८८६ ॥

अस्संजय-लिंगीहिं उ, पुरिसागिइपंडएहिं य दिवा उ । अस्सोय सोय छछहु, ते चेव उ रत्ति गुरुगा उ ॥ ८८७ ॥

10

असंयता द्विविधाः—गृहिणो लिङ्गिनश्च । लिङ्गमेपां विद्यत इति लिङ्गिनः—अन्यपापण्डिन इत्यर्थः । तथा पुरुपाकृतयः—पुरुपनेपथ्यधारिणः पण्डकाः । एते त्रयोऽपि प्रत्येकं द्विविधाः—शौचवादिनोऽशौचवादिनश्च । तत्राशौचवादिभिगृहिभिः समं व्रजति पङ्लघु उभयलघुकम्, शौचवादिभिः समं व्रजति पङ्लघु कालगुरुकम् । अन्यलिङ्गिभिरशौचवादिभिः सार्कं व्रजति पङ्लघु कालगुरुकम्, शौचवादिभिः समं व्रजति पङ्लघु कालगुरुकम् । पुरुपाकृतिभिः पण्डकैरशौच-15 वादिभिः समं व्रजति पङ्लघु तपोगुरुकम्, शौचवादिभिः समं व्रजति पङ्लघु तपसा कालेन च गुरुकम् । एतद् दिवसतः प्रायश्चित्तमुक्तम् । रात्रौ द्व 'त एव' पण्मासाः गुरुकाः, पङ् गुरवस्तपः-कालिवशिपता एवमेव दातच्या इति भावः ॥ ८८७ ॥

पासंडिणित्थि पंडे, इत्थीवेसेसु दिवसती छेदो ।

तेहिं चिय निसि मूलं, दिय-रत्ति दुगं तु समणीहिं ॥ ८८८ ॥

20

तापसी-परित्राजिकादिभिः पापण्डिनीभिः "इत्थि" ति गृहस्थस्त्रीभिः स्त्रीवेपघारिभिश्च पण्ड-कैरशोचवादिभिः सह दिवसतो गच्छतो रुघुकश्छेदः शोचवादिभिः सह गुरुकश्छेदः । तैरेव सह 'निशि' रात्रो गच्छतो मूलम् । श्रमणीभिः समं दिवा गच्छतोऽनवस्थाप्यम् । रात्रौ श्रमणीभिः सह गच्छति पाराञ्चिकम् ॥ ८८८ ॥ प्रकारान्तरेणात्रैव प्रायश्चित्तमाह—

अहवा समणा-ऽसंजय-अस्संजइ-संजईहिँ दियराओ । चत्तारि छच लहु गुरु, छेओ मूलं तह दुगं च ॥ ८८९ ॥

25

'अथवा' इति प्रकारान्तरद्योतने । 'श्रमणाः' संयतास्तैः सार्द्ध दिवा गच्छिति चतुर्रुष्ठ् , रात्रौ गच्छिति चतुर्ग्रुर् । असंयती सार्द्ध दिवा गच्छिति पड्छपु, रात्रौ गच्छिति पड्गुर्र । असंयतीभिः समं दिवा त्रजित च्छेदः, रात्रौ गच्छिति मूलम् । संयतीभिः सह दिवसतो गच्छिति अनवस्थाप्यम् , रात्रौ गच्छिति पाराश्चिकम् ॥ ८८९ ॥ तदेवमुक्तमटवीविषयं श्रहणम् । तदुक्तौ चावसित-³⁰ मन्यत्रश्रहणम् । अथ तन्नश्रहणं विभावियपुरुक्तार्थसदृशं विधिमतिदिशन्नाह—

जह चैव अनगहणेऽरण्णे गमणाइ विष्णयं एयं । तत्थगहणे वि एवं, पडियं जं होइ अचित्तं ॥ ८९० ॥

ययवान्यत्रग्रहणेऽरण्यविषय पे।इग्रमङ्गरचनया गमनम् आदिगच्छात् सयमा-ऽङ्गिविरायमा-समुत्यं दोपजालं प्रायश्चित्तं च 'ण्नह्' अनन्तरमेय वर्णित 'तत्रग्रहणेऽपि' विवक्षितप्रलम्बाधारम्न-घृक्षस्याधः पतिनं यद्यचित्त प्रलम्बं तद् गृहानस्याप्येवमेव निर्वशेषं वर्णनीयं यावत् श्रमणीभिः सह गमनमिति ॥ ८९.० ॥ यस्तु विशेषस्त्रमुपिदद्शियपुगह—

तत्थागहणं दृविहं, परिगाहमपरिगाहं दृविहमयं। दिझादपरिगाहिए, परिगहिएं अणुगाहं कोह ॥ ८९१ ॥

तन्नग्रहणं हिनिधम्, नद्यथा—सर्पारग्रहमपरिग्रह च । यद् वेवतादिभिः परिगृहीनं वृक्षादि तिह्नप्यं सपरिग्रहम्, तिह्नपर्रानमपरिग्रहम् । नदुमयमपि 'हिनिधं मेर्ड' हिनिधेन—सिन्ता-ऽचित्त-मेरह्येन मेर.—पार्थक्यं यस्य नद् हिनिधमेर्डम्, सिन्ता-ऽचित्तमेर्ति मार्वः । 10 तत्र यदपरिगृहीतमेनित तद् गृहानस्य "दिहाइ" ति "दिंह नंका मोह्य" (गा० ८६६) इत्या-दिका आरोपणा सर्वाऽपि मान्दद् द्रष्टक्या । यन् पुनः परिगृहीतमचित्त तद् गृहतः कश्चिद् भद्रकः परिग्रहीता अनुग्रहं मन्येत । एनद्यतो मान्यिप्यते (गा० ८६५) ॥ ८९१ ॥ अय सपरिग्रहस्य सरुपं निक्तग्यति—

तिविद्द परिगाह दिव्ये, चउलहु चउगुरुग छछहुकोसे ।

अहवा छळ्छुग चिय, अंत गुरू निविह दिव्यम्मि ॥ ८९२ ॥

सपरिग्रहं त्रिविधम्, तद्यथा—देवर्गारगृहीनं मनुन्यपरिगृहीतं तियंवर्गारगृहीतं [च]। तत्र यद् दिन्यं—देवपरिगृहीतं नद् त्रिविधम्—जयन्यं मध्यमसुन्तृष्ट च। व्यन्तरपरिगृहीतं वयन्यम्, भवनपति-ज्योतिष्कपरिगृहीतं मध्यमम्, वमानिकपरिगृहीतसुन्तृष्टम्। तत्र अधन्यपरिगृहीतं पटन्वं गृह्णित चत्वारा छघव , मध्यमपरिगृहीनं गृह्णित चत्रारा गुग्यः, उन्कृष्टगरिगृहीत गृह्णित पड 20 छघवः। अथवा त्रिष्वपि जधन्य-मध्यमान्कृष्टेषु पद् छघव एव प्रायश्चित्तम्, केवछं तपः-काल-विद्यपितम्—जधन्यं तपान्धं कालगुरुकम्, मध्यमं काल्छ्यं नपोगुरुकम्, 'अन्त्यं च' उत्कृष्टे द्वास्थामित गुरुकं कर्चव्यमिति त्रिविधदिव्यविषयं प्रायश्चित्तम् ॥ ८९२ ॥

गतं देवपरिगृहीतम् । अथ मनुत्र्यपरिगृहीतमाह—

सम्मेतर मम्म दुहा, सम्मे लिंगि छहु गुम्ऑं गिहिएसं । मिच्छा लिंगि गिर्हा वा, पागय-लिंगीसु चउलहुगा ॥ ८९३ ॥ गुरुगा पुण कोइंगे, छछहुगा होति दंडियारामे ।

मनुष्यपरिगृहीतं द्विया—सम्यादृष्टिपरिगृहीतं "दृयरं" ति मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतं च । तत्र यत् सम्यादृष्टिपरिगृहीतं तद् द्विया—पार्श्वस्थादिलिद्धस्थपरिगृहीतं गृहस्थपरिगृहीतं च । लिद्धस्परिन् गृहीते मासञ्ज्ञ, गृहिमिः सम्यादृष्टिमिः परिगृहीतं मासगुरु । यत् पुनर्मिथ्यादृष्टिगरिगृहीतं तद् 20 द्वितिषम्—''लिगि' ति अन्यगपिद्धपरिगृहीतं गृहस्थपरिगृहीतं च । नत्र गृहस्थारिगृहीतं १ "समेदं' द्वास्थां निधास्थां-सिक्चना-उचित्तकपास्थां सदः गा॰ ॥ २ "मान्वतं प्रनित्तं

१ °घमेरं द्वाभ्यां त्रियाभ्यां-सिंचना-उचित्तरपाभ्यां मेदः गा॰ ॥ २ °मांचतं प्रचित्तं वा तद् गा॰ ॥ ३ व्या । नवर सिंचने कायप्रायश्चित्तम् । तत्र प्रत्येकसिंचने चतुर्वधु, अनन्तर्सिन्तं चतुर्गुरु । यत् युनः पांरगृद्दीतं सिंचन्तर्मचित्त वा तत्र कश्चिद् गा॰ ॥

15

त्रिधा— प्राकृतपरिगृहीतं कोटुम्बिकपरिगृहीतं दण्डिकपरिगृहीतं च । तत्र प्राकृतपरिगृहीते लिङ्गि-परिगृहीते च चतुर्लघुकाः ॥ ८९३ ॥

कोडुम्चिकपरिगृहीते पुनश्चत्वारो गुरुकाः । 'दण्डिकारामे' दृण्डिकपरिगृहीते उद्याने पड् रुष्ठुकाः । गतं मनुष्यपरिगृहीतम् । अथ तिर्यक्परिगृहीत भाव्यते—

तिरिया य दुट्ट-ऽदुट्टा, दुट्टे गुरुगाइरे(गेयरे) लहुगा ॥ ८९४ ॥

तिर्यम्बश्च द्विविधाः—दुष्टा अदुष्टाश्च । दुष्टाः हिस्ति-शुनकादयः, अदुष्टाः रोझ-हरिणादयः । दुष्टितिर्यक्पिरगृहीते चतुर्गुरुकाः, 'इतरें' अदुष्टेः परिगृहीते चतुर्रुश्चकाः ॥ ८९४ ॥ गतं तिर्य-क्पिरगृहीतम् । अथ यदुक्त "परिगहिष् अणुगहं कोइ" (गा० ८९१) ति तदेतद् भावयति—

भद्देतर सुर-मणुया, भद्दो घिष्पंति दहुणं भणइ ।

अने वि साहु! गिण्हसु, पंतो छण्हेगयर कुजा ॥ ८९५ ॥

यस्य सुरस्य मनुजस्य वा परिश्रहे स अतामो वर्तते स मद्रो वा भवेत् 'इतरो वा' प्रान्तः । तत्र भद्रः प्ररुम्वं गृह्यमाणं दृष्ट्वा तं साधुं भणिति—साधु त्वया कृतम्, तारिता वयं ससारसाग-रात्, अन्यान्यपि हे साधो ! पर्याप्तानि गृहाण इत्यादि । प्रान्तः पुनः पण्णां प्रकाराणामेकतरं कुर्यात् ॥ ८९५ ॥ अथ क एते पर् प्रकारा. व उच्यते—

पिंसेहणा खरंटण, उँवलभ पंतावणा य उविहिम्म । गिण्हण-कहुण-ववहार-पच्छकडुड्डाह-निव्विसए ॥ ८९६ ॥

प्रतिषेधनं प्रतिषेधना—निवारणेत्यर्थः १ 'खरण्टना' खर-परुपवचनैर्निर्मर्त्सना २ 'उपालम्मः' सिपपासवचनेः शिक्षा ३ 'प्रान्तापना' यष्टि-मुष्टादिभिस्ताडना ४ ''उविहिम्मि" चि उपिषहरणम् ५ इति पञ्च भेदाः, प्रहणाकर्पणन्यवहारपश्चात्कृतोड्डाहिनिर्विषय इत्येक एव पष्टो भेदः ६ इति सद्ग्रहगाथासमासार्थः ॥ ८९६ ॥ अथेनामेव विवरीपुराह—

र्ज गहियं तं गहियं, विद्यं मा गिण्ह हरद्द वा गहियं। जायसु ममं व कज़े, मा गिण्ह सयं तु पडिसेहो॥ ८९७॥

'यद् गृहीत प्ररुम्य तद् गृहीत नाम, द्विनीय पुनर्वारं मा यहीः' इति वचनं यद् वक्ति, यद्वा गृहीत सत् प्ररुम्यं तस्य प्रत्रजितस्य हस्त,द् 'हरति' उद्दालयित, भणित वा 'कार्ये समापितते मामेव याचस्च, स्वयं पुनर्मा गृहाण' इत्येष सर्वोऽपि प्रतिषेध उच्यते ॥ ८९७ ॥

अथ खरण्टनामाह---

धी ग्रुंडितो दुरप्पा, धिरत्थु ते एरिसस्स धम्मस्स । अन्नत्थ वा वि लिन्भिस, ग्रुको सि खरंटणा एसा ॥ ८९८ ॥ ,

धिग् मुण्डितो दुरात्मा । धिगस्तु 'ते' तव सम्बन्धिन ईदृशस्य धर्मस्य, यत्र चौर्य कियत इति भावः । यद्वा मया मुक्तोऽसि परमन्यत्रापि त्वमीदृशस्त्रेष्टितैर्विडम्बनां रूप्ससे । एषा निष्पि-३० पासनिर्भर्तिना खरण्टना भण्यते ॥ ८९८ ॥ उपारुम्भमाह—

१ °गाइ इतरे लहुगा उता॰ ॥ २ °एाः शुगाल हरि भो॰ ले॰ विना॥ ३ उच्यन्ते भो॰ ले॰ का॰ ॥ ४ उलंभ ता॰ ॥

25

आमफलाणि न कर्णित तुम्ह मा सेनए वि द्वेहिं। मा य सकते मुन्हमु, एमाई होउवालंमा ॥ ८९९ ॥

आनफलानि युमाकं ब्रहीतुं न कल्पन्ते, अतः दोषानिष सावृत् 'मा वृत्य' निजदुर्खारतेन ना कलिइटान् कुन, सा च 'ज़कारें' निग्वरण्यहत्त्यायके चारित्रे सुद्दः, एवमादिकः सिषपास-रुखिलाच्य रुणक्रमो सवित् ॥ ८९९ ॥

प्रान्तापनापविहरण भावयति—

द्गर-पाय-दंडमाइसु, पंतावणगादमाइ जा चरिमं । अप्यो अ अहाजाओं, मञ्त्रो दृविद्दो वि जं च विणा ॥ ९०० ॥

कृत-पाद-वृण्डादिषिः आदिश्वत्याद् ज्यादिषिश्च ताडतं शान्तापता । तसां चानागादर्पार-10 तापादिषु 'चर्च' पाराधिकं यावत् प्रायक्षित्तम । अन्यं वा वहुं वा स उपिं हरेत् । अन्यो नाम ययाजातः, निष्णाद्वयोपेतं रजोहरणं सुल्वविक्ता चोउपहरूखेल्ययः । बहुः पुनः 'सर्वः' चतु-दंशविष उपितः । अथवा 'द्विविषः' आधिकेष्प्रहिक्त्यः । यच तृणप्रहणादिकसुर्गावं विना सदेत् तिविष्यतं प्रायक्षित्तम् ॥ ९०० ॥ सन्यत्यतुप्रद्यादिष्देषु प्रायक्षित्तमाह—

लहुगा अणुगाहम्मी, अप्यनिय गुन्ग तीमु टाणेमु । पंतादणें चउगुन्ना, अप्य बहुम्मी हिए मृतं ॥ ९०१ ॥

यस सम्दर्भा न आगमः स यदि चिन्छिन 'अनुष्रहें। से येद् सदीयानि प्रक्रमानि सावने गृहािन् द्रियनुष्रहें सन्ध्याने चनुकेष्यः । अवार्यातिकं क्रमेति तृष्णीक्रस्र तिष्टिन तत्रस्रतुर्गुल्हाः । अवार्यातिकं क्रमेति तृष्णीक्रस्र तिष्टिन तत्रस्रतुर्गुल्हाः । अवार्यातिकं क्रमेति तृष्णीक्रस्र सानेषु प्रन्येकं चनुर्गुल्हाः । आनापने और चनुर्गुल्हाः । अल्पे वा वदी वा उपवा होने सृष्ट् । यद्वौपवितिप्यत्रस् , तद्यया— १ अक्षे चनुर्ण्ययः , सम्बन्धे सामक्ष्यु , जयन्त्रं ग्रिजिन्द्रप्रचक्रम् । आह् क्रयमेक्षेत्र सृष्ट्यः । अपितिप्यत्रे वा १ उच्यते—प्रमादनः प्रक्रवानि गृहत उपविद्रुर्ण उपविनिप्यत्रम् , दर्पतन्तु प्रक्रवानि गृहन स्वावनिप्यत्रम् , दर्पतन्तु प्रक्रवानि गृहन स्वावनिप्यत्रम् , दर्पतन्तु प्रक्रवानि गृहनान्त्रेपक्रत्पाण्डारे सृष्ट्य ॥ ९०१ ॥

स्य "पंतादागाहमाह र्जान्सं पि (जा र्जार्सं ;" (गा० ९००) एदं व्याच्छे— परितादणाह पोरिपि, ठदणा महय मुख्छ किच्छ कालगए। माम चड छच छहु गुरु, छेखा मृछं तह दुर्ग च ॥ ९०२॥

प्रान्तारितस सर्ते। जागादा परिहारना सर्वति चतुर्केष्ठ, आगादा सर्वति चतुर्गुरु, परितारना-निमृतः सन् सूत्रपोर्क्षा न क्रोति सास्त्रष्ठ, अर्थरीक्ष्मा न क्रोति सासगुरु, सूत्रं नाक्ष्यति चतुर्केष्ठ, अर्थ नाक्ष्यति चतुर्गुरु, प्रागुर्क स्पारणित चतुर्केष्ठ, अप्रागुर्क स्पारणित चतुर्गुरु, प्रत्ये-क्रमापने चतुर्केष्ठ, अरुनसारने चतुर्गुरु इत्यादि प्रान्वद् वत्त्व्यम् । "मह्य" ति महादुः ते पह-20 त्यु, सूर्च्याणं पद्गुरु, इत्य्युपाणं च्येदः, इत्य्योच्य्याने सूत्रम् , सम्बद्धेन जनवस्माय्यम् , क्रम्याते पार्गाञ्चक्तम् ॥ ९०२ ॥ अथ "यह तृत्यह्यादिक्तुराविना विना सहेत्र" (गा० ९००) इति पदं विद्योति—

१ प्रवापना मैं॰ है॰ ॥

तणगहणे द्यसिरेतर, अग्गी सद्घाण अभिनवे जं च । एसणपेव्लण गहणे, काया सुत मरण ओहाणे ॥ ९०३॥

वर्षाकल्पादावुपकरणे हते जीतांभिम्तास्तृणानि गृहन्ति—सेवन्ते । तत्र ज्ञुपिरतृणसेवने चतुर्लघु, अज्ञुपिरतृणसेवने मासलघु । अग्निं सेवन्ते तत्र सस्थानप्रायश्चित्तम्, चतुर्लघु इत्यर्थः । अथाभिनवमाग्निं जनयन्ति मूलम्, यच्चाग्निसमारम्भेऽन्येपां जीवानां विराधनं तिन्नप्पन्नमपि प्राय- ६ श्चित्तम् । अथोपकरणाभावे उद्गमादिदोपदुष्टं वस्नादि गृहीन्त एपणां भेरयन्ति ततस्तिन्वपन्नम्; "गहणे" ति शीतादिभिः परिताप्यमाना गृहस्थैरदैत्तमपि वस्नादि गृहीयुस्तिन्वप्तनम् । निज्ञीय-पूर्णिकृता तु "गमणे" ति पाठो गृहीतः, तत्र चोपिं विना शीतादिपरीपहमविषहमाणो यचन्यतिथिकेप्वेकः साधुर्गच्छति मूलम्, द्वयोर्गच्छतोरनवस्थाप्यम्, त्रिपु पाराश्चिकम् । "काय" ति अग्निं सेवमाना एपणां भेरर्यन्तो वा यत् पृथिव्यादिकायान् विराधयन्ति तिन्नप्तमम् । 10 "युत" ति 'श्रुतं' स्त्रं तस्य पौरुर्पा न कुर्वन्ति, उपलक्षणत्वाद् अर्थपौरुर्पा न कुर्वन्ति सूत्रं नाशयन्ति अर्थ नाशयन्ति तिन्नप्तनम् । "मरण" ति उपकरणं विना ययेकोऽपि प्रियते तथापि पाराश्चिकम्, "ओहाण" ति ययेकः साधुरवधावित मूलम्, द्वयोरनवस्थाप्यम्, त्रिषु पाराश्चिकम् ॥ ९०३ ॥ अथ ग्रहणाकर्पणादिरूपं पष्ठं प्रकारं भावयति—

गेण्हण गुरुगा छम्मास कहुणे छेदों होइ ववहारे। पच्छाकडम्मि मूलं, उड़हण विरुंगणे नवमं॥ ९०४॥ उद्दवणे निच्चिसए, एगमणेगे पदोस पारंची। अणवद्वप्पो दोसु य, दोसु य पारंचिओ होइ॥ ९०५॥

प्ररुम्वानि गृह्णानो यदि प्ररुम्बस्वामिना दृष्ट्वा गृहीतस्ततो ग्रहणे चतुर्गुरुकाः । अथ तेनोपकरणे हस्ते वा गृहीत्वा राजकुलाभिमुखमाकृष्टस्तत आकर्षणे पण्मासा गुरवः । अथ कारणिकानां 20 समीपे व्यवहारं कारियतुमारव्धः तत्र प्रेडेदः । व्यवहारे विधीयमाने यदि पश्चात्कृतः पराजितस्ततो मूलम् । अथ चतुष्क-चत्वरादिषु 'एप प्ररुम्बचौरः' इतिघोषणापुरस्सरमुद्दग्धः हस्त-पादादौ वा अवयवे व्यक्तितस्तत एवमुद्दहने ''विरुंगणे'' त्ति व्यक्तने वा 'नवमम्' अनवस्थाप्यम् ॥ ९०४ ॥

अथान्यायोदीर्णकोपानलेन राजादिना अपद्रावितो निर्विषयो वा आज्ञप्तस्ततोऽपद्रावणे निर्विषये वा कृते पाराश्चिकम् । अथवा एकस्यानेकेषां वा साधूनामुपरि प्रद्वेषं यदि व्रजति तदा पाराश्चि-25 कम् । अत्र च 'द्वयोः' उद्दहन-व्यज्ञनयोरनवस्थाप्यो भवति, 'द्वयोश्च' अपद्रावण-निर्विषययोः पाराश्चिक इति ॥ ९०५ ॥ अथ परिम्रह् विशेषेण प्रायश्चित्तविशेषमाह—

आराम मोल्लकीए, परतित्थिय भोइएण गामेण । वणि-घड-क्रुडंबि-राउलपरिग्गहे चेव भदितरा ॥ ९०६ ॥

इहाऽऽरामः कश्चिदादित एवाऽऽत्मीयो वा भवेद् मूल्येन क्रीतो वा । यो मूल्येन क्रीतः स³⁰ केन क्रीतो भवेत् ? उच्यते—परतीर्थिकेन वा १ भोगिकेन वा २ प्रामेण वा ३ विणिजा वा ४ घट्या वा गोष्ठ्येत्यर्थः ५ कोटुम्बिकेन वा ६ आरक्षिकेण वा ७ राज्ञा वा ८ एतद् द्वयमि राज-

१ °तादिमिरिमभू° मो॰ छे॰ ॥ २ °द्धने(ग्ने)पणां प्रेरयति मा॰ ॥ ३ °द्त्तानि चस्त्रादीनि गृहते तिम्न भा॰ ॥ ४ °यन्तो यावत् पृ॰ त॰ डे॰ का॰ ॥

30

काष्ठादिकं क्षिपन् 'तं कायं' वनस्पतिरुक्षणं नियमादेव परित्यजित । स च रुगुडादिरूर्द्धं क्षिप्तः शाखादौ प्रतिस्तरूय निवृत्तर्तस्येव शरीराभिमुखमापतित, तस्यापतने आत्मानं च परित्यजतीति ॥ ९१०॥ कथं पुनः पृथिन्यादिकायानां विराधको भवति ? इत्युच्यते—

पावंते पत्तम्मि य, पुणोपडंते अ भूमिपत्ते अ।

रय-वास-विज्जयाई, वाय-फले मच्छिगाइ तसे ॥ ९११ ॥

तत् काष्टादिकं हस्तात् च्युतं सद् यावद् वृक्षेनाऽऽस्फलति तावत् प्रामुवद् भण्यते तिसान् प्रामुवति, तथा वृक्षं प्राप्ते पुनःपतित च सूमिप्राप्ते च पद्कायविराधना ज्ञातव्या । कथम् १ इति चेद् इत्याह—"'रय'' इत्यादि । आदिशव्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, ततश्च रजःप्रभृतिकं पृथिवीकायं वर्षोदकादिकमप्कायं विद्युदादिकं तेजःकायं 'वातं च' तत्रेव वातं फलानि तस्येव वृक्षस्य सत्कानि उपलक्षणत्वात् पत्रादीन्यपि मिक्षकादीश्च त्रसान् विराधयति ॥ ९११ ॥ इदमेव स्पष्टयन्नाह— 10

खोल्ल-तयाईसु रओ, महि-चासोस्साइ अग्गि दरदङ्खे । तत्थेवऽनिल वणस्सइ, तसा उ किमि-कीड-सउणाई ॥ ९१२ ॥

"लोहं" ति देशीशब्दत्वात् कोटरम्, त्वक् प्रतीता, तदादिषु स्थानेषु वृक्षे रजः सम्भवेत् ततः पृथिवीकायविराधना । महिकायां निपतन्त्यां वर्षे अवश्याये वा निपतित आदिप्रहणेन हर-तनुकादिसम्भवेऽप्कायविराधना । वनदवादिना दरदग्धे वृक्षे उपलक्षणत्वाद् विद्युति वाऽभिकाय-15 विराधना । तत्रैवाभौ नियमाद् 'अनिलः' वायुः सम्भवतीति वायुकायविराधना । वनस्पतिः स एव प्रलम्बलक्षणः पत्र-पुप्पादिवी । त्रसास्तु कृमि-कीट-शकुनादिका विराध्यन्ते । कृमयः—विष्ठादि-समुद्भवाः, कीटकाः—घुणादयः, शकुनाः—काक-कपोतादयः, आदिप्रहणेन सरटादिपरिग्रहः । एवं कृक्षमप्राप्ते काष्ठादौ पद्कायविराधना । एवमेव प्राप्ते प्रनःपतित भूमिप्राप्तेऽपि ज्ञातव्यम् ॥ ९१२ ॥ यत आह—

अप्पत्ते जो उ गमो, सो चेव गमो पुणोपडंतम्मि । सो चेव य पडियम्मि वि, निकंपे चेव भोमाई ॥ ९१३ ॥

य एवाप्राप्ते 'गमः' प्रकारः स एव गमः पुनःपतित उपलक्षणत्वात् प्राप्तेऽपि, भूयो गम-शब्दोचारणं षट्कायविराधनां प्रतीत्याऽऽत्यन्तिकतुल्यताख्यापनार्थम्, स एव भूमौ पिततेऽपि काष्ठादौ प्रकारः प्रतिपत्तव्यः । केवलं ''निक्कंपे चेव भोमाइ'' ति तत् काष्ठादिकं महता भारगौ-25 रवेण 'निष्कम्पं' निस्सहं प्रथिव्यां यद् निपतित तेन 'भौमादीनां' प्रथिव्यादीनां महती विराधनेति चूंणिकृद्भिप्रायः । निश्चीथचूर्णिकाराभिप्रायेण तु ''निक्कंपे चेव भूमीए'' इति पाठः । अस्य व्याख्या—यस्यां भूमौ स्थितः काष्ठादिक्षेपणाय विशिष्टं स्थानवन्धमध्यास्ते तत्रापि पादयोर्निष्क-म्पत्वेन षणां कायानां विराधको भवति ॥ ९१३ ॥

एवं दव्वतों छण्हं, विराधओं भावओं उ इहरा वि । विज्ञह हु घणं कम्मं, किरियग्गहणं भयनिमित्तं ॥ ९१४ ॥

१ "णिकंपे चेव भोमादि" ति जत्थ तं कट्टादि णिक्षपेणं ति णिजामेण पडति तत्थ भोमादि छक्ताया विराधेजा, एवं तं कातं परिचयति" इति च्चूणिः॥

'एरस् एतेन प्रकारण चनुत्रेष्यप्रातादिषंद्रपु द्र्ज्यतः पर्णां कायानां विरावकः प्रतिपत्तव्यः । भावतन्तु 'इत्रर्याऽभि' द्रज्यते विरावतां विनाऽत्यमा पर्कायविरायको कम्यते, संयमं प्रति निरंप- एन्या तस भावतः राणानिणत्सद्धान्त् । भावप्राणानिपातेन च यया 'वनं' निविद्धं कर्म चीयते न नण द्रज्यप्राणातिपानेन । आह यदुक्तं "प्रज्ञामः क्रियामिः म्यष्टः" (गा० ९१०) वृत्त् क्र्यं संवादसञ्जुते १ यावता वृद्धि न विरावणित तदा काविकी आधिकरणिकी च क्रिये सम्भवः पारितार निकत्याणिति तदाक्षित्र क्रियोक्त प्राविक्ति पारितार निकत्याणिति तदिवाश्चित्त क्रियोक्ति स्वत्या पारितार निकत्याणिति तदिवाश्चित्तः सम्भवः १, स्वयं विरावयति तदिवाश्चित्तः क्षिये सम्भवः पारितार निकत्याणिति तदिवाश्चितः सम्भवः १ स्वर्गानिनिर्चं भयजननार्थे क्रियेत्, येन साववः वियास्वकापति द्रोपम्पति । मूलिगाइ—क्रियाप्रहणं 'मयनिनिर्चं भयजननार्थे क्रियोन्, येन साववः वियास्वकापति द्रोपम्पति । मूलिगाइ—क्रियाप्रहणं न प्रवर्णनतेः सद्धा द्रियान्त्रम्याद्वे येत्रका क्रिया तत्र प्रज्ञानि क्रियाः सन्भवन्तीति न द्रोपः ।

10 व्याह निशीयचुर्णिहान्—

अहवा बत्य मृता किरिया तत्य दिष्टिक्रयनयमुहुमनपतो पत्न किरियाओ मर्वति, अती पंचिक्तरियानहोप न दोसो । ॥ ९१० ॥

एवं तत्र्वत् संयमितरावना माविना । अयध्यस्यविरावनां मादयिन— द्वराय पन्यर् लेड्ड्, युव्यच्छ्रदे फले व पवर्डने ।

¹⁵ पञ्चित्सडणे आया, अज्ञायामे य हत्याई ॥ ९१५ ॥

जन्येन केनिन् उच्नार्थना पूर्व 'कुदरर' ति क्युंडः क्षितः. म तत्रेव वृक्षशासायां विच्यः सन् वाष्ट्रयोगेण विद्याद्वाद्याद्वाद्वाद्याद्वाद्यां वा स्वाक्षितन्त्रस्व सायोग्यिः निपदन् विरावनां क्ष्यान् । एवं 'प्रनर' प्रपापः किष्ठः' इष्टकाञ्चकलं मृत्तिकापिन्डो वा पूर्व- विष्ठः एनेद्, पत्रं वृन्तच्युतं वृद्यान् प्रयोन् । नक्षेत्र व्याद्यादेः प्रतिनिवृत्त्य सम्मुखं प्रयास्तलने व्याप्तिकने विष्तिकन्ति । व्याप्तिकने व्याप्तिकने व्याप्तिकने विष्यक्षित्र । व्याप्तिकने विष्यकने विष्यक्षिति । व्याप्तिकने व्याप्तिकने विष्यक्षिति । व्याप्तिकने विष्यक्षित्वने विष्यक्षिति । व्याप्तिकने व्याप्तिकने विष्ठिति । व्याप्तिकने विष्यक्षिति । व्याप्तिकने विष्यक्षिति । व्याप्तिकने विष्यक्षिति । व्याप्तिकने विष्यक्षिति । व्याप्तिकने विषयक्षिति । व्याप्तिकने विष्यक्षिति । व्याप्तिकने विष्यक्षिति । व्याप्तिकने विष्यक्षिति । व्याप्तिकने विष्तिकने विष्यक्षिति । व्याप्तिकने व्याप्तिकने विष्यक्षिति । विष्यक्षिति । व्याप्तिकने विष्यकने विष्यक्षिति । व्याप्तिकने विष्यक्षिति ।

सित्रण नि अपार्वनो, दुन्हरू तर्हि कंट-निच्छु-अहिमाई। पिन्ति-जरच्छाद्वहो, देनयखेनाहकरणं च ॥ ९१६॥ नन्येत्र च निष्टुत्रणं, अंगीर्ह् समोहएहिं छक्राया। कारोत्रण स चत्र य, गिछाणपरितात्रणाईया॥ ९१७॥

कार के हिंगी होने की पर्ण्यानि न पर्णान नगडम सितलानि 'अप्राप्तुनन्' अस्मानम् वृष्टं ''तुरहर्' नि आगेहित । म च यार्गद्धवाहुवेषंकेतारोहित ताविन चतुर्श्वकृति, अनम् पुरश्चतुर्गुन्किति । 'तत्र' वृद्धे आगेहिन् यन् कार्यकेर्गिक्यते, यच वृश्चिकेनाऽहिना वा आदिश्वार् नहुर्ल्यतेना वा वृद्धिने, यच परिणिः क्येनादिनिः तरहादिनिश्च-आरव्यतीवेवेगे अम्बिन, यण वा देक्या अविरित्रोज्ञी वृद्धमण व्यती मात्रुः वित्रिच्चः क्रियते, आदि- वृद्धेनागर्या क्याचिद् विद्युनण विद्युक्ते ॥ ९१६ ॥

यहा सा देवता न्याविष्टिनहरूरोह्यकृतिता तेत्रेव 'निष्टापनम्' आद्धाः समापनं तस्य सर् १ यदि नियारवति तन् देव हाव ॥

कुर्यात्, अथवा तं साधुमारोहन्तमेव यत् पातयेद् एषा सर्वाऽप्यात्मविराधना । पातितस्य च तस्याङ्गानि 'समवहन्यन्ते' भज्यन्त इत्यर्थः, तैरङ्गिर्हस्त-पादादिभिः समवहतेर्यत्र भूमावसौ पतित तत्र षद् काया विराध्यन्ते । तेषां च सङ्घटनादिभिरारोपणा सेव द्रष्टव्या या "छकाय चउसु रुहुगा" इत्यादि (८७९) गाथायामुक्ता । आत्मविराधनायां च ग्लानविपया परितापनादिनि-प्यना या आरोपणा साऽपि प्राग्वद्वसातव्या ॥९१७॥ गतमारोहणद्वारम् । अथ पतनद्वारमाह—5

मरण-गिलाणाईया, जे दोसा होंति दूहमाणस्स । ते चेव य सारुवणा, पवडंते होंति दोसा उ ॥ ९१८॥

कदाचिदसो तं वृक्षमारोहन् पतेत्, ततश्च मरण-म्हानत्वादिका ये दोषा आरोहतो भवन्ति भपततोऽपि त एव दोषाः 'सारोपणाः' समायश्चित्ता निरवशेषा वक्तव्याः । "पवडते होंति सविस्सा" इति निशीथचूणिहिस्तिः पाठः, तत्रायमर्थः—आरोहतो दोषाणां सम्भव एव भणितः, 10 पततः पुनरवश्यम्भाविनो गात्रभद्भादयो दोषा इति सविशेषग्रहणम् ॥ ९१८॥

गतं पतनद्वारम् । अथोपधिद्वारं विवृणोति---

तंमूल उविहगहणं, पंतो साहूण कोइ सन्वेसिं। तण-अग्गिगहण परितावणा य गेलच पिडगमणं॥ ९१९॥

यस परिमहे तानि मलम्बानि सः 'तन्मूलं' मलम्बग्रहणनिमित्तं तस्यैव साधोरुपधिम्रहणं कुर्यात्, 15 यहा कश्चित् मान्तः सर्वेषां साधृनामुपधिं गृह्णीयात् । तत्र यथाजाते रजोहरणादिके उपधौ हते मूलम्, शेषे पुनरुत्कृष्टे चतुर्लघु, मध्यमे मासलघु, जधन्ये पञ्चकम् । उपधिं विना तृणानि गृह्णी-यात्, अग्निमहणं वा कुर्यात्, अग्नि सेवेतेति भावः, अथाग्निं न सेवते ततः शीतेन परितापना तस्य भवेत्, शीतेन वा भुक्ते अजीर्यमाणे ग्लानत्वं भवेत्, शीताभिभूता वा साधवः पार्श्वस्था-दिपु प्रतिगमनं कुर्युः ॥ ९१९ ॥ सम्प्रत्यत्रैव प्रायश्चित्तमाह— 20

तणगहण अग्गिसेवण, लहुगा गेलकें होइ तं चेव । मूलं अणवद्वप्पो, दुग तिग पारंचिओ होइ ॥ ९२० ॥

अशुषिरतृणानि गृह्णाति मासलघु, शुषिरतृणानि गृँह्णाति चतुर्लघु । परकृतमिं सेवते चतुर्लघु, अभिनवमिं जनयित मूलम्, अभिश्वकिटकायां वा तापयन् यावतो वारान् हस्तं वा पादं वा सञ्चालयित तावन्ति चतुर्लघूनि । यस्तु धर्मश्रद्धालुरमिं न सेवते स शीतेन ग्लानः सङ्घायते, 25 ग्लानत्वे चानागाद्वपरितापनादौ तदेव प्रायिधित्तम् । अथ शीतपरीषहमसिहिण्णुः पार्श्वस्थादिषु वजित चतुर्लघु, यथाच्छन्देपु वजित चतुर्गुरु । यद्येकोऽवधावते अन्यतीर्थिकेषु वा याति ततो मूलम्, द्वयोरनवस्थाप्यम्, त्रिपु पाराञ्चिकम् ॥ ९२०॥ गतमुपधिद्वारम् । अथोद्धाहद्वारं विशृणोति—

अपरिग्गहिय पलंबे, अलभंतो समणजोगम्रक्षधुरो । रसगेहीपडिबद्धो, इतरे गिण्हंतों गहिओ य ॥ ९२१ ॥

अपरिगृहीतानि प्रलम्बान्यलभमानः 'श्रमणयोगमुक्तधुरः' परित्यक्तश्रमणव्यापारभार इति भावः, रसगृद्धिप्रतिबद्धः 'इतराणि' परिगृहीतप्रलम्बानि गृह्णन् प्रलम्बस्वामिना दृष्ट्वा गृहीतः ॥ ९२१ ॥

अस्यैवार्थस्य प्रसाधनार्थे दृष्टान्तमाह----

सोऊण य घोसणयं, अपरिहरंता विणास जह पत्ता । एवं अपरिहरंता, हियसव्वस्सा उ संसारे ॥ ९२५ ॥

राज्ञा कारितां घोषणां श्रुत्वा घोषणया च निवारितमर्थमपरिहरन्तो यथा द्रव्यापहारलक्षणं विनाशं प्राप्ताः, एवं तीर्थकरिनिषद्धं प्रलम्बग्रहणमपरिहरन्तः 'हृतसर्वसाः' अपहृतसंयमहृप- ६ सर्वसाराः संसारे दुःखमवाभुवन्ति । एपा श्रीभद्रवाहुस्वामिविरचिता गाथा ॥ ९२५ ॥

अथास्या एव भाष्यकारो व्याख्यानं करोति-

छ प्युरिसा मन्झ पुरे, जो आसादेख ते अजाणंतो । तं दंडेमि अकंडे, सुणेंतु पउरा! जणवया! य ॥ ९२६ ॥ आगमिय परिहरंता, निदोसा सेसगा न निदोसा। जिणआणागमचारि, अदोस इयरे भवे दंडो ॥ ९२७॥

जिणआणागमचारि, अदीस इयरे भवे दंडी ॥ ९२७ ॥ जह कोइ नरवई, सो छिहें पुरिसेहि अन्नतरे कजे तीसितो इमेणऽत्थेण घोसणं कारेइ—

'इमे छ प्पुरिसा मज्झ पुरे अप्पणो इच्छाए विहरमाणा महाजणेणं अदिद्वपुद्या अणुवलद्धविभव-नेवत्था अच्छंति, जो ते छिवइ वा पींडेइ वा मारेइ वा तस्स उग्गं दंडं केरेमि, हंदि छुणंतु एअं पउरा! य जणवया! य' ति। एयं घोसणयं सोऊण ते पउरा जणवया य दंडभीता ते पुरिसे 15 पयत्तेण वन्न-स्त्वाईहि चिंधेहि आगमिऊणं पीडापरिहारकयबुद्धी तेसिं छण्हं पुरिसाणं पींडं परिहरंति ते निद्दोसा। जे पुण अणायारमंता न परिहरंति ते रन्ना सबस्सावहारदंडेणं दंडिया। एस दिट्टंतो। अयमत्थोवणओ—रायत्थाणीया तित्थयरा। पुरत्थाणीओ लोगो। छप्पुरिसत्था-णीया छक्ताया। घोसणत्थाणीया छक्तायरक्तणपरूवणपरा छज्जीवणियादओ आगमा। छिवणा-इत्थाणीया संघट्टणादी। पटर-जणवयत्थाणीया साहू। दंडत्थाणीओ संसारो। तत्थ जे पयत्तेण 20 छण्हं कायाणं सरूवं रक्त्वणोवायं च आगमेऊण जहुत्तविहीए पींडं परिहरंति ते कम्मबंधदंडेणं न दंडिज्जंति, इयरे पुण संसारे पुणो पुणो सारीर-माणसेहि दुक्त्वस्यसहस्सेहि दंडिज्जंति ति॥

अथाक्षरगमनिका—''षट् पुरुषा मम पुरे वर्तन्ते, यस्तानजानन्नि 'आशातयेत्' स्पर्शादिनाऽपि पीडियेत् तमहं दण्डयामि 'अकाण्डे' अकाले, शृण्वन्तु एतत् 'पौराः!' पुरवासिनः! 'जानपदाश्च' प्रामवासिनो लोकाः!'' इति राज्ञा कारितां घोषणां श्रुत्वा तान् पुरुषान् 'आगम्य' उपलक्ष्य 25 परिहरन्तः सन्तो निर्दोषाः, (अन्थाअम्—३०००) 'शेषाः' पुनर्ये पीडां न परिहरन्ति ते न निर्दोषा इति दण्डिताः। एवमत्रापि जिनाज्ञया यः षट्कायानामागमः—परिज्ञानं तस्पूर्वक-चारिणः—संयमाध्वगामिनः सन्तोऽदोषाः, इतरेषां 'भवे' संसारे शारीर-मानसिकदुःखलक्षणोः दण्डः॥ ९२६॥ ९२७॥ गतमाज्ञाद्वारम्। अथानवस्थाद्वारमाह—

एगेण कयमकर्जं, करेइ तप्पचया पुणो अन्नो । सायाबहुल परंपर, बोच्छेदो संजम-तवाणं ॥ ९२८ ॥

१ भा॰ पुस्तके एतद्राथानन्तरं प्रन्थाप्रम् २००० इति वर्तते ॥ २ करेमि ।' एयं घोसणग्रं भा॰ विना ॥ ३ भग्रुणाणं ता॰ ॥

30

्र हैह् प्रायः सर्वेऽति प्राणितः कर्मगुरुक्तवण हप्रमात्रकुलानिलाग्णिः, न दीर्धमुखद्धिनः, स्तः सात्रक्रव्यत्वया > 'ण्केन' कर्नाचदाचार्यादिना किमित 'श्रकार्यः प्रमादस्थानं 'कृतं' प्रतिसेवितं तत्रोऽन्योऽति तत्रत्ययाद् 'ण्य श्राचार्यादिः श्रुत्यगेऽप्येदं करोति नृतं नान्यत्र दोषः'
इति तत्रवाकार्यं कर्नातः, वत्रोऽरगेऽपि त्रंथद करोतिः तद्रन्योऽति त्रंथद इत्येवं 'सावबहुलानां' सावगौर्द्यात्विद्धानां प्राणिनां परव्यर्ण प्रसादस्थानमानेद्यानानां नंयप-तरमोत्र्यवच्छेदः प्रामाति ।
यहि स्ययस्थानं नएन्सानं वा पृत्रीचार्येण माद्योग्यगृष्ठत्या वर्तितं ततः पाश्चात्यरदृष्टमिति
कृत्वा व्यवच्छित्रप्रेमेवित ॥ ९२८ ॥ गत्रमनदृस्याद्वाग्यः । अत्र मिळ्यान्वद्वारं विद्युणोति—

मिञ्छत्ते वैकार्ट, जहेय सीसं तदेव सेमं पि । मिञ्छत्तथिरीकरणं, अब्सुवगम वारणमसारं ॥ ९२९ ॥

19 मिळाले विचार्यमाण घडाइणे दोषा वक्तव्याः । यहा नाप-कि सन्ये अभी ययात्रादिन-स्वधार्तारिणो न भवन्न येन प्रकल्यानि गृहन्ति ?, अन्दिग्रव्यान् अद्वादयो दोषाः । तथा यय-तद् स्या तथव 'राप्तम्' अन्वद्रव्यतेयां मिळाल् व्यवेति चित्तिवृद्धितः स्थान् । मिळ्यालाद् वा चित्रवादस्य सम्यक्त्याभिसुक्त्य प्रकल्प्यद्ग्यद्ग्येनात् पुनर्ति मिळ्यात्वे स्थिनिकरणं मवति । अस्युग्णमं वा प्रक्रवाया अणुक्रतानां सम्यन्द्र्यनस्य वा क्रमुक्तामस्यापरः कश्चित् वारणं क्रयान्— 15मा एतेयां समीरे प्रतिपद्यन्व, 'असारं' निस्मार्समीयां प्रवचनम्, मयेदं चेदं दृष्टमिति ॥ ९२९ ॥

गर्उ मिथ्यान्यहारम् । अय विगयना, सा च हिविया—संयमे आत्मिन च । हे अरि प्रागेव मप्रपर्व मावित, त्यारि विशेषसुण्दर्शयनुसाह—

तं काय परिचयंडं, नाणं तह हंसणं चरिनं च । वीयांडंपडिसेवग, लोगो जह तेहिं सो पुट्टी ॥ ९२० ॥

20 प्रक्षं गृहन् 'नं कार्यं बनस्पिन्छ्यां परिन्यज्ञीत, तथा ज्ञान दर्शनं चारित्रं चेति । बीजा-दिप्रतिसेवको लोको यथा असंयमेन स्पृष्टन्या सोऽपि मार्झुटाः प्रक्रक्रमसेविदेग्संयमेन स्पृष्ट इति निर्युक्तिगायासगर्थः ॥ ९३० ॥ अर्थनामेव विचरीयुगह—

कार्य परिचर्यनी, सेसे काए वए वि सी चर्यह । णाण णाणुबदेसे, अबङ्माणी उ अन्नाणी ॥ ९३१ ॥

25 अञ्चानि गृहाना बनस्तिकायं परित्यज्ञति, तं च परित्यज्ञन् शेषानित कायानसो भावतः परित्यज्ञति, तर्सारन्याना च प्रयस्त्रत्यतिस्थानः, प्रथस्त्रवर्गारत्याने च शेषत्रतपरित्यानोऽत्युग्जा-यत्र•इति 'भवान्यप्यसा परित्यज्ञति' इखुक्तन् । तथा 'ज्ञाने' ज्ञानविषये परित्याने चिन्त्यसाने ज्ञानीरदेशे क्रियाद्वारेगाऽवर्जमानोऽसा ज्ञान्यति अज्ञानी मन्त्रव्यः ॥ ९३१ ॥

दंसण-चरणा मृहस्म नित्य समया व नित्य सम्मे तु । विग्हेन्द्रस्खण चरणं, नद्मावे नित्य वा तं तु ॥ ९३२ ॥

ज्ञानामाबादमी मुद्दो सबति, मृदस्य द्रश्यन-चारित्र न स्तः । यहा प्रश्नन्त्रप्रशादस्य नीवेषु समता न विद्यते । सन्त्रायाः अमाबाच सम्प्रस्त्रमपि नान्ति, तस्त्रापि सामायिकनेदत्या समता-

१ ५ ६ एतिकान्तरोतः पाट. मी॰ छे॰ मुलक्योरेव विद्यते ॥

रूपत्वात् । विरतिरुक्षणं चरणं मणितम् , तच रुक्षणं प्ररुम्वानि गृह्वतो न विद्यते । "तद्भावे' रुक्षणामावे 'तत्तु' तत् पुनश्चारित्रं नास्ति । वाशव्दः प्रकारान्तरद्योतकः ॥ ९३२ ॥

अथ "वीयाई" (गा० ९३०) इत्यादि व्याख्यायते—फलाद् चीजं भवतीति कृत्वा वीज-महणम्, आदिशव्दात् फल-पुण्प-पत्र-प्रवाल-शाखा-त्वक्-फ्तन्ध-कन्द-मूलानि गृह्यन्ते । जिप्यः प्राह—सर्वेऽपि वनस्पतयस्तावद् मूलाद्य एव भवन्ति अतः "मूलाईपिडसेवग" इति कर्तु-5 मुचितम् किमिति "वीयाईपिडसेवग" ति कृतम् १ स्रिशह—

पाएण वीयभोई, चोयग । पच्छाणुपुन्ति वा ऐवं । जोणिग्घाते व हतं, तदादि वा होइ वणकाओ ॥ ९३३ ॥

लोकः प्रायेण वीजभोजी, तेन कारणेन वीजमादौ कृतम् । यद्वा हे नोदक! खसमये त्रिवि-धाऽऽनुपूर्वी प्ररूप्यते, तद्यथा—पूर्वानुपूर्वी पश्चानुपूर्वी अनानुपूर्वी च । त्रिविधाऽपि च यथावसरं 10 व्याख्याङ्गमित्यत्र पश्चानुपूर्वी गृहीता । अथवा वीज वनस्पतीनां योनिः—उत्पृत्तिस्थानम् अतस्तस्य धाते—विनाशे सर्वमिप मूलादिक निरपेक्षतया हतं भवति । यदि वा तदादिर्वनस्पतिकायो भवति । तद्—वीजमादिर्यस्य स तदादिः, सर्वेपामिप वनस्पतीनां तत एव प्रसूतेः । अतो वीजादिग्रहणं कृतम् ॥ ९३३ ॥ ततश्च—

> विरइसभावं चरणं, बीयासेवी हु सेसघाती वि । अस्संजमेण लोगो, पुद्दो जह सो वि हु तहेव ॥ ९३४ ॥

यो वीजासेवी स नियमात् 'शेषाणां' मूलादीनामपि घाती विज्ञेयः । यश्च मूलादीनि घात-यति तस्य विरतिस्वभावं यत् 'चरणं' चारित्रं तत्व भवति । यथा च वीजादिप्रतिसेवको लोकोऽ-संयमेन स्प्रष्टस्तथैवासावपि तैः प्रलम्बेरासेवितरसंयमेन स्प्रष्ट इति ॥ ९३४ ॥

गता सयमविराधना । अथाऽऽत्मविराधनामाह—

20

15

तं चेव अभिहणेजा, आविद्यं अहव जीहरुोल्लयता(यया) । बहुगाई भ्रंजित्ता, विद्वचिकाईहिं आयवहो ॥ ९२५ ॥

तद् रुगुडादिकं क्षिप्तं पुनरापतितं सत् 'तमेव' साधुमभिहन्यात्। इदं च प्रागुक्तमपि स्थानाशृत्या-र्थमत्रोपात्तमिति न पुनरुक्तदोषः । अथवा जिह्वारोष्डपतया बहुकानि प्ररुक्तानि शुक्ता विस्-चिकादिभिः आदिशब्दाद् ज्वरा-ऽतीसारादिभी रोगैरुत्पवैरात्मवधो भवति ॥ ९३५॥ 2

उक्ताऽऽत्मविराधना । तदुक्ती च व्याख्याता आज्ञादयश्चत्वारोऽपि दोषाः । अथ "कस्स अगीयत्थे" (गा० ८६२) ति पदं व्याचिख्यासुराह—

कस्सेयं पिन्छत्तं, गणिणो गन्छं असारवित्सस ।

अहवा वि अगीयत्थस्स भिक्खुणो विसयलोलस्स ॥ ९२६ ॥

शिष्यः प्रश्नयति—यद् 'एतद्' अन्यत्रप्रहणादावनेकथा प्रायक्षित्तमुक्तं तत् कस्य भवति ? 130 सूरिराह—'गणिनः' आचार्यस्य गच्छम् असारयतः सतः । असारणा नाम अगवेषणा—कः

१ एणं ता॰ ॥ २ प्यंति कस्य प्रतत् पूर्वोक्तं प्रायिश्चित्तं भवति ? भा॰ । "कस्तेत॰ गाधा । अह कस्तेतं पच्छित्तं ? उच्यते—गणिणो गच्छं असारवेतस्स" इति चूर्णिः॥

यथा सप्तानां व्यसनानामन्यतरेण व्यसनेन युतो राजा राज्यं पारुयितुं न जानाति, थो वा रोपव्यसनैरनिभम्तोऽपि विषयलोलुपतया नित्यमन्तःपुरे औस्ते सोऽपि 'कार्याणि' व्यवहारादीनि स्वयमात्मना 'न शीलयित' नावलोकत इत्युक्तं भवित, ततश्च यथेच्छमुच्छृङ्खलाः प्रजाः सङ्घायन्ते । एवमाचार्योऽप्यगीतार्थो गीतार्थो वा सातगौरवादिव्यसनोपहत्तवया यदि स्वगच्छं न सारयित तदा गच्छः सर्वोऽपि निरङ्कशः सङ्घायते । यतश्चेवमतोऽसारणिक आचार्यो दूरंदूरेण परिहर्तव्यः । । ९३९ ॥ अथ व्यसनसप्तकमाह—

इत्थी जूयं मर्ज, मिगन्व वयणे तहा फरुसया य । दंडफरुसत्तमत्थस्स दूसणं सत्त वसणाई ॥ ९४० ॥

यद् राजा अन्तःपुरस्रीपु नित्यमासक्तिष्ठिति तत् स्रीव्यसनम् । यत्तु यूतविनोदेनानवरतं दीव्यित तद् यूतव्यसनम् । यत् पुनर्मधपानकेन नित्यं मूर्च्छित इवाऽऽस्ते तद् मद्यव्यसनम् । यत्तु 10 मृगया—आखेटकस्तत्रानेकेषां मृगादिजन्तूनां वधं करोति तद् मृगयाव्यसनम् । एतेषु चतुर्ष्वप्या- सक्तो राज्यकार्याणि न शील्यित । तथा यत् खर-परुपवचनैः सर्वानिप जनान् निर्विशेषमाको-शित तद् वचनपरुपताव्यसनम् , अत्र वचनदोषेण दुरिधगमनीयो भवति । यत् पुनरनपराधे खल्पे वाऽपराधे अत्युगं दण्डं निर्वर्त्तयित तद् दण्डपारुप्यव्यसनम् , अत्र च पौर-जानपदानामत्युग्रदण्ड- भयेन नश्यतां क्रमेण च प्रजाया अभावे कीदृशं राज्यम् १ इति । अर्थोत्पत्तिहेतवो ये सामाद्युप्य-15 चतुष्ट्यप्रमृतयः प्रकारास्तेषां यद् दूषणं तद् अर्थदूषणव्यसनम् , अत्र चार्थोत्पत्तिहेतून् दूषयतो न तथाविधोऽर्थ उत्पद्यते, अर्थोत्पत्त्यमावे चाचिरादेव कोशः परिहीयते, परिहीणकोशस्य च विनष्टमेव राज्यम् । एतानि सप्त व्यसनानि ॥ ९४० ॥ अथ प्रकारान्तरेण भक्नानाह—

अहवा वि अगीयत्थो, गच्छं न सारेह इत्थ चउभंगो । विइए अगीयदोसो, तहतों न सारेतरो सुद्धो ॥ ९४१ ॥

20

अथवा अगीतार्थो गच्छं न सारयतीत्यत्र चतुर्भङ्गी । गाथायां पुंस्वं प्राक्कतत्वात् । सा चेयम्—अगीतार्थो गच्छं न सारयति १ अगीतार्थो गच्छं सारयति २ गीतार्थो गच्छं न सार-यति ३ गीतार्थो गच्छं सारयति ४ । अत्र प्रथमस्य द्वौ दोषौ अगीतार्थत्वदोषः असारणादोषश्च । द्वितीयस्य पुनरेक एवागीतार्थत्वदोषः । तृतीयस्तु यन्न सारयति स एकस्तस्याऽसारणादोषः । 'इतरः' चतुर्थो भङ्गः शुद्धः ॥ ९४१ ॥ आद्यानां त्रयाणां भङ्गानां भावनामाह—

देसो व सोवसग्गो, पढमो तइओ तु होइ वसणी वा। विइओ अजाणतुल्लो, सारो दुविहो दुहेकेको ॥ ९४२ ॥

'प्रथमः' प्रथमभङ्गवर्ती आचार्यः सोपसर्गदेश इव परित्यक्तव्यः । 'तृतीयः' गीतार्थोऽप्यसा-रणिकत्वाद् व्यसनीव राजा परिहर्त्तव्यः । 'द्वितीयः' सारणिकोऽप्यगीतार्थत्वादज्ञनरेन्द्रज्ञस्य इति कृत्वा परिहार्य इति चूँण्येभिप्रायः ।

१ यद्वा भा॰ ॥ २ आस्ते, यस्तु राज्यनीतेरहायको नरेन्द्रः सः 'कार्याणि' भा॰ ॥ ३ परित्यक्तव्यः त॰ डे॰ ॥ ४ यद्यपि वृत्तिकृद्धिः "चूर्ण्यभिप्रायः" इत्यावेदितं तथापि चूर्णों किल निर्शिथचूर्ण्यभिप्रायानुसारिण्येव व्याख्या वरीवृत्यते । तथाहि चूर्णिपाठः—"तत्थ जो पढमो अंगीतत्थो

अथ निजीश्रचण्येमिप्रायेण व्याख्यायतं—प्रथमः सोपमर्गदेश इव परिहार्यः । द्वितीयः पुनर्गीतार्यः परं सार्गिकः म च व्यसनीय ज्ञानव्यः । किसुक्तं भवति ?—सोऽगीनार्थः सन् यन् किमिष न्वशिष्यान् नोदयित सा नोदना नस्य व्यसनिमय द्रष्टव्यम् , अतो व्यसनामिमृतम्पति- वदसा परिहार्यः । तृतीयः पुनरसार्गिकन्याद् गीनार्थोऽप्यज्ञनृपनुत्वये इति कृत्वा परित्याच्यः । असिश्च व्याच्याने 'दिसो व सोवसमो, पदमो विद्ञो उ होट् वसणी वा । तद्को अज्ञाण- तुल्लो" ति पाठो द्रष्टव्यः । पुस्तकेष्यि वहुष्ययमेव दृश्यत इति ।

यहुक्तं ''रजं विद्युक्तसारं, वह तह गच्छों वि निस्तारां'' (गा० ९३७) ति तदेतद् भावयति—''सारा द्वविहा दृहेत्रे हो'' सारा द्विविधः—लेकिको लोकोत्तरिकश्च। पुनरेकेको द्विया—बाद्य आभ्यन्तरश्च ॥ ९४२ ॥ एनदेव व्याचिष्ट—

10 गी-मंहल-धन्नाई, बच्जा कणगाइ अंतों लोगम्मि । लोगुत्तरिजा सारो, अंतो वहि नाण-बन्धाई ॥ ९४३ ॥

गोजञ्देन गावा वर्लावदीश्रोच्यन्ते, उपलक्षणत्वाद् हस्यश्राद्धानामि परिग्रहः; मण्डलमिति देशसण्डम्, यथा—पण्णवितमण्डलिन सुराष्ट्रादेशः; अथवा गोमण्डलं नाम गोवर्गः, उपलक्ष्य-णत्वाद् महित्यादिवर्गाऽपि, धान्यानि शान्त्रिमस्तीनि, आदिशञ्दाद् वास्तु-कृष्यादिपरिग्रहः; एष 15 लेकिको वाद्यः मारः । कनकः सुवर्णम्, आदिग्रहणेन रूप्य-रलादीनिः; एषः 'अन्तः' इति आभ्यन्तरः सारः 'लोके' लोकविषयो मन्तन्त्र । एतेन द्विमकारेणापि मारेण राज्यं पार्थिवनाऽ-विन्यमानं निम्सारं भवति । लोकोत्तरिकः मारो द्विधा—अन्तर्वहिश्च । तत्रान्तःसारो ज्ञानम्, आदिशञ्दाद् दर्शन-वारित्रं च । विहःमारो वस्तादिकः, आदिश्वर्णेन शञ्या-पात्रादीनि गृद्धन्ते । अनेन च द्विविधेनापि लोकोत्तरिकसारेणाऽऽचार्येणाऽसार्थमणो गच्छो निस्सारो भवतीति पक्व-20तम् । तसाद् गणिनो गच्छमसारयन एतत् प्रायश्चित्तम् । अथवा यो मिश्चर्गाताथां गुरूणामनु-पदेशेन प्रक्नानि गृह्मित तस्य मवेमेतन् प्रायश्चित्तम् । गीताथांपदेशनन्तरेण वाऽगीतार्थस्य स्वयमेव कार्येषु प्रवर्तमानस्याऽयं दोषो भवति ॥ ९४३ ॥

सुहमाहर्गं पि फर्झं, करणविहणमणुवायसंजुत्तं । अन्नायऽदेस-कालं, विवत्तिमृवजाति सेहम्स ॥ ९४४ ॥

25 गुरंतन साध:—साधनं यस तन् गुलसायकम्, "शेषाद्वा" (सिद्ध० ७-३-१७५) इति कच्यत्ययः, गुलसाव्यमित्यर्थः । तदिष कार्यं करणम्—आरम्मं. प्रयत्न इत्येकोऽर्थस्तद्विद्दीनम्, तथा यस कार्यम्य यः साधनोपायनद्विपरीतेनानुपायन संयुक्तम्, "अन्नाय" ति यद् यस कार्य-मज्ञातं तत् तेनाऽऽरम्यमाणम्, 'अदेश-काले च' अनवसर् विचीयमानं शेक्षस्याऽज्ञस्य विपत्तिमु-पयति । विपत्तिश्चेन कार्यस्याऽसिद्धिरत्रामियीयते । तदुक्तम्—

गच्छ म गारेति को हेन्रो व गोवनको चहनव्यो । विद्यो जो अगीनन्त्रो गच्छं मारेति सो वसपीत राता चहनत्र्यो । ततिश्रो जो गीत्रच्ये गच्छ ण गारेति मो अजागगणिको व्य चहनव्यो ।" इत्राहि ॥

१ क्य प्रचेति । अस्मिश्च मा॰ ॥ २ "मंदरं जया—णयोत्यमद्दरं बंमाणमंददं कोट्यमंदरु-मिर्जाद । अथवा गोमद्दं गोदरं, आदिगाहणेषं कुण्यि" इति च्यूणीं ॥ ३ °म्मः तिष्ठि" मो॰ छे॰ विना ॥

20

सम्प्राप्तिश्च विपत्तिश्च, कार्याणां द्विविधा स्मृता । सम्प्राप्तिः सिद्धिरर्थेषु, विपत्तिश्च विपर्यये ॥ ततो न निप्पद्यत इत्युक्तं भवति ॥ ९४४ ॥ अत्रैव निदर्शनमाह—

> नक्खेणावि हु छिजह, पासाए अभिनवुद्धितो रुक्खो । दुच्छेजो वहुंतो, सो चिय वत्थुस्स मेदाय ॥ ९४५ ॥ जो य अणुवायछिनो, तस्सइ मूलाइँ वत्थुमेदाय । अहिनव उवायछिनो, वत्थुस्स न होइ भेदाय ॥ ९४६ ॥

प्रासादे वट-पिप्पलादिर्वक्षः 'अभिनवोत्यितः' अधुनोद्गतः सन् नखेनाऽपि 'हुः' निश्चितं 'छिचते' छेत्तुं शक्यते इति, अनेन कार्यस्य सुखसाध्यतोक्ता । स एव वृक्षः 'वर्धमानः' शाखा-प्रशाखाभिः प्रसरन् दुश्छेचो भवति, कुठारेणापि च्छेत्तुं न शक्यत इति भावः। अपरं च 'वास्तुनः' 10 प्रासादस्य भेदाय जायते ॥ ९४५ ॥

यश्चानुपायेन—मूलोद्धरणलक्षणोपायमन्तरेण च्छिन्नः तस्यापि मूलान्यनुद्धृतानि वास्तुमेदाय। जायन्ते । एतेन चानारम्मे अदेश-कालारम्मेऽनुपायारम्मे च सुलसाध्यस्यापि कार्यस्य विपत्तिः क्षेशसाध्यता चोक्ता । अथ देश-काले उपायेन विधीयमानस्य यथा निष्पत्तिर्भवति तथा निदर्श-यति—"अहिनव" इत्यादि उत्तरार्द्धम् । यस्तु वृक्षः 'अभिनवः' उद्गतमात्र उपायेन—प्रयत्तपूर्वकं 15 छिन्नो मूलान्यपि तस्योद्धृत्य करीषाभिना दग्धानि स वास्तुनो मेदाय न भवति ॥ ९४६ ॥

एष दृष्टान्तः । अयमस्यैवोपनयः---

पिंडिसिद्ध ति तिगिच्छा, जो उ न कारेइ अभिनवे रोगे। किरियं सो उ न ग्रुचइ, पच्छा जत्तेण वि करेंतो।। ९४७॥ सहसुप्पइअम्मि जरे, अद्वम काऊण जो वि पारेइ। सीयल-अंबदवाणी, न हु पडणइ सो वि अणुवाया।। ९४८॥

यस साधोर्ज्वरादिको रोग उत्पन्नः स यदि

''तेगिच्छं नामिनंदेजा, संचिक्खऽत्तगवेसए।

एवं ख़ तस्स सामन्नं, जं न कुज्जा न कारवे ॥'' (उत्त० अ० २ गा० ३३) इति सूत्रमनुश्रित्य ''प्रतिषिद्धा चिकित्सा'' इति कृत्वा अभिनवे रोगे 'कियां' चिकित्सां न कार-25 यति स पश्चात् तस्मिन् रोगे प्रवर्धिते सति 'यत्तेनापि' महताऽप्यादरेण कियां कुर्वाणो न मुच्यते रोगात् । यदि पुनरधुनोत्थित एव रोगे कियामकारियप्यत् ततो नीरुगभविष्यत् ॥ ९४० ॥

यो वा अनुपायेन क्रियां करोति सोऽपि न प्रगुणीभवति, यथा, सहसोत्पन्ने ज्वरेऽन्यसिन् वा, अजीर्णमभवे रोगे "सहस्रुप्पन्नं रोगं, अष्टमेण निवारए" इति वचनादष्टमं कृत्वा, योऽपि न केवलं क्रियाया अकारक इत्यपिशन्दार्थः "सीयलअंवद्वाणि" ति शीतलकूरा-ऽम्लद्भवादीनि पारयित 30 भा पेया कारणीया भवतु इति कृत्वा सोऽपि न प्रगुणीभवति 'अनुपायात्' उपायाभावात्, प्रस्थुत तेन शीतलकूरादिना स रोगस्तस्य गाढतरं प्रकुप्यति । यदि पुनस्तेन पेयादिनोपायेनाऽपार-

१°वाणि उन ता॰॥ २ प्रवृद्धिं गते सति डे॰ त॰॥

15

30

यिप्यत् ततः पहुरभविप्यत्, यच्चानेपणीयपारणकसमुत्थं पापं तत् पश्चात् प्रायश्चित्तेनाऽञोघ-यिप्यद् इत्युपाया-ऽनुपायसरूपमगीतार्थां न जानाति । ततश्च "अज्ञातमदेशकाले वा कार्यं कुर्वत-स्तस्य शैक्षस्य विपत्तिमुपयाति" (गा० ९४४) इति प्रकृतम् ॥ ९४८ ॥ अत्रैव तात्पर्यमाह—

संपत्ती य विपत्ती, य होज कजेस कारगं पप्प।

अणुवायतो विवत्ती, संपत्ती काछवाएहिं ॥ ९४९ ॥

सम्प्राप्तिश्च विपत्तिश्च कार्येषु 'कारकं' कर्तारं प्राप्य मवति । यदि अज्ञः कर्ता ततस्तेनाऽदे-श-काले अनुपायत आरव्यस्य कार्यस्य विपत्तिर्भवति । अथासो ज्ञस्ततस्तेन कालोपायाभ्यां देश-काले उपायेन चारव्यस्य कार्यस्य 'सम्प्राप्तिः' सिद्धिर्भवति ॥ ९४९ ॥ उपसंहरन्नाह—

इय दोसा उ अगीए, गीयम्मि उ कालहीणकारिम्मि ।

10 गीयत्थस्स गुणा पुण, होति इमे कालकारिस्स ॥ ९५० ॥

"इय" एवमगीतार्थे कार्यकर्त्तरि ढोषा मवन्ति । गीतार्थेऽपि काल्हीनकारिणि हीने वा अधिके वा काले कार्यकारिणि एत एव दोषाः । यः पुनर्गीतार्थ उपायेनाऽन्यूनातिरिक्ते काले कार्य करोति तस्य गीतार्थस्य काल्कारिण इमे गुणा भवन्ति ॥ ९५० ॥ तानेवाह—

आयं कारण गाढं, वत्थुं जुत्तं ससत्ति जयणं च।

सन्वं च सपडिवक्खं, फलं च विधिवं वियाणाइ ॥ ९५१ ॥

'आयं' हार्म 'कारणम्' आहम्वनं 'गाहम्' आगाहग्हानतं 'वस्तु' द्रव्यं दृष्टिकमित्यनर्थान्तरं 'युक्त' योग्यं 'सगक्तिकं' समर्थं 'यतनां' त्रिःपरिश्रमणादिहसूणाम् ; एतदायादिकं सर्वेमपि सप्रतिपक्षं गीतार्थो विवानाति । तत्राऽऽयस्य प्रतिपक्षोऽनायः, कारणस्याऽकारणम्, आगाहस्याऽनागाहम्, वस्तुनोऽवस्तु, युक्तस्याऽयुक्तम्, सगक्तिकस्याऽगक्तिकः, यतनाया अयतनेति यथाकमं ²⁰प्रतिपक्षाः । तथा फैलं चेहिकादिकं 'विधिवान्' गीतार्थो विजानातीति निर्युक्तिगाधासमासार्थः ॥ ९५१ ॥ अथ प्रतिपदं विस्तरार्धमाह—

संकादीपरिसुद्दे, सह लामे कुणइ वाणिओ चिह्नं। एमेव य गीयत्थो, आयं दहुं समायरह ॥ ९५२ ॥

शुल्कं—राजदेयं द्रव्यम्, आदिशव्दाद् माटक-कर्मकरवृत्त्यादिपरिग्रहः, यथा शुल्कादिमिर्द्र-25 व्योपक्षयहेतुमिः परिशुद्धः—निर्विटितो यदि कोऽपि लाभ उत्तिष्ठते तत एवं शुल्कादिपरिशुद्धे लामे सित वाणिजो देशान्तरं गत्वा वाणिज्यचेष्टां 'करोति' आरमते, अथ लाममुत्तिष्ठमानं न पद्यित ततो नारमते । एवमेव च गीतार्थोऽपि ज्ञानादिकम् 'आयं' लामं दृष्ट्वा प्रलम्बाद्यकरूप्य-प्रतिसेवां समाचरित नान्यथा ॥ ९५२ ॥ इटमेव स्पष्टयन्नाह—

असिवाईसुंकत्थाणिएसु किंचिखलियस्स तो पच्छा । वायण वेयावचे, लामो तव-संजम-ऽज्झयणे ॥ ९५३ ॥

१ फलं च 'त्रिविधम्' ऐहिकादिकं गीतार्थो विज्ञानातीति समासार्थः भा० । "फलं च निर्मित्रं वियाणाइ" इति पाठानु अरेणेनं टीका, न चासं पाठ कस्मिश्रिटिप पुस्तक टपलभ्यते । "विधि-

स हि गीतार्थः प्ररुम्बादिकं प्रतिसेवमान एवं चिन्तयित—अशिवादिपु शुल्कस्थानीयेषु अक-रूप्यप्रतिसेवया केभ्योऽपि संयमस्थानेभ्यः स्खिलतस्यापि मम 'ततः पश्चात्' अभिवादिषु व्यतीतेषु वाचनां ददत आचार्यादीनां वैयावृत्त्ये तपः-संयमा-ऽध्ययनेषु वा उद्यमं कुर्वाणस्य भूयानन्यो रूपमो भविष्यति, अकरुप्यप्रतिसेवाजनितं चातीचारं प्रायश्चित्तेन शोधियण्यामि—इति बहुतरं रूपमारुपतरं व्ययं परिभाव्य गीतार्थः समाचरित । अगीतार्थः पुनरेतदाय-व्ययस्हूपं न जाना- इ तीति ॥ ९५३ ॥ गतमायद्वारम् । अथ कारणा-ऽऽगादद्वारद्वयमाह—

> नाणाइतिगस्सऽद्वा, कारण निकारणं तु तन्त्रञ्जं । अहिडक विस विस्रह्म, सज्जनखयस्त्रमागाढं ॥ ९५४ ॥

गीतार्थः कारण एव प्रतिसेवते नाकारणे । आह किमिदं कारणम् १ किं वा अकारणम् १ हत्याह—'ज्ञानादित्रयस्य' ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपस्याऽर्थाय यत् प्रतिसेवते तत् कारणम्, 'तद्वर्जं' 10 ज्ञानादित्रयवर्जं सेवमानस्य निष्कारणमुच्यते । तथा गीतार्थो यादशमागाढे प्रतिसेव्यं तादशमागाढ एव यादशं पुनरनागाढे तादशमनागाढ एव प्रतिसेवते । अथ किमिदमागाढम् १ किं वा अनागाढम् १ उच्यते—अहिना—सर्पेण दष्टः कश्चित् साधुः, विषं वा केनचिद् भक्तादिमिश्रितं दत्तम्, विस्चिका वा कस्यापि जाता, सद्यःक्षयकारि वा कस्यापि शूल्मुत्पन्नम्, एवमादिकमा- शुघाति सर्वमप्यागाढम् ; एतद्विपरीतं द्व चिरघाति क्रष्टादिरोगात्मकमनागाढम् ॥ ९५४ ॥

अथ वस्तु-युक्तद्वारे व्याचष्टे---

आयरियाई वत्थुं, तेसिं चिय जुत्त होइ जं जोग्गं । गीय परिणामगा वा, वत्थुं इयरे पुण अवत्थुं ॥ ९५५ ॥

आचार्यादिः प्रधानपुरुषो यद्वा गीतार्थः सामान्यतो वस्तु भण्यते, परिणामका वा साधवो वस्तु । एतादृशमात्मानं परं वा वस्तुभृतं ज्ञात्वा प्रतिसेवते प्रतिसेवाप्यते वा । 'इतरे' प्रतिपक्ष-20 भूताः पुनरनाचार्यादिरगीतार्थो वा अपरिणामका-ऽतिपरिणामका वा सर्वेऽप्यवस्तु भण्यन्ते । एते- पामेवाचार्यादीनां यद् योग्यं भक्त-पानौपधादिकं तद् युक्तम् , तद्विपरीतं पुनरयुक्तम् । एतद् युक्ता- ऽयुक्तस्त्रपं गीतार्थ एव जानाति नेतर इति ॥ ९५५ ॥ अथ सशक्तिक-यतनाद्वारद्वयमाह—

धिइ सारीरा सत्ती, आय-परगता उ तं न हावेति । जयणा खळ तिपरिरया, अर्लभें पच्छा पणगहाणी ॥ ९५६ ॥

शक्तिर्द्धेषा, धृति-संहननमेदात् । तत्र धृतिरूपां शारीरां च—संहननरूपामात्मगतां परगतां च शक्ति ज्ञात्वा आचार्योऽन्यो वा गीतार्थस्तां न हापयतीत्यत्र चतुर्मङ्गी सूचिता । सा चेयम्—आत्मगता शक्तिर्विद्यते न परगता १ परगता नात्मगता २ आत्मगताऽपि परगताऽपि ३ नात्मगता न परगता १ । तत्र प्रथमभङ्गे आचार्य आत्मनः शक्ति न हापयति, परस्य पुनरशक्तत्वाद् यथायोगं प्रतिसेवनामनुजानीते । द्वितीयभङ्गे अशक्तत्वादात्मना प्रतिसेवते, परस्य तु समर्थत्वाद् ३० नानुजानाति । तृतीयभङ्गे अभयोरपि शक्तिसद्भावादात्मनाऽपि न प्रतिसेवते परस्यापि न वितरित । चतुर्थभङ्गे पुनरुभयोरप्यशक्तत्वादात्मनाऽपि प्रतिसेवते परेणापि प्रतिसेवापयति । तथा यतना

१ °ण्यते भा॰॥

खलु त्रिपरिस्या द्रष्टव्या, ''र्राह्म गती'' परि—समन्ताद् स्यणं परिस्यः—परिश्रमणमित्यर्थः, त्रयः परिस्या यस्यां सा त्रिपरिस्या । किसुक्तं भवति ?—एपणीयाहारान्वेपणार्थं स्वयामाद्या तिस्रो वाराः सर्वतः पर्यद्य यद्येपणीय न लभते ततः पश्चाद् 'अलामे' अप्राप्ती पञ्चकपरिहाण्या स्वते ॥ ९५६॥ अथ फलद्वारम्—गीतार्थः प्रथममेव कार्यं प्रारममाणः परिभावयति—एवमनु- तिष्ठतो ममान्यस्य वा फल भविष्यति ² न वा ² । तच फलं द्विविधम् । तदेवाह—

इह-परलोगे य फलं, इह आहाराइ इक्समेकस्स । सिद्धी सग्ग मुक्कलता, फलं तु परलोइयं एयं ॥ ९५७ ॥

इहलोकफल परलोकफल चेति फलं द्विया । तत्रेहलोकफलमाहारादि, आदिशव्दाद् वस्न-पात्रादि । तथा सिद्धिगमनं स्वर्गगमनं सुकुलोत्पचिश्च एतत् पारलोकिकं फलम् । 'एतद्' द्वयमपि 10 'एककस्य' आत्मनः परस्य च परस्परोपकारेण यथा भवति तथा गीतार्थः समाचरति । यच गीतार्थोऽरक्त-द्विष्टः प्रतिसेवते तत्र नियमादपायश्चित्ती मवति ॥ ९५० ॥

आह केन पुनः कारणेनापायश्चित्ती ² उच्यते—

खेत्तीयं कालोयं, करणमिणं साहओ उवाओऽयं । कत्त ति य नोगि ति य, इय कडनोगी वियाणीहि ॥ ९५८ ॥

15 यो न रागे न हुपे किन्तु तुला-दण्डवद् ह्रयोरिष मध्ये प्रवर्तित स खोजा मण्यते । क्षेत्रे— अध्वादो ओजाः क्षेत्रोजाः, काले—अवमीदर्यादो ओजाः कालोजाः, क्षेत्रे काले च प्रतिसेवमानो न राग-द्देपाभ्या दूप्यते इत्यर्थः । कथम् १ इत्याह—यतः स गीतार्थः 'करणिमदं' 'सम्यिक्त्रयेयम् , एवं कियमाणे महती कर्मनिर्जरा भवति' इति विसृशति । तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि साधनी-यानि, तेपां च साधकोऽयमुपायः, यद् असंस्तरणे यतनया प्रलम्बसेवनम् । तथा 'कृतयोगी' 20 गीतार्थः स कर्तेति च योगीति च मण्यते, "इय" एवं विजानीहि इति निर्युक्तिगाथासमा-सार्थः ॥ ९५८ ॥ अथेनामेव विवृणोति—

ओयव्भृतो खित्ते, काले भावे य जं समायरह । कत्ता उ सो अकोप्पो, जोगीव जहा महावेजो ॥ ९५९ ॥

यः 'ओजोम्त.' राग-द्रेपविरहितो गीतार्थः 'क्षेत्रे' अध्वादौ 'काले' दुर्मिक्षादौ 'भावे च' 25 ग्लानत्वादौ मलम्बादिप्रतिसेवारूपं यत् किमपि समाचरति सः 'सम्यिक्कयेयम्, साधकोऽयग्रु-पायः' इत्यालोच्यकारी कर्त्ता "अकोप्यः' अकोपनीयः, अदूषणीय इत्यक्तं मवति । क इव श् इत्याह—'योगीव यथा महावदाः' इति, 'यथा' इति दृष्टान्तोपन्यासे, 'योगी' 'यन्चन्तिरः, तेन च विमङ्गज्ञानवलेनाऽऽगामिनि काले प्राचुर्येण रोगसम्मव दृष्ट्वा अष्टाङ्गायुर्वेद्रस्पं वैद्यकशास्त्रं चक्रे, तच यथाङ्गाय येनाधीत स महावद्य उच्यते । स च आयुर्वेद्रमामाण्येन क्रियां कुर्वाणो 'योगीव' 30 धन्वन्तिरिव न दूषणमाग् मवति, यथोक्तक्रियाकारिणश्च तस्य तत् चिकित्साकर्म सिध्यति;

^{? &}quot;रींस् गति-रेषणाों " इति हिमधानुपाठे ॥ २ °णाति ता॰ ॥ ३ °छम्बाद्धितसेवनम् । 'क्तेंति च योगीति च' इतिशब्दी स्वरूपपरामर्शे एवमर्थे वा, 'इति' अमुना प्रकारेण 'कृतयोगी' गीतार्थो भवति 'इति' एवं विज्ञानीहि इति गाथास° मा॰ ॥

एवमत्रापि योगी तीर्थकरः, तदुपदेशानुसारेणोत्सर्गा-ऽपवादाभ्यां यथोक्तां क्रियां कुर्वन् गीतार्थोऽपि न वाच्यतामहीति ॥ ९५९॥ अथ "कत्त ति य जोगि ति य" (गा० ९५८) पदद्वयमेव प्रकारान्तरेण व्याख्याति—

अहवण कत्ता सत्था, न तेण कोविज्ञती कयं किंचि । कत्ता इव सो कत्ता, एवं जोगी वि नायच्वो ॥ ९६० ॥

5

"अहवण" त्ति अखण्डमव्ययं अथवार्थे वर्तते । कर्ता 'शास्ता' तीर्थकर उच्यते । यथा 'तेन' तीर्थकरेण कृतं कार्य किश्चिदिष न कोप्यते एवमसाविष गीतार्थो विधिना कियां कुर्वन् 'कर्ता इव' तीर्थकर इवाकोपनीयत्वात् कर्ता द्रष्टव्यः । एवं योग्यिष ज्ञातव्यः । किमुक्तं भवति ?——यथा तीर्थकरः प्रशस्तमनोवाक्काययोग प्रयुक्जानो योगी भण्यते, एवं गीतार्थोऽप्युत्सर्गी-ऽपवाद- वरुवेत्ता अपवादिकयां कुर्वाणोऽिष प्रशस्तमनोवाक्काययोगं प्रयुक्जानो योगीव ज्ञातव्यः ॥ ९६० ॥ 10

एवमाचार्येणोक्ते शिप्यः प्राह-

किं गीयत्थो केवलि, चउन्तिहे जाणणे य गहणे य । तुल्ले राग-दोसे, अणंतकायस्स वज्जणया ॥ ९६१ ॥

किं गीतार्थः केवली येन तीर्थकृत इव तस्य वचनं करणं चाकोपनीयम् १। सूरिराह— ओमिति ब्रूमः। तथाहि—द्रव्यादिभेदाद् यत् चतुर्विधं ज्ञानं तद् यथा केविलनस्तथा गीतार्थ-18, स्यापि; तथा यत् प्रलम्बानामेकानेकप्रहणविषयं विषमप्रायश्चित्तप्रदानम्, यश्च तत्र तुल्येऽपि जीवत्वे राग-द्वेषाभावः, या चाऽनन्तकायस्य वर्जना एतानि यथा केवली प्ररूपयति तथा गीता-र्थोऽपीति द्वारगाथासमासार्थः॥ ९६१॥ विस्तरार्थ प्रतिपदं विभणिषुराह—

> सन्वं नेयं चउहा, तं वेइ जिणो जहा तहा गीतो । चित्तमचित्तं मीसं, परित्तऽणंतं च लक्खणतो ॥ ९६२ ॥

20

'सर्वमिप' जगत्रयगतं ज्ञेयं चतुर्घो । तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कारुतो भावतश्च । 'तत्' चतुर्वि विधमिप यथा 'जिनः' केवरुग त्रूते तथा गीतार्थोऽपि । यद्या "तं वेह" ति 'तत्' चतुर्विधं ज्ञेयं यथा जिनः 'वेत्ति' जानाति तथा गीतार्थोऽपि श्रुतज्ञानी जानात्येव । तथाहि—यथा केवरुग सिचत्तमिचत्तं मिश्रं परीत्तमनन्तं च रुक्षणतो जानाति प्रज्ञापयति वा तथा श्रुतधरोऽपि श्रुतानुसारिणेव सिचत्तरक्षणेन सिचत्तं एवमचित्त-मिश्र-परीत्ता-ऽनन्तान्यिप खखरुक्षणावैपरीत्येन जानाति प्रकः 25-पयति चेति केवरुग दृष्टव्यः ॥ ९६२ ॥ आह केवरुग समस्तवस्तुस्तोमवेदी, श्रुतकेवरुग पुनः केवरुज्ञानानन्ततमभागमात्रज्ञानवान् ततः कथमिव केवरितुरुयो भवितुमर्हिति ² इत्याह—

कामं खलु सञ्बन्न, नाणेणऽहिओ दुवालसंगीतो । पन्नत्तीइ उ तुल्लो, केवलनाणं जओ मूयं ॥ ९६३ ॥

काममनुमतं खल्वसाकं 'सर्वज्ञः' केवली 'द्वादशाङ्गिनः' श्रुतकेवलिनः सकाशाद् ज्ञानेनाऽ-80

१ °षयं तुल्ये जीवत्वेऽजीवत्वे वा विषमप्रायश्चित्तप्रदानम्, यश्च तत्र राग-द्वेषा भा०॥ २ तुल्ला भा०॥ ३ "कामं खल्ल० गाधा कण्ळा। काममत्रावधतार्थे, कामाभिधानमर्थद्वये भवति—कामा-थेंऽवधतार्थे च। तत्र कामार्थे यथा—कामं जानामि ते मूलं, सङ्कल्पात् किल जायसे। न ला सङ्कल्पयिष्यामि,

विकः परं 'प्रजन्या' प्रजाणनया श्रुतंक्षवेलिनः केवली 'तुच्यः' सहग्रवाक्ष्यर्यायः । हुतः ! इत्याह— यतः केवलज्ञानं 'मृकं' अमुख्यमः । किसुक्तं सवति !—यावतः पदार्थान् श्रुतंकविली मापते तावत एव केवल्यपि, ये तु श्रुतज्ञानस्याऽविषयभृता भावाः केवलिनाऽवगन्यन्ते तेषामप्रज्ञापनीय-तथा केविलनाऽपि वक्तुमशक्यत्वात् ॥ ९६३ ॥ आह क्रियन्तः प्रजापनीयाः ! क्रियन्तावा इष्यज्ञापनीया भावाः ! इति तावद् वयं जिज्ञामामद्दे अतो निक्त्य्यनामतद् मगवद्गिरित्याग्रङ्ग्यह—

> पनवणिसा मात्रा, अणंनमागो उ अणमिलप्याणं । पनवणिसाणं पुण, अणंनमागो सुत्र निवद्धा ॥ ९६४ ॥

ये प्रजापितं—वक्तुं श्रवण्ने ते प्रजापनीयाः अभिकाष्या हत्येकोऽर्थः, ते च मृ-मृबर्विसान-सह-नक्षत्रादयः । एतहिपरीता अप्रजाणनीयाः । हार्वाप च गर्शा अनन्ता, परं महान् पर10न्परं विशेषः । तथाहि—प्रजापनीया भावाः सर्वेऽपि महादिता मन्तोऽनीमकाष्यानी मावानामनन्तसागो सवति, अनन्ततमे साग वर्तन्त हिन सावः । तपानि प्रजापनीयानी मावानामनन्तन एव
सागः 'श्रुते' हादशाक्ष्यकेण स्त्ररचनया निवदः, अनन्तक्रम्याऽनन्त्रमेदसिक्षत्वादित्यिमप्रायः
॥ ९६२ ॥ आह क्रयमेनत् प्रतीयते यथा 'प्रजापनीयानामनन्त्रमागः श्रुते निवदः' ह उच्यते—

जं चउदमपुव्यथम, छहाणमया परोप्यरं होति । नेण उ अर्णनमागा, पत्रवणिङ्याण जं मुनं ॥ ९६५ ॥

'यद्' यन्मान् चनुदेशपृश्येषाः 'षद्स्यानगनाः' अनन्त्रमागादिषद्स्यानवर्तिनः प्रस्यरं भवन्ति । क्रथम् १ इति चेद् उच्यने—इह चनुदेशपृत्री चनुदेशपृत्रीः कि नुरुषः १ कि वा द्वानः १ कि वाऽम्यविकः १ इति चिन्तायां निर्वचनं तुरुषे वा द्वानो वा अम्यविको वा । यदि नुरुषन्तरा तुष्यचादेव नानि विशेषः । अय द्वानन्तरो यद्रपेष्टया द्वानन्तर्तिहेस्याऽनन्त्रमागद्दानो वा अम्-२०हेण्यमागद्दानो वा सद्रेण्यमागद्दानो वा मद्रेण्यमागद्दानो वा मद्रेण्यमागद्दानो वा अम्रहेण्यगुणद्दानो वा अनन्तर्गुण-द्वानो वा । अश्वस्यविकन्तरे यद्रपेक्षयाऽम्यविकनं प्रतीत्याऽनन्त्रमागम्यविको वा अमह्ययमागम्यविको वा मद्रेण्यगुणाम्यविको वा अमह्ययमागम्यविको वा मद्रेणगुणाम्यविको वा अमह्ययगुणाम्यविको वा अनन्तर्गुणाम्यविको वा । आह् मनाने सर्वेणमप्यक्षग्रामे पद्म्यानगतिनचमेव कथं वाषदीति १ उच्यने—एकत्मात् गुत्रादनन्त्रा-अम्बयय-मह्ययग्राम्यविको व द्वातिविद्रायाः श्रुतज्ञानाम्यन्तर-

अक्रवर्त्त्रमेण समा, उमाहिया हुंति महित्रमेमीहैं। ते पुण महित्रमेम, ग्रुयनाणव्यंतरे जाप ॥ (विद्यु० गा० १९३)

त्रतो में न मर्थयति ॥ १ ॥ अवद्यापें तु यद रिज्वं निब्तं वा त्यपि क्रमसियुक्तं । दह लब्दतार्थे , ट्रेंक्य ॥" दति चूणिः ॥

१ विजिक्केषिति परस्परं द्वार्याप तुन्या । क्रुतः ? तम्याह—यतः केष्ठवद्धानं 'मूकं' व्यन्यक्पप्रतिपाद्केऽत्रमुक्दं श्रुत्वद्यानं तु स्वपरस्कष्यप्रयायनपर्दाय द्वति कृत्या यावतः पदार्यात् श्रुतकेषयी भापते तावत एव केष्ठिति । ये तु स्वता १ १ क्तृतम एव भागो ना०॥ ३ भा एव श्रु॰ ना०॥

30

एवंविधं च पट्स्थानपतितत्वं प्रज्ञापनीयानामनन्ततममागमात्र एव श्रुतिनवद्धे घटमानकं भवति । यदि हि सर्व एव प्रज्ञापनीया भावाः श्रुते निवद्धा भवेयुत्तिहिं चतुर्द्रशपूर्विणोऽपि पर-स्परं तुल्या एव भवेयुने षट्स्थानपतिता इति । अत एवाह—'तेन' कारणेन यत् किमपि 'श्रुतं' चतुर्दशपूर्वेरूप तत् प्रज्ञापनीयानामनन्ततमो भागो वर्तते इति ॥ ९६५ ॥

अथ यदुक्त "प्रज्ञापनया द्वावपि तुल्यो" (गा० ९६३) तद्वावनामाह—

केनलिक्नेयत्थे, सुयनाणेणं जिणो पगासेह ।

सुयनाणकेवली वि हु, तेणवऽत्थे पगासेह ॥ ९६६ ॥

केवलेन विज्ञेया येऽर्थास्तान् यावतः श्रुतज्ञानेन 'जिनः' केवली प्रकाशयति । इह च केवितः सम्बन्धी वाग्योग एव श्रोतृणां भावश्रुतकारणत्वात् कारणे कार्योपचारात् श्रुतज्ञानमुच्यते, न पुनस्तस्य भगवतः किमप्यपरं केवलज्ञानव्यतिरिक्त श्रुतज्ञानं विद्यते, "नद्दिम्म उ छाउमस्यए 10 नाणे" (आव० नि० गा० ५३९) इति वचनात् । श्रुतज्ञानकेवल्यपि तानेव तावतः 'तेनैव' श्रुतज्ञानेन 'अर्थान्' जीवादीन् प्रकाशयति । अतः "श्रुतकेवलि-केवलिनौ द्वावपि प्रज्ञापनया तुल्यौ" इति स्थितम् । तदेवं यथा केवली द्रव्य-स्रेत्र-काल-भावविस्तु जानाति तथा गीतार्थोऽपि जानीते ॥ ९६६ ॥ अत्र पुनः प्रलम्वाधिकाराद् द्रव्यतः परीत्तमनन्तं वा येन लक्षणेन जानाति तद्मिधित्सुराह—

गूढिछरागं पत्तं, सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं । जं पि य पणद्वसंधिं, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ ९६७ ॥

यत् पत्रं सक्षीरं निःक्षीरं वा 'गूढशिराकं भवति' गूढाः—गुप्ता अनुपरुक्ष्याः शिराः—स्वायवो यस्य तद् गूढशिराकम्, तथा यदिष च 'प्रनष्टसन्धिकं' सर्विथाऽनुपरुक्ष्यमाणपत्राद्धेद्वयसन्धि, तदेवंविध पत्रम् 'अनन्तजीवम्' अनन्तकायिकं विजानीहीति ॥ ९६७ ॥ 20

अथ मूळ-स्कन्धादीना सर्वेपामप्यनन्तकायत्वे रुक्षणमाह---

चकागं भजमाणस्स, गंठी चुण्णघणो भवे । पुढविसरिसेण भेएणं, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ ९६८ ॥

यस्य मूलादेर्भज्यमानस्य चक्राकारो भक्को भवति सम इत्यैर्थः । तथा 'ग्रन्थिः' पर्व सामान्यतो भक्कस्थानं वा स यस्य चूर्णघनो भवति । कोऽर्थः ?—यस्य भज्यमानस्य ग्रन्थेर्धनश्चूर्ण उड्डी-क्ष्ण्यमानो दृश्यते । पृथिवी नाम केदाराखुपरिवर्तिनी गुष्ककोप्पटिका रूक्ष्णखटिकानिर्मिता वा, यथा तस्या भिद्यमानायाः समो भेदो भवति एवं समभेदेन भिद्यमानं तदेवंविधं मूलादिकमनन्त-जीवं विजानीहि ॥ ९६८ ॥ इदमेव स्पष्टयन्नाह—

जस्स मूलस्स भग्गस्स, समो भंगो पदीसई। अणंतजीवे उ से मूले, जे याऽवऽने तहाविहे ॥ ९६९ ॥

१ °न् प्रज्ञापनायोग्यान् श्रुत भा०॥ २ ° त्यपि 'हुः' निश्चितं 'तेनैव' भा०॥ ३ ° त्यर्थः। यस्य चाईकादिप्रन्थिकस्य भिद्यमानस्य चूर्णघनो भेदो भवति, चूर्णघनो नाम घनीकृतो छोछीकृतो यस्तन्दुछादीनां चूर्णस्तत्समानो भेदो भवतीतिः, यहा 'प्रन्थिः' भा०॥

आरुहणे ओरुहणे, निसियण गोणादिणं च गाउम्हा । भ्रम्माहारच्छेदे, उवक्रमेणं च परिणामो ॥ ९७५ ॥

शकटे गवादिपृष्ठेषु च लवणादीनां यद् भूयो भूय आरोहणमवरोहणं च, तथा यत् तस्मिन् शकटादो लवणादिभरोपिर सनुष्या निषीदन्ति, तेषां गवादीनां च यः कोऽपि पृष्ठादिगात्रोष्मा तेनं च पिरणामो भवति । तथा यो यस्य भौमादिकः—पृथिव्यादिक आहारस्तद्यवच्छेदे तस्य ५ 'पिरणामः' उपक्रमः शस्त्रम् , उपक्रम्यन्ते जीवानामायूषि अनेनेति व्युत्पत्तेः । तच्च शस्त्रं त्रिधा—स्वकायशस्त्रं परकायशस्त्रं तदुभयशस्त्रं चेति । तत्र स्वकायशस्त्रं यथा—लवणोदकं मधुरोदकस्य, कृष्णभूमं वा पाण्डुम्मस्येति । परकायशस्त्रं यथा—अभिरुदकस्य, उदकं वा अग्नेरिति । तदुभयशस्त्रं यथा—उदकमृत्तिका शुद्धोदकस्यत्यादि । एवमादीनि सचित्तवस्तूनां परिणमनकारणानि मन्त-व्यानि ॥ ९७५ ॥

चोएई वणकाए, पगए लोणादियाण किं गहणं। आहारेणऽहिगारो, तस्सुवकारी अतो गहणं॥ ९७६॥

शिष्यो नोदयति—'वनस्पतिकार्य' प्रलम्बलक्षणे प्रकृते लवणादीनां प्रथिवीकायिकानां किम-र्थमत्र ग्रहणं कियते ² इति । सूरिराह—आहारेण ताबदत्र सूत्रेऽधिकारः, तस्य चाहारस्य लवण-मतिशयेनोपकारि, तद्विरहितस्याऽऽहारस्य नीरसत्वात्, अतस्तद्रहणमिति ॥ ९७६ ॥

यधेवं ततः---

छिह निष्फज़ सो ऊ, तम्हा खि आणुपुन्ति किं न कया। पाहनं वहुयत्तं, निष्फत्ति सुहं च तो न कमो॥ ९७७॥

'षड्भिः' पृथिवीकौयादिभिः 'सः' आहारो निष्पद्यते अतः षडिप कायाः किं नानुपूर्व्या सूत्रे 'कृताः' गृहीताः ^१, यथा—''नो कप्पइ निगंथाण वा निगंथीण वा पुढिविकाइए गिण्हित्तए'' 20 इत्यादि । आचार्यः प्राह—तिसान्नाहारे वनस्पतेः प्राधान्यम् , मुख्यतया तस्यैवाऽऽहरणीयत्वात् । तथा 'बहुत्वम्' उपयोगवाहुल्यं वनस्पतिरागच्छिति । वनस्पतिकायेन च यथा सुखमाहारस्य निष्पित्तं तथा पृथिव्यादिभिः कायैः । तत एभिः कारणैर्न 'कमः' पृथिव्यादिनामानुपूर्वीग्रहणलक्षणः कृतः, किन्तु केवलस्यव वनस्पतेः सूत्रे ग्रहण कृतमिति ॥ ९७७ ॥

गतं क्षेत्रतो रुक्षणम् । अथ कारुत आह---

उप्पल-पडमाई पुण, उण्हे दिन्नाइँ जाम न धरिती। मोग्गरग-जूहियाओ, उण्हे छूढा चिरं होंति॥ ९७८॥ मगदंतियपुष्फाई, उदए छूढाई जाम न धरिती। उप्पल-पडमाई पुण, उदए छूढा चिरं होंति॥ ९७९॥

उत्पलानि पद्मानि च 'उप्णे' आतपे दत्तानि 'याम' प्रहरमात्रं कालं 'न वियन्ते' नावति- 30

१ °न वा परि त॰ डे॰ विना ॥ २ °मने का॰ मो॰ छे॰ ॥ ३ °कायिकादिभिः मो॰ ॥ ४ मो॰ छे॰ विनाऽन्यत्र—च उद्कयोनिकत्वात् 'उण्णे' मा॰ त॰ डे॰ । च शीतयोनिकत्वात् 'उण्णे' का॰ ॥

ष्टन्ते किन्तु प्रहरादवींगेवाचित्तीमविन्ति । 'मुद्ररकाणि' मगदन्तिकापुष्पाणि यृथिकापुष्पाणि चोष्णयोनिकत्वाद् उष्णे क्षिप्तानि चिरमपि कालं मविन्ति, सचित्तान्येव तिष्टनीति भावः ॥ ९७८ ॥ मगदन्तिकापुष्पाणि उदके क्षिप्तानि 'यामं' यहरमपि न श्रियन्ते । उत्पद्ध-पद्मानि पुनस्द्के क्षिप्तानि चिरमपि भवैन्ति, उदक्षयोनिकत्वात् ॥ ९७२ ॥

गतं काखतो स्थ्रणम् । अय मावन आह—

यत्ताणं पुष्काणं, सरदृष्कलाणं तहेव दृरियाणं । विटम्मि मिलाणम्मी, नायव्वं जीवविष्पजदं ॥ ९८० ॥

पत्राणां पुष्पाणां 'सैरडुफन्जनाम्' अबद्धास्त्रिकपाला तेथव 'हरितानां' बाम्तुलादीनां सामा-न्यतन्त्रहणवनस्पत्तीनां वा 'बृन्ते' मुलनाल म्लाने सति ज्ञातन्त्रम् . यथा—र्जावविष्रमुक्तमेतत् 10पत्रादिकम् ॥९८०॥ उक्तं भावतोऽपि लक्षणम् । तहुक्ते। च समर्थित चतुर्विधज्ञानद्वारम् । अथ महणद्वारमाह—

चउभंगों गहण पक्तेवए अ एगम्मि मानियं लहुयं । गहण पक्तेवर्मिम, होति अणेगा अणेगेसु ॥ ९८१ ॥

चतुर्मङ्गी ग्रहणे प्रजेपके च द्रष्ट्रच्या । नद्यथा—एक ग्रहणे एक. प्रक्षेपकः १ एकं ग्रहणम15 नेके प्रक्षेपकाः २ अनेकानि ग्रहणानि एकः प्रक्षेपकः ३ अनेकानि ग्रहणानि अनेके प्रक्षेपकाः
१ । अत्र च हक्तेन यत् प्रल्म्वानामादानं तद् ग्रहणम्, यत् पुनर्मुखं प्रवेद्यनं स प्रक्षेपकः । तत्र
प्रथममङ्गे एकस्मिन् ग्रहणे प्रक्षेपके च श्रत्येकं मासल्घु । द्वितीयमङ्गे एकस्मिन् ग्रहणे मासल्घु,
प्रक्षेपस्थाने यावतः प्रक्षेपकान् करोति नावन्ति मासल्घृनि । तृतीयमङ्गे तु यावन्ति ग्रहणानि
तावन्ति मामल्घुकानि, प्रक्षेपविषयस्येको लघुमासः । चतुर्थमङ्गेऽनेकेषु ग्रहणेप्वनेकेषु प्रक्षेप20 केषु चानेकान्येव मासल्घुकानि । एतचासामाचारीनिप्यत्र मन्तत्र्यम् । यत् पुनर्जीवधातनिप्यत्रं
चतुर्ल्युकादिकं तत् स्थितमेव । एतच ग्रहण-प्रक्षेपकनिप्यत्रं प्रायश्चित्तं यथा केवली जानाति तथा
गीतार्थोऽपीति ॥ ९८१ ॥

गतं श्रहणहास्म् । अथ नुस्त्रे गग-हेपामात्र इति हारम् । तत्र शिष्य प्राह— पिंडिमिद्धा खुळ र्लाला, निहए चरिमे य नुछद्द्वेमु । निह्यता नि हु एवं, बहुवाए एगपच्छितं ॥ ९८२ ॥

अहो ! मगवन्तो राग-हेपाव्यासितमनसः । तथाहि— 'तुन्यद्रन्येषु' समानेऽपि प्रलम्बद्रव्याणां जीवत्ते इत्यर्थः हिनीयमहे एकपञ्च चरममहे तु बह्नां फलानां बह्न् वारान् प्रवेष करोतीति बह्नि मासिकानि दत्य, तृतीयमहे तु बह्नि वनफलानि गृहीत्वा हिन्ता वा एक प्रवेषक इति इन्वेकं मासिकं दृद्क्तं, तद्र मम मनिस प्रतिमासते नृनं छील्येव युन्मामि प्रतिषिद्धा न अपुनर्जीवोषवानः । एवं च मगवतां हितीयमहे प्रलम्बर्जावानामुर्णार रागो बहुमासिकदानात्, तृतीययमहे तु हेप एकत्वेव मासिकत्य दानात्; यहा हितीयमहे गृहनां शिष्याणामुर्णार हेपः, तृतीये

१ भो० छ० हिनाञ्चत्र—'बन्तीति ॥ गतं भा० । 'बन्ति ॥ गनं त० डे० छाँ० ॥ २ ''मरहृष्ट ग्री णाम जाति आमवाति तहागाति अवडहिगाति' इति चूर्णां ॥ ३ क्यानि मा॰ मा० ॥ ४ तु यद् य॰ मा० ॥

25

तु रागः, कारणं पाग्वदेव । किञ्च युष्माकमेव 'बहुघाते' युगपद् वहूनां मुखे प्रक्षिप्य मक्षणे एकमेव मासिकं [प्रायश्चित्तं] ददतां निर्देयता भवति ॥ ९८२ ॥

अथ राग-द्वेपाभावं समर्थयन् सूरिः परिहारमाह---

चोयग ! निद्दयतं चिय, णेच्छंता विडसणं पि नेच्छामो ।

निव मिच्छ छगल सुरक्कड, मता-ऽमताऽऽलिंप भक्खणता ॥ ९८३ ॥ इ

हे नोदक! निर्दयतामेवानिच्छन्तो वयं विदशनमि नेच्छामः, विविधं दशनं—मक्षणं विद-शनं लीला इत्यर्थः । अत्र चाचार्या म्लेच्छद्वयदृ्ष्टान्तं वर्णयन्ति—

जहा एगस्स रन्नो दो मिच्छा ओलगगा। तेण रन्ना तेसि मिच्छाणं तुट्टेण दो सुरकुडा दो य छगला दिन्ना। ते तेहिं गहिया। तत्थ एगेणं छगलो एगप्पहारेणं मारितूण खड़ओ दोहिं तिहिं वा दिणेहि। वितिओ एकेक अंग छेतुं खायति, तं पि सो छेदथामं लोणेणं आसुरीहि वा छग-10 णेण वा लिंपइ। एवं तस्स छगलस्स जीवतस्सेव गाताणि छेतुं खड़्याणि, मतो य। पढमस्स एग-प्पहारेण एको वधो। वितियस्स जत्तिएहि छेदेहि मरित तित्तया वधा, लोगे य पावो गणिज्जित। एवं जेण पलंबस्स एको पक्खेवो कओ तस्स एक मासिय, जो विडसतो खायति तस्स तित्त्या पिछत्ता, घणचिकणाए य पारितावणियाए किरियाए वट्टित । विडसणा णाम आसादेंतो थोवं श्रोवं खायइ॥

अत एवाह—"निव मेच्छ" इत्यादि । कस्यचिद् नृपस्य द्वौ म्लेच्छाववलगकौ । तेन तुष्टेन तयोः छगलकौ सुराकुटौ च दत्तौ । तत्रैकेन च्छगलकस्य मृतस्य द्वितीयेन पुनरमृतस्यैवैकैकमङ्गं क्रित्त्वा लवणादिभिरालिम्प्य भक्षणं कृतमिति ॥ ९८३ ॥ किञ्च—

अचित्ते वि विडसणा, पंडिसिद्धा किम्र सचेयणे दन्वे ।

कारणें पक्खेविम्म उ, पढमो तह्ओ अ जयणाए ॥ ९८४ ॥ अचित्तेऽपि द्रव्ये विदशना प्रतिपिद्धा कि पुनः सचेतने द्रव्ये ², सचित्तं प्रलम्बं सुतरां विद-

शाचत्तराप द्रव्य विदर्शना प्रतिषद्धा कि पुनः सचतन द्रव्य , साचत प्रस्य धुतरा विदर्शनाया न भक्षणीयमिति भावः । यत्र पुनः कारणे सचित्तं मुखे प्रक्षिपति तत्रापि 'प्रथमभङ्कः' एक्ज्यहणेकप्रक्षेपरूपः 'तृतीयभङ्कश्च' अनेक्ज्यहणेकप्रक्षेपरूपो यतनया सेवितव्यः ॥ ९८४ ॥

अथानन्तकायस्य वर्जनेति द्वारम् । तत्र प्रथमतो द्वारगाथामाह—

पायच्छित्ते पुच्छा, उच्छकरण महिहि दारु थली य दिइतो ।

चउत्थपदं च विकडुमं पलिमंथो चेवऽणाइनं ॥ ९८५ ॥

भश्यमं प्रायश्चित्ते पृच्छा कर्तन्या । ततः 'इक्षुकरणेन' इक्षुवाटेन 'महर्द्धिकेन' राज्ञा "दारु" ति दारुभारेण 'श्वरूया च' देवद्रोण्या दृष्टान्तः कर्तन्यः । चतुर्थं च—द्रन्यतोऽपि भावतोऽपि भिन्नमिति यत् पदं तत्र त्रीणि द्वाराणि—विकटुभ परिमन्थः अनाचीर्णमिति समासार्थः ॥ ९८५॥

अथ विस्तरार्थमाह---

चोएइ अजीवत्ते, तुल्ले कीस गुरुगो अणंतिम्म । कीस य अचेयणम्मी, पिन्छत्तं दिखए दन्वे ॥ ९८६ ॥ शिष्यो नोदयति—मावतो भिन्नं द्रव्यतोऽभिन्नं भावतो भिन्नं द्रव्यतोऽपि भिन्नमिति तृती-

य-चतुर्थयोभित्रयोः परीत्ते अनन्ते च अजीवत्वं तुल्येऽपि कसाद् अनन्ते गुरुमासः परीत्ते लघु-मासो दीयते १ कसाचाचेतने दृत्ये परीत्तेऽनन्ते वा जीवोपवानं विनाऽपि प्रायश्चित्तं दीयते १। अपरं च राग-द्वेपवन्तो भवन्तः, यद्चेतनं परीत्तं मासलघु अनन्तेऽचेतनेऽपि मासगुरु प्रय-च्छत ॥ ९८६ ॥ तत्र यत् तावद् नोदितम् "कस्मात् परीत्ते मासलघु अनन्ते मासगुरु १" तद्वि-५ पर्य समाधानमाह—

साऊ जिणपंडिकुद्दो, अर्णतजीवाण गायनिष्कचो । गेद्दी पसंगदोसा, अर्णतकाए अनो गुरुगो ॥ ९८७ ॥

परीचाद् अनन्तकायः म्याटुः स्ताट्तरः । तथा निनः-तीर्थकरः प्रतिकुष्टः, 'कारणेऽपि परीचं अहीतन्यं नानन्तम्' टित निनापदेणात् । अनन्तानां च नीयानां गात्रेण म निप्पन्नः । सुसादु10 त्वाचाधिकतरा तत्र गृद्धिर्भवति । तस्याश्च प्रसङ्गनानेपणीयमपि गृहीयादित्यादयो बह्चो दोपाः,
अतोऽनन्तकायेऽचिचेऽपि गुरुको मासः पायश्चित्तम् । एवं च द्रव्यानुरूषं पायश्चित्तं ददतामस्माकं राग-द्वेपावपि दुरापास्तपसराविति ॥ ९८७ ॥

यचोक्तम् "कसादिचेतं प्रायश्चितं प्रयच्छत ?" (गा० ९.८६) इति तत्रापि समाघीयते— अनवस्थाप्रसङ्गनिवारणार्थं सजीवग्रहणपरिहारार्थं चाचितंऽपि प्रायश्चित्तपदानसुपपन्नमेव । तथा 15 चात्राचार्या इक्षुकरणदृष्टान्तसुपदृश्चित्न—

न वि खाइयं न वि वर्ड, न गोण-पहिचाइए निवारेड् । इति कम्णमई छिन्नो, विवरीय पसत्युवणओ य ॥ ९८८ ॥

म्नेण कुटुंबिणा उच्छुकरणं रोवियं । तस्स परिपरंतण तण न वि खाइया कया, न वि वर्ड्ए फिलिहियं, न वि गोणाई निवारह, नावि पहिए खायंते वारह । ताहे तेहिं गोणाईहि अवारि-20 जमाणिहि तं सबं उच्छाइय । एवंकरितों मो कम्मकराण भईए छिन्नो । जं च पराययं खेतं वावितेणं बुत्तं 'एतियं ते वाहं' ति नं पि टायब । एव सो उच्छुकरणे विणट्टे मूळच्छिन्ने जं जम्स देयं तं अदेतो बद्धो विणट्टों य । एस अप्यसत्यो ॥

अन्नेण वि उच्छुकरण कयं । सो विवरीओ माणियद्यो । खाइयादि सद्यं कयं । जे य गोणाई पडंति ते तहा उत्रासयति जहा अन्ने वि न हुर्कति । एस पसत्थो ॥

अथाक्षरार्थः —कश्चित् कुटुम्बी इक्षकरणं रोपयित्वा नापि खातिकां नापि वृतिं कृतवान्, न वा गो-पथिकार्टान् खाटतो निवारयति। 'इति' एवंकुर्वन् इक्षकरणस्य सम्बन्धिना या भृतिः —कर्मकन् रादिदेयं द्रत्यं तया 'छित्रः' ब्रुटितः सन् विनष्टः । एतिहपरीतश्च प्रशस्तद्दष्टान्तो वक्तत्र्यः । उपन् नयश्च द्वयोगपि दृष्टान्त्रयोभवति ॥ ९८८॥ स चायम्—

को दोसों दोहिं मिने, पसंगदोसेण अणरुई मने । मिन्नामिन्नग्गहणे, न तरह सजिए वि परिहरिउं ॥ ९८९ ॥

कश्चिद् निर्धमी प्रस्मानि अहीतुकामः "को ढाँपः स्थात् 'द्वास्यां' द्रव्य-भावास्यां भिन्ने प्रस्मे गृद्यमाणे ?" इति परिमाय्य द्रव्य-भावभिन्नानि प्रस्मान्यानीतवान् । यदि च तस्य प्रायश्चित्तं न दीयते तदा स निर्विशद्धं भृयो भृयम्नानि गृहाति । ततश्च स्टब्यपरम्बरसासादस्य प्रसङ्गदोषेण

20

25

तैः प्ररुम्बैररुभ्यमानैस्तस्य भक्ते 'अरुचिः' अरोचको भवति । ततो यानि भावतो भिन्नानि द्रव्य-तोऽभिन्नानि तेपां प्रहणे प्रवर्तते । यदा तान्यपि न रुभते तदाऽसा प्ररुप्तरसगृद्धः सजीवा-न्यपि प्रलम्बानि न शक्तोति परिहर्त्तमिति । विशेषयोजना त्वेवम्—कुटुम्बिस्थानीयः साधुः, इक्षुकरणस्थानीयं चारित्रम् , परिखास्थानीया अचित्तप्रलम्वादिनिवृत्तिः, वृतिस्थानीया गुर्वाज्ञा, गो-पथिकादिस्थानीया रसगौरवादयः, तैरुपद्रयमाणं प्रलम्बयाहिणश्चारित्रमचिरादेव विनद्यति, ह यथा चासौ कर्पक एकमविक मरणं प्राप्तस्तथाऽयमप्यनेकानि जन्म-मरणानि प्रामोतीत्येष अप्रशस्त उपनयः । प्रशस्तः पुनरयम्—यथा तेन द्वितीयकर्पकेण कृतं सर्वमिप परिखादिकम् , उन्नासिता गवादयः, रक्षितं खक्षेत्रम्, सञ्जातोऽसावेहिकानां काममोगानामाभागी; एवमत्रापि केनापि साधुना द्रव्यभाविभन्नं प्रलम्बमानीतमाचार्याणामालोचितम् , तैराचार्यैः स साधुरत्यर्थं खर्ण्टितः ॥ ९८९ ॥

ततश्च---

छड्डाविय-कयदंडे, न कमेति मती पुणो वि तं घेतुं। न य से बहुइ गेही, एमेव अणंतकाए वि ॥ ९९० ॥

स साधुराचार्यैः प्रलम्बानि च्छर्दापितः—त्याजितः प्रायश्चित्तदण्डश्च तस्य कृतः, ततश्च च्छर्दापि-त-कृतदण्डस्य पुनरपि 'तत्' प्रलम्बजातं यहीतु मतिः 'न ऋमते' नोत्सहते, 'न च' नैव ''से'' तस्य प्ररुम्वे गृद्धिर्वर्धते, ततश्चासा विरतिरूपया परिखया गुर्वाज्ञारूपया वृत्या परिक्षिप्तमिश्चक-15 रणकरुपं चारित्रं रसगीरवादिगो-पथिकैरुपद्रयमाण सम्यक् परिपालयितुमीष्टे, जायते चैहिका-ऽऽमुष्मिककल्याणपरम्पराया भाजनम् । एवं तावत् प्रत्येके भणितम्, अनन्तकायेऽप्येवमेव द्रष्ट-व्यमिति ॥ ९९० ॥ अथ महद्धिक-दारुभरदृष्टान्तद्वयमाह-

> कनंतेपुर ओलोयणेण अनिवारियं विणद्धं तु । दारुमरो य विद्धत्ती, नगरदारे अवारिती ॥ ९९१ ॥ वितिएणोलोयंती, सन्वा पिंडित्त तालिता पुरतो । भयजणणं सेसाणं वि, एमेव य दारुहारी वि ॥ ९९२ ॥

महिद्विओ राया भण्णइ। तस्स कन्नंतेपुरं वायायणेहि ओलोएइ तं न को वि वारेइ। ताहे तेण पसगेणं निग्गंतुमाढताओ तह वि ण कोति वारेइ। पच्छा विडपुत्तेहि समं आलावं काउ-माढताओ । एवं अवारिजंतीओ विणद्वाओ ॥

दारुभरदिद्वती-

एगस्स सेट्टिस्स दारुमरिया मंडी पविसति। णगरदारे एगं दारुअं सयं पडियं तं चेडरूवेण गहितं । त पासित्ता 'न वारियं' ति (प्रन्थाप्रम्-३५००) काउं अण्णेण चेडरूवेण मंडीओ चेव गहियं । तं अवारिज्जमाणं पासित्ता सबो दारुभरो विलुत्तो लोगेणं । एते अपसत्था ॥

इमे पसत्था—वितिएणं अंतेपुरवालगेण एगा ओलोयंती दिद्वा, ताहे तेण सबाओ पिंडित्ता³⁰ तासिं पुरओ सा तालिता। ताहे सेसियाओ वि भीयाओं ण पलोएति । एवं अंतेउरं रिक्सयं ॥

एवं पढमदारुहारी वि पिष्टित्ता दारुभरो वि रिक्सितो ॥ अथाक्षरगमनिका—कन्यान्तःपुरम् 'अवलोकनेन' वातायनेनाऽवलोकमानमनिवारितं सत्

बृ० ४०

ऋमेण दिरपुत्रै सार्टमालापकरणाद् विनष्टन्। एवं दारुमरोऽपि नगरद्वारे दारुणि गृहन्ति चेर-हपाण्यवारयित शाकृदिके सर्वोऽित 'विलुद्धः' सुपितः। द्विनीयेन पुनरन्त पुरपालकेनेका कन्यका अवलोकमाना दृष्टा, ततः सर्वा अपि कन्यकाः पिण्डीकृत्य तासां पुरतः तादिता, यथा शेषाणा-नि नयजननं मदिति। एवमेव च दारुद्धिपि प्रथन कृद्धितो यथा शेषा विम्यतीति॥ ९९१॥ ५९९२॥ स्यलीदृष्टान्तमाह—

> थिल गोणि सर्व मुत्र भक्त्वणेण लढुपसरा थिल तु पुणो । यानेनं वितिएहिँ उ, कोडूग वंदिगाह नियत्ती ॥ ९९३ ॥

थली नाम देवद्रोणी । तती गावीणं गायरं गयाणं एका जरन्नवी सया । सा पुर्लिदेहिं 'सयं स्य' ति ल्ह्या । कृहियं गोवालएहिं देवद्रोणीपित्वारगाणं । ते सणिति—जह खह्या । विल्ह्या नाम । पच्छा ते पसंगेणं अवारिज्ञांता अप्पणा चेव मोरेडनारद्धा । पच्छा तेहिं ल्द्धप-सरेहिं थली चेव यातिता । एस अपसत्यो ॥

इमो पत्तत्यो—तहेव गात्रीणं गोयरं गयागं एका नया । सा पुष्टिदेहिं खड्या । गोवाटेहिं सिट्टं परिचारगाणं । तेहिं गंतूणं विड्यदिवते तं कोट्टं मनां 'ना पसंगं काहिन्ति' सि काउं । तत्य वंदिनाहो क्यो ॥

15 अध्यक्षत्रभ्रं — स्वलीसन्बिनीनां गन्नां गोर्जरगतानानेका जरद्वी त्रयं मृता । तस्या मञ्जोन कव्यमसरा पुलिन्दाः पुनः त्रयमेगान्य स्वलीं शतितवन्तः । द्वितीयैः पुनर्देवद्रोणी-परिचारकः 'कोट्टकं' पुलिन्द्रण्डी तद् गन्ना मझं 'मा नृत् प्रसक्तः' इति इत्वा, तेषां पुलिन्दानां बन्दिगृहे निश्चिः कृता । उपनययोजना "को दोसों दोहिं मिक्ने. पसंगदोसेण अणर्क्ट् मेर्च" (गा० ९८९) इत्यादि प्रागुकानुसारेण सर्वकापि द्रष्ट्रच्या ॥ ९९३ ॥

20 सेथ विकड्न-पिलन्य्हारे व्यास्यानयति—

विकड्ममग्गणें दीहं, च गीयरं एसणं च पिछिजा। विनिष्पिसिय सोंड नायं, मुग्गछिवाडीऍ पिलमंथो ॥ ९९४॥

इह प्रस्तिम्बदादत्या प्रस्तिवित केवस कृति यहा न प्रतिनासते, तदोऽन्यसिन् मक्ष्णिने स्टिनेऽपि विकटुनं-मास्तकं तद् नार्गयन् सरुनानो दीवे गोचरं क्रोति, एवणीयं वा सरू- १३ मनानोऽनेपणीयं विकटुनं गृहकेनगां प्रेर्येत ।

लत्र में 'निष्पिशितः' पिशितवर्जी 'श्रीण्डः' मद्यपः 'ज्ञातम्' उदाहरणम्— लहा एगो जनंसमक्ती बुत्सो । तम्म य मद्धपाएहिं सह संसनी । जत्रण तेहिं भणि-जो—मद्धे निर्द्धाते को दोसो ! । तेहिं य सो सबई गहितो । तथो लद्धमाणो एगंते परेण आणियं निष्ठ । पच्छा लद्धनसरो ब्युजनमङ्को नीर्हीए ति चचलद्धो पाउमाइको । तेहिं पुन मंसं अविलंको उपत्रंश इत्तर्थ । इयरस पुन चिक्रिकड-चनय-पम्पडनाईणि । ताणि य सबकालं न

१°चरं गता° मा॰ ॥ २ अथ ' विकडुमं पछिमंथो चेव" (गा० ९८५)चि चार्यान-यति मा॰ ॥ ३ निव्विस्त सोंड मा॰ टा॰ । मा॰ एतक एटलावर्ट्यारेनेव किल वर्तते, इसतो - दिमानी ७ ॥ ४ प्रेरयिति । अत्र मो॰ हे॰ ॥ ५ च 'निर्विका' विसे-मांसं तद्वर्जी मा॰ ॥

ñ

भवंति । पुणो तेहि भणियं—केरिसं मज्जपाणं विणा विलंकेणं १ परमारिए य मंसे को दोसो १ खायसु इमं । तत्थ वि सो सवहं गाहितो । 'प्रमारिए नित्थ दोसो' त्ति खायइ । पच्छा रुद्धरसो कढिणचित्ती मृतो निद्धंधसपरिणामो अप्पणा वि मारेडं खायह । निस्सूनो जाओ ।

⊲ उक्तं च—

करोत्यादौ तावत् सघृणहृदयः किञ्चिदशुभं द्वितीयं सापेक्षो विमृशति च कार्यं च कुरुते । तृतीयं निःशङ्को विगतघृणमन्यत् प्रकुरुते

ततः पापाभ्यासात् सततमशुभेषु प्ररमते ॥ ⊳ जहा सो सोंडओ विलंकेण विणा न सकेइ अच्छिड्ं, एवं तस्स[े]वि पलंबेहिं विणा कूरो न पिंडहाइ । तस्स एरिसी गेही तेसु जायइ जीए एगदिणमिन तेहि विणा न सकेइ अच्छिउं। 10 पच्छा सणियं सयं चेव रुक्खेहितो गिण्हइ ति ॥

तथा मुग्गछिवाडी-कोमला मुद्गफली, उपलक्षणत्वाद्, इक्षुखण्ड-तिन्दुकादिकमन्यदपि यत् तुच्छोषधिरूपं तस्मिन् भक्ष्यमाणे 'परिमन्थः' सूत्रार्थव्याचातो भवति, न पुनः काचित् तृप्तिमात्रा सङ्गायते । अपि च कदाचिदात्मविराधनाऽपि भवेत् । तथा चात्र दृशान्तः

एका अविरह्या मुगाखेते कोमलाओ मुगाफलियाओ खायंती रन्ना आहेडएणं वचंतेण दिहा, 15 एंतेण वि दिहा सा तहेव । तस्स कोउय जायं , केत्तियाओ पुण खतिया होजा ? ति पोइं से फाडियं । जाव नवरं दिहं फेणरसो । एवं विराहणा होजा ॥ । । १९४ ॥

गते विकटुभ-परिमन्थद्वारे । अथानाचीर्णद्वारमाह---

अवि य हु सच्व पलंबा, जिण-गणहरमाइएहऽणाइना । लोउत्तरिया धम्मा, अणुगुरुणो तेण ते वजा ॥ ९९५ ॥

20

'अपि च' इति दूषणाभ्युचये, पूर्वोक्ता दोषास्तावत् खिता एव दूषणान्तरमप्यस्तीति भावः। 'हुः' निश्चितं 'सर्वाणि' सचिता-ऽचितादिभेदमित्रानि मूल-कन्दादिभेदाद् दश्रविधानि वा प्रल-म्बानि जिनै:-तीर्थकरै: गणधरेश्च-गौतमादिभिः आदित्रहणेन जम्बू-प्रभव-शय्यमभवादिभिः स्भविरैरपि 'अनाचीर्णानि' अनासेवितानि । लोकोत्तरिकाश्च ये केचन 'धर्माः' समाचारास्ते सर्वेऽपि 'अनुगुरवः' यद् यथा पूर्वगुरुभिराचरितं तत् तथैव पश्चात्यैरप्याचरणीयमिति, गुरुपारम्पर्यव्यव-25 स्थया व्यवहरणीया इति भावः। येनैवं तेन 'तानि' प्रलम्वानि 'वर्ज्यानि' परिहर्त्तव्यानीति ॥९९५॥

अत्र परः प्राह—यदि यद् यत् प्राचीनगुरुभिराचीर्ण तत् तत् पाश्चात्यरप्याचरितव्यं तर्हि तीर्थकरैः प्राकारत्रय-च्छत्रत्रयप्रमृतिका प्राभृतिका तेषामेवार्थाय सुरैर्विरचिता यथा ससुपजीविता र्तंथा वयमप्यसान्निमित्तकृतं किं नोपजीवामः ? । सूरिराह—

१ ० ⊳ एतचिहान्तर्गत पाठ त॰ डे॰ कां॰ पुस्तकादर्शेषु न विद्यते ॥ २ वि 'पलंबे खायंतस्स पच्छा गिद्धस्स परं0° भा०। "सो परंवे यायंतो पच्छा तेहिं गिद्धस्स परंवेण विणा कूरो ण पिं भाति" इति चूर्णों ॥ ३ °घातलक्षणः न पुनः भा॰ ॥ ४ °या सुन्नखेत्ते मो॰ ले॰ ॥ ५ °ण वज्जा उ ता॰ ॥ द तहरें [द्व] यम° मा॰ विना॥

कामं खलु अणुगुरुणो, थम्मा तह वि हु न सन्वसाहम्मा। गुरुणो जं तु अइसए, पाहुिंडयाई सम्रुपनीव ॥ ९९६ ॥

'कामम्' अनुमतं खल्वसाकं यद् अनुगुरवो धर्माः, तथापि न सर्वसाधर्म्यात् चिन्त्यते किन्तु देशसायम्यादेव । तथाहि--'गुरवः' तीर्थकराः 'यत् तु' यत् पुनः 'अतिशयान्' प्रामृतिकादीन् ⁵ यासृतिका—सुरेन्द्रादिकृता समवसरणरचना आदिशव्हाद्वस्थितनख-रोमा-ऽघोमुखकण्टकादिसुर-कृतातिशयपरिप्रदः तान समुपनीवन्ति 'स तीर्थकरजीतकन्यः' इति कृत्वा न तत्रानुधर्मता चिन्त-नीया । यत्र पुनस्तीर्थञ्चतामितरेषां च साधूना सामान्यधर्मत्वं तत्रवानुधर्मता चिनत्यते ॥९९.६॥ सा चेयमनाचीर्णति दृर्श्यते--

सगड-दह-समभोम, अदि य विसेसेण विरहियतरागं।

10 तह वि खल्ल अणाइनं, एसऽणुघम्मो पवयणस्स ॥ ९९७ ॥

यदा भगवान् श्रीमन्महावीरस्वामी राजगृहनगराद् उदायननरेन्द्रमत्राजनार्थं सिन्धुसावीर-देशवर्तस वीत्रभयं नगरं प्रस्थितम्त्रढा किलाऽपान्तराले वहवः साधवः क्षुधार्चास्तृपार्विताः संज्ञा-वाघिताश्च वमृत्रुः । यत्र च मगवानावासितत्त्रत्र तिरुमृतानि शक्तरानि पानीयपूर्णश्च हुटः 'सममोमं च' गर्ची-विटादिवर्नितं स्थण्डिस्ममवत् । अपि च विद्योपेण तत् तिलोदकस्थण्डिल-15 जातं 'निरहिततरं' अतिभयेनाऽऽगन्तुंकस्तुदुर्थेश्च जीवेवीर्जितमित्यर्थः तथापि स्तस्नु मगवता 'अनाचीणै' नानुज्ञातम् । एपोऽनुघर्मः 'प्रवचनस्य' तीर्थस्य, सर्वेरपि प्रवचनमध्यमध्यासीनेरशस्त्री-पहतपरिहारलक्षण एप एव धर्मोऽनुगन्तन्त्र इति भावः ॥ ९९७ ॥

अंथेतदेव विवृणोति---

20

वकंतजोणि थंडिल, अतसा दिना ठिई अवि छुहाए । तह वि न गेण्हिस जिणो, मा हु पसंगी असत्यहए ॥ ९९८ ॥

यत्र भगवानावासितत्तत्र वहूनि तिल्ज्ञकटान्यावासितान्यासन् । तेषु च तिलाः 'व्युत्कान्त-योनिकाः' अग्रस्रोपहता अप्यायु क्षयेणाचिचीमृताः । त च यद्यस्यण्डिले स्थिता मनेयुस्ततो न फर्पेरन्नित्यत बाह—स्विण्डिले स्विताः । एत्रंनिया अपि त्रसैः ससक्ता मनिप्यन्तीत्याह— 'अत्रसाः' तदुङ्गवा-ऽऽगन्तुकत्रसविरहिताः । तिल्याकटसामिमिश्र गृहसैर्वदेता, एतेन चादत्ता-25 दानडोपोऽपि तेषु नास्तीरयुक्तं मनति । अपि च ते साधनः क्षुघा पांडिता आयुपः खितिक्षयम-कार्षुः तथापि 'जिनः' वर्द्धमानलामी नाऽमहीत्, 'मा मृद्ग्रखहत प्रसङ्गः, 'तीर्थकरेणापि गृही-तम्' इति मटीयमालम्बनं कृत्वा मत्सन्तानविनः शिप्या अग्रस्रोपहतं मा प्राहिपुः' इंति भावात् , न्यवहारनयवलीयस्त्वस्त्रापनाय मगवता न गृहीता इति हृदयम् ; युक्तियुक्तं चैतत् प्रमाणस्यपुरं-षाणाम् । यत उक्तम्---30

ममाणानि ममाणस्त्र, रसणीयानि यत्ततः ।

विपीदन्ति यमाणानि, यमाणस्थैविसस्युँछैः ॥

१ मो॰ छ॰ त्रिनाइन्यत्र—इति परिसाव्य व्यवहारनयवछीयस्चर्यापनाय सगवता नातु-झाना इति ट्रियम्, युक्ति॰ मा॰ । इति माघ , युक्ति॰ त॰ ट॰ का॰ ॥

एमेव य निजीवे, दहम्मि तसविज्ञिए दए दिने । समभोम्मे य अवि ठिती, जिमिता सन्ना न याऽणुना ॥ ९९९ ॥

एवमेव च हदे 'निर्जीवे' यथायुष्कक्षयादिचतीमृतेऽचित्तपृथिव्यां च स्थिते त्रसविति च 'दके' पानीये हदस्वामिना च दत्ते तृषादितानां च साधूनां स्थितिक्षयकरणेऽपि भगवाज्ञानुजानीते सा 'मा भूत् प्रसङ्गः' इति । तथा खामी तृतीयपौरुष्यां जिमितमात्रैः साधुभिः साध-६ मेकामटवी प्रपन्नः, "सन्न''ति संज्ञाया आवाधा, यद्वा "आसन्न''ति भावासन्नता साधूनां समजिन, तत्र च समभौमं गर्ता-गोष्पद-विरुद्धिवितिंतं यथास्थितिक्षयव्युत्कान्तयोनिकपृथिवीकं त्रस-प्राणविरहितं स्थिष्डिलं वर्तते, अपरं च शस्त्रोपहतं स्थिष्डिलं नास्ति न वा प्राप्यते, अपि च ते साधवः संज्ञावाधिताः स्थितिक्षयं कुर्वन्ति तथापि भगवान् नानुज्ञां करोति यथा 'अत्र व्युत्स्वजत' इति, 'मा भूदशस्त्रहते प्रसङ्गः' इति । एष अनुधर्मः प्रवचनस्येति सर्वत्र योज्यम् ॥ ९९९ ॥ 10

एष सर्वोऽपि विधिर्निर्धन्थानाश्रित्योक्तः । अथ निर्धन्थीरधिकृत्यामुमेवातिदिशनाह—

एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायन्वो । सविसेसतरा दोसा, तासिं पुण गिण्हमाणीणं ॥ १००० ॥

एष एव सर्वोऽपि 'गमः' प्रकारो निर्भन्थीनामपि भवति ज्ञातन्यः । तासां पुनर्गृह्वतीनां प्रल-म्बेन हस्तकर्मकरणादिना सविशेषतरा दोषा वक्तन्या इति ॥ १००० ॥

सूत्रम्---

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे तालपलंबे भिन्ने पडिगाहित्तए २॥

अस्य व्याख्या पाग्वत् । नवरं 'भिन्नं' भावतो व्यपगतजीवम् द्रव्यतो भिन्नमभिनं वा, रृतीय-चतुर्थभद्गवर्तीत्यर्थः । एवं च स्त्रेणानुज्ञातम् , यथा—आमं भिन्नं कल्पते, अर्थतः पुनः 20 भतिषेधयति—न कल्पते ॥

आह यदि न कल्पते ततः किं सूत्रे निबद्धं "कल्पते" इति ^१ उच्यते—

जइ वि निवंधो सुत्ते, तह वि जईणं न कप्पई आमं। जइ गिण्हइ लग्गति सो, पुरिमपदनिवारिए दोसे ॥ १००१॥

यद्यपि सूत्रे निबन्धः "कल्पतें भिन्नम्" इतिलक्षणस्तथापि यतीनां न कल्पते आमं भिन्नमपि, 25 यदि गृह्यति ततः स पूर्वपदे—पूर्वसूत्रे निवारिता ये दोषास्तान् 'लगति' प्रामोति ॥ १००१ ॥ आह यदि सूत्रेऽनुज्ञातमपि न कल्पते तर्हि सूत्रं निरर्थकम्, सूरिराह—

सुनं त् कारणियं, गेलन-ऽद्धाण-ओममाईसु । जह नाम चउत्थपदे, इयरे गहणं कहं होजा ॥ १००२ ॥

सूत्रं कारणिकम् । तानि च कारणान्यमूनि—ग्लानत्वम् अध्वा अवमीद्र्यम् , एवमादिषु कार-30 णेषु करुपते । तत्र प्रथमतश्चतुर्थभङ्गे तदलामे तृतीय-द्वितीय-प्रथमभङ्गेष्वपि । अहिन यथा

१ सुत्तं णिरत्थयं कारणियं ता । "सुत्तं णिरत्थयं । गाहा । कथं पुण सुत्तं णिरत्थयं ? उच्यते— इंवमिभन्ना । गाधा" इति चूणों ॥

नान 'चतुर्थपदे' चतुर्थमदे ब्रहणं नथा 'इतरिसन्' भङ्गत्रये कथं ब्रहणं भवेत् ? उच्यते— तत्रापि कारणतो ब्रहणं भवत्येव । यथा च भवित तथोत्तरत्राभिघास्यते ॥ १००२ ॥

थय पुतरप्याह—

पुळ्यमभिन्ना भिन्ना, य वारिया कहमियाणि कप्पंति । मुण आहरणं चोयग !, न कमित सव्वन्थ दिइंतो ॥ १००३ ॥

पूर्वस्त्रे मर्वाङ्करामिन्नानि मिन्नानि च 'बारितानि' प्रतिपिद्धानि, कथन् 'इदानीन्' असिन् स्त्रे 'क्र्यन्ते' इति भणत ? न युक्तं पूर्वापरव्याहतमीद्दर्शं वक्तुमिति भावः । अत्राचार्य प्राह— 'शृणु' निश्चमय 'आहर्ण' दृष्टान्तं हे नोदक ! यथा करूपन्ते । अत्र नोदको गुरुवचनमनाकर्ण्य दुर्विद्वस्वताद्दर्पात्र्यातः प्रतिवक्ति—आचार्य ! न सर्वत्राप्यर्थे दृष्टान्तः क्रमते, दृष्टान्तमन्तरेणाप्य10र्थप्रतिपक्तः ॥ १००३ ॥ तथाहि—

जह दिइंता निढी, एवमसिढी उ आणगेज्झाणं । अह ते तेनि पसिढी, पसाहए किन्नु दिइंतो ॥ १००४ ॥

यदि दृष्टान्ताद्यीनां सिद्धित्तिहिं 'आज्ञात्राद्याणां' निर्गाद-मञ्जा-ऽभन्जादीनामयीनामसिद्धिः विसन्तेत । अथ 'ते' तत्र आज्ञ्या तेषां प्रसिद्धिन्तनः 'किन्नु' इति त्रितकें 'हुः' एवमर्थे किमेवं 15 दृष्टान्ततोऽर्थसिद्धिः किन्यते ? ॥ १००४ ॥ किन्नान्यत्—

कप्पम्मि अकप्पम्मि य, दिइंता जेण होंति अविरुद्धा । तम्हा न नेसि सिर्द्धा, विहि-अविहिविसोवभोग इव ॥ १००५ ॥

दृशन्तेन यद् यद् आत्मन इष्टं तत् तत् सर्वं यद्वच्छ्या प्रसाच्यते, यथा—कल्यते हिंसा कर्तुं विधिनेति प्रतिज्ञा १, निष्यत्यपायत्वादिति हेतुः २. यथा विधिना विषोपमोग इति २० दृशन्त , अस्य च मावना—यथा विधिना मन्नपरिगृहीतं विषं खाद्यमानमदोषाय मवति, अवि- विना पुनः खाद्यमानं महान्तमन्थेसुपदाल्यति ३, एवं हिंसाऽपि विधिना विधीयमाना न दुर्गतिगमनाय प्रमवति, अविधिना तु विधीयमाना दुर्गतिगमनायोपतिष्ठते २, यत्रश्चेवमतो निष्यत्यायत्वात् कल्यते कर्तुं हिंसीति निगमनन् ५। एवं कल्य्येऽकल्य्ये च येन कारणेन दृशन्ता अवि- रुद्धा मवन्ति, कल्य्यमप्यकल्यम् अकल्यमपि कल्यं यद्दच्छ्या दृशन्तवलेन क्रियत इति मावः, २५ तमाद् नैतेन्यो दृशन्तेम्योऽर्थानां निद्धिर्मवति । गाथायां पञ्चन्यर्थे पष्टी । विधिना अविधिना च विषोणमोग इवेति ॥ १००५ ॥ इत्थं नोद्देशन स्वयत्व स्थापित सति सुरिराह—

अनिद्वी नइ नाएणं, नायं किमिह उंच्यते । अह ते नायतो सिद्वी, नायं किं पडिसिन्झती ॥ १००६ ॥

यदि 'शतेन' दृष्टान्तेनार्यानामसिद्धिस्ततस्त्रया 'शातं' त्रियदृष्टान्तः इह 'किसुच्यते' किमे-३७ वर्गमिवीयते १ । अथ 'त' तव 'शाततः' दृष्टान्तनः सिद्धिः ततोऽसामिस्च्यमानं शातं किं प्रति-पिथ्यते १ ॥ १००६ ॥ किञ्च—

१ "केरह ह किन्नु दिहेता" द्वी पठादुसरेग **बुत्तिकृता** ग्रीति वृद्धिता, नासी पठः कस्सिक्षिद्रपि पुत्तक्रक्ष्ये सम्बन्धन देवे ॥ २ उच्चते वा० ॥

अंधकारो पदीवेण, वज्जए न उ अनहा । तहा दिइंतिओ भावो, तेणेव उ विसुन्झई ॥ १००७ ॥ ः

अन्धकारशब्दस्य पुंनपुंसकिलज्ञत्वाद् यथाऽन्धकारो रात्रो प्रदीपेनैव 'वर्ज्यते' विशोध्यते 'न तु' नेवान्यथा, विशोधिते च तिसान् घटादिकं वस्तु परिस्फुटमुपलभ्यते; तथाऽत्रापि 'दार्धी-नितकः' दृष्टान्तप्राद्यः 'भावः' पदार्थोऽन्धकारवदितगहनोऽपि 'तेनैव' दृष्टान्तेन प्रदीपकरूपेन ५ 'विशुध्यते' निर्मलीभवति, विशुद्धे च तिसान् परिस्फुटा विविधतार्थप्रतिपत्तिभवतीति दृष्टान्तो-पदर्शनमत्र क्रियते । किञ्च सौम्य ! प्रीणिता वयं स्ववाक्येनैव भवता यद् दृष्टान्तेनार्थप्रसाधनम्-भ्युपगतम् । असाक्मिप त्वदीय एव दृष्टान्तः सूत्रस्य सार्थकृत्वं प्रसाधियण्यति ॥ १००७ ॥

कथम् ? इति चेद् उच्यते---

एसेव य दिइंतो, विहि-अविहीए जहा विसमदोसं । होइ सदोसं च तथा, किजतर जया-ऽजय फलाई ॥ १००८॥

10

'एय एव' त्वहुक्ती दृष्टान्तोऽसाभिः प्रस्तुतसूत्रार्थेऽवतार्यते—यथा विधिना विषमुपभुज्यमा-नमदोषम्, अविधिना भुज्यमानं तदेव सदोषम्; तथा कार्ये यतनया फलादीनि आसेव्यमानानि न दोषायोपतिष्ठन्ते, ''इयरे'' ति इतरसिन्—अकार्ये यतनया वा अयतनया वाऽऽसेव्यमानानि दोषायोपकल्पन्ते ॥ १००८॥ अपि च—

आयुहे दुनिसद्धिम, परेण वलसा हिए । वेताल इव दुज्जतो, होइ पर्चगिराकरो ॥ १००९ ॥

यथा केनापि शारीरवलदर्गोद्धुतेन परवधायाऽऽयुधं निसष्टं मुक्तम्, तच्च दुर्निस्ष्टं कृतं येन तदेव परेण 'हृतं' गृहीतम्, यद्धा अनिस्ष्टमेवायुधं परेण "वलसं" ति छान्दसत्वाद् वलात्कारेण हृतम्, ततस्तिसिन्नायुधे दुर्निस्ष्टे परेण वलात्कारेण वा हृते सित तस्यव तेन प्रतिघातः क्रियते । 20 एवं त्वयाऽप्यस्तदिभिन्नतदृष्टान्तप्रतिघातायः विषदृष्टान्त उपन्यस्तः, असाभिस्तु तेनैव दृष्टान्तेन "न सर्वत्र दृष्टान्तः क्रमते" (गा० १००३) इति भवत्प्रतिज्ञायाः प्रतिघातः कृतः, साभिनेत-धार्थः प्रसाधित इति । तथा केनचिद् मन्नवादिना होम-जापादिभिर्वेतालः आहृत आगतश्च, सच वेतालः किन्नित् तदीयस्वलितं दृष्ट्या 'दुर्युक्तः' दुःसाधितो न केवलं तस्य साधकस्यामीप्टमर्थं न साध्यति किन्तु कृपितः सन् 'प्रत्यिक्तराकरः' प्रत्युत तस्येव साधकस्योन्मत्ततादिलक्षणापकार- किन्ति । पूर्व भवताऽपि स्वपक्षसाधनार्थं विषदृष्टान्त उपातः सच दुःप्रयुक्तत्वात् प्रत्युत भवतः एव प्रतिज्ञोपघातलक्षणमपकारमादघाति सोति ॥ १००९ ॥ किञ्च—

निरुतस्स विकड्मोगो, अपत्थओ कारणे य अविहीए। इय दण्णेण पलंदा, अहिया कजे य अविहीए।। १०१०।।

यथा नीरुजस्य विशेषेण कटुकं विकटुकम्—औषधिमत्यर्थः तस्य यो भोगः—उपयोगः, तथा ३० 'कारणे च' रोगादौ यस्तस्यैवाऽविधिना भोगः, स उभयोऽपि 'अपथ्यः' अहितः—विनाशकारणं जायते । 'इति' एवं 'दर्पेण' कारणाभावेनाऽऽसेव्यमानानि प्रलम्बानि 'अहितानि' संसारवर्द्धनानि

१ चूर्णिकुद्धिनेयं गाथाऽऽहता ॥

सबन्ति, 'क्रांवें च' अवनादयोदा 'अविविना' अयतनया गृहीतानीह पन्त्र चाहितानि जायन्ते ॥ १०१० ॥ अय द्यान्तंबर मर्बयकाह-

जह बुलुएकपियाओं, उत्रमाओं न हांस जीवलागिमा। छिन्नव्यं पित्र गर्गण, मसिल छोगो निरुत्रमात्रो ॥ १०११ ॥

हुद्रज्ञ-पण्डितः करिताः-नेट् तेषु ब्रम्बेष्ट् विरचिताः 'दपसः' दृष्टान्ता असिन् जीव-छोंक यदि न भवेगुनाई 'छिलाओंनव' छिन्ने-व्यविष्ठित्रमेकीमृतं यद् अत्रं तद् यया प्रचण्ड-एवंदेन गाने इन्त्रेत आस्केन एवपयर्पा क्रोकः 'निरुग्पाकः' तत्त्रेयपरायक्ट्यान्त्रविक्रके द्रोष्ट्रायमानमान्यः नंद्रयादिनिर्मात्त्रनतो आन्येन, न कलाय्यंस्य निर्णयं कुर्यादिनि मारः।

टर्स च-

10

15

नाबदेव चण्ययां, मन्तुर्विगयमागनः ।

यादन्नोत्तन्पनेनेवः, हैप्रन्तेनावक्रम्यने ॥ 11 2022 11

एवं च ब्हुसिः प्रश्नीर्क्यवसारितं द्यान्तं प्रमागयन् द्वित्यः प्राह्—सगवत् ! यदेवं ततः क्रियतां द्रष्टान्तः । उच्यने, कृषेः, आक्रर्यतां दलक्रांन मदता—

सरण्हि य दिइंतो, कायव्यो चडहिँ आणुपूर्वाए । एविषदं अद्वाणे, गेलचें तहेव आमिन्स ॥ १०१२ ॥

'मर्कः' प्राचंगश्चर्गमंदेशनः वर्तव्य बाहुरूयां । 'गृतं' मरक्दशन्तानुमार्ग इह अवनि म्बरन्ये तैयक्षकमे हितीयरदं इष्टव्यमिति नियुक्तिगायासमामार्थः ॥ १०१२ ॥ अय पृत्रं है, तावद् व्याच्याति-

चउमस्य विदेमं माहपारए मुणा रस मृत्यबहे । ननियदिण प्रिष्टर्गं, पारगों सुणयं हणिय खासी ॥ १०१३ ॥ 23 परिणामञ्जारत्य एरोा, दो अपरिणया तु अतिमा अतीव । यरिणामी सहहती, ऋसज्यरिणमतों मनी वितिनी ॥ १०१४ ॥ नहश्रा एयमिक्चं, दुक्वं मन्डिं नि नं समारहा । कि एचिन्स सिद्दं, अहपरिणामाऽहियं हणित ॥ १०१५ ॥ पञ्छिनं खु बहिजह, यहमाँ अहालहुम बाहिना तहना । 25 चडया अ अनिपमंगा, जाओ मोत्रागचंडाली ॥ १०१६ ॥

इहा चर्चार सम्बा 'बज्जाहुम्बासी' ति कार्ड विदेसं परियदा । तेहि य मुगी साहागरको दिहो, पुच्छिको—क्षय यदीय १। सो मगह—त्यंव तुच्मे । ताह ते एगरिम पर्वने अहाण-रीमर सब्दे पंडच्छेति, सो य । सब्दे। मिळ्ह । माहापागी। एतं सुननं सारवेह । तेहि अमित्रं—िहं दुव्नं गुण्तं । से। सगह-बहमेरं जागामि क्राग्मं । तक्षा न सक्षण समे बहिं पविद्या। नेमि तत्य रमें। पवसाणे में। मखो मुद्रो दिमोदिमि एउनो । इनरे वि मस्या पंच

१ "मर । इंग्रेज (तर्) स्त्रुविष्ठ उन्हरें ॥ २ "या से प्रक्रियेन व्युविष्ठ उन्हरें ॥ ३ "इस्रन्तेन उष्ट छदे" स्वितंत्र उन्दे ॥

जणा सुणगछट्टा एकतो पिट्टता अतीवितिसिय-भुिक्खया तइयदिणे पेच्छंति पूइसुद्रगं मयगकलेबराउछं । तत्थ ते साहापारगेण मिणता—एयं सुणगं मारेउं खामो, एयं च सरुहिरं पाणियं
पिनामो, अण्णहा विवज्जामो, एयं च वेदरहस्सं आवतीए भिणयं चेव, न दोसो । एवं तेण ते
भिणता । तेसिं मरुयाणं एको परिणामतो, दो अपिरणामगा, चउत्थतो अतिपरिणामओ । तत्थ
जो सो परिणामगो तेण तं साहापारगवयणं सद्दृहियं अञ्भुवगयं च । जे ते दो अपिरणामगाऽ
तेसिं एकेण साहापारवयणं सोउं कण्णा ठ्रद्या 'अहो ! अकज्जं, कण्णा वि मे पुणंति' सो अपरिणामगो तिसिय-मुक्खिओ मओ । जो सो वितिओ अपिरणामगो सो भणइ—'एयं एयवत्थाए
वि अकिचं, किं पुण दुक्खं मिरजिति ?' ति काउं खड्डंयं णेण । जो सो अतिपरिणामो सो
भणति—किह चिरस्स सिट्टं थं विया मो अतीते काले जं ण खाँतियं । सो अण्णाणि वि
गावि-गद्दममंसाणि खादिउमाढतो, मज्जं च पाउं । तत्थ जोहिं खतियं ते साहापारगेण भणिता—10
इतो णित्थिन्ना समाणा पच्छित्तं वहेज्जह । तत्थ जो सो परिणामगो तेण अप्पसागारियं एगस्स
अज्झावगस्स आलोइयं । तेण 'सुद्धो' ति भाणियं, पंचगवं वा दिन्नं । तत्थ जो सो अपिरणामओ सो णित्थिण्णो समाणो सुँणगकत्तिं सिरे काउं माहणे मेलित्ता चाउवेज्जस्स पादेहि पिडत्ता
साहइ, सो चाउवेज्जेण 'धिद्धि'कतो णिच्छूदो । जो सो अइपिरणामगो 'णत्थि किंचि अमक्खं
अपेयं वा' अतिपरिणामपसगेण सो मायंगचंडालो जाओ ॥

अधाक्षरार्थः — चत्वारो मरुका विदेशं प्रस्थिताः। ततः 'शाखापारगः' वेदाध्ययनपारगतो मरुक्तेषां मिलितः, तेन च शुनकः सार्द्ध गृहीतः। अरण्ये च गतानां सार्थस्य वधः—मोषणं। ततस्तिर्मरुकेरेकां दिशं गृहीत्वा पलायितैः तृतीयदिने 'पूति' कुथितं मृतकडेवराकीणमुदकं दृष्टम्। शाखापारगो विक्ति—एनं शुनकं हत्वा मक्षयामः। अत्र चैकः परिणामकः, द्वौ 'अपरिणतौ' अपरिणामको, 'अन्तिमः' चतुर्थोऽतीवपरिणामकः। तत्र परिणामकः शाखापारगवचनं श्रद्धते । 20 'द्वितीयः पुनः' अपरिणतः कर्णो स्थागतवान् 'न शृणुमः एनां वार्तामिप' इति कृत्वा मृतः। तृतीयोऽप्यपरिणतत्वात् 'चिन्तयिति—'एतद् एतस्यामप्यवस्थायामकृत्यम्, परं किं क्रियते ? दुःखं मतुम्' इति 'तत्' शुनकमक्षणं कर्त्तु समारव्धः। चतुर्थस्त्वतिपरिणामकः किमियतः कालात् 'शिष्टं' कथितम् ² इत्युक्त्वा 'अधिकं करोति' गो-गर्दभादिमांसान्यपि मक्षयतीति। शाखा-पारगण च ते भाणिताः—अटव्या उत्तीर्णाः प्रायश्चित्तं वहध्वम् । तत्र यः प्रथमः परिणामकः स 25 यथालघुकमायश्चित्तेन शुद्धः। द्वितीयस्तु मृत एव। तृतीयो निर्धाटितश्चाद्विवैः, पद्धेर्विहःकृत स्त्यर्थः। चतुर्थश्चातिप्रसङ्गात् 'नास्ति किश्चदमक्ष्यमपेयं च' इति श्वपाकक्षपश्चण्डालो जात इति ॥ १०१३॥ १०१४॥ १०१५॥ १०१६॥ अथोपनययोजनामाह—

जह पारगी तह गणी, जह मरुगा एव गच्छवासीओ ।

मुणगसरिसा पलंदा, महतोयसमं दगमफासं ॥ १०१७॥

यण ज्ञान्ताप्रारम्त्रया 'गर्जा' आचार्यः । यथा चलारेत मरुकाः 'एवम्' अनुना प्रकारेता 'गच्छवामिनः' साध्यः । ज्ञुनञ्मदृष्ठानि अत्र प्रचन्द्रानि, विक्रुटाव्यादिकारणं विना साधृनामम्य-णीयलात् । 'मृत्ततोयसनं' मृत्रञ्देवग्रकुछोद्द्रञ्जुल्यम्प्राञ्चकोदकं ज्ञातव्यम् , अपेयलात् ॥१०१७॥ अय यद्यक्तं ''एवमिहं अद्याणे, गेल्कें तद्देव औमिन्स ।'' (गा० १०१२) नत्राव्यद्वारं विक्रुणोति—

> उद्दरं सुभिक्ले, अद्वाणपत्रज्ञणं तु दृष्येण । उद्दुरा पुण सुदृषदे, वं वा आवज्जर्ता नैत्य ॥ १०१८ ॥

क्क दरा पृथेने यह कांचे दर् कहुंदरम, प्राष्ट्रतिश्चा उद्दर्स् । ते च दरा हिविधाः—

10 बान्यदरा उदरदराख । यान्यानामयारमृता दरा वान्यदराः कर-पञ्चादयः, उदराप्येव दरा उद
गदराः ते उमयेऽति यह पृथेने दद् कहुंदरम् । तथा सुमिशं—मिशाचरः सुलमियस् । अह

च्हार्पर्द्वा — कर्न्नदरं सुमिशं च १ कर्न्नदरं न सुमिशं २ सुमिशं नोह्नेदरं ३ नोर्ह्वदरं न सुमियस्

१ । दह प्रथममेश तृत्रीयमहे दा यद्यक्षानं दर्गेष प्रतिरद्धने ददा यद्यति न मुलोचरगुप्रविरा
वर्गादकं विभाव्याददे दहार्थि सुहरादे क्यारो उद्यक्षाः प्रायक्षित्तम्, कृत्मात् १ दर्पेषाक्षानं

13 प्रतिरद्धने इति हेतोः । चिद् वा आत्मविरायनादिकं यहारद्धते तह तक्षित्रकं प्रायक्षितम् ।

अर्थादरस्य — देषमञ्जदे द्विश्वादक्षामनं प्रतिय्वव्यमिति । प्रयन्तृत्रीययोरित मह्नयोः

करणतो मदेवक्षामनम् ॥ १०१८ ॥ आह कि तत् कारणन् १ उच्यते—

अनिवे ओमोयिन्ए, ग्रयहुंड भए व आगाढे। गेलन उत्तिमंड्र, नाणे नह दंसण चित्ति॥ १०१९॥ एएहिं कारणेहिं, आगाढेहिं तु गम्ममाणेहिं। उत्तगरणपुट्यपहिलेहिएण सत्येण गंत्रव्यं॥ १०२०॥

विविधित्रें आगाइमिश्चिम्बमें। ये राजिष्टं मणे वा प्रस्निकादिसस्यम्, आगाइस्टर् प्रयोजनिमम्बद्धेने, तथा तत्र वसतां म्हानलं स्थास्य उस्हिने, यहा देशान्तरे म्हानवं करणि सस्यत्रं तस्य प्रतिवागरणं कर्तव्यम्, उत्तमार्थं वा नोर्सिय प्रतिपद्धस्तस्य नियीगनं अक्षिम् । तथा विविधिने देशे हानं वा दर्शनं वा चारित्रं वा नोर्स्सिति ॥ १०१९ ॥

१ जन्य ता ।। १ तत्र प्रथममहे यद्यव्यानं द्र्षण प्रतिपद्यते तद् यद्यपि शुढं शुढ्त गन्छति न म्होन्दरगुणिवराधनादिकं क्रिम्प्यापद्यते तद्दाऽपि शुढ्यदे चत्यारो ह्युकाः प्रायिक्षत्तम्, क्रम्पत् १ द्र्रोण अव्यानं प्रतिपद्यत इति हेतोः। 'यद् वा' अन्यदापद्यते 'यत्र' मृहोन्दरगुणिवराधनादां तत्र तिक्षपत्रं प्रायिक्षत्तम् । अर्थादापत्रम् — रेग्यमहुत्र्येऽव्य-गमनं प्रतिपत्तव्यमिति नृष्यमिप्रायः । निर्शायक्ष्यंमिप्रायेण तु नृतीयेऽपि महेऽ-व्यानं यदि प्रतिपद्यते तत्रव्यदेव प्रायिक्षत्तम्, सुमिक्षत्वात् । व्रिर्शय-चतुर्थयोत्ति महेऽ-व्यादेशिक्षत्वाद्यानं प्रतिपद्यते । प्रथम-तृतीययोरिप महेयोः कारणतो मत्रद् अव्यगम-नृत्तीययोरिप महेयोः कारणतो मत्रद् अव्यगम-नृत्तीययोरिप महेर्याः कारणतो मत्रद् अव्यगम-नृत्तीययोरिप महेर्याः कारणतो मत्रद् अव्यगम-नृत्तीययोरिप महेर्याः कारणतो मत्रद्

'एतैः' अनन्तरोक्तेः कारणरागाढेरुत्पन्नेः सिद्धर्गम्यते । गच्छद्भिश्चाध्वप्रायोग्यसुपकरणं गुिल-कादिकं गृहीत्वा सार्थः पूर्वमेव प्रत्युपेक्षणीयः, तेन पूर्वप्रत्युपेक्षितेन सार्थेन सार्धं गन्तव्यम् ॥ १०२० ॥ अत्र विधिमाह—

अद्धाणं पविसंतो, जाणगनीसाए गाहए गच्छं।

अह तत्थ न गाहेजा, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥ १०२१ ॥

अध्वानं प्रविश्वनाचार्यो ज्ञायकः—गीतार्थस्तन्निश्रया गच्छं सकलमप्यध्वकलपस्थिति प्राह्-यति । अथ 'तत्र' अध्वप्रवेशेऽध्वकलपस्थितिमाचार्या न प्राह्येयुस्ततश्चतुर्मासा गुरवः प्रायश्चित्तं भवेयुः ॥ १०२१ ॥ स्यान्मतिः—कः कथं वा गच्छमध्वकलं प्राह्यति ? इति, उच्यते—

> गीयत्थेण सर्य वा, गाहइ छिंडितों पचयनिमित्तं। सारिति तं सुयत्था, पसंग अप्पचओ इहरा ॥ १०२२ ॥

70

5

यद्याचार्य आत्मना केनापि कार्येण व्याप्टतस्ततोऽन्येनोपाध्यायादिना गीतार्थेन, अथ न व्याप्टतस्ततः 'स्वयम्' आत्मेनवान्यगीतार्थान् पुरतः कृत्वा अध्वक्तरूपसामाचारीं गच्छं श्राह्यति । स च
कथको श्राह्यन्नन्तराऽन्तरा अर्थपद्जातं 'छर्द्यन्' परित्यजन् कथयति । ततो ये ते 'श्रुतार्थाः'
गीतार्थास्ते 'तद्' अर्थपद्जातं त्यक्तं सत् स्मारयन्ति, यथा—विस्मृतं भवतामेतच्चेतचार्थपदमिति । किंनिमित्तमेवं कियते ^१ इत्याह्—अगीतार्थानां श्रत्ययनिमित्तम्, यथा सर्वेऽप्येते 1६
यदेनां सामाचारीमित्थमेव जानन्ति तन्नृनं सत्येवेयमिति । 'इत्तरथा' यद्येवं न कियते ततस्तेपामगीतार्थानां मध्ये येऽतिपरिणतास्ते अध्वन उत्तीर्णा अपि तत्रेव श्रसङ्गं कुर्युः, ये त्वपरिणामकास्तेपामश्रत्ययो भवेत् , यथा—एते इदानीमेव स्वदुद्धिकरूपनाशिरूपनिर्मितामेविषां स्थितिं कुर्वन्तीति
॥ १०२२ ॥ शिप्यः शाह—या काचिद्ध्विन श्रैलम्बग्रहणे सामाचारी तामिदानीमेव मणत ।
गुरुराह—

अद्धाणे जयणाए, परूवणं वक्खती उवरि सुत्ते । ओमेऽचुवरिं वोच्छिह, रोगाऽऽयंकेसिमा जयणा ॥ १०२३ ॥

अध्वित गच्छतां या प्रॅलम्बग्रहणे यतना—सामाचारी तत्याः प्ररूपणमुपरि अध्वस्त्रे इहैवोहे-शके वक्ष्यित । अवमेऽपि यः कोऽपि विषिः स सर्वोऽप्युपरि इहैव प्रलम्बग्रकृते वक्ष्यते । अत्र पुनर्यद् ग्लानलद्वारं तद् अभिधीयते । तच्च ग्लानत्वं द्विधा—रोग आतङ्कश्च । तयो रोगा-25 ऽऽतङ्कयोर्द्वयोरपि 'इयं' वक्ष्यमाणलक्षणा यतना ॥ १०२३ ॥

तत्र तिष्ठतु तावद् यतना, रोगाऽऽतङ्कयोरेव कः परस्परं विशेषः ? उच्यते---

[&]quot;एत्थ पढमभंगे जित वि सुद्धं सुद्धेण गच्छिति, अणावजंत इत्थर्थं, तो वि ह्व (ण्क)। कीस ? दप्पेण श्रद्धाणं पवजाति। जं वा अण्णं मूलगुण-उत्तरगुणाणं विराधणं करेति तिण्णिप्फण्णं पिच्छत्तं। अर्थात् प्राप्तम्— सेसेहिं तिहिं भंगेहिं पवजितव्वं। भवे कारणं पढमेण वि भंगेण गमेजा॥ किं तं कारणं ? उच्यते—असिवे॰ गाधा॥" इति चूरिंणः॥

१ °द्धाण पविस्तमाणो ता०॥ २ गीतार्थास्ते तान्यर्थपदानि त्यकानि सन्ति स्मारयन्ति भा०॥ ३-४ उमयत्रापि भा० पुस्तके प्रसम्बद्धहणे इति नास्ति॥

गंडी-कोट-नयाई, गेगो कामाइगो उ आयंको । दाइकया वा गेगो, आनंको आसुघाना उ ॥ १०२४ ॥

गर्डी-गर्डमा प्रहिकः, इटं-पार्डुगेगो गर्डकोष्टं वा, क्षयः-गद्रयस्मा, आदिश्रद्धात् श्रीपद-श्रवशु-गुल्मादिकः सर्वेऽति गेग इति व्यपिद्ध्यते । कामादिकस्तु आदिष्ठः, आदिश्रद्ध-रुगेन श्रास-शृह-हिक्का-ज्यग-र्जीसागिदिर्शस्त्रद्धः । अथ्या दीर्षकाल्याविनी सर्वाऽति रुग् रेग उच्यते । यस्तु आशुण्यती विस्विकादिकः स आदृष्टः ॥ १०२१ ॥

अब मामन्यता न्यानने विकिमाह—

गेलनं पि य दुविदं, आनादं चेत्र नो य आनादं । आनादे कमकरणे, गुन्मा लहुना अणानादे ॥ १०२५ ॥

40 न्द्रातन्त्रमि द्विविवन्—आगार्द चेव नेत्रामार्द च अनागादिनत्यर्थः । आगादे यदि क्रमेप-पञ्चकपिद्याम्या क्रमेति तत्रश्चलांगे गुन्दः, अनागादे तु यद्यागादकरणीयं क्रमेति वदा चलारे। छवदः ॥ १०२५ ॥ एनदेव स्पष्टयलाह—

> आगादमणागादं, पुञ्जुत्तं खिष्यगहणमागादे । फामुगमफामुगं वा, चउपन्यिङ्गं नऽणागादे ॥ १०२६ ॥

अगाहमतागाहं च 'पृत्रोंकम' ''अहिड इतिस विस्हय'' (गा० ९.५०) इत्यादिना पृत्रेमेव व्या-ज्यातम् । त्रशगाहे शुरू-विस् जिकाते नरुत्तवे समुत्यते प्राशुक्रमप्राशुके वा एपप्रीयमनेपर्पायं वा व्यिमेव प्रहीतक्रम् । अयागाहे जि.णीवर्त्तनकृत्या पत्रकर्गाव्हाणिकप्या वा यनन्या क्रमेण गृहानि तत्रश्रक्तरे गुरवः । अनागाहे पुनिवक्रतः परिवर्तने क्रमेऽपि यदि गुढं न प्राय्येन तत-अनुर्ये परिवर्ते पत्रकादियन्त्रण अनेपर्पायं गृहानि । अथानागाहे जिःपरिवर्तनं पत्रक्रपरिहाणि १० वा न क्रमेति तत्रश्रनुर्वण्यः ॥ १०२६ ॥ अथ न्हान्विप्रयां यननानाह—

विके पुच्छण जयणा, प्रुरिने लिंगे य द्व्यगहणे य । पिद्दमपिद्दे आलोयणा य पत्तवण जयणा य ॥ १०२७ ॥

प्रथमने वैद्यस्तरं वक्तव्यम् । तत्तनस्य पार्थं यथा प्रच्छने चनना स्थिते तथा बाच्यम् । 'पुरुषः' आचार्थोदकोऽभियातव्यः । 'किंते य' ति स्वित्वेद्यनाध्न्यिकेत वा यथा प्रचन्द्रप्रहणं धः मदित तथा वक्तव्यम् । 'द्रव्यप्रहणं वा' नेपादिद्रव्योगदानमियानीयम् । पिष्टस्मापिष्टस्य च प्रचनस्य प्रहणे विविवेक्तव्यः । तत आछोचना प्रज्ञाणना चनना चामियातव्येति निर्युक्तिगाया-समामार्थः ॥ १०२७ ॥ अथास्य एव मायाह्यह् व्याख्यानमाह—

वेजहुन एनदुनादिपुच्छेम जा चउक्कउवएसी । इह पुण दच्चें पनंत्रा, तिमि य पुनिसाऽऽचित्यमाई ॥ १०२८ ॥ विवायकर' अधे वैद्याः

> र्गविना १ मनविना। २, छिनी ६ तह सावए १ अहामहे ५ । अर्गिमहिम्चिछ ६ तर् ७, अहमण अञ्चतिर्ली य ८॥

इति गायोन्ताः प्रष्ट्याः । एते च मामकल्पप्रकृते कान्छारं व्यान्यात्सन्त । एतेशं च प्रच्छने

30

इयं यतना—वैद्यस्य समीपे एकः प्रच्छको न गच्छति, मा 'यमदण्ड आगतः' इति निमित्तं प्रहीत्; द्वाविष न त्रजतः, 'यमदूतावेती' इति मननात्; आदिशब्दात् चत्वारोऽिष न त्रजितः, 'नीहरणकारिण एते' इति कृत्वा, यत एवं ततस्त्रयः पञ्च वा गच्छिन्ति इत्यादिको विधिस्तावद् शेयो यावत् 'किमस्मिन् रोगे प्रतिकर्त्तव्यम् " इति पृष्टः सन् स वैद्यश्चतुष्कोपदेशं दद्यात् । तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । एते च ग्लानद्वार एव व्याख्यास्यन्ते । इह पुनर्द्र- व्यतः प्रलम्बानि, पुरुषाश्च त्रयः 'आचार्योदयः' आचार्योपाध्याय-भिश्चरूपा द्रष्टव्या इति । तत्रत्र वैद्यः पृष्टः कदाचिदेवमभिदध्यात्—यादशं रोगं यूय कथयत ईदृशस्योपशमनार्थमिदं वनस्पति- जातं ग्लानस्य दातव्यम् ॥ १०२८॥

स च वनस्पतियों यस्य रोगस्योपशमनाय प्रभवति तद्विषयं तमभिषिखुराह— यउम्रुप्पलें माउलिंगे, एरंडे चेव निवपत्ते य ।

पितुदय सन्निवाए, वायकोवे य सिंभे य ॥ १०२९ ॥

पित्तोदये पद्मोत्पलमोषधम् , सन्निपाते 'मातुलिङ्गं' बीजपूरकम् , वातप्रकोपे एरण्डपत्राणि ''सिंमे''त्ति श्लेष्मोदये निम्बपत्राणि ॥ १०२९ ॥

अथ यदुक्तं ''तिन्नि य पुरिसाऽऽयरियमाइ'' (गा० १०२८) त्ति तदेतद् भावयति——
गणि-वसभ-गीत-परिणामगा य जाणंति जं जहा दन्वं ।
इयरे सिं वाउलणा, नायम्मि य भंडि-पोउवमा ॥ १०३०॥

योऽसी ग्लानः स गणी—आचार्यो वृषमः—उपाध्यायो मिक्षुश्चेति त्रयः पुरुषाः । अत्र मिक्षुद्विधा—गीतार्थोऽगीतार्थश्च, परिणामकोऽपरिणामको वा । तत्र गणि-वृषम-गीतार्थमिक्षूणां त्रयाणां
पुरुषाणां प्राशुक्षेषणीयेन द्रव्येणाऽऽलेपनादि कर्त्तव्यम्, यदा प्राशुक्षमेषणीयं वा न प्राप्यते तदा
तदितरेणापि कर्त्तव्यम् । एतेषां च यद् यथा गृहीतं तत् तथैव निवेद्यते, निवेदिते च ते 20
तथैवागमप्रामाण्येन सचित्तमचित्तं वा शुद्धमशुद्धं वा द्रव्यं यद् यस्मित्रवसरे करुपते तद् यथावद्
जानन्ति । यस्त्वगीतार्थः परं पारिणामिकः सोऽपि यद् यथा क्रियते तत् तथैव परिणामकत्वात्
कथितं सद् जानीते । 'इतरे' अपरिणामकाः सन्तो येऽगीतार्थास्तेषां न कथ्यते, यथा 'अप्राशुक्रमनेषणीयं वा गृहीतम्' किन्तु तेषां व्याकुरुना क्रियते, यथा 'अमुक्रगृहादात्मार्थं कृतमानीत्तिनदम्'। अथ कथमपि तैर्ज्ञातं यथा 'एतदप्राशुक्रमनेषणीयं वा' ततो ज्ञाते सति भण्डी—गन्नी 25
पोतः—प्रवहणं तदुपमा कर्त्तव्या । यथा—

जा एगदेसे अददा उ भंडी, सीरुप्पए सा उ करेति कर्ज । जा दुब्बला सीलविया वि संती, न तं तु सीलेंति विसिन्नदारं ॥ (कल्पगृहद्भाष्ये)

'शीलाप्यते' समारच्यते इत्यर्थः । तथा— जो एगदेसे अदढी उ पोतो, सीलप्पए सो उ करेइ कर्जा ।

१ एतद्य मा॰॥ २ ॰स्यते मा॰॥ ३ स च वै॰ मा॰॥ ४ ॰त्राणि। एतानि चतुर्विपि रोगेषु यथासमुक्रमीषधानि ॥२०२६॥ मा॰॥

जो दुव्यको सीलवियो वि संतो, न तं तु सीलिनि विमिन्नदारं ॥
(कलपहृद्धाप्ये)

एतं न्वमित र्वाद जानीय—'अहं प्रगुणीमित्रियामि, प्रगुणीमृतश्च प्रायिश्व वेदिस्ति, अपरं च न्वाच्याय-वेद्याहृत्य-उत्तरमृतिसिर्गवकं लासस्याविष्यामि इति उत इदं प्रतिसेवत अक्तर्यनीयम् : अधितेषानमनर्थनतो मा प्रतिसेवन्त्रेति ॥ १०३०॥ गतं वेद्यप्रच्छन-यत्रना-पुरुष्णक्ष्यणं द्वार्त्वयम् । अयं जिद्वादीनि स्वीस्यित द्वाराणि गायाह्यमेन साव्यति—

मा पुण आरुवा वा, इवेज आहारिमं व मिन्नियरं । पुट्यं तु पिट्टगहणं, विगरण जं पुट्यक्टिनं वा ॥ १०३१ ॥ मावियक्केमु गहणं, नेसऽनित निर्ह्मा गेण्हणाऽवन्नो । विकरणकरणारोयण, अमुगगिटं पच्या गीने ॥ १०३२ ॥

गे बनम्पनिमेडो नगाडी रिकोइयाँडो वा उपयुज्यने स पुनग्रेलेयो वा स्यान्, निहः रिण्डीप्रदानादिक इन्थ्येः, 'आहारिमं न' निह्नम् । तच्चोमयमि प्रयमने।ऽचित्तम्, तद्यामे
निश्रम्, तस्याप्यमाने 'इत्रन्' सचितम् । अथवा 'निर्शं' नाम यद् आळेप आहारियत्तम् च
मवति, 'इत्रन्' नाम यत्नोलेयो नाहारियत्त्रम् । तच्च म्योनं स्रिश्नीयं वा न्यात् पद्मोत्तरम् इ,
ग्रामिक्या आज्ञानम् वा मनेन पुत्रादिवत् । एनावता द्रम्प्यस्तातं स्राम्यातम् । अथ रिष्टारिष्टहारम्—त्याऽङ्क्रेपादिकं सर्वमित यत् पृत्रीरिष्टं नम्याने तस्य प्रद्यां कर्तन्यम्, पृत्रीरिष्टसालामे नृतीयेनारि महेन, तस्यायनामे हिनीयेन, तस्याप्यमित प्रयममहेन यत् पृत्रीन्थिकं तद्
विकरणं इत्या प्रयम्, विविज्ञम—अनेक्यकां कर्णा—स्यत्नं यस्य तद् विकरणम्, तत्
ताद्यं चानीय पेर्गायम् । एनेन च यद्वमादुक्तं 'द्रयोग गहणं कहं होज्ञा' (गा० १००२)
थ्राहित तद् एवं मवेदिति प्रतिराज्यम् ॥ १०३१ ॥

अय पृत्रीच्छतं न छन्णते तत आसनाऽरि च्छिन्द्रानि । तच पृत्रीच्छतं मातितकुलेषु प्रद्यानिक्यम् । तत्र याति अप्हकुछानि माना-रिनृष्ठमानानि मावृत्ताम् वात्रपटे प्राशुक्तादिकं गृह्ताम् ग्रुद्याक्तानि नित्त भावितकुळान्युच्याने । तयामस्ति यद्यमात्रितकुलेषु लिछेकेन गृहाति तनो महानदार्गे मदि, अञ्चेत्रन्यछिकेन यद्यान्यमिति छिक्षहारमी व्याच्यातम् । अथ्वा मावि-१३ व्याच्यातम् । अथ्वा मावि-१३ व्याच्यातम् । प्राति स्वाप्त्रामिन कृत्रानि वाति प्रज्ञाप्य माग्यति गृहाति च, एषा प्रज्ञापता मन्द्रच्या । प्राति सुनः प्रयम्-द्वित्यमक्ष्रच्यानि प्रज्ञ्वानि यत्र गृहीतानि तत्रेव विकर्त्यानि कृत्रा आनीय गुन्समीप आलोचयित आगीतार्थनस्यनिमित्तम्, यथा—अमुक्स गृहे लाये कृतानि मया ख्यानिया आलोचया । यत्ना तः—सर्वया पृत्रिक्यानामस्त्रमे स्वयमि च्छेनच्यानि, तानि च प्रयमे परीज्ञानि, नत्रोऽन्त्यान्यि, पृत्रे व्यक्तिन्त्राह्म, तत् इत्रेर्णापि अशा १०३२ ॥ एत्व निर्यन्यानाशित्र मणितम् । अय् निर्यन्यानां विविमतिदिस्वाहः—

एसेन गर्गा नियमा, निग्गंत्रीणं पि नवरि छ व्यंगा। आमे मिन्नाऽमिन्ने, जान उ पडमुप्पलाईणि ॥ १०३३॥

20

25

एंष एव गमो नियमाद् निर्श्रनथीनामपि ज्ञातव्यो यावत् पद्मोत्पलादीनि "पउर्मुप्पल माउ-हिंगे" (गा० १०२९) इत्यादिगाथां यावत् । एतच निर्युक्तिमङ्गीकृत्योक्तम्, भाष्यमा-श्रित्य तु—"अमुगगिहे पच्चओ गीए" (गा० १०३२) ति पर्यन्तं द्रष्टव्यम् । नवरं तासामामे प्रलम्बे भिन्ना-ऽभिन्नपदाभ्यां विधिभिन्ना-ऽविधिभिन्नपदसहिताभ्यां पड् भङ्गाः कर्त्तव्याः, ते चान-न्तरसूत्रे स्तस्थान एव भावयिष्यन्ते ॥ १०३३ ॥ सूत्रम्-

कप्पइ निग्गंथाणं पक्के तालपलंबे भिन्ने वा अभिन्ने वा पडिगाहित्तए ३॥

तथा---

नो कप्पइ निग्गंथीणं पके तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए ४॥ कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे भिन्ने पडि-गाहित्तए से वि य विहिभिन्ने नो चेव णं अविहिभिन्ने ५॥

ऐतानि त्रीणि सूत्राणि समकमेव व्याख्यायन्ते—कल्पते निर्यन्थानां पक तालप्रलम्बं द्रव्यतो भिन्नं वा अभिन्नं वा प्रतिग्रहीतुम् ३ । नो कल्पते निर्श्रन्थीनां पक तालप्रलम्बमभिन्नं प्रतिग्रही-15 तुम् ४। कल्पते निर्श्रन्थीनां पकं तालप्रलम्बं द्रव्यतो भिन्नं प्रतिष्रहीतुम्, तद्पि च 'विधिभिन्नं' विधिना-वक्ष्यमाणलक्षणेन भिन्नं-विदारितम्, नैव 'णं' वाक्यालङ्कारे अविधिभिन्नमिति सूत्रार्थः ५ ॥ अथ निर्युक्तिविस्तरः –

> नामं ठवणा पकं, दन्वे भावे य होइ नायन्वं । उस्सेइमाइ तं चिय, पिकंधणजोगतो पकं ॥ १०३४ ॥

नामपकं स्थापनापकं द्रव्यपकं भावपकं चै भवति ज्ञातव्यम् । तत्र नाम-स्थापने गतार्थे । द्रव्य-पकं तदेवोत्स्वेदिमादिकं यद् आमं भणितम् । किमुक्तं भवति 2- यद् द्रव्यामं उत्स्वेदिमसंस्वेदि-मोपस्क्रतपर्यायाममेदात् चतुद्धी भिणतम् तदेव यदा इन्धनसयोगात् पक्रमुपजायते तदा द्रव्यपकं मन्तव्यम् ॥ १०३४ ॥ गतं द्रव्यपकम् । भावपकमाह---

> संजम-चरित्तजोगा, उग्गमसोही य भावपकं तु । असो वि य आएसो, निरुवक्तमजीवमरणं तु ॥ १०३५ ॥

संयमयोगाः-प्रखुपेक्षणादयश्चारित्रं च मूलोत्तरगुणरूपं सुविशुद्धं भावपक्रमुच्यते । गाथायां बन्धार्नुलोम्येन चारित्रशब्दस्य व्यत्यासेन निर्देशः । यद्वा या उद्गमादीनां दोषाणां शुद्धिस्तद् भाव-

१ "एसेव॰ गाधा । जधा णिरगंथाणं तथा णिरगंथीण वि जाव 'जाव उ पउमुप्पलादीणि' (गा॰ १०३३) ति पुरातना गाथा, साम्प्रतं पुनर्यावत् जतणा य ति सम्मत्ता ॥" इति चूर्णिः॥ २ "एते खते एगट्टे चेव मण्णति । सुत्तत्थो पुन्ववण्णितो । णि**ज्जन्ति**अत्थो इमो—णामं० गाधाँ" इति चूर्णौ ॥ रे वा भा॰ विना ॥ ४ ° जुळोम्यात् जा भा० ॥

10

पक्रम् । अन्योऽप्यादेशो वर्तते—येन यद् आयुष्कं निर्वित्तिं तत् सर्वमनुपाल्य श्रियमाणस्य निरुपक्रमायुर्जीवस्य यद् मरणं तद् भावपक्रम् । अत्र च द्रव्यपकेणाधिकारः, तत्रापि पर्यायपकेण, तत्रापि वृक्षपर्यायपकेणेति ॥ १०३५ ॥

गत पक्तपदम् । अथ भिन्ना-ऽभिन्नपढे व्याचष्टे---

पक्के भिन्ना-ऽभिन्ने, समणाण वि दोसों किं तु समणीणं । समणे लहुओं मासो, विकड्भमाई य ते चेव ॥ १०३६ ॥

'पकं' यह निर्जीवं तह ह्य्यतो भिन्न वा स्याद्भिन्नं वा, तत्रोभयेऽपि श्रमणानामपि टोपो भन्नति 'कि तु' कि पुनः श्रमणीनाम् '। श्रमणा यदि गृहन्ति ततो मासल्घु द्वाभ्यामपि तपः-कालम्यां लघुकम्, त्रिकहुम-पलिमन्याटयश्च त एव दोपाः ॥ १०३६ ॥ इटमेव स्फुटतरमाह—

आणादि रसपसंगा, दोसा ने चेव जे पहमसुत्ते ।

इह पुण सत्तनिवाओ, ततिय-चउत्थेस मंगेस ॥ १०३७ ॥

आज्ञाहयो रसप्रसङ्गादयश्च दोषाम्त एव पक्रप्रसम्बग्नहणेऽपि भवन्ति ये प्रथमस्त्रे अभिहिताः । यद्यवं ततः स्त्रमपार्थकमित्याह—इह पुनः स्त्रनिपातस्तृतीय-चतुर्थयोभेद्गयोभेवति, भावतो मिन्नमिति कृत्वा तृतीय-चतुर्थरूपं भङ्गहयमधिकृत्य सृत्र प्रयुत्तमिति भावः ॥ १०२७॥

15 एमेव संजर्षण वि, विकड्म-पिलम्थमाह्या दोसा ।

कम्माईया य तहा, अविभिन्न अविहिमिन्न य ॥ १०३८ ॥

एवमेव सयतीनामिप विकटुम-पिलमन्याद्यो दोपाः । तथा अविभिन्नेऽविधिमिन्ने च प्रत्ये हस्तकमीदयः सविदोपा दोपा मन्तव्याः, अतन्तासां विधिमिन्नमेव कल्पते नाविधिमिन्नम् ॥१०३८॥ अत्र च पद्मन्नीमाह—

20 विहि-अविहीसिन्निम्मि यं, समणीणं होंतिमे उ छ व्मंगा । पढमं दोहि अमिन्नं, अविहि-विही दृत्य विह-तहए ॥ १०३९ ॥ एमेव भावतो वि य, मिन्नं तत्येक दृत्यओं अमिन्नं । पंचम-छड्डे दोहि वि, नवरं पुण पंचमे अविही ॥ १०४० ॥

"मे वि य विहिमिन्न नो चेव णं अविहिमिन्न" (उ० १ स्० ५) इत्यत्र श्रमणीनां 25 स्व इमे पड् मङ्गा मविना। "पढमं" इत्यादि, प्रथमं 'द्वास्यामिप' भावतोऽपि इत्यतोऽप्यमिन्नम् , द्वितीय भावतोऽमिन्नं इत्यतोऽविधिमिन्नम् , तृतीयं भावतोऽमिन्नं इत्यतो विधिमिन्नम् ॥१०३९॥ एवमेव मावतो मिन्नेऽपि मङ्गत्रयम् । तत्रकं चतुर्थं भावतो मिन्न द्वयतोऽभिन्नम् , पञ्चमप्ष्यां मङ्गा द्वास्यामिप मिन्नो, 'नवरं' केवरं पञ्चमेऽविधिमिन्नम् , मावतो मिन्नं द्वयतोऽविधिमन्नमिति ॥१०४०॥ प्रयोगिति मावः । अर्थादापन्नं पष्टे भावतो मिन्नं द्वयतो विधिमिन्नमिति ॥१०४०॥

30 अथ पर्विप भेद्रेषु यथाकमं प्रायश्चित्तमाह—

लंडुगा तीसु परित्त, लंडुओ मासी उँ तीसु भंगेसु । शुक्ता होति अर्णते, पञ्छित्ता संबर्ड्ण तु ॥ १०४१ ॥

१ य छ ब्मंगा होतिसे उ समणीणं ता ।। २ य ता ।।।

आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु परीत्तवनस्पती चत्वारो रुघुकाः प्राग्वत् तपः-कारुविशेषिताः, भावतोऽ-भिन्नत्वात् । उत्तरेषु त्रिषु भङ्गेषु परीत्तवनस्पतावेव रुघुको मासस्तपः-कारुविशेषितः प्राग्वत् , भावतो भिन्नत्वात् । अनृन्तवनस्पतौ तु त एव गुरुकाः कर्त्तव्याः, चत्वारो गुरुवो गुरुमासाश्चेति भावः । इत्थं षट्खपि भङ्गेषु संयतीनां प्रायश्चित्तानि द्रष्टव्यानि ॥ १०४१ ॥

अथ हस्तकर्मसम्भवा-ऽसम्भवौ चेतिस व्यवस्थाप्य प्रकारान्तरेणात्रेव प्रायश्चित्तमाह-

अहवा गुरुगा गुरुगा, लहुगा गुरुगा य पंचमे गुरुगा। छट्टमिम हवति लहुतो, लहुगत्थाणे गुरूऽणंते॥ १०४२॥

अथवा प्रथमे भन्ने गुरुकाः, अभिन्नत्वात् । द्वितीयेऽपि गुरुकाः, अविधिमिन्नत्वात् । वृतीये लघुकाः, विधिमिन्नत्वात् । चतुर्थे गुरुकाः, अभिन्नत्वात् । पञ्चमेऽपि गुरुकाः, अविधिमिन्नत्वात् । पष्टे लघुको मासः, विधिमिन्नत्वाद् अचित्तत्वाच । एतच परीत्ते भणितम् । अनन्ते तु लघुक-10 स्थाने गुरुकम्, यत्र चतुर्लघवस्तत्र चतुर्गुरवो यत्र लघुमासस्तत्र गुरुमास इत्यर्थः ॥ १०४२ ॥

आयरिओं पवत्तिणीए, पवित्तिणी निक्खूणीण न कहेइ । गुरुगा लहुगा लहुओ, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥ १०४३ ॥ गेण्हंतीणं गुरुगा, पवत्तिणीए पवत्तिणी जइ वा । न सामेनी सहसानी सामकह विक्लाणी जाव ॥ १०४४ ॥

न सुणेती गुरुगाती, मासलहू भिक्खुणी जाव ॥ १०४४ ॥ 15 एतत् प्रलम्बसूत्रमाचार्थः प्रवर्त्तिन्या न कथयति चत्वारो गुरवः । प्रवर्तिनी भिक्षुणीनां न कथयति चत्वारो लघवः । यदि भिक्षुण्यो न शृण्वन्ति ततो लघुमासः । 'तत्रापि' अकथनेऽ- श्रवणे वा आज्ञादयो दोषाः ॥ १०४३ ॥

यदि मिक्षुणीनां प्रलम्बं गृह्णतीनां प्रवर्तिनी सारणादिकं न करोति तदा प्रवर्तिन्याश्चलारो गुरवः । प्रवर्तिनी यद्याचार्याणां कथयतां न शृणोति तदा चत्वारो गुरवः । प्रवर्तिन्याः पार्श्वे 20 गणावच्छेदिनी न शृणोति चत्वारो लघवः । अभिषेका न शृणोति मासगुरु । मिक्षुणी न शृणोति मासलघु ॥ १०४४ ॥ अथ निर्श्रन्थीरिषक्तत्य द्वारगाथामाह—

अभिन्ने महव्वयपुच्छा, मिच्छत्त विराहणा य देवीए। किं पुण ता दुविहाओ, भ्रत्तभोगी अभ्रत्ता य ॥ १०४५ ॥

अभिन्ने महान्नतप्रच्छा कर्त्तच्या। तथा अङ्गादानसद्दशमिन्नं प्रलम्बं गृह्णतीं निर्मन्थीं दृष्ट्वा 25 कश्चिद् मिथ्यात्वं त्रजेत्—यदेषा अङ्गादानाकारमेवंतिष फलं गृह्णाति तद् नूनमेतेषां तीर्थकृता नैष दोषो दृष्टः, असर्वज्ञ एवामीषां गुरुरित्यादि। विराधना भवेत्। तत्र च देव्या दृष्टान्तो वक्तव्यः। यदि च तस्या अपि देव्याः प्रतिसेवनाकौतुकं समजिन किं पुनः श्रमणीनाम् १ इति वक्तव्यम्। ताश्च श्रमण्यो द्विविधाः—भुक्तमोगिन्योऽभुक्तमोगिन्यश्चेति समासार्थः॥ १०४५॥

अथ विस्तरार्थोऽभिधीयते—तत्र प्रथममभिन्ने महात्रतप्रच्छाद्वारम् , शिप्यः प्रच्छिति—30 निर्श्रन्थानां भिन्नमभिन्न वा पक कल्पते , निर्श्रन्थीनां पुनर्भिन्नमेव कल्पते नामिन्नम् तदिप विधिमिन्नमित्यत्र यथा भेदस्तथा किमेवं महात्रतेष्विप तासां मेदः ²; यथा किल तच्चिन्निनानां मते मिक्षूणामर्द्वतृतीयानि शिक्षापदशतानि मिक्षुणीनां पञ्च शिक्षापदशतानि, एवं कि निर्श्रन्थी-

15

25

नामि पण्महात्रतानि दश वा शैनेवमिमधीयते १ उच्यते---

न वि छम्महव्यया नेय दुगुणिया जह उ भिक्तुणीयगो । वंभवयरक्यणहा, न कप्पती तं तु समणीणं ॥ १०४६ ॥

नापि निर्श्रन्थीनां पद् महावतानि, नेव साधूनां सम्बन्धिस्यः पश्च महावतेस्यः 'द्विगुणि-ग्वानि' दशेत्यर्थः, यथा सागतानां मते मिक्षुणीयगें द्विगुणानि शिक्षापदानि भवन्ति न तथाऽत्र किन्तु पञ्चेवेति भावः । यद्येव तर्हि किमर्थमत्र निर्श्नन्थीनामिन्तं न कव्यते ² उच्यते—त्रद्य-त्रत्रत्थणार्थं 'तत्तु' अभिन्नं श्रमणीनां न कव्यते, मा करकमीदिकमनेन कार्पुरिति कृत्वा ॥ १०१६ ॥ न केवलमेत्रेव प्रलम्बं श्रमणीनां विद्योपः किन्त्वन्यत्रापीति दर्शयति—

> अन्नत्य वि जन्य मने, एगयरे मेहुणुव्भनो तं तु । तस्सेन उ पडिक्कर्ड, निइयस्सऽनेण दोसेणं ॥ १०४७ ॥

अन्यत्रापि यत्र सुक्ते म्प्रष्टे वा "ज्ययरे" इति पष्टी-सप्तम्योर्थं प्रत्यमेटात् 'ज्कतरस्य' साधु-पक्षस्य साध्वीपश्रस्य वा मेथुनोझ्वो मवति 'तेत्तु' वस्तु 'तस्यव' विविधतपञ्रस्य, तुग्रच्दो मेथुनो-झवडोपपरिहारार्थमित्यस्यार्थस्य स्चनार्थः, 'प्रतिकुष्ट' प्रतिपिद्धम् । द्वितीयस्य तु पञ्रस्य तदेव 'अन्येन' असयमस्त्रणेन टोपेण प्रतिपिच्यते ॥ १०१७ ॥ निदर्शनमाह—

> निछोम-सलोमऽजिणे, दारुगदंडे संबंट पाए य । वंमवयरक्रतणहा, वीसुं वीसुं क्रया मुत्ता ॥ १०४८ ॥

यथा निर्यन्थानां निर्छोमाजिनं स्मृतिकरण-कालुकादिदापगरिद्वारार्थं प्रतिपिद्धम्, निर्यन्थानां पुनः प्राणिदयानिमित्तमतिरिक्तापिधमारपरिद्वारार्थं च तदेव प्रतिपिध्यते; एवं सर्छोमाजिनं निर्यन्थानां स्मृतिकरणादिद्रोपनिवारणार्थम्, निर्यन्थानां पुनम्नदेव प्राणिदयानिमित्तं प्रतिपिद्धम् । 20 दास्द्रण्डकं पाद्रप्रोच्छनं सम्बन्तपात्रं च निर्यन्थानां त्रम्यतानुपारुनार्थं निर्यन्थानां पुनरतिरिक्तो-पिवदापपरिदृरणार्थं नानुज्ञातम् । एवं त्रम्यतरक्षणार्थं निर्यन्थानां निर्यन्थानां च 'विष्वग् विष्वक्' प्रथक् प्रथक् स्त्राणि कृतानि ॥ १०४८ ॥ आह कर्माद्यादेव प्राणिनां मेथुनोद्धवो भवति, ततः किमेवं सर्छोमादिपरिद्वारः क्रियतं ? उच्यतं—

नित्य अनिदाणओं होइ उच्मचो तेण परिहर निदाणं। ते पुण तुद्धा-ऽतुद्धा, मोहनिदाणा दुपक्से वि ॥ १०४९ ॥

निटानं कारणिरियकोऽर्थः, तचेह्रष्टग्रट्य-रूप-रूप-गन्य-स्पर्शात्मकं यन् प्रतीत्य पुरुपवेदादि-मोहनीयमुद्रयमासाद्यति । तदुक्तम्—

दबं खेतं काळं, भीवं च भव तहा समासज । तस्म समामृहिद्दो, उद्दश्रो कम्मम्स पंचविद्दो ॥

20 ततश्च 'नाम्ति' न त्रियत एतद् यद् 'अनिदानकः' निदानमन्तरेण मोहनीयोद्भवो मवति, 'तेन' कारणेन परिहर 'निदानम्' दृष्ट्यञ्दादिरूपम् । 'ते पुनः' यञ्दादया मोहनिदानमृता

१ मा॰ विनाज्यत्र—तत्तु 'तसी॰ न॰ । तत्तत्र चस्तु मो० छे० छा० ॥ २ °यादिनि भा० ॥ २ भवं च भावं तद्दा मो०॥

द्वयोः पक्षयोः समाहारो द्विपक्षं—स्त्री-पुरुपवर्गद्वयं तिसान् द्विपक्षेऽपि मोहोद्भवं प्रति केचित् वुल्याः केचित् त्ववुल्याः ॥ १०४९ ॥ तानेवाह—

रस-गंधा तहिँ तुल्ला, सदाई सेस भय दुपक्खे वि । सरिसे वि होइ दोसो, किं पुण ता विसम वत्थुम्मि ॥ १०५० ॥

स्त्रीणां पुरुषाणां च 'तत्र' मोहोद्भवे रस-गन्धास्तुल्याः । किमुक्तं भवति 2—यथा सिन्ध- ६ मधुरादिरसेः सक्-चन्दनादिगन्धेश्च पुरुषाणामिन्द्रियाणि मोहोद्भेकभाक्षि भवन्ति तथा स्त्रीणामपीति मोहोद्भवं प्रति रस-गन्धास्तुल्याः । 'शेषान्' शब्द-रूप-स्पर्शान् 'भज' विकल्पय 'द्विपक्षेऽपि' उभयपक्षयोरि । यतः पुरुषस्य पुरुषसम्बन्धिनि शब्दे स्त्रते रूपे हृष्टे स्पर्शे च स्पृष्टे मोहोदयो भवेद् वा न वा, यदि भवेत्र तादशस्तीत्रः, स्त्रीसम्बन्धिन तु प्रायो भवत्येव तीत्रश्च जायते; स्त्रियास्तु स्त्रीसम्बन्धिषु शब्द-रूप-स्पर्शेषु गोचरमुपागतेषु मोहोद्रेको भवेद् वा न वा, यदि भवेत्र 10 तादशस्तीत्रः, पुरुषसम्बन्धिषु तु प्रायो भवत्येव तीत्रश्च भवति । तदेवं सदशेऽपि स्पर्शादौ वस्तुनि दोषो भवति, किं पुनस्तावद् 'विषमे' विसहशे वस्तुनि १ इति । यतश्चेवमतः सलोम-निर्लोमादी-न्यतुल्यनिदानानि विशेषतः परिद्वियन्ते; अत एव चात्राभिन्नमविधिमिन्नं च न कल्पते ॥१०५०॥

गतमभिन्ने महात्रतप्रच्छेति द्वारम् । मिथ्यात्वद्वारं तु सुनोधत्वाद् भाष्यकृता न भावितम् । अथ विराधनाद्वारम् अभिन्नं गृह्वतीनां निर्श्रन्थीनामात्मनो ब्रह्मव्रतस्य वा विराधना भवेत् । 15 अत्र च देच्या दृष्टान्तः । तमेवाह

चीयत्त ककडी कोउ कंटक विसप्प समिय सत्थे य । १८१८ १० पुणरिव निवेस फाँडण, किम्र समणि निरोह भ्रतितरा ॥ १०५१ ॥

एगस्स रन्नो महादेवी । तीसे कक्किंडियाओ पियाओ । ताओ अ एगो णिउत्तपुरिसो दिणे दिणे आणित । अण्णया तेण पुरिसेण अहापिवत्तीए अंगादाणसंठिया कक्किंडिया आणिता । 20 तीसे देवीए तं कक्किंडियं पासेत्ता कोतुयं जायं—पेच्छामि ताव केरिसो फासो ति एयाए पिडसिवियाए १ । ताहे ताए सा कक्किंडिया पादे वंधिउं सागारियद्वाणं पिडसिविउमाढता । तीसे कक्किंडियाए कंटओ आसी, सो तिम्म सागारिए रुग्गो । विसिप्पयं चं तं । ताहे वेज्ञस्स सिटं । ताहे वेज्ञण सिया मिह्या, तत्य निवेसाविया, उद्वेत्ता सुसियप्पदेसं चिथियं । तिम्म पदेसे तीए अपेच्छमाणीए सत्थयं उप्परामुह्धारं खोहियं । पुणो तेणेवागारेण णिवेसीविया । फोडियं । 25 पूएण समं निग्गओ कंटओ । पडणा जाया । जित ताव तीसे देवीए दंडिएण पिडसेविज्ञमा-णीए कोउयं जायं, किमंग पुण समणीणं णिच्चिणरुद्धाण भूत्तमोगीणं अभूत्तमोगीण य १ ॥

अथ गाथाक्षरार्थः — राज्ञः कस्यचिद् देन्याः कर्कटिकाः "चीयता" इति प्रीतिकराः, रुच्या इत्यर्थः । अङ्गादानाकारां च कर्कटिकां दृष्ट्रा कौद्यकमुत्पन्नम् । ततः प्रतिसेवमानायास्तस्याः कण्टकः सागारिके लग्नः । विसर्पितं च तत् सागारिकम् । ततो वैद्येन 'सिमता' कणिका तस्यां 30 मर्दितायां निवेशिता । ततः शुक्कप्रदेशे शस्त्रकः प्रक्षिप्तम् । ततः पुनरिप तथैव निवेश्य तेन शस्त्रकेण सागारिकस्य पाटने कृते पूर्येन सम कण्टके निर्गते प्रगुणीकृता । यदि तस्या अप्येवं-

विवं कोतुक्रमजनिट, कि एनः श्रमणीनां नित्रनिरोगनां सुक्तानाम् 'इतरासां वा' अस्कानाम् ॥ १०५१ ॥ इट्नेव सम्बद्धाह—

> क्रनिणाऽविहिमिन्निम्म य, गुरुगा भ्रुताण होद्द सद्करणं । इयरानि क्राउगाई, घिष्पेन सं च उड्डाहो ॥ १०५२ ॥

इल्लम्-अनितं तत्र अतिर्शितंत्र च अन्यानां चचाने गुरूनः. मुक्तमेनिनां स्मृतिक्र-एम इत्त्रानां केतुकादयो दोग मकीन । तिर्सिकाङ्गदानाकारे गृह्यमांग यक्षोड्डाहो मदित यथा 'नृत्येनेनेग एदक्से अरियदि' तिवयत्रमानि शयक्षितम् ॥ १०५२ ॥

तेन च प्रक्रमन सा पर्कमें क्रमा चिन्तर्री —

बद् नात्र पढ़ेत्रापं, सहन्यणुत्राण एरिसो फासो ।

10 कि पुण गाहालिंगण, इयरम्मि उ निह्जोच्छुंढ ॥ १०५३ ॥

यदि ताहत् प्रकटानां महत्तेन तुहानां-'णुतंत् परेग' त्रिरतान निर्ध्यः ईहडः स्र्वः, कि उत्तर्गहानिष्ट्यः ईहडः स्र्वः, कि उत्तर्गहानिष्ट्यः कि उत्तर्गहानिष्ट्यः कि उत्तर्गहानिष्ट्यः कि उत्तर्भवः वया मन्द्रेण्यः वत्-याद्रव्येन क्षिते स्ति स्र्व्यो मन्द्रिण्यानि दे इति ॥ १०५३ ॥ उत्र्वेष्ट्यं विज्ञिन्योदीयोत्रदक्तोह्नीयद्रम्भ मा हुदं क्रुणंत—

पंडिंगमणमनिनियग, निढ़े संजय मुलिंग हत्ये य ।
 नेहाणस औहाणे, एमेव अयुत्तमार्गा वि ॥ १०५७ ॥

क दित् पर्श्वसादिन्यः समागा मदेन् माडी त्रेष ग्रीमाळ्ये. अन्यनीश्विम वा सिद्ध-द्वेत्रा बाड्यमानं प्रतिस्वयेत्, संयदं वा स्पर्सायेत्, एत्रीन स्विक्वे सिना कुर्यान् । इस्तर्भ्यः वा मृण्येन्यः कुर्णान्, यद्या भिया क्रानि समानि' इति कुत्वा 'क्यद्वारं वा द्वावीय क्राज्यार-१०पाळितं शीळरूमहं सङ्ग्यामि १ इति निर्वेददूतमानसा विह्न्यसं सर्गं विद्य्यात्, अय्वा प्रक्र्याहरण्या अवप्रवनं विद्य्यान् । एति पद्यान स्क्रमोगिनां कुर्यात् । असुक्तमोगिन्य्येष-सेव कुर्यात् ॥ १०५१ ॥ शियाः प्रक्षणीति — वानीमहे वयं कीद्यस्पितिनिक्षम् १ कीद्यस्य वा विविनिक्षम् १ इति । स्रीराह्

> मिन्नम्म परवणया, उज्जुत तह चक्करी विसमकोहे । ते चेव अविहिमिन्न, अमिनें जे विनया दोसा ॥ १०५५ ॥

अमंद्रम्द्रोणित्रदेनार्थमितियन विधिना च मिक्स प्रत्या क्रियते । तत्र यत् चिर्मदादिकं विद्रायं अद्वेद्विक्त्याः रेखाः इतं तद् अद्वानिक्षम् , यत् पुर्नानिक्षम् इह्हाः क्रिक्तिकः इतं तत्र अविक्रमाः वृतं विद्रायं अद्वेद्विक्तिकाः , एते द्वे अव्यविधिक्षेत्र सन्तत्र्ये । यत् तु वेद्धाः इत्या पुनः स्वद्यास्त्रद्वातः गिर्दिः स्ववैद्यानेक्विक्तित्वा तथा इतं यथा मृत्यत्रद्वातः अतु न पर्यते तद्विविधं विष्मञ्जतः विश्वस्त्रव्यतः, विष्मे —पुनन्याक्तिम्यक्षेः कृष्टेः —स्वद्यत्विद्विक्तिनित्व स्वद्वतेः । एतः विदिन्तित्व । यत्र चित्रविधिनेते त एव दोता द्रष्ट्या येद्रमित्रे द्वीद्यत्तेन वर्तिनाः ॥ १०५५ ॥ क्रम् १ इति चेद् स्वयते—

र फ़रियों मों है । २ 'कारि में मनाति' नि कर्ष किंदा बहुई कर्ष ? ति वेहा में करें हैं, बहुदर्गमें करें । 'क्षिट्रका मि' नि कर्ष केहरका, बसकर्ज ति मांगते होते" ही सूर्णी ।

कहेण व सुत्तेण व, संदाणितें अविहिभिनें ते चेव। सविसेसतर व्य भवे, वेडव्यियश्चत्तइत्थीणं ॥ १०५६ ॥

'काष्ठेन वा' शलाकादिना 'सूत्रेण वा' दवरकादिना 'सन्दानिते' सङ्घातिते पूर्वाकारं स्थापिते इत्यर्थः, अविधिभिन्ने त एव दोषा ज्ञातन्या येऽभिन्ने भणिताः । सविशेषतरा वा भवेयुः, कथम् ? इत्याह—'विकुर्वितं' वेण्टकाद्याभरणेनालङ्कृतं यदङ्गादानं तेन याः स्त्रियो भुक्तपूर्वास्तासां प्रत्र- 5 जितानां तत्र काष्टादिसन्दानितप्रलम्बे विकुर्विताङ्गादानकरुपे दृष्टे समधिकतरा दोषा उपढौकन्ते (ग्रन्थायम्— ४०००) ॥ १०५६ ॥ अथार्थतः कारणिकं सूत्रमुपदर्शयन्नाह—

विहिमिन्नं पि न कप्पइ, लहुओ मासो उ दोस आणाई। तं कप्पती न कप्पइ, निरत्थमं कारणं किं तं ॥ १०५७ ॥

यदिप सूत्रे विधिभिन्नमनुज्ञातं तदिप न कल्पते । यदि गृह्धन्ति ततो मासलघु आज्ञादयश्च 10 दोषाः । आह ननु सूत्रे भणितं 'तद्' विधिभिन्नं करुपते 2 गुरुराह—यद्यपि सूत्रे अनुज्ञातं तथापि न कल्पते । यद्येवं तर्हि निरर्थकं सूत्रम्, नैवम्, कारणिकं सूत्रम्। आह किं पुनः तत् कारणं यदद्यापि नाभिधीयते ।। १०५७ ॥ उच्यते, ब्रमः-

> गेलनऽद्धाणोमे, तिविहं पुण कारणं समासेणं। गेलने पुन्वुत्तं, अद्धाणुवरिं इमं ओमे ॥ १०५८ ॥

15

20

25

ग्लानत्वम् अध्वा अवमोदैर्थम्, एतत् 'समासेन' सह्वेपेण त्रिविधं कारणम् । तत्र ग्लानत्वे इहैव प्रलम्बप्रकृते "विजे पुच्छण जयणा" (गा० १०२७) इत्यादि पूर्वोक्तं द्रष्टव्यम् । अध्वनि तु 'उपरि' अध्वसूत्रे इहैवोद्देशके मणिप्यते । 'इदम्' अनन्तरमेव वक्ष्यमाणम् अवमे द्रष्टव्यम् ॥ १०५८ ॥

निग्गंथीणं भिन्नं, निग्गंथाणं च भिन्नऽभिन्नं तु । जह कप्पइ दोण्हं पी, तमहं चोच्छं समासेणं ॥ १०५९ ॥

निर्श्रन्थीनां नियमाद् विधिना पष्टे भन्ने भिन्नम्, निर्श्रन्थानां च चतुर्थ-तृतीययोर्भक्तयोर्भिन-मिन्नं वा, यथा द्वयोरपि वर्गयोः कल्पते तदहं वक्ष्ये समासेन ॥ १०५९ ॥

यथाप्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति---

ओमिम तोसलीए, दोण्ह वि वग्गाण दोसु खेत्रेसु । जयणहियाण गहणं, भिनाऽभिनं व जयणाए ॥ १०६० ॥

अवमकाले साधवः साध्व्यश्च तोसलिविषयं गत्वा स्थिताः । तत्र द्वाविष वर्गी द्वयोः क्षेत्रयोः स्थितौ, एकसिन् क्षेत्रे सयता द्वितीयसिन् संयत्य इत्यर्थः । तथा यदुत्सर्गत एकत्र क्षेत्रे मिलितौ नावतिष्ठेते एषेव यतना तया स्थितौ यतनास्थितौ, यद्वा साधु-साध्वीप्रायोग्यं विधि प्राहियत्वा यो स्थितो तो यतनास्थितो, तयोरेवंस्थितयोः 'यतनया' वक्ष्यमाणया मिन्नस्यामिन्नस्य वा अहणं ³⁰ कल्पते ॥ १०६० ॥ आह कोऽयं नियमो येन तोसलेरेव ग्रहणं कृतम् व उच्यते---आणुग जंगल देसे, वासेण विणा वि तोसलिग्गहणं।।

१ °द्र्यस् इति 'समाः मो॰॥

पार्य च नत्य वाज़िन, पउन्पलंबो उ असी वि ॥ १०६१ ॥

देशो द्विया—अनुगे व्हरुख । तंशदिणतीयब्हुलेडन्गः, उद्विग्रीतो वहन्तः निर्वेष्ठ इत्यथः । यद्वा अनुगे अवहन्त इति पर्यथे । उत्रायं नीमिस्टिकेशे यदे।ऽनुगे यद्वक्षात्मिन् देशे इपेंग विताऽित सार्गापानीयेः सस्तिप्यतिः; असं च 'तत्र' नीमिस्टिके 'प्रायः' बाहुक्येन वर्गेति इस्तोऽित्यानीयेन विनष्टेषु परसेषु प्रक्षियमोगो सब्तिः अन्यव नीमिस्टिः प्रद्वाग्यक्यः, तत्र पतिः आरोभनोमिस्टिब्रह्णं इतम् । अन्योऽित य देह्याः प्रद्वाग्यक्यन्त्वाग्येष एव विविः ॥ १०६१ ॥

पुज्य सहु-मीयपिन्से, चउमंगे पहमए अणुनाओ । सेम तिए नाणुना, गुन्ना परियहूपे वं च ॥ १०६२ ॥

"मुन्न्य" नि शिक्रः प्रकाति—गहुक्तं सर्गोद्धः "हुगेर्श्वरोगे" देनह्रेयं सिन्गोः" (गाट 10 १०६०) ह्यादि तन संग्नां प्रक्रिये स्पितां क्राणां नेतुं हु हुन्ने सर्गत, होण्डाँध-सक्ष यूर्यं प्रक्रिते स्वारक्ष, यन्त्र होताः सम्वद्धक्ते नन् प्रेलवनां नोपन्तुमुन्नित्त्, प्रक्रिते चन्न प्रव्याः प्रवानमा प्रजानमा एका एवं, अतः प्रयंतुपुत्वते कि प्रावितित्त्र्यः संग्र्यः हुन्त न हित्। गुल्तह—नाम्यत्र कोऽदि नियमो यह्वव्याने परिवर्त्त्रित्त्र्याः न नितः ग्रितं प्रवान्य न्यायतः परिवर्त्त्रयत्त्र नेति स्वान्यत्वातः परिवर्त्त्रयत्त्र होन्द्रमानस्थात्र म् सन्ति । तर्हे कीह्रोन परिवर्त्त्रयत्तः परिवर्त्त्रयत्त्र होन्द्रमानस्थात्र म् सन्ति । तर्हे कीह्रोन परिवर्त्त्रयत्तः हित्यु-रिवर्त्वयति नतो सह्यसीह्युनिय्यत्ते हीन्द्रमानस्थात्य म् सन्ति । तर्हे कीह्रोन परिवर्त्त्रयत्त्रयाः हित्युन्ति परिवर्त्ते परिवर्त्त्रयत्ति परिवर्त्त्रयत्ति परिवर्त्त्रयत्ति हित्यान् सित्यप्ति परिवर्त्ति परिवर्त्ति परिवर्त्ति परिवर्त्ति हित्यान् सित्यप्ति हित्यान् सित्यप्ति हित्यान् सित्यप्ति हित्यान् सित्यप्ति हित्यान् सित्यप्ति हित्यान् सित्यप्ति हित्य सित्यप्ति हित्य सित्यप्ति हित्य सित्यप्ति हित्य क्रिक्त्यत्व स्वयस्ति हित्य स्वयस्ति हित्यान्य निवर्त्ति हित्य सित्यप्ति हित्य सित्यप्ति हित्यप्ति हित्यप

जह पुण पत्र्वांबेनी, जावळीवाऍ नाउ पानेह ।

असामित क्रयं ति हु, गुल्गा सं निज्ञग विद्या ॥ १०६३ ॥ यदंग्लम्हुसमं, त्त्रक्षायमयं:—ताः प्रयमते। दि यत्त्रतः प्रवाहणितं न क्ल्यने । यदि पुतः प्रवाहणितं तते यणेकिविन्ता गर्व्यादं ताः पण्यित्, योग-श्मिविष्तं स्म्यत् निर्वाहण्यंः । य प्रणमक्षत्रत्रीं यदि जित्रक्लं प्रतिरिक्तः अमं चाऽऽवित्रः पांत्वर्रित्रत्याः शवतः विक्रित्ते वित्रत्यां यणेन तदीयं गच्छे काष्ट्रयार्थिक्तामां विविना वर्त्तात्रक्तस् सम्यं जित्रक्लं प्रतिरण्याम् , अप नाम्यन्ये वर्ताप्त्रस्त्रावं म जित्रस्त्रप्रतिनित्रस्ते क्लेत् किन्तार्थं प्रतिरण्याम् , अप नाम्यन्ये वर्ताप्त्रस्त्र अपित-अपोव जित्रक्लं प्रतिरण्याने व्हार्थे इत्याह्—अन्यस्त्र वर्ताप्त्रस्य अपित-अपोव जित्रक्लं दि प्रतिप्रयमेने व्हार्थे चत्रस्त्रस्त्र प्रतिप्रयमेने व्हार्थे चत्रस्ते प्रतिप्रयमेने व्हार्थे चत्रस्ते प्रतिप्रयमेने व्हारं प्रविष्णमेने व्हारं प्रविष्णमेने व्हारं प्रकृते चत्रस्ते प्रकृते । आह स्वरूक्तमंद्रपाद्ग्लाकारंगे जित्रक्लंदिन

Б

प्रतिपद्ममाने किमेवं प्रायिश्वत्तम् ? इत्याह—'यद्' यसात् कारणाद् जिनकरुपं प्रतिपन्नस्य या निर्जरा तस्याः सकाशाद् विपुला निर्जरा यथावत् संयतीः परिपालयतो भैवतीति युक्तियुक्तमेव प्रायिश्वत्तम् ॥ १०६३ ॥ अथ ''जयणिहयाण गहणं'' ति (गा० १०६०) यदुक्तं तत्र यया यतनया स्थितास्तामाह—

उभयगणी पेहेरं, जिहें सुद्धं तत्थ संजती णिति।

असती व जिंह मिना, अभिनें अविही इमा जयणा ॥ १०६४ ॥

उभयः—साधु-साध्वीवर्गद्वयरूपो गणोऽस्यास्तीत्युभयगणी, स आचार्योऽवमकाले तोसिलप्रभृ-तिके प्रचुरप्रलम्वे देशे गत्वा गीतार्थेनाऽऽत्मना वा क्षेत्रद्वयं प्रत्युपेक्ष्य ययोः शुद्धं भक्तं रूभ्यते न प्रलम्बमिश्रितमित्यर्थः तयोः क्षेत्रयोः पृथग् द्वाविष वर्गौ स्थापयित । यदि द्वे क्षेत्रे ईदृशे न सस्ततो यत्र शुद्धं भक्तं प्राप्यते तत्र संयतीः 'नयित' स्थापयित, यत्र पुनः प्रलम्बमिश्रितं तत्रा-10 ऽऽचार्या आत्मना तिष्ठन्ति । अथ नास्ति सर्वथा निर्मिश्रमक्तक्षेत्रं ततो यत्र प्रलम्बमिश्रितं भक्तं रूभ्यते तत्र साध्वीः स्थापयन्ति, स्वयं तु निर्मिश्रप्रलम्बक्षेत्रे तिष्ठन्ति । अथ सर्वेष्विष क्षेत्रेषु निर्मिश्रप्रलम्बानि प्राप्यन्ते ततः "असद्" ति प्रलम्बमिश्रस्यामावे यत्रं विधिमिन्नानि प्राप्यन्ते तत्र संयत्यः स्थापनीयाः, स्वयं पुनरमिन्ना-ऽविधिमिन्नक्षेत्रे तिष्ठन्ति । अथ सर्वेष्विप क्षेत्रेष्विमन्नान्य-विधिमिन्नानि वा प्राप्यन्ते तत इयं यतना कर्त्तव्या ॥ १०६४ ॥ तामेवाह—

> ं मिन्नाणि देह भित्तूण वा वि असति पुरतों सि भिंदंति । ' ं ठाविति ताहें समणी, ता चेव जयंति तेसऽसती ॥ १०६५ ॥

यत्र क्षेत्रे संयतीः स्थापियतुकामास्तत् क्षेत्रं साधवः पूर्वमेवेत्थं भावयन्ति—यदा गृह्स्थैः प्रलम्वान्यानीतानि भवन्ति तदा साधवो भणन्ति—यानि भिन्नानि तान्यसभ्यं दत्त । अथ न सन्ति भिन्नानि, सन्ति वा परं स्तोकानि, तैश्च संस्तरणं न भवतीति परिभाव्य साधवो भणन्ति—20 असभ्यमेतानि भिन्त्वा प्रयच्छत्, न कल्पन्तेऽसाकमीहशानीति । अथ ते गृहस्थाः 'यदि रोचते तत्त ईहशान्येव गृह्णीत' इत्युक्त्वा अभिन्नान्येव प्रयच्छन्ति ततः 'असति' अभावे ''सिं'' ति तेषां गृहस्थानां पुरतस्तानि प्रलम्बानि भिन्दन्ति भिन्त्वा च गृह्णन्ति । एवंविषीयमाने गृहस्थानां चेतिस गाढतरं निश्चय उत्पद्यते, यथा—नृतं न कल्पन्ते अमीषामिन्नानीति, ततस्ते भिन्नान्येव प्रयच्छन्तीति । एवं यदा तत् क्षेत्रं भावितं भवति तदा तत्र श्रमणीः स्थापयन्ति । 'तेषां' संय-25 तानाम् 'असति' अभावे व्याप्टतेषु वा तेषु कापि प्रयोजनान्तरे 'ता एव' संयत्यो यास्तत्र स्थवि-रास्ता एवमेव यतन्ते ॥ १०६५ ॥

भिनासित वेलातिकमे व गेण्हंति थेरिया भिन्ने । प्रतिकारित वारे भिन्न अतिति व, ठाणासित भिंदती गणिणी ॥ १०६६ ॥

विधिना भिन्नानामसति, यावद् वा गृहस्थैर्भेदयन्ति आत्मना वा यावत् तत्र भिन्दन्ति तावद् 30 वेलातिक्रमो भवति, ततो याः स्थविराखा अभिन्नानि अविधिभिन्नानि वा यास्तु तरुण्यखा विधिभिन्नानि गृह्णन्ति । ततः प्रतिनिवृत्ताः स्थविरा अभिन्ना-ऽविधिभिन्नान्युपाश्रयद्वारे भिन्त्वा

१ भविष्यतीति हे॰ त॰ ॥

विविभिन्नानि कृत्वा वसितम् 'अतियान्ति' प्रविशन्तीत्पर्यः । अय विहः स्थानं नास्ति ततः स्थानस्य 'असित' अमावे 'गणिनी' प्रवर्तिनी तस्यान्तानि ममर्प्यन्ते, ततः सा गणिनी तानि 'मिनित्ते' विविभिन्नानि करोतीत्पर्यः, कृत्वा च तरुणीनां समुद्देष्टं दवति ॥ १०६६ ॥ आह किं कारणं तरुणीनां प्रतिग्रहीतु समुद्देष्टं वा अभिन्ना-ऽविविभिन्नानि न दीयन्ते ? उच्यते—

कक्खंतरुक्यवेगच्छियाइस् मा हु णूमए तरुणी।

'तो भिनं छुमति पाँडरगहेमु न य दिख्जए सयलं ॥ १०६७ ॥ कक्षाया अन्तरं कक्षान्तरम् , "डक्लो" चि परिघानवकेकडेगः, आह च निशीयचृणिकृत्— परिघाणवत्यस्स अठिमतरचूलाए उविरकण्णो नामिहेहा उक्लो मण्णह् ॥

वैकक्षिकी—संयतीनामुपकरणविद्योपः, एतपु आदिशब्दादन्यसिक्षपि वन्नान्तरे तरुणी "मा 10 णूमए" ति "छदेर्णेर्णुम-णूम०" (सिद्ध० ८—४—२१) इति प्राकृतल्खणाद् मा च्छादयेत् । ततो मिक्षाग्रहणकाले तस्याः प्रतिग्रहेषु मिन्नं प्रक्षिप्यत, न च 'सकल्प्' अमिन्नमविधिमिन्नं वा तस्या मोजनकाले दीयते ॥ १०६७ ॥

एवं एसा जयणा, अपरिगाहिएसु होह खेत्तसु ।

तिविहें हिं परिग्गहिए, इमा उ जयणा नहिं हो हा। १०६८।।

15 एवम् 'एपा' अनन्तरोक्ता यतना अपरिगृहीतपु क्षेत्रपु कर्चव्या मत्रति । 'त्रिविधः' संयत-संयती-तदुमेथेः परिगृहीत ''द्मा'' वक्ष्यमाणा यतना तत्र क्षेत्र मवति ॥ १०६८ ॥ इदमेव स्फटतरमाह—

पुत्र्वोगहिए खेंच, तिविहेण गणेण जद्द गणी तिविहो । एखाहि तयं खेचं, ओम जयणा तिहं का णू ॥ १०६९ ॥

20 'त्रिविचेन' संयत-संयती-तद्दु सयरूपेण गणेन त्रिविचस्य वाडन्यतरेण पूर्वमवगृहीते क्षेत्र यदि त्रिविच एव गणो अवसकाले असंन्तरम् तक क्षेत्रम् 'एयात्' आगच्छेत्, ततस्त्रेपामागतानां स्वातन्त्रे वास्त्रत्यानां वा अवग्रहे टातन्त्रे का 'नुः' इति वितर्के यतना शा१०६९॥ अत आह—

आयरिय-त्रसम-अभिसेग-भिक्खुणो पेछ लंमे न य देंति । गुरुगा दोहि विसिद्धा, चउगुरुगाद व्य ना लहुगो ॥ १०७० ॥

25 यन् संयतपरिगृहीतं क्षेत्रं तदेषामन्यतरेण परिगृहीतं भवत् । तद्यथा—आचार्येण वा वृप-मेण वा अमिपेकेण वा मिक्षणा वा । ये आगन्तकानेऽप्येवमेव चत्वारा द्रष्ट्रच्याः । संयत्योऽपि वान्तच्याः आगन्तकाश्चेवमेव चतुर्विचाः । नवरमाचार्यस्थाने प्रविर्तता वृपमस्थाने गणावच्छेदिनी वक्तव्या । अत्र चाऽऽचार्यः प्रसिद्धः । टपाच्यायो वृपमानुग इति कृत्वा वृपम उच्यते । यः

[?] तासि न छुमंति पिंडि॰ मा॰। एतमाञ्च गरंणव मा॰ सुन्तरे स्तिवनेते। दस्त्रा टिप्पणी २॥ २ तरुण्यः 'मा ण्मण्' नि ''छदेणेंर्णुम-ण्मण्" (सिंडि॰ ८-४-२१) इति प्राकृतलस्-णाद् मा च्छाद्येयुः, तत पत्तेन कारणेन मिस्राग्रहणकाले 'तासां' तरुणीनां प्रतिष्रदेषु 'सकलम्' अभिन्नमित्रियिन्नं या न स्रिपन्ति न या तासां मोजनकाले दीयते मा॰ सुत्तके॥ २ °हेसु परि॰ ता॰॥

पुनरित्वराभिषेकेणाऽऽचार्यपदेऽभिषिक्तः स^{*}इहाभिषेकः, अथवा गणावच्छेदक इहामिषेकः। शेषा सामान्यसाधवो भिक्षवः । एतेपा चेयं चारणिका--आचार्यपरिगृहीते क्षेत्रे यदन्य आचार्य आगतो यदि च स वास्तव्य आचार्यः क्षेत्रे पूर्यमाणे भक्त पाने वा लभ्यमाने आगन्तुकस्य स्थातुं न ददाति तदा चत्वारो गुरवः, अथ न पूर्यते क्षेत्र स चागन्तुको वलात् प्रेयं तिष्ठति तस्यापि चतुर्गुरुकाः, एतच प्रायिश्वतं तपसा कालेन च द्वाभ्यामपि गुरुकम्; स एव वास्तव्यक आचार्यो ह वृपभस्यागन्तुकस्य न ददाति वृपभो वा बलात् तिष्ठति उभयोरिप चत्वारो गुरुकाः तपसा गुरवः कालेन लघवः; स एव वास्तव्य आचार्योऽभिषेकस्यागतस्य स्थान न दढाति स वा अभिषेको वास्त-व्यमाचार्थमवगणय्य तिष्ठति उभयत्रापि चतुर्गुरु तपसा छघु कालेन गुरुकम् ; स एव वास्तव्य भाचार्य भागन्तुकस्य भिक्षोरवस्य तुं न प्रयच्छति स वा भिक्षुर्वास्तव्यमाचार्यं वलादवज्ञाय तिष्ठति द्वयोरिप च चत्वारो गुरवस्तपसा कालेन च लघवः । एवमाचार्ये पूर्वस्थिते भणितम् । एवं वृषभा-10 Sभिषेक-भिक्षुभिरिष पूर्वस्थितैः प्रत्येकं चत्वारो गमाः कर्त्तव्याः, प्रायश्चित्तमप्येवमेव तपः-काल-विशेषितम् । एवमेते सर्वसङ्खया पोडश गमाः । अथवैतेप्वेव पोडशसु गमेषु प्रायश्चित्तपरू-पणायामयमादेशः---''चडगुरुगादि व जा लहुगो'' त्ति अस्य भावना--आचार्य आचार्यस्यागतस्य स्थातुं न ददाति आगन्तुको वा प्रेरयति द्वयोरिप चत्वारो गुरवः उभयगुरुकाः । आचार्यो चृष-भस्य न प्रयच्छति वृपभो वा वलात् तिष्ठति चतुर्लघवः तपसा गुरुकाः । आचार्य एवाभिषेकस्य 15 न ददाति अभिषेको वा वलात् प्रेरयति मासगुरु कालेन गुरु। आचार्यः सामान्यभिक्षोरायातस्य स्थातु नानुजानीते आगन्तुको वा भिक्षुर्वलादेवावतिष्ठते मासलघु उभयलघुकम् । एवं दोषेप्विप द्वादशसु गमेषु चतुर्गुरुकादिकं लघुमासान्तं तपः-कालविदोषितमेवमेव प्रायश्चित्तम् ॥ १०७० ॥ तदेवं संयतानां सयतैः सह चार्राणकया पोडश विकल्पा उक्ताः । अथ शेपविकल्पप्रदर्शनायाह—

एमेव य भयणा वी, सोलिसया एकमेक पक्लिमा। उभयम्मि वि नायन्वा, पेळमदेते व जं पावे ॥ १०७१॥

एवमेवैकैकिसन् पक्षे पोडिशका 'भजना' भक्तरचना कर्त्तव्या। यसादुमयरूपो गणो न भवति किन्तु केवल एव संयतपक्षः संयतीपक्षो वा स एकैकपक्षोऽभिषीयते। तत्र संयतानां संयतैः सह प्रथमा पोडिशभिक्षी, सा च सप्रपञ्च भाविता। अथ सयतीभिः परिगृहीते क्षेत्रे अपराः संयत्यः समागच्छिन्त तत्रापि प्रवर्त्तिनी-गणावच्छेदिन्यभिषेका-भिक्षुणीरूपाणां चतुर्णी पदानां चारणिकां कुर्वाणैरेवमेव पोडिश भक्षा रचित्रव्याः, प्रायिश्चित्त चादेशह्रयेनापि तपः-कालिवशिपितं तथेत्र वक्तव्यम् । एपा द्वितीया पोडिशभिक्षी । एवं सयतानां चतुर्विधानां पूर्व स्थतानां सयतीभिः चतुर्विधामिरागच्छिन्तिभिरेवमेव तृतीया पोडिशभिक्षी । सर्वतिद्वया जाता भक्षानां पूर्व स्थतानां सयतैश्चितिघोगच्छिन्तिभिरेवमेव तृतीया पोडिशभिक्षी । सर्वसद्वयया जाता भक्षानां चतुःपष्टिः । एते च केवलसंयत- ३० सयतीपक्षचारणिकया ल्राचाः । अथोभयपक्षमाधक्रत्याह—"उभयिम वि नायव" ति उभय-शिव्देनोभयगणाधिपतिः परिगृह्यते, तत्राप्येवमेव भक्षरचना ज्ञातव्या। तथाहि—चतुर्विधोभय-गणाधिपतिः परिगृह्यते क्षेत्रे चतुर्विधेरेवागन्तुकसयतैरागच्छिः पूर्वोक्तनीत्येव पोडिश भक्षा ,

20

तथा तेरेव परिगृहीते प्रवर्तिन्यादिगेदात् चतुर्विधाः संयत्यो यद्यागच्छेयुस्तदाऽपि पोडम मङ्गाः, चतुर्विधेषु तदुमयगणाधिपतिषु पृत्रेस्थितेषु चतुर्विधानामेवोभयगणाधिपतीनामागमनेऽप्येवमपि पोडम मङ्गाः, चतुर्विधसंयतेषु पृत्रेस्थितेषु चतुर्विधा उभयगणाधिपताय आगच्छेयुः अञ्चापि पोडम मङ्गाः, एवं चतुर्विधसयतीषु चतुर्विधानामेवोभयगणाधिपतीनामागमने पोडम मङ्गाः । एवमेताः पञ्च पोडममङ्गयः सञ्जाताः, पञ्चमिश्च पोडममङ्गीमिर्छ्या मङ्गानामग्रीतिः । एपा चोमयगण-विषया मङ्गकानामग्रीतिः पृत्रोक्त्रयेकैकपञ्चविषयया भङ्गकचतुःपष्टा सह मील्यते जातं चतुश्च-त्वारिंगं यतं मङ्गानाम् । प्रायश्चित्तं च सर्वत्र प्राग्वद् द्रष्टव्यम् । "पृष्टमदिते य चं पावे" ति एनत् पदं सर्वमङ्गानुपाति प्रतिपत्तव्यम् । अपृर्थमाणे क्षेत्रे आगन्तुका यदि वलात् प्रेयं तिष्टन्ति ततो वास्तव्या निर्गच्छन्तो अवमाद्र्यसमुख्यामात्म-सयमित्राधनां यत् प्रामुवन्ति तिन्नपत्रं प्रायश्चित्त-10 मागन्तुकानाम् । अथ वास्तव्याः पृर्थमाणे क्षेत्रे आगन्तुकानां स्यातुं न ददित ततो यद् आगन्तुका विद्यन्तो भक्तादिक्रमरूममाना विराधनां प्रामुवन्ति तिन्नपत्रं वास्तव्यानामापद्यते ॥१०७१॥ आह यद्येवंकुर्वतामेतावत् प्रायश्चित्तकद्रम्वक्रमुपद्यकते तर्वि साम्प्रतं स्वपक्षस्य दूरं दूरेणेव स्थातुं युक्तम्, अञोच्यते—

चउवग्गो वि हु अच्छड, असंयराऽऽगंतुगा य वचंतु । वत्यव्या व असंयरें, मोत्तु गिलाणस्स संघाढं ॥ १०७२ ॥

'चतुर्वर्गः' नाम वाल्य्याः संयताः संयत्यश्च आगन्तुकाः संयताः सयत्यश्च । एते चतारो-ऽपि वर्गा एकसिन् क्षेत्रं यदि संसरित तिर्दि तिष्टन्तु न कोऽपि परस्परं मत्मरः कर्त्वयः । यदि संसरणं न भवति तन आगन्तुका व्रज्ञन्तु । अथागन्तुकमटकं तत् क्षेत्रमागन्तुका वा अदेशिका अखेटज्ञा वा ततो वाल्य्या आत्मनन्त्रपां वा असंस्तरणं निर्गच्छन्ति । एवमागन्तुका वास्त्रव्या २०वा ये निर्गच्छन्ति तेषां यदि कश्चिद् ग्लानो मवेन् ततो ग्लानः ससङ्घाटकित्तिहित, तं मुक्ता रोषाः सर्वेऽपि गच्छन्ति ॥ १०७२ ॥

> एमें संजर्शं, ब्रही-तरुणीण जुंगितकमाई । पायादिविगल तरुणी, य अच्छए ब्रह्विओ पेसे ॥ १०७३ ॥

'ण्वमेव' संयतवत् सयर्गानां निर्गमनिविधरिमयातच्यः, परमत्र द्विक्रमेटः कर्तच्यः । कथम् ? १०० इत्याह—मृद्धानां तरुणाना च मय्ये यदि निष्पत्यपाय ततत्तरुण्यो गच्छन्ति मृद्धा आसते । तथा जुिक्तितानामजुिक्कितानां च जुिक्कितात्तिष्टम्ति अजुिक्किता त्रजन्ति । जुिक्किता द्विविधाः—जाितिजु-क्विताः शर्रारजुिक्किताश्च । तत्र जाितिजुिक्किता गच्छन्ति शरीरजुिक्किताः पादादिविक्छात्तेत्रवाऽऽ-सते । तरुण्योऽपि यदि समत्यपायं मार्गाटा ततन्त्रत्रवाऽऽसते मृद्धाम्तु प्रयमेत् ॥ १०७३ ॥

एवं नेसि टियाणं, पत्तगं वा वि अहव मिस्साणं।

ञोमिन्म असंथरण, इमा उ जयणा जिहं पगर्य ।। १०७४ ॥ 'ण्वम' अनन्तरोक्तपकारेण 'तेषाम्' आचार्यादीनां तत्र क्षेत्रे 'प्रत्येकं वा' एकतरवर्गरूपेण

र का अपि सं° मो॰ ॥

25

'मिश्राणां वा' द्विवर्ग-त्रिवर्ग-चतुर्वर्गरूपतया स्थितानां अवमकाले असंस्तरणे इयं यतना यस्या-मिदं प्रलम्बसूत्रं प्रकृतम् ॥ १०७४ ॥ तामेवाह——

> ओयण-मीसे-निम्मीसुवक्खंडे पक्क-आम-पत्तेगे । साधारण सम्मामे, परगामे भावओ वि भए ॥ १०७५ ॥

ओदनं १ मिश्रोपस्कृतं २ निर्मिश्रोपस्कृतं ३ पकं ४ आमं ५ प्रत्येकं ६ साधारणं ७, एतानि ⁵ सप्तापि यथाक्रमं प्रथमं खप्रामे ततः परग्रामे ग्रहीतन्यानि । भावतोऽपि यान्यभिन्नानि तान्यपि यतनापरिपाटिप्राप्तानि 'भजेत्' सेवेत गृह्णीयादित्यर्थ इति द्वारगाथासमासार्थः ॥ १०७५ ॥

अथ प्रतिद्वारं विस्तरार्थमिभिष्तसुरोदनद्वारमाह-

बत्तीसाई जा एक घास खवणं व न वि य से हाणी। आवासएसु अच्छउ, जा छम्मासे न य परुंवे॥ १०७६॥

ओदनस्य द्वात्रिंशत् कवलाः पुरुषस्य प्रमाणप्राप्त आहारः । यदि ते एकेन कवलेन न्यूनाः प्राप्यन्ते ततस्तिरेव तिष्ठत्व, यदि 'से' तस्य साधोः 'आवश्यकेषु' अवश्यकृत्ययोगेषु हानिः 'नापि' नैव भवति न च प्रलम्वानि गृह्णात्व । एवं द्वाभ्यां कवलाभ्यां न्यूना द्वात्रिंशत् कवला लभ्यन्ते तैस्तिष्ठत्व यदि तस्यावश्यकयोगा न परिहीयन्ते । एवभेकेकं कवलं परिहापयता तावद् वक्तव्यं यावद् यधेकः 'ग्रासः' कवलः प्राप्यते ततस्तेनेवास्ताम्, यदि तस्यावश्यकयोगा न परिहीयन्ते मा 15 च प्रलम्बानि गृह्णात्व । अथैकोऽपि कवलो न प्राप्यते तत एकं दिवस 'क्षपणम्' उपवासं कृत्वा आस्ताम्, द्वितीये दिवसे द्वात्रिंशत्कवलेः पारयत्व । यदि तावन्तो न लभ्यन्ते तत एकेककवल-परिहाण्या तावद् वक्तव्यं यावद् यधेकोऽपि कवलो न लब्धस्ततः षष्ठं कृत्वा समाधिसौधमध्यास्ताम्, षष्ठस्य च पारणके प्रमाणप्राप्तमाहारमुपादत्ताम् । अथ न लभ्यते ततः पूर्वोक्तयुक्त्या यावदेकोऽपि कवलो न लभ्यते ततः पूर्वोक्तयुक्त्या यावदेकोऽपि कवलो न लभ्यते ततोऽप्रमं कृत्वा तिष्ठतु मा च प्रलम्बान्याददीत । एवमनयैव दिशा 20 वशमादिकमुत्तरोत्तरक्षपणं वर्द्वयता तावद् नेतव्यं यावत् पण्मासक्षपणम् । अथ पण्मासक्षपणे धर्मा-वश्यकयोगाः परिहीयन्ते तत एकदिनन्यूनं पण्मासक्षपणं करोतु । तदिप न शक्तोति निर्वोहं तत एकेकं क्षपणं परिहापयता तावद् वक्तव्यं यावदेकमिप क्षपणं कर्जु न शक्तोति ॥ १०७६ ॥

ततः किं करोति ? इत्याह—

जावइयं वा स्टमइ, सम्मामे सुद्ध सेस प्रमामे । मीसं च उवक्खिडियं, सुद्धज्झवपूरमं गेण्हे ॥ १०७७॥

वाशब्दः पातनायाम्, सा च कृतैवेति । यावत् शुद्धोदनं खम्रामे रूम्यते यदि तावता नं संस्तरित ततो यावता न्यूनं तावत् परम्रामात् 'शेषं' शुद्धोदनमानयित । गतमोदनद्वारम् । अध मिश्रोपस्कृतद्वारमाह—''मीसं च'' इत्यादि । यदा खम्राम-परम्रामयोः पर्याप्तं शुद्धोदनं न माप्यते तदा यद् ओदनं मरूम्वेर्मिश्रमुपस्कृतं तत् शुद्धोदनस्याध्यवपूरकं गृह्णिति ॥ १०७७ ॥ ३०

इदमेव विशेषयन्नाह—

तत्थ वि पढमं जं मीसुवक्खडं दन्व-भावती भिन्नं।

१ °यन्ते, न च प्रलस्वानि गृहीताम् । एव° भा॰ ॥ २ °को लम्बनः कवलः भा॰ ॥

द्व्यामिनविमिस्नं, नस्मऽनि उत्रक्षपडं ताह ॥ १०७८ ॥

'तन्नापि' मिश्रोपस्कृतं गुरामाण यथमं यद् इत्यतो मात्रत्थ मिन्नः प्रकृतेमिश्रमुगस्कृतं तत् स्वज्ञाम-पर्ज्ञामयोग्रीहाति । तस्तापि 'असति' अञ्चमे यद् ओद्तं द्रव्यतोऽमिन्नमीवता मिन्नः प्रक स्वैविमिश्रमुपस्कृतं तत् तदा ग्रुहोदनस्याध्यतपूर्कं प्रथम स्वज्ञामे ततः पर्ग्रामे गृहाति ॥१०७८॥

गतं मिश्रोपम्हतम् । अय निर्मिश्रोप्रम्हतमाह —

पणगाइ सामपत्तो, ताहे निर्मासुबक्खर्ड भिन्नं । निर्माम उबक्खिडयं, गिण्हति ताहे ततियमंगे ॥ १०७९ ॥

येषु मृक्ष्मप्राभृतिकादिद्रोषेषु पञ्चक्रपायश्चित्त तेषु आदिश्चित्रह् दश्चगित्रित्वदिस्यानेषु च यतित्वा यदा भित्रमासमितिकान्तो छष्ठमासं च प्राप्तो मवित तदा यद् द्रव्यतो मावतश्च भित्रं 10 निर्मिश्चं प्रचन्नजातसुपम्कृतं तत् शुद्धोदनस्य भिश्चोपम्कृतस्य चाध्यवपृग्कं स्वयाम-पर्णामणेर्गृहाति । यदा चरममक्ते न जम्यते तदा निर्मिश्चोपम्कृतमेव तृतीयमक्ते द्रव्यतोऽभिन्नं गृहाति ॥१०७९ ॥

गतं निर्मिश्रोपस्तृतम् । अय पक्रनामं च व्यान्यानयति—

एमेव पडिलियाऽपडिलए य चरिम-नह्या मन्ने मंगा। खोसहि-फलमाईमुं, जे चाऽऽईसं नगं नेयं॥ १०८०॥

15 एतमेव पहा-८पञ्चोश्चरम-नृतियो मही सवतः । एकं नाम यह अभिना संस्कृतम्, यथा ह्रहुर्वार्वात-विच्वादि । अपकं यह अभिना८न्येन वा इन्वर-धृनादिना प्रकृतिण न एकं एरं निर्जी-वावस्यम्, यथा परिपञ्चकद्वित्तत्व-त्रपुपादि । तत्र निर्मिश्चोपस्कृतस्यात्रामे प्रथमं एकं चतुर्धमके ततस्तृतियमके, तत्वोऽपञ्चमपि चतुर्थ-तृतीयमक्षयोः । एत्यमेव अध्यवपूर्कं गृहाति । अत्र चौपधि-फलादिपु यच पूर्वमाधुनिरवमादिकारणं विनाऽप्यार्थाणं तद् 'नेर्य' नयनीयं प्रद्यातव्यमित्यर्थः, 20यहा तद् 'त्रेयं' ज्ञात्रव्यम् । तत्रीपययो धान्यानि, तत्वार्वाणं यथा चणका मापा वा, पत्तेषु आर्वाणं यथा विकलादि, आदिश्वत्यहं मृत्र-कृत्वादिष्वित यथायोगमार्चाणी-ऽनार्वाणंव्यवस्थाऽतु-मर्चव्या ॥ १०८० ॥ अत्रीपविषु यह आर्वाणं तद् व्याचेष्ट-

सगला-उसगलाइम, मीसोवक्खाहिय नित्य हाणी उ । वहरं अभिस्सगहणे, चरिमदृष् वं अणाद्वं ॥ १०८१ ॥

25 चणक्र-भाषादिषु पृत्तीचार्यराचीणेषु सक्छेज्यसक्तेषु वा निष्ठेषु निर्दिष्ठेषु वा टपस्कृतेषु नाति पञ्चक्रपिद्याणाः । यञ्च पृत्तीचार्यरनाचीणे तत्र ण्डकपिद्याणा यनित्वा छष्टुमानं प्राप्तः 'चरम्हये' चतुर्य-नृतीयमक्त्योनीमश्रस्य निर्दिश्रोपस्कृतस्य ब्रह्णं कार्यं नाचीगिति ॥ १०८१ ॥ आह यद् निर्वावं तत् क्रयमनाचीणेषु १ उच्यते—

नह तात्र पितुरासाई, सत्योत्रहया ति होतऽणाह्णा। कि पुण असत्युवह्या, पेसी पत्त्रायसरह य ॥ १०८२ ॥ इयः परिष्ठाः सन्ते जाणारी स्टाली

इह ये श्रीहयः परिपद्धाः सन्तो आष्ट्रादो सूज्यन्ते, ततः स्कटिता अर्णातलयः प्रयुक्त

१ अमाषे यद में है है। २ ते न आइसे ता गा १ स्कृदिताः न दे हो गा

इत्युच्यन्ते, आदिग्रहणेनान्यदिष यदेवं निष्पचते तैत्परिग्रहः । यदि तावत् पृथुकादयोऽग्निशस्त्रो-पहता अप्यनाचीर्णा भवन्ति किं पुनरशस्त्रोपहताः 'पेश्यः' प्रलम्बानामूर्द्धायताः फालयः ? तथा प्रम्लानानि—म्लानवृन्तानि यानि 'सरङ्ग्नि' अबद्धास्थिकफलानि १, तान्यशस्त्रोपहतानि कथमाची-णीनि भविष्यन्तीत्यर्थः । एतत् सर्वमिष परीत्तविषयमुक्तम् ॥ १०८२ ॥

गतं परीत्तद्वारम् । अथ साधारणद्वारमाह---

ŏ

साधारणे वि एवं, मीसा-ऽमीसे वि होंति भंगाओ। पणगादी गुरुपत्तो, सन्त्रविसोहीय जय ताहे ॥ १०८३॥

साधारणम्—अनन्तं तत्रापि 'एवं' प्रत्येकवद् मिश्रोपस्कृते निर्मिश्रोपस्कृते च चतुर्थ-तृतीयौ भक्षो भवतः । नवरं यदा तृतीयमङ्गे प्रत्येकप्ररुग्वं निर्मिश्रोपस्कृतं न रुभ्यते तदा मासरुष्ठका-दुपरि यत्रोद्गमादौ रुष्ठपञ्चरात्रिन्दिवान्यभ्यधिकान्यापद्यन्ते तत् स्वयामे वा पर्यामे वा गृह्णित । 10 एवं यदा पञ्चकादिहान्या गुरुमास प्राप्तो भवति तदा साधारण निर्मिश्रोपस्कृतं प्रथमं चतुर्थभङ्गे तदरुगमे तृतीयभङ्गे स्वयाम-पर्यामयोर्गृह्णिति । यदा तृतीयभङ्गेनापि न प्राप्यते तदा सर्वेषु विशोधिकोटिदोषेषु 'यतस्व' प्रयत्नं कुरु । तत्राऽऽधाकर्म-कर्मीहेशिकित्रक-आहारपूतिकर्म-मिश्र-जातान्त्यद्विक-वादरप्राभृतिका-अध्यवपूरकचरमद्विकरूपान् अविशोधिकोटिदोषान् मुक्त्वा शेषाः सर्वेऽप्योधोहेशिकादय उद्गमदोपा विशोधिकोटयः । तेष्वपि गुरु-रुष्वावारोचनतो यद् यद् 15 अरुपदोषतरं तत् तत् पूर्व पूर्व प्रतिसेवमानस्तावद् यतते यावत् चतुर्रुष्ठमुस्थानानि ॥ १०८३ ॥

तेष्विप यदा न लभ्यते तदा चतुर्रुषुकादुपरि पञ्चकपरिहाण्या यतित्वा यदा चतुर्गुरुप्राप्तो भवित तदा किमाधाकर्म गृह्णातु १ उत प्रथमद्वितीयभङ्गो १ इति, अत्रोच्यते---

कम्मे आदेसदुगं, मूछत्तरें ताहे वि कलि पत्तेगे । दीवर कली अणंते, ताहे जयणाएँ जुत्तस्स ॥ १०८४ ॥

23

अत्राधाकर्मणि प्राप्ते आदेशद्विकं वक्तन्यम्। तद्यथा—आधाकर्मणि चत्वारो गुरवः, प्रत्येक-प्रथमद्वितीययोर्भङ्गयोश्चत्वारो रूपवः। एवं च प्रायश्चित्तानुरुोम्येनाधाकर्म गुरुकम्, त्रतानुरुोम्येन च प्रथमद्वितीयभङ्गो गुरुक्षो, तयोः प्रतिसेन्यमानयोः प्राणातिपातवतत्त्व रुपसद्धावादिति। अथवा आधाकर्म उत्तरगुणोपघातित्वाद् रुषुतरम्, प्रथम-द्वितीयभङ्गो म्रूगुणोपघातित्वाद् गुरुतरौ। एवमादेशद्वये कृतेऽप्याधाकर्मेव प्रथमतो ग्रहीतन्यं न प्रथम-द्वितीयभङ्गो। कृतः १ इति चेद् 25 उच्यते—आधाकर्मणि जीवाः परेण न्यपरोपिता इति तत्र गृह्यमाणे न ताहशी निःश्कृतोपजा-यते याहशी प्रथम-द्वितीययोर्भङ्गयोरध्यक्षवीक्ष्यमाणानां जीवानामात्मनेव मुखे प्रक्षिप्य भक्ष्यमाणानां न्यपरोपणे भवति, अत आधाकर्मेव प्रथमतो ग्राह्यं न प्रथम-द्वितीयभङ्गाविति स्थितम्। "ताहे वि कलि पत्तिग" ति यदा आधाकर्मीप न रुभ्यते तदा प्रत्येकद्वितीयभङ्गे ग्रहीतन्यम्, तद्मावे 'कलिः' प्रथमो भङ्गः तत्रापि प्राह्यम्। "दावर कली अणंते" ति यदा प्रत्येकस्थापि प्रथमो ३० भङ्गो न प्राप्यते तदा 'द्वापरः' इति समयपरिभाषया द्वितीयः, 'कलिः' इति तु प्रथम उच्यते।

१ तस्य गोधूम-धानादेः परि° भा॰ ॥ २ बावर° ता॰ ॥

ĭ

15

तत्रश्च प्रथममनन्तकायिके हिनायेन संदेन, तदमाव प्रथमनापि प्रहीतव्यम् । यदा अनन्तसापि प्रथमो सद्दो न प्राप्यते तदा यतनया युक्तस्य यत्र यत्राव्यतरः कर्मवन्यो भवति तत् तद् गृहानस्या-श्वटपरिणामस्य संयम एव मवर्ताति वाक्यदोषः ॥ १०८४ ॥

एवं तावन् संयतानियहन्य यननोक्ता । अय संयनीरुद्दिस्याह—

एमेव संजर्रण वि, विहि अविही नविर तन्य नाणत्तं । सञ्चत्य वि सग्गामे, पग्गामे मावञो वि मए ॥ १०८५ ॥

यथा संयनानां स्वयान-पर्यामादिविभाषापुरस्परं मिन्ना-उमिन्नयोर्यतना मणिता एवमेव संय-तीनामिष वक्तव्या । नवरं तासां 'नानात्वं' विद्यापा विधिमिन्नानि व्यविधिमन्नानि च भवन्ति । विधिमिन्नानि सुन्वपदे सर्वत्रापि गृह्यन्ते स्वयाम-पर्यामयोश्च । प्रथमं पष्टो मङ्गः, तदमावे १०पञ्चमः, तस्याप्यक्षमे चनुर्थः, तस्याप्यवादी मावनांऽप्यमिन्नानि तृनीय-द्वितीय-प्रथममङ्गवर्तानि यथाक्रमं 'मजेत्' प्रतिसेवत, न कश्चिद्दोषः ॥ १०८५ ॥

॥ इति कल्पटीकायां प्रसम्बद्धतं समाप्तम् ॥

हैर्गसानबहुत्वमीरकत्या मन्डाऽपि दातुं पडा-न्येतब्णि-निजीयब्णिगुबचःश्रेणीगुयद्या भृजम् । प्रेये पेये पढे पढे निजर्गवी क्षिपपचारं मया करपे यन् पकृतं पङ्चविषयं नहोचरं चारिता॥

१ जन्मापृषंसुवोऽवळोकनवद्यान्सन्दाऽपि भा॰ ॥ २ व्चृणियुगळीयप्रिद्धवीद्द्यंनात् त॰ दे॰ स॰ ॥ ३ व्ह्या स्कृटम् म॰ ॥ ४ वर्षा सुग्याऽपि सम्यग मया भा॰ ॥

[मासकल्पप्रकृतम्]

सूत्रम्---

से गामंसि वा नगरंसि वा खेडंसि वा कव्चडंसि वा मडंवंसि वा पट्टणंसि वा आगरंसि वा दोणमुहंसि वा निगमंसि वा रायहाणिसि वा आसमंसि वा निवेसंसि वा संवाहंसि वा घोसंसि वा अंसियंसि वा पुडभेयणंसि वा वेसंकरंसि वा म्सपिक्खेवंसि अवाहिरियंसि कप्पइ निगांथाणं हेमंत-गिम्हासु एगं मासं वस्थए १–६॥

एनमञ्जेतनमपि सूत्रत्रयमुचारणीयैम् । अथास्य सूत्रचतुष्टयस्य कः सम्बन्ध इत्याह—

बुत्तो खल्ज आहारो, इयाणि वसहीविहिं तु वन्नेइ । सो वा कत्थुवभुज्जइ, आहारो एस संवंधो ॥ १०८६ ॥

उक्तः खल्वनन्तरसूत्रे आहारः। 'इदानीं तु' अस्मिन् सूत्रे वसतेर्विधि भगवान् भद्रचाहुस्वामी वर्णयति । यद्वा स आहारो गृहीतः सन् क ग्रामादौ उपमुज्यते ² इति निरूपणार्थमिदमारभ्यते एप द्वितीयप्रकारेण सम्बन्धः ॥ १०८६ ॥ भूयोऽपि सम्बन्धमाह—

तेसु सपरिग्गहेसुं, खेत्तेसुं साहुविरहिएसुं वा । किचिरकालं कप्पइ, वसिउं अहवा विकप्पो उ ॥ १०८७ ॥

तेषु क्षेत्रेषु 'सपरिश्रहेषु' साधुपरिगृहीतेषु साधुविरहितेषु वा कियन्त काल निर्श्रन्थानां वा निर्श्रन्थीनां वा वस्तुं कल्पते ² इत्यस्मिन् सूत्रे चिन्त्यते, अयं सम्बन्धस्यापरो विकल्प इति ॥१०८७॥

र्अमीभिः सम्बन्धेरायातस्यास्य व्याख्या—अत्र च सहितादिक्रमेण प्रतिस्त्रं व्याख्याने महद्²⁰ प्रन्थगौरविमिति कृत्वा पदार्थादिमात्रमेवाभिधास्यते, सहितादिचर्चस्तु पूर्ववद् वक्तव्य इति । सेशव्दो मागधदेशे प्रसिद्धः अथशव्दार्थे, अथशव्दश्च प्रक्रियादिप्त्रथेपु वर्तते । यत उक्तम्—

''अथ प्रक्रिया-प्रश्ना-ऽऽनन्तर्य-मङ्गलोपन्यास-प्रतिवचन-समुच्चयेपु'' इति ।

इहोपन्यासार्थे द्रष्टव्यः, ततश्च यथा साधूनामेकत्र क्षेत्रे वस्तु कल्पते तथा उपन्यस्यते इत्यर्थः। ग्रामे वा नगरे वा खेटे वा कर्वटे वा मडम्वे वा पत्तने वा आकरे वा द्रोणमुखे वा निगमे वा ²⁵ राजधान्या वा आश्रमे वा निवेशे वा सम्वाधे वा घोषे वा अंशिकायां वा पुटमेदने वा 'सपरि-

19

5

१ वा सिन्नेवि° ता॰ मु॰ ॥ २ ৺ १ एति चितान्तर्गतोऽ य पाठ शाचार्यान्तरमतेन हेय॰ । दृश्यता गाथा १०९३ ॥ ३ °यम् । तच्च यथास्थानमेवोच्चारियण्यते । अथा° हे॰ ॥ ४ अनेन सम्यन्धेनायात भा० । "एमि सम्यन्धेनायातस्यास्य स्त्रस्य पदिवभागं कृता पदार्थमिभधास्याम " इति चूर्णो विद्योपचूर्णो च ॥

केरे ब्रुचिदिस्पर्शास्त्रेय्युक्ते 'अवाहिरिके' बहिर्मदा ब्राहिरिका ''अव्यासिदिस्य इक्र्यू'' (सिद्ध ० ६-३-७८) इति दक्रय्यच्यः याकारबिद्धेवित्ती गृहपद्धतिरित्यर्थः, न विद्यने वाहिरिका यत्र तद् अवाहिरिका तिसन् कर्यने तिसन्याना 'इनन्त-स्रान्तेषु' ऋतुबद्धकाव्यस्वितियु अष्टमु नामेतिकार्यः, एतं माने 'वन्तुन् अवस्य तुम । वाद्यव्याः सर्वेऽपि विक्रव्यार्थाः न्यातानेकारेद- १ एकका वा द्रष्ट्या इति स्वस्यामार्थः ॥

अय विनागर्थे प्रतिन्दं माप्यक्रदाह—

आदिपदं निहेंसे, वा उ विसासा समुख्ये वा वि । गम्मी गनपिको वा, ऋगण गसए व बुढ़ाई। ॥ १०८८ ॥

"से" द्रेयदद् अदिग्दं 'निर्देशे' उपन्यांने क्वेते । ब्रायको विमायायां न्यातानामनेक-10 मेदानां समुख्यार्थं वा । गन्यां गमनीया वा ब्रष्टाद्यानां क्रमणामिति ख्रुतस्या प्रसते वा दुख्य-दीन् गुणानिति ख्रुयस्या वा प्रोतद्यद् निस्कविविना प्राप्त उच्यते ॥ १०८८ ॥

नन्धेन्य क्रंग नगरं, खेर्ड प्रुण होह पृलिपागारं । क्रव्यदगं तु कुनगरं, यहंबगं सञ्चता छिन्नं ॥ १०८९ ॥

'नाति' न निरुतेज्याष्ट्रेत्रज्ञान्यापेकोऽपि कर इति नक्ष्यः नम्नादिन्तत् नक्षेऽकाग-१६मावः । खेटं पुनर्केत्राकार्पारिक्षम् । क्षेटं तु कुलगरम्ज्येते । महम्बं नाम यन् 'सर्वतः' सर्वाम्च दिश्च 'छित्रम्' अर्द्धतृतीयगञ्जातस्योदायामविद्यमानप्रामादिकतिति मावः । अन्ये तु व्याचक्षते—यस पश्चितेऽद्वितृतीययोजनान्त्रशेमादिकं न प्राय्येत तद् महम्बस् ॥ १०८९ ॥

जलपहणं च यलपहणं च इति पहणं मवे दुविहं । अयमाह आगरा गरह, दोणमुहं जल-यलपहेणं ॥ १०९० ॥

2) पत्तं द्विम—त्राच्यतं च साव्यत्तं च । यत्र त्रव्यदेन नागद्विह्नात्त्वं सार्व्युगिति तद् वच्यत्तं, य्या द्वीपम् । यत्र तृ साव्यवेन द्यव्यत्वं। साप्तितं सार्व्यत्यान्तं, य्या द्वीपम् । यत्र तृ साव्यवेन द्यव्यत्तं । यत्र पागणवात् वनना-तिना चेद्वस्त्रयतं स अय्याक्यः, यादिद्यत् तृ तत्र-सायाक्यत्विद्यः । यस तु चच्ययेन स्व्ययेन च द्वास्थानि प्रकारम्यां सार्व्याप्तव्यति तद् द्वयाः प्रयोद्धिक्तिति निरुक्त्या द्वाप्त-१ अस्वययते च द्वास्थानि प्रकारम्यां सार्व्याप्तव्यति तद् द्वयाः प्रयोद्धिक्तिति निरुक्त्या द्वाप्त-१ अस्वययते, तच मृगुक्तव्यं नाम्रिक्ति वा ॥ १०९०॥

निगमं नेगमवरगो, वसद् जिंह गयहाणि जिंह राया । नावसमार्द आसम, निवेमों सन्याद्वना वा ॥ १०९१ ॥

निगर्न नाम वर्ष नेगम -बाधिवकविद्येष नेगां वर्गः-समृद्दो वस्ति, अत एव निगमें सम् नेगमा इति व्याद्यक्यने । यत्र नगर्द्या गद्धा परिवस्ति मा रादवानी । आश्रमो यः प्रय-अन्द्रह्यारस्त्रिनगण्डिनः, पश्चादपरेशी लोकनत्र गत्वा वस्ति । निष्यो नाम यत्र सार्थ आवापिनः, आदिष्यद्वीन प्रामो वा अन्यत्र प्रसितः सन्, यत्रानग्रवासम्बद्धितः, योत्रायां वा गत्रो होत्रो यत्र निष्ठित एव स्वीशि निवेद्य दस्त्रेते ॥ १०९१ ॥

१, ''उरा व राज लेते गरो, जब मरस्सर्वाष,'' शेंड सूर्णी विशेषसूर्णी व ॥

संवाहो संवोद्धं, वसति जिहं पव्वयाद्दिसमेसु । घोसो उ गोउलं अंसिया उ गामद्धयाईया ॥ १०९२ ॥

सम्वाधो नाम यत्र कृपीवल्लोकोऽन्यत्र कर्पण कृत्वा विणय्वर्गो वा वाणिज्यं कृत्वाऽन्यत्र पर्वतादिषु विषमेपु स्थानेपु 'सवोढुम्' इति कणादिकं समुद्ध कोष्ठागारादो च प्रक्षिप्य वसित । तथा 'घोषस्तु' गोकुलमिधीयते । 'अंशिका तु' यत्र प्रामस्यार्धम् आदिशब्दात् त्रिभागो वा विद्यान्यार्थम् ।। १०९२ ॥

नाणादिसागयाणं, भिजंति पुडा उ जत्थ भंडाणं । - पुडभेयणं तगं संकरो य केसिंचि कायच्यो ॥ १०९३ ॥

नानाप्रकाराभ्यो दिग्भ्य आगतानां 'भाण्डानां' कुङ्कुमाठीनां पुटा यत्र विकयार्थ भिद्यन्ते तत् पुटभेदनमुच्यते । केपाञ्चिदाचार्याणां मतेन सङ्करश्च कर्त्तव्यः, ''संकरंसि वा'' इत्यधिकं पदं 19 पठितव्यमित्यर्थः । सङ्करो नाम-किञ्चिद् श्रामोऽपि खेटमपि आश्रमोऽपीत्यादि ॥ १०९३॥

एप सूत्रार्थः । अथ निर्युक्तिविस्तरः । तत्र प्रामपदनिक्षेपमाह—

नामं ठवणागामो, दन्वग्गामो य भूतगामो य । आउजिदियगामो, पिउ-माज-भावगामो य ॥ १०९४ ॥

नामग्रामः स्थापनात्रामो द्रव्यग्रामश्च भूतग्रामश्च आतोचग्राम इन्द्रियग्रामः पितृग्रामो मातृग्रामो 15 भावग्रामश्चेति गाथासमुदयार्थः ॥ १०९४ ॥

अथावयवार्थमभिधित्युर्नाम-स्थापने क्षुण्णत्वादनाहत्य द्रव्यग्रामं व्याचष्टे---

जीवा-ऽजीवसम्रद्यो, गामो को कं नओ कहं इच्छे। आदिणयोऽणेगविहो, तिविकप्पो अंतिमनओ उ॥ १०९५॥

जीवानां—गो-महिपी-मनुष्यादीनाम् अजीवानां च-गृहादीना यः समुदयः स द्रव्यग्राम 20 उच्यते । इह च सर्वज्ञोपज्ञप्रवचने प्रायः सर्वमपि सूत्रमर्थश्च नयैर्विचार्यते । यत उक्तम्—

नित्थ नएहिं विहूणं, सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि ।

आसज्ज उ सोयारं, नए नयविसारओ वूया ॥ (आव० नि० गा० ७६१)

अत एषोऽपि द्रव्ययामो नयैर्विचार्यते—को नाम नयः कं द्रव्ययामं कथमिच्छति ? इति, तत्र नयाः सामान्यतः सप्त नेगम-सङ्ग्रह्-व्यवहार-ऋजुस्त्र-शव्द-समिमरूढैवम्भूतमेदात् ; इह तु 25 समिमरूढैवम्भूतयोः शव्दप्राधान्याभ्युपगमपरतया शव्दनय एवान्तर्भावो विवक्ष्यते । तत्रथ्य 'आदिनयः' नेगमः सोऽविशुद्ध-विशुद्ध-विशुद्धतरादिभेदाद् अनेकविधः । 'अन्तिमनयस्तु' शब्दः सः ['त्रिविकरूपः'] त्रिविधः शब्द-समिमरूढैवम्भूतमेवात् ॥ १०९५ ॥

१ "केइ घोस पढित, घोसो गोउल। अण्णे असितिस वा पढित, असिया जत्थ गामस्स अद्ध तिभागो चउभागो वा ठितओ। पुडमेदण पि केयि पढित ॥ तत्य—णाणादि॰ गावा कण्ट्या ॥ सकरो णाम एतेसि गामादीणं कंचि गामो वि खेडं पि आसमो वि इत्यादि जधासमवं वक्तव्यम् । सह परिन्दोवेण सपरिक्दोवं। नाऽस्य बाहिरिका विद्यत इत्यवाहिरिकम् ॥ एस सुत्तत्थो, इदाणीं जिक्क्तिोए वित्यारेति। तत्थ गामो—नामं॰ गाहा।" इति चूर्णिकृतः। विशेपचूर्णो प्राय एतत्तुल्य एव पाठः ॥ २ क्रिरोऽपि क॰ भा॰ ॥ ३ भाउय-भाव॰ ता॰ ॥

तत्रानेकविधनेगमानामन्योऽन्यनिरपेक्षाणि यानि वक्तव्यानि तानि नामग्राहं सङ्गृहत्राह— गावो तणाति सीमा, आराम्रद्गाण चेडरूवाणि । वाडी य वाणमंतर, उग्गह तत्तो य आहिपती ॥ १०९६ ॥

गावः १ ''तंणाइ'' त्ति उपलक्षणत्वात् तृणहारकादयः २ सीमा ३ आरामः ४ 'उदपानं' कृषः ५५ चेडरूपाणि ६ 'वाटिः' दृतिः ७ 'वानमन्तरं' देवकुलं ८ अवग्रहः ९ ततश्चाधिपतिः १० इति निर्युक्तिगाथाक्षरार्थः ॥ १०९६ ॥

अथ भावार्थ उच्यते, प्रथमनेगम[.] प्राह—यावन्तं म्भागं गावश्चरितुं त्रजन्ति तावान् सर्वोऽपि त्राम इति व्यपदेशं रुमते १ ॥ ततो विद्युद्धनेगमः प्रतिभणति—

> गावो वयंति दूरं, पि जं तु तण-ऋहहारगादीया । स्रुहिए गता एंति अत्थमंते ततो गामो ॥ १०९७ ॥

परिरथूरमते ! गावः 'दूरमि' परमाममि चरितुं त्रजन्ति ततः किमेवं सोऽप्येक एव मामो भवतु ², अपि च एवंबुवतो भवतो म्यसामि परम्परमितदवीयसां मामाणामेकमामतेव प्रसजित, न चैतदुपपन्नम्, तसाद् नेतावान् मामः किन्तु 'यत्तु' यावन्मात्रं क्षेत्रं तृणहारक-काष्टहारकादयः सूर्ये उत्थिते तृणाद्यर्थं गताः सन्तः सूर्ये अस्तमयित तृणादिभारक वद्धा पुनरायान्ति एतावत् 15 क्षेत्रं मामः २ ॥ १०९७॥

परसीमं पि वयंति हु, सुद्धतरो भणति जा ससीमा तु । उज्जाण अवत्ता वा, उर्केलिंता उ सुद्धयरो ॥ १०९८ ॥

गुड़तरो नेगमो भणति—यद्यपि गवां गोचरक्षेत्राटासन्नतरं मृभागं तृण-काष्टहारका व्रजन्ति तथापि ते कटाचित् परसीमानमपि व्रजन्ति तसाद् नतावान् व्राम उपपद्यते, अहं व्रवीमि— 20 यावत् सा—आत्मीया सीमा एतावान् व्राम. ३ । ततोऽपि विग्रुद्धतरः प्राह—मेवमतिप्रचुरं क्षेत्रं व्राम इति वोचः, किन्तु यावत् तस्यव व्रामस्य 'उद्यानम्' आरामस्तावद् व्राम इति भण्यते १ । विग्रुद्धतमः प्रतिभणति—एतद्रपि भृयस्तर क्षेत्रम्, न श्रामसंज्ञां रुट्धुमहिति, अहं भणामि— यावद् 'उद्यानं' तस्यव श्रामस्य सम्बन्धी कृषः तावद् श्राम इति ५ । ततोऽपि विग्रुद्धतरो वृते— इत्यप्यतिप्रभृतं क्षेत्रम् अतो यावत् क्षेत्रं 'अव्यक्तानि' चेटरूपाणि रममाणानि गच्छन्ति तावद् व्याम ६ । ततोऽपि विग्रुद्धतरः प्रतिवक्ति—एतद्प्यतिरिक्ततया न समीर्चानमाभाति ततो यावन्तं मृमागमितिर्ह्यांयांसो वारुकाः 'उत्कीडन्तः' रिजन्तः प्रयान्ति तावान् श्राम इति ७ ॥१०९८॥

एंवं विसुद्धनिगमस्स वहपरिक्खेवपरिबुढो गामो । ववहारस्स वि एवं, संगहों जहिं गामसमवाओ ॥ १०९९ ॥

'एव' विचित्राभिप्रायाणा पृवेनगमानां सर्वा अपि प्रतिपत्तीर्व्यपोद्य सर्वविद्युद्धनगमस्य यावान्

१ तृणादि २ सीमा ३ सा॰ ॥ २ इति सङ्ग्रहगाथा॰ मा॰ ॥ ३ उदिते मो॰ छे॰ ॥ ४ ॰ छंती उ सा॰ । मा॰ पुन्तके एतन्पाठानुसारंणव टीका वर्तते । दश्यता टिप्पणी ३ ॥ ५ ॰ म उत्युच्यते ६ । ततो भा॰ ॥ ६ ॰ छघीयान् वाळकः 'उत्कीडन्' रिङ्गन् प्रयाति तावान् भा॰ ॥ ७ एवं तु सुद्ध॰ ता॰ ॥

वृतिपरिक्षेपपरिवृतो भूभागस्तावान् प्राम उच्यते । अथ सङ्ग्रहं व्यतिक्रम्य लाघवार्थमत्रेव व्यव-हारमतमतिदिशति—"ववहारस्स वि एवं" ति यथा नैगमस्यानेके प्रतिपत्तिप्रकाराः प्रकृषिता-स्तथा व्यवहारस्याप्येवमेव प्रकृपणीयाः, तस्य व्यवहाराभ्युपगमपरायणत्वाद् वाल-गोपालादिना च लोकेन सर्वेषामप्यनन्तरोक्तभेदानां यथावसरं प्रामतया व्यवहरणीयत्वात् । सङ्ग्रहस्तु सामान्य-प्राहित्वाद् यत्र प्रामस्य-प्रामवास्तव्यलोकस्य समवायः—एकत्र मीलनं भवति तद् वानमन्तरदेव-कुलादिकं प्राम इति बृते ॥ १०९९ ॥ इटमेव प्रकारान्तरेणाह—

> जं वा पढमं काउं, सेसग गामो निविस्सइ स गामो । तं देउलं सभा वा, मिन्झिम गोहो पवा वा वि ॥ ११०० ॥

यद् वा प्रथमं 'कृत्वा' निवेश्य शेषः सर्वोऽपि ग्रामो निविश्ते स सङ्ग्रहनयाभिप्रायेण ग्रामः । तच्च देवकुलं वा भवेत् सभा वा ग्राममध्यवर्ती वा गोष्ठः प्रपा वा ॥ ११००॥ . 10 अथावग्रहपदं विवृण्वन् ऋजुसूत्रनयमतमाह—

उज्जसुयस्स निओओ, पत्तेयघरं तु होइ एकेकं। उद्वेति वसति व वसेण जस्स सद्दस्स सो गामो।। ११०१।।

ऋजुसूत्रस्य स्वकीयार्थमाहकत्वात् परकीयस्य च सतोऽप्यनभ्युपगमाद् यस्य यत् प्रत्येकमान् त्मीयावमहरूपमेकैकं गृहं तद् नियोग इति प्रतिपत्तव्यम् । नियोग इति माम इति चैकोऽर्थः । 15 आह च विशेपचूर्णिकृत—

गामो ति वा निओउ ति वा एगहं।

"तत्तो य आहिवई" (गा० १०९६) इति व्याख्यानयन् शव्दनयमतमाह—"उद्देति" इत्यादि। 'शब्दस्य' शब्दाख्यनयस्य यस्य कस्यापि वशेन मामः 'उत्तिष्ठते' उद्वसीभवति 'वसति वा' न् भूयोऽप्यवस्थानं करोति स मामस्याधिपतिर्माम इति शब्दमुद्वोद्धमर्हति, ये तु तत्र तदनुवर्तिनः 20 शेषास्तेऽशेषा अप्युपसर्जनीभूतत्वांत्रे मामसज्ञां रूभन्त इति भावः॥ ११०१॥

चिन्तितं नयमार्गणया प्रामस्ररूपम् । अथ प्रामस्येव नयेः सस्थानचिन्तां चिकीर्पुराह-

तस्सेव उ गामस्सा, को कं संठाणिमच्छित नओ उ । तत्थ् इमे संठाणा, हवंति खल्ल मल्लगादीया ॥ ११०२ ॥

तस्येव ग्रामस्य संस्थानं को नयः किमिच्छति ^१ इति चिन्त्यते । तत्र तावद् इमानि महन्ता-25 दीनि ग्रामस्य सस्थानानि भवन्ति ॥ ११०२ ॥ तान्येवाह—

उत्ताणग ओमंथिय, संपुडए खंडमछए तिविहे ।

मित्ती पडालि वलभी, अक्खाडग रुयग कासवए ॥ ११०३ ॥

अस्ति ग्राम उत्तानकमल्लकाकारः, अस्ति ग्रामोऽवाञ्जुखमल्लकाकारः, एवं सम्पुटकमल्लकाकारः। खण्डमल्लकमपि त्रिविधं वाच्यम् । तद्यथा—उत्तानकखण्डमल्लकसंख्यितः अवाञ्जुखखण्डमल्ल-३०

१ तस्यापि व्यव° भा॰ ॥ २ °थायोगं ग्राम° भा॰ ॥ ३ °त्वादिति भावः । सङ्ग° भा॰ ॥ ४ °शते तत् स° भा॰ ॥ ५ °श मुख्यतो ग्राम° भा॰ ॥

कसिशनः सम्पुटकखण्डमछकनिशनध । नथा भित्तिसिश्वतः पद्यकिकासिश्वतः वर्ल्मासिश्वतः अक्षपाटकसंस्थितः रुचकसंस्थितः काञ्यपसंस्थितश्चेति ॥ ११०३ ॥

व्यथपानेव संस्थानानां यथाक्रमं व्यास्यानमाह-

मज्बं गामस्मऽगडो, चुद्धिच्छेदा ततो उ रख्ञुओ । निक्सम्म मुख्यांद्रं, गिण्हंतीओं वहं पत्ता ॥ ११०४ ॥

5 इह् यस्य त्रामस्य मध्यमांग 'अगटः' कृपनस्य बुख्या पूर्वादिषु दिक्षु च्छेदः परिकल्प्यते, ततश्च कृपस्यायनननअद् बुद्धिच्छेदेन रज्जवा विश्व विविश्व च निष्काम्य गृहाणां म्रखपावान् उपरि कृत्वा गृहत्यिन्त्रिक् तावद् विम्नार्यन्त यावद् श्रामपर्यन्तवर्तिर्नी वृति शाप्ता भवन्ति, तत उपर्थमिमुर्ग्नाम्य तावद् गता यावद् उच्छ्येण हम्धेनछानां समीमृताः तत्र च पटह्च्छेदेनोपरताः, 10एप ईंद्रञ उत्तानमञ्कसस्थितो याम उच्यत, ऊर्द्धामिसुखस्य भरावस्थवमाकारत्वात् ॥ ११०२॥

श्रीमंथिए वि एवं, दंउल रुक्तो व जम्म मज्बम्म । कृतम्मुवरि कक्तां, अह संपुडमछकां नाम ॥ ११०५ ॥

अवाञ्युखमछकाकार्ऽप्येवमेव वाच्यम् , नवरं यख शामस्य मध्ये देवकुरुं दृक्षो वा उच्चेख-रस्तस्य देवकुळादेः शियराट् रज्जबोऽवतार्य तियेक् तावद् नीयन्ते यावद् वृति प्राप्ताः, नतोऽघो-15 मुंदीसृय गृहाणां मृलपादान् गृहीत्वा पटहच्छेदेनोपरताः, एपोऽत्राब्धुखमस्रकसस्वितः । तथा यस प्रामस मध्यमागे कृषः, तन्य चापर्शचतरो दृक्ष , तनः कृषस्याधस्नळाद् रज्जदो निर्गत्य मृळपादानचोऽधन्नावद् गता यावद् दृतिं प्राप्ताः, तत ऊद्वीिमसुर्यामृय गत्वा हर्म्यतळानां सम-अणीमृताः, बृक्षशिखराद्रप्यवर्तार्यं रज्ञवस्तंश्रेव तिर्थग् वृति प्राप्नुवन्ति, ततोऽयोष्ठर्खामृयं कृषस-म्यन्पिनीनां रज्ञृनामग्रमांगः समं सङ्घटन्तं, अवेष सम्पुटकमछकाकारा नाम ग्रामः ॥ ११०५॥ जह क्वाई पासिम होति तो संडमछुओ होह। 20

पुन्यावरम्बन्वेहिं, समसेटीहिं भवे मित्ती ॥ ११०६ ॥

यदि 'कृपार्टानि' कृप-बृख-तट्टमयानि 'पार्थे' एकस्यां दिशि भवन्ति ततः सण्डमछकाकारिख-विधोऽपि मासो यथात्रमं मन्तव्यः । नत्र यस्य त्रामस्य वहिरेकस्यां दिचि कृपः तामेवैकां दिशं मुक्ता रोपायु सप्तयु दिख़ु रज्नवे। निर्गत्य तिर्थग् वृति याण्योपरि हर्म्यतलान्यासाद्य पटह्च्छेदे-१६ नेपरमन्ते, एप उत्तानकखण्डमछकाकारः । अवाञ्जुखखण्डमछकाकारोऽप्येवमेव, नवरं यस्येकस्यां दिशि देवकुरुमुंचेप्तरा वा वृक्ष. । सम्पुटकखण्डमछकाकारम्तु यम्यकस्यां दिशि कृपस्तदुपरिष्टाच बुक्षः, देवपं प्राग्वत् । "पुद्यावर" इत्यादि, पृवैस्यामपरस्या च दिन्नि समश्रेणित्र्यवस्थितेर्बृक्षेभित्ति-संस्थितो शामा भवन् ॥ ११०६ ॥

पासिट्टिए पडाली, बलमी चडकीण ईमि दीहा उ । चउकाणमु जह दुमा, हवंनि अक्खाडनी तम्हा ॥ ११०७ ॥

🔧 पटालिकार्माम्यताऽप्यवमेव, नवरमेकसिन् पार्थं वृक्षयुगर्छ समेश्रण्या व्यवस्थितम् । तथा यस त्राप्तस चतुर्प्वाप कोणेषु ईपदीर्घा बुक्षा व्यवस्थिताः स वलमीसस्थितः । 'अक्षवाटः' महानां युद्धाम्यासस्यानम्, तद् यया समचनुरस्रं भवति एवं यदि त्रामस्यापि चतुर्पु कोणेषु द्वमा भवन्ति

ततोऽसो चतुर्विदिग्विभिर्वृक्षेः समचतुरस्रतया परिच्छिद्यमानत्वादक्षपाटकसस्वितः ॥ ११०७॥ वद्यागारिठएहिं, रुयगो पुण वेढिओ तरुवरेहिं । तिकोणो कासवओ, छुरघरगं कासवं विती ॥ ११०८॥

यद्यपि श्रामः स्वयं न समस्तथापि यदि रुचकवरुयशैरुवद् वृत्ताकारव्यवस्थितेर्वृक्षैर्वेष्टितस्तदा रुचकसंस्थितः । यस्तु श्राम एव त्रिकोणतया निविष्टो वृक्षा वा त्रयो यस्य वहिरूयमाः स्थिताः, ए एकतो द्वावन्यतस्त्वेक इत्यर्थः, एप उमयथाऽपि काश्यपसस्थितः । काश्यपं पुनर्नापितस्य सम्बन्धि क्षुरगृहं ब्रुवते, तद् यथा व्यक्तं भवत्येवमयमपि श्राम इति ॥ ११०८ ॥

भावितानि सर्वाण्यपि सस्थानानि । अथ को नय किं सस्थानमिच्छति ! इति भाव्यते— पढमेत्थ पडहछेदं, आ कासन कडग-कोहिमं तहुओ ।

पढमत्थ पडहछद, आ कासच कडग-कााइम तइआ। नाणि आहिपति चा, सद्दनया तिन्नि इच्छंति ॥ ११०९ ॥

प्रथमोऽत्र नैगमनयः, स पटहच्छेद्रष्ठक्षणं संस्थानं प्रतिपद्यते । सङ्ग्रहोऽप्येवमेव मन्यत इत्य-त्रेवान्तर्भाव्यते । व्यवहारस्तु भित्तिसस्थानादारभ्य आ काश्यपसस्थान मन्यते । 'तृतीयः' ऋजु-सूत्रः, सः कटकानां—तृणादिमयानां कुट्टिमाना वा—पापाणादिवद्धभृमिकानां यत् सस्थानं तद् मन्यते । 'त्रयस्तु' शब्दनया ज्ञानिनमधिपतिं चा प्रामसस्थानस्थामित्वेनेच्छन्ति ॥ ११०९ ॥ एनामेव निर्युक्तिगाथां व्यक्तीकुर्वनाह—

संगहियमसंगहिओ, संगहिओ तिविह मछयं नियमा। मित्तादी जा कासवों, असंगहो वेति संठाणं ॥ १११०॥

नैगमो द्विधा—साद्विकोऽसाद्विकिश्च । सद्वहणं सद्वहः—सामान्यमित्यर्थः, स मयोजनम-स्येति साद्विहिकः, सामान्याभ्युपगमपर इत्यर्थः । तद्विपरीतोऽसाद्विहिकः । तत्र यः साद्विहिकः स नियमात् 'त्रिविधम्' उत्तानका-ऽवाक्कुख-सम्पुटकमेटभिन्नं सम्पूर्ण वा खण्डं वा मल्लकं तस्य 20 यत् पटहच्छेदलक्षणं संस्थानं तद् मन्यते । असाद्विहिकस्तु मित्तिसस्थानमादौ कृत्वा यावत् काश्यपसंस्थानम् एतानि सर्वाण्यपि 'वृते' प्रतिपद्यत इत्यर्थ । सद्वह-त्र्यवहारौ तु साद्विहिका-ऽसाद्विहिकयोरेव नैगमयोर्थथासद्वयमन्तर्भावनीयाविति न पृथक् प्रेपक्ष्येते इति ॥ १११० ॥

निम्मा घर वइ थूभिय, तइओ दुहणा वि जाव पावंति । नाणिस्साहिपइस्स व, जं संठाणं तु सद्स्स ॥ ११११ ॥

'तृतीयः' सूत्रक्रमप्रामाण्येन ऋजुस्त्रः, सः "निम्म" ति मूल्पादानां "घर वह" ति गृहाणां धृतेवी स्तूपिकानां वा उपलक्षणत्वात् कटकानां कृष्टिमानां वा यत् सस्थानं माले वा भृमिकादा-क्ष्रिसम्पादनार्थमवकुळ्यमाने 'द्रुघणाः' मुद्गरा ऊर्द्वमुत्किप्यमाणा यावद् आकाशतलं प्राप्तवन्ति तावन्मयीदीकृत्य यत् सस्थानमेतत् सर्वमपि प्रत्येकं ऋजुस्त्रो मन्यते । तथा 'ज्ञानिनः' ग्रामप-

१ एतदेव व्यक्ती° भा०॥ २ जा कसवो ता०॥ ३ तदेव मन्यते न भिरयादिकं संस्था-मम्। असाद्व भा०॥ ४ प्रपद्यते मा० विना॥ ५ ०न्यते। चयः शब्दनयाः 'द्यानिनः' श्राम-पदार्थकस्य श्रामाधिपतेवां यत् संस्थानं तदेव प्रतिपद्यन्ते, न शेपम्, अतिविशुद्धनमत्वा-देपामिति भा०। "तित्रि सद्दणया गामत्याधियारजाणयस्य गामाहिपयस्य वा जं स्टाणं तं इच्छति" इति चूणो विशेषचूणो च। "जं सठाणं तु नद्दणया" इति पाठानुनारेणेयं व्याख्या, न चानो पाठोऽस्मत्पार्थ-स्थादशेंषु क्रचिरपीस्यते॥ ढार्थजस्य त्रामाधिपतेर्या यत् सस्यानं तदेव ज्ञव्दनयस्य त्रामसस्यानतयाऽभिषेतिमिति ॥११११॥ गतं द्रव्यत्रामद्वारम् । अथ भृनादित्रामभेदान् भावयति—

चउद्सविहो पुण भवे, भृतग्गामो तिहा उ आतोजो । सोतादिंदियगामो, तिविहा पुरिसा पिउग्गामा ॥ १११२ ॥

भृताः—प्राणिनस्तया त्रामः—समृहो भृतत्रामः, स चतुर्वशविधः । तथा चाह—
गृगिदिय सुदुमियरा, मित्रयर पणिदिया य मिव-ति-चऊ ।
पज्ञताऽपज्जता, मेग्ण चउदस गामा ॥

एकेन्द्रिया द्वित्रधाः—स्र्मा बादराश्च । स्र्मानामकर्मोद्यवित्तं स्र्माः । वादरनामकन्मेंद्रयवित्ते बादरः । द्विन्द्रियाः—क्रम्यादयः । त्रीन्द्रियाः—क्रम्यादयः । त्रीन्द्रियाः—क्रम्यादयः । त्रीन्द्रियाः । पञ्चित्रियः । पञ्चित्रियाः —सिन्द्रियाः । सिन्द्रियाः । पञ्चित्रियः । पञ्चित्रियः । सिन्द्रियाः । सिन्द्रियाः । सिन्द्रियाः । सिन्द्रियाः । सिन्द्रियाः । सिन्द्रियाः । सिन्द्रियः । सिन्द्रयः । सिन्द्रियः । सिन्द्रयः । सिन्द्रयः । सिन्द्रयः । सिन्द्रयः । स

आतोद्यप्रामस्तु त्रिघा—पट्जमामा मध्यममामा गन्धारमामश्च । एतेपां च स्वरूपमनुयोग-द्वार्गालाट् अवसेयम् (पत्र १३०-१) । इन्द्रियमामः श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां समुदायः, स च पश्चेन्द्रियाणां सम्पूर्णः, चतुम्बिद्धेकेन्द्रियाणां यथाक्रममेकद्वित्रिचतुः सद्धैरिन्द्रियन्पृन इति । पितृ-प्रामस्तु त्रिविधाः पुरुषाः । तद्यथा—तिर्थग्योनिकपुरुषा मनुष्यपुरुषा देवपुरुषाश्चेति ॥१११२॥ विविधा-प्रमन्तरद्वी सार्वस्थाः पि निविद्यान्तर्वति ।

तिरिया-ऽमर-नरइत्थी, माउग्गामं पि तिविद्दमिच्छंति । नाणाइतिगं भावे, जओ व तेसिं सम्रुप्यत्ती ॥ १११३ ॥

तिर्यग्योनिकिस्त्रियोऽमराः—देवास्तेषां स्त्रियो नराः—मनुष्यास्तेषा च स्त्रिय इति मानृग्राममपि त्रिविषमिच्छन्ति पूर्वस्र्यः । आह किमेवं स्त्री-पुरुषाणां मानृ-पिनृग्रामसज्ञा विषीयते १ उच्यते— सज्ञास्त्रोपयोगार्थम् । तथा चाऽऽचारप्रकल्पाध्ययने पष्टोद्देशके सूत्रम्—

30 ''ने भिक्त् माउग्गामं मेहुणविडयाए विष्णवेदः'' (सूत्रम् १) इत्यादि । तथा—''ना भिक्तुणी पिउग्गामं विष्णवेदः'' इत्यादि ।

भावशामस्तु नो आगमतः 'ज्ञानादित्रिक' ज्ञान-दर्शन-चारित्रसमवायरूपम् ; यतो वा 'तेषां' ज्ञानादीनामुत्पत्तिर्मवति ते भावशामतया ज्ञातत्र्याः ॥ १११३॥ के पुनस्ते ² उच्यते—

तित्थगरा जिण चउदस, दस भिन्ने संविग्ग तह असंविग्गे। सारूविय वय दंसण, पिडमाओ भावगामो उ॥ १११४॥

'तीर्थकराः' अर्हन्तः, 'जिनाः' सामान्यकेविष्ठनः अवधि-मनःपर्यायिजना वा, चतुर्दशपू-विणो दशपूर्विणश्च प्रतीताः, 'भिन्ने'' ति असम्पूर्णदशपूर्वधारिणः, 'संविद्याः' उद्यतिवहारिणः, 'असंविद्याः' तिद्वपरीताः, 'सारूपिकाः नाम' श्वेतवाससः क्षुरमुण्डितशिरसो भिक्षाटनोपजीविनः अविरत-पश्चात्कृतिवशेषाः, ''वय'' ति प्रतिपन्नाणुत्रताः श्रावकाः, ''दंसण'' ति दर्शनश्रावकाः—अविरत-सम्यग्दष्टय इत्यर्थः, 'प्रतिमाः' अर्हेद्विम्बानि । एष सर्वोऽपि भावग्रामः, एतेषां दर्शनादिना ज्ञाना-दिप्रसूतिसद्भावात् । अत्र परः प्राह—ननु युक्तं तीर्थकरादीनां ज्ञानादिरत्वत्रयसम्पत्समन्वितानां भावग्रामत्वम्, ये पुनरसंविद्यादयस्तेषां कथमिव भावग्रामत्वमुपपद्यते है नेष दोषः, तेषामिष यथावस्थितप्ररूपणाकारिणां पार्श्वतो यथोक्तं धर्ममाकर्ण्यं सम्यग्दर्शनादिस्राभ उद्यते, अतस्तेषामिष 10 भावग्रामत्वमुपपद्यत एविति कृत प्रसङ्गेन ॥ १११४॥ तीर्थकरा इति पदं विशेषतो भावयति—

चरण-करणसंपन्ना, परीसहपरायगा महाभागा।
तित्थगरा भगवंतो, भावेण उ एस गामविही ॥ १११५॥

चरण-करणसम्पन्नाः परीषहपराजेतारो महाभागास्तीर्थकरा भगवन्तो दर्शनमात्रादेव भन्यानां सम्यग्दर्शनादिबोधिवीजप्रसूतिहेतवो भावग्रामतया प्रतिपत्तव्याः । एवं जिनादिष्विप भावनीयम् । 15 एष सर्वोऽपि भावग्रामविधिर्मन्तव्यः ॥ १११५ ॥ प्रतिमा अधिकृत्य भावनामाह—

जा सम्मभावियाओ, पिंडमा इयरा न भावगामी उ । भावो जइ नित्थ तिहं, नणु कारण कज्जउवयारो ॥ १११६ ॥

याः 'सम्यग्माविताः' सम्यग्दृष्टिपरिगृहीताः प्रतिमास्ता भावप्राम उच्यते, न 'इतराः' मिथ्या-दृष्टिपरिगृहीताः । आह सम्यग्माविता अपि प्रतिमास्ताव[द्] ज्ञानादिभावशून्याः, ततो यदि 20 ज्ञानादिरूपो भावस्तत्र नास्ति ततस्ताः कथं भावप्रामो भवितुमर्हन्ति ? उच्यते—ता अपि दृष्ट्या भव्यजीवस्याऽऽद्गेककुमारादेरिव सम्यग्दर्शनाद्युदीयमानसुपलभ्यते ततो ननु कारणे कार्योपचार इति कृत्वा ता अपि भावप्रामो भण्यन्ते ॥ १११६ ॥ अत्र परः प्राह्—

एवं खु भावगामो, णिण्हगमाई वि जह मयं तुन्भं। एअमवचं को णु हु, अन्विवरीतो विदेजाहिं॥ १११७॥

यथा सम्यामावितप्रतिमानां कारणे कार्योपचाराद् भावग्रामत्वं युप्माकं 'मतम्' अभिप्रेतम्, एवमेव निह्नवादयोऽपि भावग्राम एव भवतां प्राप्तवन्ति, तेषामपि दर्शनेन कस्यचित् सम्यादर्श-नोत्पादात् । सूरिराह—'एतत्' त्वदुक्तमवाच्यवचन भवन्तमसमझसप्ररूपिनं विना को नु

१ °ण्यं यदा सम्यग्दर्शनादिलाभ उद्यते तदा तेपामपि भा०॥ २ "जा नम्म० गाहा। सम्मभावियातो य पिंडमाओ ण वि इतरीओ । आह कहं मिन्छिहिरीपरिग्गहिताओ पिंडमातो भावगामो ण भवित ? उच्यते—तत्र ज्ञानादिभावो नास्ति। आह नतु कारणे कार्यवदुपचार इति कृत्वा ताओ वि दटूण कस्सइ सम्मुप्पातो होजा तो कथं ताओ भावगामो ण भवन्ति ?। आयरिओ भणित—एवं गु भाव० गाधा- ह्रयं कण्ट्यम्॥" इति चूर्णो। विदेषचूर्णाविप प्राय एतत्सम एव पाठ ॥ ३ एव खलु भा० ता०॥

मामादिकं परिक्षिप्य व्यवस्थिताः, स मिश्रपरिक्षेपः । अचित्तपरिक्षेपस्त्वयं भविति ॥ ११२२ ॥ तमेवाह—

> पासाणिद्दग-मिट्टिय-खोड-कडग-कंटिगा मेवे दव्वे। खाइय-सर-नइ-गड्डा-पन्त्रय-दुग्गाणि खेत्तमिम् ॥ ११२३ ॥

पाषाणमयः प्राकारो यथा द्वारिकायाम्, इष्टकामयः प्राकारो यथा नैन्द्पुरे, मृत्तिकामयो ठ यथा समनोम्रखनगरे, "खोड" ति काष्टमयः प्राकारः कस्यापि नगरादेभवति, कटकाः-वंश-दलादिमयाः कण्टिकाः—बुञ्बूलादिसम्बन्धिन्यः तन्मयो वा परिक्षेपो प्रामादेभवति, एष सर्वोऽपि द्रव्यपरिक्षेपः । क्षेत्रपरिक्षेपस्तु खाँतिका वा सरो वा नदी वा गर्चा वा पर्वतो वा दुर्गाणि वा-जलदुर्गादीनि पर्वता एव दुर्गाणि वा, एतानि नगरादिकं परिक्षिप्य व्यवस्थितानि क्षेत्रपरि-क्षेप उच्यते ॥ ११२३ ॥ कालपरिक्षेपमाह---10

वासारत्ते अइपाणियं ति गिम्हे अपाणियं नचा । कालेण परिक्खिनं, तेण तमने परिहरंति ॥ ११२४ ॥

षषीरात्रेडितपानीयमिति कृत्वा 'प्रीप्मे' उष्णकाले अपानीयमिति कृत्वा रोद्धं न शक्यत इति ज्ञात्वा तेन कारणेन तद् नगरादिकम् 'अन्ये' परराष्ट्रराजानः परिहरन्ति तत् कालपरिक्षिप्तम् ॥ ११२४ ॥ भावपरिक्षेपमाह-

> नचा नरवइणो सत्त-सार-बुद्धी-परक्षमविसेसे। भावेण परिक्खित्तं, तेण तमके परिहरंति ॥ ११२५ ॥

सत्त्वं-धेर्यम् ; सारो द्विधा--वाह्य आभ्यन्तरश्च, वाह्यो वल-वाह्नादिः, आभ्यन्तरो रत्न-सु-वर्णादिः; बुद्धिरौत्पत्तिक्यादिभेदाच्चतुर्विधा यथा अभयकुमारस्य, पराक्रमः-औरसवलात्मकः, एतान् सत्त्व-सार-वुद्धि-पराक्रमविशेपान् विविधतनरपतेः सम्वन्धिनो ज्ञात्वा 'यद्यनेन सार्द्धं विम्र-20 हमारप्र्यामहे तत उत्खिनिष्यन्ते सपुत्रगोत्राणामसाकमनेन कन्दाः इति परिभाव्य तदीयं नगरं यद् 'अन्ये' राजानः परिहरन्ति तत् तदीयेन सत्त्व-सारादिना भावेन परिक्षिप्तं प्रतिपत्तव्यम् ॥ ११२५ ॥ न्यास्यातं परिक्षेपपदम् । अत्र द्रव्यपरिक्षेपेण प्रकृतम् । अथ मासपदिनिक्षेपमाह—

नामं ठवणा द्विए, खित्ते काले तहेव भावे य। मासस्स परूवणया, पगयं पुण कालमासेणं ॥ ११२६ ॥

माममासः स्थापनामासो द्रव्यमासः क्षेत्रमासः काल्मासो भावमासश्चेति पड्डिधा मासस्य परू-पणा कर्त्तच्या । प्रकृतं पुनरत्र सूत्रे कालमासेन ॥ ११२६ ॥

तत्र नाम-स्थापने क्षुण्णत्वाद् व्युदस्य द्रव्यमासमाह-

दन्वे भवितो निन्वत्तिओ उ खेत्तं तु जिम्म वण्णणया । कालो जिह विण्णिज्ञह्, नक्खत्तादी व पंचिवहो ॥ ११२७ ॥

१ नद्° त॰ का॰ ॥ २ °मस्य भव° मा॰ ॥ ३ खातिका-पानीयपरिपूर्णा परिखा, सरो-नदी-गत्तीः प्रतीताः, पर्वता एव दुरारोहतया दुर्गाणि-विषमस्थानानि, पतानि भा ॥ धरोड न भा॰ मो॰ ले॰॥ 40 KH

15

₂₅ दनिरू-पणम्

30

वर्षे पट्पष्टाधिकानि त्रीणि शतानि भवन्ति । पञ्च संवत्सरा युगमिति कृत्वा तानि पञ्चमिर्गु-**-**ण्यन्ते जातान्यष्टादञ ञतानि त्रिंगानि दिवसानाम् । एतेषां नक्षत्रमासदिवसानयनाय सप्तपष्टि-र्युगे नक्षत्रमासा इति सप्तपष्टमा भागो हियते, रुव्धाः सप्तविंगतिरहोरात्रा एकविंगतिरहोरात्रस्य सप्तषष्टिभागाः १ । तथा चन्द्रमासदिवसानयनाय द्वाषष्टिर्युगे चन्द्रमासा इति द्वाषष्टा तस्यैव -युगदिनराशेभीगो हियते, लब्धान्येकोनत्रिशदहोरात्राणि द्वात्रिशच द्वापष्टिभागाः २ । एवं युग-४ दिवसानामेवेकपष्टिर्युगे कर्ममासा इत्येकपष्टा भागे हते रुव्धानि कर्ममासस्य त्रिशिह्दनानि ३। तथा युगे पष्टिः सूर्यमासा इति पष्टा युगदिनानां भागे हृते रुव्धाः सूर्यमासदिवसास्त्रिगदहो-रात्रस्याद्धे च ४ । तथा युगदिवसा एव अभिवर्द्धितमासदिवसानयनाय त्रयोदगगुणाः कियन्ते जातानि त्रयोविंशतिसहस्राणि सप्त शतानि नवत्यधिकानि, एपां चतुश्चत्वारिंगैः सप्तभिः शतै-र्भागो हियते रूट्या एकत्रिशदिवसाः, शेपाण्यवतिष्ठन्ते पड्विंशत्यधिकानि सप्तशतानि चतुश्चत्वा-10 रिंशैसप्तशतभागानाम् , तत उभयेपामप्यद्भानां पङ्गिरपवर्त्तना क्रियते जातमेकविंशं शतं चतुर्विंश-त्युत्तरगतभागानामिति ५॥

उक्ताः पञ्चापि कालमासाः । भावमासो नोआगमतः 'मूलादियुतः' मूल-कन्द-स्कन्धादिरूप-तया मापप्रायोग्याणि कर्माणि वेदयन् मापजीवोऽवगन्तव्यः । प्रकृतं पुनरत्र 'कर्ममासेन' ऋतु-मासेनेत्यर्थः । ततः "अवाहिरियंसि कप्पद्व निग्गंथाणं एकं मास वत्थए" ति (सू० ६) 15 किसुक्तं भवति ?—-त्रिंशदहोरात्रमानमेकं ऋतमास कल्पते वस्तुमिति ॥ ११३० ॥ प्ररूपितं मासपदम् । अथ येषां मासकल्पेन विहारो भवति तान् नामग्राहं गृहीत्वा तद्विधिमभिधित्सुराह—

> जिण सुद्ध अहालंदे, गच्छे मासी तहेव अजाणं। एएसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ११३१ ॥

मासक-ल्पविहा-रिणः

जिनकल्पिकानां शुद्धपरिहारकाणां यथालन्दकल्पिकानां 'गच्छवासिनां' स्थविरकल्पिकाना-20 मित्यर्थः । तथैव 'आर्याणां' साध्वीनां यथा येपां मासकल्पो भवति तथैतेपां सर्वेपामि नानात्वं वक्ष्यामि 'यथानुपूर्व्या' यथोद्दिष्टपरिपाट्या ॥ ११३१ ॥ तत्र प्रथमं जिनकल्पिकानाश्रित्याह्---

पन्वजा सिक्खापयमत्थग्गहणं च अनियओ वासो । निष्कत्ती य विहारो, सामायारी ठिई चेव ॥ ११३२ ॥

जिनक-ल्पिकाः

प्रथमं प्रव्रज्या वक्तव्या, कथमसौ जिनकल्पिकः प्रव्रजितः १ इति । ततः 'शिक्षापदं' ग्रह-25 णा-ऽऽसेवनाविषयम् । ततो ग्रहणिक्षयाऽधीतसृत्रस्यार्थग्रहणम् । ततो नानादेशदर्शनं कुर्वतो यथा अनियतो वासो भवति । ततः शिष्याणां निष्पत्तिः । तदनन्तरं विहारः । ततो जिनकल्पं प्रतिपन्नस्य सामाचारी । ततस्तस्यैव 'स्थितिः' क्षेत्र-कालादिकाऽभिधातन्येति गाथासमुदायार्थः-॥ ११३२ ॥ अवयवार्थं प्रतिद्वारमिभिष्तुः प्रथमतः प्रत्रज्याद्वारमाह—

सोचाऽभिसमेचा वा, पव्यजा अभिसमागमो तत्थ । जाइस्सरणाईओ, सनिमित्तमनिमित्तओ वा वि ॥ ११३३ ॥

30 जिनक-रिपकानां

'श्रुत्वा' तीर्थकर-गणधरादीनां धर्मदेशनां निशम्य 'अभिसमेत्य वा' सह सन्मत्यादिना स्वय--

१ भागो हियते भा॰ ॥ २ °शत्मप्त भा॰ विना ॥ ३ तन्नाम भा॰ विना ॥

मैंबाबबुध्य प्रवत्या भवेत्। तत्राच्यवक्तव्यत्वात प्रथममिसमागम उच्यते—सो अभिसमागमो जातिमारणादिकः मनियिचकोऽनियिक्तको वा द्रष्टव्यः। तत्र यद् वाद्यं नियिचसुद्दियं जातिसर-णसुपजायते नत् सनियिक्तकम्, यथा चन्करुचीित्रमृतीनाम्। यत् पुनरवयेव तदावारक-कर्मणां अयोपव्यमेनोत्यवते तदिनियक्तम्, यथा स्वयम्बुद्ध-क्रिपिलार्गान्। एतेन जानिसारणेन ध्याद्मिहणात् आवक्तम्य गुणप्रत्ययप्रसवणाविद्यानेन अन्यतीर्थिकस्य वा विसङ्गानेन प्रवज्या-प्रतिपत्तिः सम्मवित्।। ११३३॥ गतमिससंग्यद्वारम्। अय अत्वेति हारं विवरीपुराह—

मोचा उ होह धम्मं, म केरिमो केण वा कहंयच्यो । के नस्म गुणा चुना, दोमा अणुवायकहणाए ॥ ११३४ ॥

र्थर्भमाचार्यादीनामन्तिक श्रुत्वा प्रवच्या भवति । अत्र शिष्यः प्रच्छति—स धर्मः कीदृशः ! 10केन वा कथितच्यः ! के वा तम्योपायकथने गुणाः प्रोक्ताः ! के वा अनुपायकथने दोषाः ! इति ॥ ११३७ ॥ नत्र कीदृशः ! केन वा कथितच्यः ! इति प्रक्षे निर्वचनमाह—

डपॅडप्रयो धर्म धर्मा-पॅडगापि-कारिणश्र

25

संमाग्दुक्यमहणा, विवोहओं मवियपुंडरीयाणं । धम्मा जिणपन्नता, पगप्यज्ञहणा कहेयच्या ॥ ११३५ ॥

संगार एव जन्म-जरा-मरणादिहुःखनिबन्धनत्याद् हुःखं संसारस्य वा हुःखानि-वारीर-मान-15 मिकळ्ळणानि तस्य तेषां वा मथनः-विनाधकः, तथा भव्या एव विनयादिविमळ्गुणपरिमळ-योगाद् ज्ञानादिग्र्झ्मीनिवासयोग्यत्या च पुण्टरीकाणि-खेतसरोरुद्याणि तेषां विक्रोपण मिळ्यात्वा-दिनिद्यविद्यावणळ्ळणेन बोधकः-सम्यन्द्र्धनादिविकाद्यकार्ग, इंद्र्यो जिनमज्ञसो धर्मः 'प्रकल्य-यतिना' निर्शायाच्ययनस्त्रार्थधारिणा साधुना कथियत्वयः । स हि संविद्यगीतार्थतयोग्य-गी-ऽपत्रादपदानि सम्याने न्वस्थाने विनियुज्ञानो न विषरीत्वपक्षपणयाऽऽत्मानं परं वा दीर्घमव-20अमणभाजनमाननोतीति ॥ ११३५ ॥

परः प्राह—किर्मवंविधोऽपि भागवनो धर्म उपिद्वयमानः केषाञ्चिद् बौर्य न जनयित येनैव-मिन्यीयन "भन्यपुण्डरीकाणां विबोधकः" ? इति, अत्रोच्यते—

> जह खरम्स प्रमानं, दहुं नरकमलपेंटिरीयाई। चुन्नंति उद्यकारें, तत्य उ क्रमुदा न बुन्नंति॥ ११३६॥ एतं भनिष्टिया, जिणनरखरम्मुतिष्यमानेणं।

बुन्झंनि मवियक्तमला, अमवियक्कमुद्रा न बुन्झंनि ॥ ११३७ ॥ यथा मुयंख 'प्रमावं' प्रमापटकॅम्पं दृष्ट्रा सरित खिनानि वर्कमलपुण्डरीकाणि 'उदयकाले' प्रमाने बुज्यन्ने । तंत्रव च सरित कुमुदान्यिष मन्ति परं नानि न बुच्यन्ते ॥ ११३६ ॥

'ण्यम्' अनेनेव दृष्टान्तन जिनवरमुर्थस्य या श्रुतिः—आगमः प्रमापटळकरूपस्तस्ममावेनः दृष्टभव्यकमञ्जनि 'वृष्यन्तं' सम्यक्त्यादिविकाद्यमामाद्यन्ति । तानि च—

"भव्या वि ते अणंता, जे मुत्तिमुहं न पार्वनि।"

इति यचनाद्रमम्मावनीयसिद्धिगमनान्यपि भवसुरित्यनसद्यवच्छेदार्थमाह्—भवा—माविनी सिद्धि-

१ धर्म नीर्थकरादीनामस्तिके भार ॥ २ °छत्तनिनं द्व° सार ॥

र्येषां तानि भवसिद्धिकानि । यसिंश्च जीवलोकसरिस भगवतः प्रमावेन भव्यकमलानि वोध-मश्चवते तिसन् अभव्यकुमुदान्यिप कालसौकरिकपभृतीनि सन्ति परं तानि न प्रतिबुध्यन्ते, तथास्वाभाव्यात् । यदवादि वादिम्रुख्येन—

सद्धर्मवीजवपनानघकौगलस्य, यह्नोकवान्यव! तवापि खिलान्यभृवन् । तन्नाद्धतं खगकुलेप्विह तामसेषु, स्यींगवो मधुकरीचरणावदाताः ॥ (सिद्धसेनीया द्वितीया द्वात्रिंगिका श्लोक १३)॥ ११३७॥

अत्र परः प्राह—

पुँच्वं ति होइ कहओ, पच्छा धम्मो उ उक्कमो किन्नु । तेण वि पुच्वं धम्मो, सुओ उ तम्हा कमो एसो ॥ ११३८॥

पूर्वे तावत् 'कथकः' धर्मोपदेष्टा भवति, पश्चात् तदुपदेशं श्रुत्वा धर्म उत्पद्यते, अतः 10 किमेवं 'स कीद्दशः' इति प्रथमं धर्मस्रह्रपमुद्दिश्य 'केन वा कथियतन्यः' इति कथकसंह्रपं पश्चादुद्दिशद्धिरुत्कमः क्रियते । गुरुराह—तेनापि कथकेन पूर्व गुरूणां समीपे धर्मः श्रुत एव तस्मात् कम एपः नोत्कम इति ॥ ११२८॥ अयं च धर्म उपायेनैव कथियतन्यो नानुपायेन । आह के दोपा अनुपायकथने । उत्त्यते—

जइधम्मं अकहेत्ता, अणु दुविधं सम्म मंसविरइं वा । अणुवासए कहिंते, चउजमला कालगा चउरो ॥ ११३९॥

15 अविधिना धर्मक्रथने दोषाः

यः खलु मिथ्याद्दिएरनुपासकरतत्मथमतया धर्मश्रवणार्थमुपतिष्ठते तस्य यतिधर्मः कथियतव्यः। यदि यतिधर्ममकथियत्वा श्रावकसम्बन्धिनमणुधर्म कथियति तदा चत्वारो गुरवः तपसा कालेन च द्वाभ्यामपि गुरुकाः। यदा यतिधर्म प्रतिपत्तुं नोत्सहते तदा म्लोत्तरगुणमेदाद् द्विविधः श्राद्धधर्मः कथनीयः, सम्यक्त्वम्लानि द्वाद्य त्रतानीत्यर्थः। यदि श्राद्धधर्ममकथित्वा सम्यग्दर्शनमात्रं कथ-20 यति तदाऽपि चत्वारो गुरवः तपसा गुरवः कालेन रुघवः। यदा श्राद्धधर्मे प्रहीतुं न शकोति तदा यदि सम्यग्दर्शनमनुपदिश्य मद्य-मांसविरतिं कथयति तदा चत्वारो गुरवः तपसा रुघवः कालेन गुरवः। यदा सम्यग्दर्शनमप्यङ्गीकर्त्तुं न ग्रंक्ष्यते तदा यदि मद्य-मांसविरतिमप्रकृप्येहि-कमामुप्मिकं वा तद्विरतिफलं कथयति तदाऽपि चत्वारो गुरवः तपसा कालेन च रुघवः। "चट-जमला कालगा चउरो" ति चत्वारि यमलानि तपः-कालयुगलरुक्षणानि येषु ते चतुर्यमलाः, 25 चत्वारः कालकाश्रात्वारश्चतुर्गुरुका इत्यर्थः, आज्ञाभङ्गाद्यश्च दोषाः॥ ११३९॥ अपि च—

जीवा अन्भृहिता, अविहीकहणाइ रंजिया संता । अभिसंच्छा होती, संसारमहत्रवं तेणं ॥ ११४० ॥

ते जीवाः प्रवज्यायामभ्युत्तिष्ठन्तोऽपि तदीयया अविधिकथनया रिक्तताः सन्तिश्चिन्तयन्ति— यदि श्रावकधर्मेणापि काममोगान् मुझानेः सुगतिरवाप्यते ततः किमनया सिकताकवरुनिरासादया ३० प्रवज्यया १, एवं यदि सम्यग्दर्शनमात्रेणापि सुगतिरासाद्यते तर्हि को नामात्मानं विरतिशृह्यस्यां

१ नेयं गाथा विशेषचूर्णिकृताऽऽहता ॥ २ °धं मज्जमंस° ता॰ ॥ ३ °धोऽणुधर्मः भा• ॥ ४ फमते मो॰ डे॰ विना ॥

प्रक्षेप्सिति १ इत्यादि; एवं ते विपरिणामिताः प्रवज्यामगृहन्तः पर् कायान् विराधयेयुः, अतः 'तेन' कथकेन् संसार्महाणेवम् अमि—आभिसुक्येन प्रक्षिष्ठा भवन्ति, चिर्ण सुक्तिपदमाप्तेः ॥११४०॥

एसेव य नृण कमी, वेरग्गाओं न रोयए तं च । दहतो य निरणुकंपा, मुणि-पयस-तग्च्छअडूवमा ॥ ११४१ ॥

ठ ते जीवा इत्थं चिन्तयेयुः — नृतमेष एवात्र 'क्रमः' परिपादिः यत् पृर्व श्रावकथमें स्पृष्ट्वा पश्चाद् यतिर्धर्मः प्रतिपद्यते, अथवा पृर्व सम्यन्दर्शनमात्रसुररिकृत्य ततो देशविरतिरुपादीयते, यहा मद्य-मांसविरितं म्पृष्ट्वा पश्चात् सम्यक्त्वं गृह्यते इति । स चारम्भवहुल्तया गृह्वामम्योपिर वैराग्यमुपगतः प्रवज्यां प्रतिपतृमायातः, म च धर्मकथी श्राद्धधर्मे प्ररूपियतुं ल्याः, तं चामो वैराग्याधिरुद्धमानसत्ताद् न राचयति, ततो विपरिणम्य तचित्रकादिपु गच्छत् । ते चवमविधिना 10 धर्मे कथ्यन्तः 'द्विधाऽपि निरनुकम्पाः' पण्णां कायानां तस्य चोपर्यनुकम्पारिहताः ।

"गुणि" ति वीरगुनिकादृष्टान्तः — यैथा सा वीरगुनिका पृविमालमालः परिखेदिता पश्चात् सद्भूतमि नेच्छिति, एवमत्रापि पृवे श्राद्धधर्मे कथिते पश्चाद् यवतोऽभियीयमानमिष श्रमणधर्ममसी न प्रतिपद्यते । तथा "पयम" ति यथा कस्यापि प्रावृणिकस्य पृवे वासितमक्तं दत्तं ततः स उदरप्रं तद् भुक्तत्रान्, पश्चाद् वृत-मशुसंशुक्तं पायसमिष दीयमानं तस्य न रोचते । "तरच्छश्रहुवम" विच यथा नग्कः —व्याव्यविद्रोपः स पूर्वमस्थां आणः पश्चाद्यामिषमिष न रोचयति, एवमस्यापि श्रावक्ष्यभृत्राणस्य यतिधर्मो न प्रतिमामते । यन एतं दोषा अनो विधिनव कथनीयम् ॥११४४॥

के पुनर्विधिकथने गुणाः व उँच्यते-

तित्याणुसञ्जणाप, आयहियाण परं ममुद्धरित । मग्गप्यभावणाप, जद्दधम्मकहा अओ पदमं ॥ ११४२ ॥

²⁰ यतिधर्मकथा प्रथमतः क्रियमाणा तीर्थस्यानुसन्नाय मन्नति, नहुनां जन्तूनां प्रतन्याप्रतिपत्तेः । तीर्थानुपन्नना च कृना आत्महिताय नायने । परं च प्रतन्याप्रदानेन संमारसागरादसी समुद्ध-र्रित । अन एन मार्गस्य-मन्यग्दर्शनादैः प्रभावनाय सा प्रभन्ति । यत एन गुणा अनो यतिधर्म-कथा प्रथमं म्वरूपनो गुणानश्च कर्त्तव्या । तत्र म्वरूपतो यथा—''संती य मह्वऽज्ञव, मुत्ती०" (दृश्वै० प० अ० नि० गा० २४८) हत्यादि । गुणतो यथा—

ना हुप्कर्मप्रयामा न ऋगुवति-मृत-खामिट्वीक्यहःसं, राजादी न प्रणामोऽञन-त्रमन-धन-स्थानचिन्ता न चेव । ज्ञानाप्तिन्यकपृजा प्रश्रमसुखरमः प्रेत्य मोक्षाचवाप्तिः,

श्रामण्येऽमी गुणाः स्युमादिह सुमतयः किं न यनं कुरुव्वम् ! ॥ इत्यादि ।

निर्देशना धर्मीप-देशदाने ग्रणाः

र °धम प्रति' भा॰ तिना ॥ २ "जहा मा वीरमृणिया अिष्टमिष्टिकेहिं निरमीकया पच्छा सन्तयं पि नेच्छित, चितेह—अिष्टमें एयं, उत्तरारों वक्त्र्य । 'पयस' नि जहा वा कस्मित पाहुणयस्य पुट्यं होमीणो दिग्गो, पच्छा पय-महुम उत्तों पाय तो, मो मे न रोयित, उत्तरहारों वक्त्र्यः । अहवा 'मृणिपयस' ति जहा वस्मगारमृणिया पिष्टच्छेयाणं क्या पच्छा पायम पि नेच्छित, उत्तमहारों वक्त्र्यः । अहवा जहां 'तर्व्छ" दित चूर्णों ॥ ३ उच्यन्ते मो॰ छे॰ वा॰ त० ॥ ४ रिति । एवं च भगवदुपद्शितस्य मार्गम्य-सम्यद्द्यानस्य प्रभावनार्यं भवित । यत् भा० ॥

यदा यतिधर्ममङ्गीकर्तुं न शकोति तदा सम्यक्त्वमूरुः श्राद्धधर्मः कथयित्व्यः, यदा तमपि न प्रतिपद्यते तदा सम्यग्दर्शनम् , तस्याप्यप्रतिपत्तौ मद्य-मांसविरतिः । एवं चानुपासकस्य पुरतो धर्मकथायां विधिः । उपासकस्य तु यथास्तरुचि धर्मकथां करोतु, न कश्चिद्दोषः ॥ ११४२ ॥

गतं प्रत्रज्याद्वारम् । अथ शिक्षापदद्वारमाह-

पन्वइयस्स य सिक्खा, गयण्हाय सिलीपती य दिहंतो । तह्यं च आउरम्मी, चउत्थगं अंघले थेरे ॥ ११४२ ॥

5 जिनक-

15

भनजितस्य च सतोऽस्य शिक्षा दातन्या । सा च द्विधा—ग्रहणशिक्षा आसेवनशिक्षा च । तत्र महणशिक्षा सूत्राध्ययनरूपा, आसेवनाशिक्षा प्रत्युपेक्षणादिका । तत्र कोऽपि प्रवजितः सन् आसेवनाशिक्षां सम्यगभ्यस्यति न पुनर्प्रहणशिक्षाम् । तत्राचार्येः स्नातेन गजेन श्रीपदिना च दृष्टान्तः क्रियते, तृतीयं चोदाहरणमातुरविषयं चतुर्थमन्धस्थविरविषयं कर्त्तव्यमिति गाथासमा-10 सार्थः ॥ ११४३ ॥ अथ विस्तरार्थोऽभिधीयते—तत्रासौ गुरुभिरादिष्टः—सौम्य! गृहाण त्वमेनां म्रहणशिक्षाम् , अधीप्व विधिवद् यथाक्रममाऽऽचारादिश्रुतम् । स प्राह-

पन्नइओऽहं समणो, निक्खित्तपरिग्गहो निरारंभो। इति दिक्लियमेकमणो, धम्मधुराए दढी होमि ॥ ११४४ ॥ समितीसु भावणासु यं, गुत्ती-पिडलेह-विणयमाईसु । लोगविरुद्धेसु य बहुविहेसु लोगुत्तरेसुं च ॥ ॥ ११४५ ॥ जुत्त विरयस्स सययं, संजमजोगेसु उज्जयमइस्स । किं मन्झं पढिएणं, भण्णइ सुण ता इमे नाए ॥ ११४६ ॥

भदन्त ! प्रत्रजितोऽहं 'श्रमणः' तपस्ती निक्षिप्तपरित्रहो निरारम्भश्च सञ्जात इत्यतः 'दीक्षिते' दीक्षायां मकारोऽलाक्षणिकः एकाञ्रमना 'धर्मधुरायां' धर्मचिन्तायां 'दृढः' निष्कम्पो भवामि 20 ॥ ११४४ ॥ किञ्च-

'समितिषु' ईर्यादिपु 'मावनासु' द्वादशस्य पञ्चविंशतिसद्धयाकासु वा 'गुप्तिषु' मनोगुस्यादिषु प्रसुपेक्षणायां प्रतीतायां 'विनये' अभ्युत्थानादिरूपे आदिशब्दाद् वैयावृत्त्यादिपु व्यापारेपु 'युक्तस्य' प्रयत्नवतः, तथा 'लोकविरुद्धेपु' जुगुप्सितकुलभिक्षामहणादिपु 'वहुविषेपु' नानाप्रकारेपु 'लोकोत्तरविरुद्धेषु' नवनीत-चलितान्नग्रहणादिषु चशव्दाद् उभयविरुद्धेषु मद्यादिषु 'विरतस्य' 25 प्रतिनिवृत्तस्य 'संयमयोगेषु च' आवश्यकव्यापारेषु उद्यतमतेः एवंविधस्य कि मम 'पठितेन' पाठेन कार्यम् १ न किञ्चिदिति भावः । भण्यते गुरुभिरत्रोत्तरम्—वत्स ! यदर्थ भवान् प्रवितः स एवार्थों न सेत्स्यतीति । तथा चात्र शृणु तावदम् 'ज्ञाते' द्वे निवर्शने ॥ ११४५ ॥ ११४६ ॥

ते एव यथाक्रममाह-

जह ण्हाउत्तिण्ण गओ, वहुंअतरं रेणुयं छुभइ अंगे । सुद्धु वि उज्जममाणी, तह अण्णाणी मलं चिणइ ॥ ११४७ ॥ गज्ञात-स्वापदि-रष्टान्ती नं मिलिपई निदायति, नं लाएनि चलणहिँ भूमीए। ग्यमसंज्ञमपंके, चग्णमुई लाइ अमुणिना ॥ ११४८॥

यथा राजः सरी-नद्यादी सन्तपनयनार्थं सान्वोत्ताणीः सन् बहुनर्ग रेणुं करेण गृहीत्वा सकीयेऽके शिपित, नयान्वासाज्यानः तथा 'सुष्ट्री' अतिश्येनापि 'उद्यच्छमानः' उद्यमं कुर्वाणः अज्ञानी एजीवः 'सर्छं' कर्सरजोर्छणं चिनाति । एवं न्यमि कर्ममर्छनिर्याननार्थं प्रविज्ञतः परं श्रुताच्ययन- सन्तरेण प्रवचनिक्रह्यानि समाचरन् प्रन्युन स्युक्तरेण कर्मरज्ञसाऽञ्चानं गुण्डियप्यिमि ॥११४७॥ तथा श्रीपदनाञ्चा रोगेण यस्य पादो श्रुतो—शिलावद् महाप्रमाणे। सवनः स एवंविधः श्रीपदी यथा श्रेष्ठं 'निद्रायिन' निहिणतीन्यथः, स च यद्रस्यमात्रं सस्यं निद्रायिन तद् म्यन्तरं 'चर्छन्यास्यं' पाद्रास्यामाक्रस्य भूमे। द्यायिन सर्वयिन च । एवं श्रुतपाठं विना "असुणना" अज्ञानन् १० "चरणस्यमं 'व चरणसस्यम् 'अन्यसपद्धे' प्रियज्याद्युपमर्दक्रंसे लगयित, लगयित्वा च सक्तमि मर्द्यिन ॥ ११४८ ॥ एवमाचर्यिक्तं शिष्य आनुरह्यान्तमह—

श्रादुर-द्रप्रन्तः

CS.

भणइ जहा रेगनो, पुच्छित वेखं न मंत्रियं पहरू । इय कम्मामयवेखे, प्रच्छिय तुज्ये करिम्मामि ॥ ११४९ ॥

म शिष्यो मणिति—भगवन् ! यथा गेगार्चः पुन्यो बैद्यमेव प्रच्छिति न पुनर्वेद्यक्रमिहितां 15पटिन, एवमहमिप शुष्मान् 'कर्मामयवद्यान्' कर्मगेगिचिकित्मकान् पृद्धा सर्वामिप क्रियां करि-प्यामि, न पुनः श्रुतं पिटप्यामीनि ॥ ११४९ ॥ गुरुगह—

भण्णद्द न मा सर्यं चिय, करेनि किरियं अपुच्छिउं रोगी । नायच्यो अहिगारो, तुमं पि नाउं नहा कृणसु ॥ ११५० ॥

भण्यते अत्रोत्तरम्—यद्यपि नामी रोगी वैद्यमप्रद्रा न्ययमेव क्रियां करोति तथाऽपि तस्य २० 'ज्ञातन्त्रे' क्रियायाः परिज्ञानेऽधिकागेऽन्ति यथा म वैद्यो स्यो स्यः प्रष्टन्यो न सबैति । एवं यद्यपि न्यसमान् प्रद्रा नवीमपि क्रियां करिप्यसि तथापि स्त्रमधीन्य पर्कायस्यणविधि नानीहि, ज्ञान्ता च नथा कुरु यथा बहुद्यः प्रष्टन्यं न भवित ॥११५०॥ शिष्यः प्रतिमणति—
रूरे तम्म तिगिच्छी, आउरपुच्छा उ जुज्ञए नेणं ।

मार्गिहिति महीणा, गुनमादि जना नऽहिजामि ॥ ११५१ ॥

25 'तम्य' आनुग्स 'दृर' दृग्वनीं मः 'चिक्रिमी' वैद्यः अन आनुरस्य क्रियाया अपरिज्ञाने वैद्यानिके प्रच्छा युज्यते, सम पुनर्गुग्व आदिशब्दाद् उपाध्यायादयः स्वावीना एव, अनी ज्ञास्यन्ति न सगवन्तः स्वयमेव मदीयं स्वित्तम्, ज्ञानां च सम्यग् मां माग्यिप्यन्ति, यन एव- यन एवाई 'नावीये' न पद्यमीति ॥ ११५१ ॥ मृरिराह—

आगादकारणहिं, गुम्मादी ने जया न होहिति।

तद्या कहं नु काहिमि, नहा व मी अंघला थेरी ॥ ११५२ ॥ आगाँदेः कुम्मदिमिः कार्णयंदा ति गुर्वादयस्त्र सार्याना न भित्रप्यन्ति तदा क्यं नाम स्वं करिप्यमि १ यथा वाऽमावन्धः स्वविरः ॥ ११५२ ॥ तथाहि—

१ वित, अतस्यमपि सुप्रमधीस्य पर गः ॥

अह सुय थेर अंधछगत्तणं अत्थि मे वह अच्छी। अप्पदण्ण पलित्ते, डहणं अपसत्थन पसत्थे ॥ ११५३ ॥

सोमिल-स्यान्धस्य-विरस्योदा-हरणम्

उजेणी नाम नगरी । तत्थ सोमिलो नाम वंमणो परिवसइ, सो य अंघलीमूओ । तस्स य अह पुत्ता, तेसिं अह भजाओ । सो पुत्तेहि भन्नति—अच्छीणं किरिया कीरउ । सो पडि-भणइ—- तुट्रम अट्टण्हं पुत्ताणं सोलस अच्छीणि, सुण्हाण वि सोलस, वंभणीए दोन्नि, एते छ चउत्तीसं, अन्नस्स य परियणस्स जाणि अच्छीणि ताणि सद्याणि मम, एते चेव पभ्या। अन्नया घरं पिलत्तं । तत्थ तेहिं अप्पद्त्नेहि सो न चितओ नीणिउं तत्थेव रहंतो दृहो । एस अपसत्यो दिइंतो । मा एवं डिज्झिहिसि संसारे असुमकम्मेहि ॥

इमो पसत्यो-तत्थेव अंधलयथेरो । नवरं तेण कारिया किरिया । सो मणुस्साणं भोगाणं भाभागी जाओ । एवं तुमं पि पढिचा कज्जाकज्जं वियाणिचा संसारातो नित्यरिहिसि ॥

द्वितीयम-10 न्धस्याह-रणम्

अथ गाथाक्षरार्थः सोमिलस्थविरस्याष्टी खुताः । परं तस्यान्धत्वं वभूव । गाथायामन्धश-ब्दाद् "निद्युत्पत्रपीतान्धाङः" (सिद्ध० ८—२—१७३) इति प्राक्वते स्वार्थिको रुप्रत्ययः। स च पुत्रैश्चक्षुश्चिकित्साकारणार्थमुक्तः सन् वक्ति—सन्ति मे पुत्रादीनां वहून्यक्षीणि, तैरेव मदीयं कार्यं सेत्स्यति । अन्यदा च गृहे प्रदीपनकं लग्नं ततस्ते पुत्रादयः "अप्पद्तन्न" ति आत्म-रक्षणपरास्त्वरितं प्रणष्टाः । स्थविरान्धस्य प्रदीते गृहे दहनम् । एपोऽप्रगस्तो दृष्टान्तः । प्रश्न-15 स्तस्तु विपरीतः, स चोपदर्शित एव । उपनययोजनाऽपि क्रुतैवेति ॥ ११५३ ॥ इत्यमप्यु-क्तोऽसौ न प्रतिपद्यते श्रुताध्ययनम् , अतो भूयोऽपि ^१ करुणापरीतचेतसः सूरयः प्राहुः—

> मा एवमसग्गाहं, गिण्हसु गिण्हसु सुयं तइयचक्खुं । किं वा तुमेऽनिलसुतो, न स्सुयपुच्चो जवो राया ॥ ११५४ ॥

सौम्य ! मैवमसद्ग्राहं गृहाण, गृहाण सूक्ष्म-च्यवहितादिप्वतीन्द्रियार्थेपु तृतीयचक्षुःकल्पं 20 श्रुतम् । किं वा त्वया न श्रुतपूर्वीऽनिलनरेन्द्रसुतो यवो राजा ? ॥ ११५४ ॥

कः पुनर्यवः ? इत्याह---

जव राय दीहपहो, सचिवो पुत्तो य गहभो तस्स । धूता अडोलिया गद्दमेण छूढा य अगडम्मि ॥ ११५५ ॥ पव्ययणं च नरिंदे, पुणरागमऽडोलिखेलणं चेडा। जवपत्थणं खरस्सा, उवस्सओ फरुससालाए ॥ ११५६ ॥

यवराजर्पि-कथानकम्

25

यवो नाम राजा । तस्य दीर्घपृष्ठः सचिवः । गर्दभश्च पुत्रः । दुहिता अडोलिका । सा च गर्दभेण तीन्ररागाध्युपपन्नेन 'अगडे' भूमिगृहे विषयसेवार्थ क्षिप्ता ॥ ११५५॥

तच ज्ञात्वा वैराग्योत्तरिक्षतमनसो नरेन्द्रस्य प्रवजनम् । पुत्रस्नेहाच तस्योज्जयिन्यां पुनः पुन-रागमनम् । अम्यदा च चेटरूपाणामडोलिकया कीडनं खरस्य च यवपार्थनम् । ततश्चोपाश्रयः ³⁰ - परुपः—कुम्मकारस्तस्य शालायामित्यक्षरार्थः ॥ ११५६ ॥ भावार्थः पुनरयम्—

उज्जेणी नगरी । तत्थ अनिलयुओ जवो नाम राया । तस्त पुत्तो गद्दभो नाम जुवराया ।

१ °पि परमकरुणा° मो॰ छे॰ ॥

25

तन्स घृण गृह्भन्स जुवरत्रो मङ्गी अडोलिया णान, सा य अतीवरुवदती । तस्स य जुव-रहो दीहपट्टी अन्हो । ताहे सो जुनराया तं अडोिलयं मिर्गिण पासिना अञ्जोननत्रो दुव्य-कीमन्ति । अमन्त्रेप पुच्छिनो । निव्यंये सिष्टं । अमन्त्रण मन्नति—सागारियं मनिसाति तो एसा मृनिवरे छुञ्नित, तस्य चुंजाहि ताए समें माए, छोगो जागिस्सति 'सा कहिं पि विनद्य'। 5 'एवं होड' ति क्यं । अक्षया सो राया तं^र कजां नाउं निवेदेण पवतिओ । गहमी राया जातो । सो य जुने। नेच्छति पहिरं, पुत्तनेहेण य पुणो पुणो उज्जेणि एति । अन्नया सो उज्जेणीर अदूरसामंते दबलेचं, तन्स समीवे वीसमति । तं च दबलेचं एगो खेचणळ्यो रक्ति । इंजों य एगा गहना तं जबसे चं चिरं इच्छिन वाहे तेण खेवपालरण सो गहमो मन्नति-

आधावसी पधावसी, मर्म वा वि निरिक्खसी ।

लक्किओं ने मया मात्रो, जबं पत्थेसि गह्मा ! ॥ ११५७ ॥

वयं भाष्यान्तर्गतः छोत्रः क्रशनकसमात्यनन्तरं व्यान्यस्ति, एवद्यवराविप छोकौ । तेण साहुणा सो सिकोगो गहिको । तन्य य चेडक्वाणि रनंति अडोल्लियाए, उंदोह्याए वि

मिनयं हो है। सा य तेर्नि रमंजापं अडोलिया नहा विके पिडिया । पच्छा तानि चेडरूवाणि इसो इसो य मनाति तं अडोडियं, न यसंति । एच्छा एनेप चेडक्वेण नं विछं पासिचा

15णायं—ना एस्य न दीसति सा नृपं एयन्ति विक्रमि पहिया । ताहे तेणं मन्नति-

इओ गया इओ गया, मन्गिर्जर्ता न दीसति । अहमेर्य वियाणामि, कैंगडे छृहा अहोलिया ॥ ११५८ ॥

मो वि वेपं सिलेगा परिजो । पच्छा तेप महिणा उद्धेणि पविसित्ता कुंमकारसारूए उञ्चले गहिओ । सो व दीहपट्टी अनची तेर्ण जवसाहुणा रायते विराहिओ । ताहे १९अमचो चितिति—'व्हं एयस वेरं निकाएनि!' वि कार्ड गहमरायं मणति—एस परी-सहरातिओं आगओं रजं पेंडेजनानों, अति न पित्रगति पेन्छहं से टबस्सप् आउहाणि I तेन य अन्बेन दुवं चेव वानि आइहानि तन्नि उवन्तर नृनियाणि पीचणवणनिमित्तं । रहा दिझानि । पविज्ञिनो । तीए च हंमकान्सालए उंदुरी हुन्चिउं हुन्चिउं जोसरित मएगं । ताह तेनं कुंनकारमं महति-

मुक्तमालग ! महलया ! , रनि हिंडणसीलया ! । मेंचे ते नित्य मंमूला, दीहपहाओं ने मयं ॥ ११५९॥

मो नि पेन सिटोगो गहिको । ताह मो गया तं नियरं माँएकामो रहं मगह । 'प्रासे रहारों होहि ति नाउं अनेचा सनं गीं फल्सलाउं अडीयो अच्छति । तर तेप साहुपा पहिंची पहनी सिक्रीनी-

१ वं अकर्ज रेका १ , इ जानि एसि पुषो चेव, पासेमु टिरिटिछसि । छिन्सतो ते मया मानो देन रग रम चूपों। बोलकति य अइसकति य, बहुसो य तं पलोपति। छिन्सबो ने नया मानो देन रग गण विशेषचूपों है ३ विले पहिना बहोतिया इते चूर्णिकद्-विरेग्नचूर्ण्हराहाः एक ॥ ४ दीहपहुस्त बीमेहि. पतिय ते ममतो भयं इते चूर्णी

आधावसी पर्धावसी, ममं वा वि णिरिक्लसी । लिक्को ते मया भावो, जवं पत्थेसि गद्दभा ! ॥ (गा० ११५७) रना नायं-वितिया मो, धुवं अतिसेसी एस साधू । तंओ वितिओ पढिओ-इओ गता इओ गता, मगिजांती ण दीसई । अहमेयं विजाणामि, अगडे छूढा अडोलिया ॥ (गा० ११५८) तं पि णेणं परिगयं, जहा--नातयं एतेण । तओ ततिओ पढिओ---

सुकुमालग ! मद्दलया !, रत्ति हिडणसीलगा ! ।

भयं ते णित्य मंमूला, दीहपट्टाओं ते भयं ॥ (गा० ११५९)

ताहे जाणति-एस अमचो ममं चेव मारेडकामो, कओ ममं पिता रीता होडं संते भोए परिचइत्ता पुणो ते चेव पत्थेति 2, एस अमचो मं मारेडकामो एवं जत करेइ । ताहे राया 10 अमचस्स सीसं छेत्तुं साहुस्स उवगंतुं सन्त्रं कहेइ लामेइ य ॥

अथ श्लोकत्रयस्याक्षरार्थः--आ-ईपद् आभिमुख्येन वा धावसि आधावसि, प्रकर्पेण पृष्ठतो वा धावसि प्रधावसि, मामपि च निरीक्षसे, रुक्षितस्ते मया 'भावः' अभिप्रायो यथा 'यवं' यवधान्यं चिरतुं पार्थयसि भो गईभ!। द्वितीयपक्षे यवनामानं राजानं मारियतुं भो गईभनृपते! प्रार्थयसीति प्रथमश्लोकः ॥ ११५७ ॥

इतो गता इतो गता, मृग्यमाणा न दृश्यते, अहमेतद् विजानामि 'अगडे' म्मिगृहे गर्तायां वा क्षिप्ता 'अडोलिका' उन्दोयिका नृपतिदुहिता वा । द्वितीयश्लोकः ॥ ११५८ ॥

मूषकस्य राज्ञश्च शरीरसोकुमार्यभावात् युकुमारक! इत्यामज्ञणम्, "भइलग" ति भद्राकृते!, रात्री हिण्डनशील ! मूपकस्य दिवा मानुपावलोकनचिकतत्या राज्ञस्तु वीरचर्यया रात्री पर्यटनशी-ललात्, भयं 'ते' तव नास्ति 'मन्मूलात्' मिन्निमित्तात् किन्तु 'दीर्घप्रष्ठात्' एकत्र सर्पात् अपरत्र 20 तु अमात्यात् 'ते' तव भयमिति तृतीयश्लोकः ॥ ११५९ ॥ ततः स राजर्पिश्चिन्तयति—

> सिनिखयव्यं मणूरोणं, अवि जारिसतारिसं। पेच्छ ग्रद्धसिलोगेहिं, जीवियं परिरक्खियं ॥ ११६० ॥

शिक्षितव्यं मनुप्येण अपि यादशतादशम्, पश्य मुग्धेरपि श्लोकेर्जीवितं परिरक्षितम् ॥ ११६० ॥ तथा-

> पुँच्वविराहियसचिवे, सामच्छण रत्ति आगमी गुणणा। नाओ मि सचिवघायण, खामण गमणं गुरुसगासे ॥ ११६१ ॥

पूर्व विराधितो यः सचिवस्तस्य राज्ञा सह 'सामच्छण' पर्योलोचनम् । ततस्तयो रात्रो तत्रा-गमः । तस्य च राजर्पेस्तदानीं पूर्वपिठतश्लोकत्रयस्य गुणना । ततः 'ज्ञातोऽस्प्यहम्, नृनमितश-यज्ञानी मदीयः पिता, कुतो वा एप महात्मा पटपान्तलमतृणवद् लीलयेव राज्यं परित्यज्य मृय-30 स्तदङ्गीकारं कुरुते १ तदेप सर्वोऽप्यसेवाऽमात्यस्य कृटरचनाप्रपञ्चः १ इति परिभाव्य सचिववातनं कृत्वा खिपतुः क्षामणं कृतवान् । ततस्तस्य राजर्षेः 'अहो ! ते भगवन्तो मामनेकशो भणन्ति

१ नायं मो० छे॰ ॥ २ राया होउं मो० छे० ॥ ३-४ एतहायाद्विकं विशेषचुर्णी न दस्यते ॥

श्रुनाघ्य-यने गुणा स--वार्य ! अवीप्वात्रीप्व स्त्रम् , परमहमात्मवैरिकतया नापाठिपम् , यदि नाम ईद्दरानामपि मुख्यक्षोकानां पठितानामीदृशं फलमाविरमृत् किं पुनः सर्वजोपज्ञश्चतस्य मविप्यति ?' इति विचिन्त्य गुरुसकारो गमनम् । ततो मिथ्यादुर्फतं दत्त्वा सम्यक् पठितुं लग्न इति ॥ ११६१ ॥

किञ्च श्रुताष्ययनेऽमी अम्यियका गुणाः—

आयहिय परिण्णा भावसंवरी नवनवी अ संवेगी । निकंपया तवी निजरा य परदेसियनं च ॥ ११६२ ॥

आत्महितं १ परिज्ञा २ मावसवरः ३ नवनवश्च मंत्रगः ४ निष्कम्पता ५ तपः ६ निर्नरा च ७ परदेशिकतं च ८ इति हारगाथासमासार्थः ॥ ११६२ ॥ अय वित्तरार्थमाह-

आयहियमजाणंतो, मुज्झति मृहो समादिश्रति कम्मं ।

कम्मेण तेण जंतू, परीति भवसागरमणंतं ॥ ११६३ ॥ 10

अनर्षातश्रुतः सन् आत्मना हितम्—इह-परह्णेकपव्यमनानन् मुह्मति, हितेऽप्यहितनुद्धिम् अहितेऽपि हित्रबुद्धिं करोतीति भाव । मृदश्च 'कर्म' ज्ञानावरणीयादिकं निविद्यतरं समाद्ते । तेन च कर्मणा जन्तुः 'पर्येति' परिश्रमति सबसागरमनन्तम् ॥ ११६३ ॥

अयात्महिते परिज्ञाते को गुणः ? इत्याह—

आयहियं जाणंतो, अहियनिवित्तीएँ हियपवित्तीए । 15 हनइ नती सी तम्हा, आयहियं आगमेयन्त्रं ॥ ११६४ ॥

थात्महितं जानानः अहिताद्—आत्म-संयम-प्रवचनोपयातकाद् निवृत्ते। हिते—संयमाद्युपका-रिणि प्रवृत्ती यतः प्रयन्त्रनासी भवति, तसाद् आत्महितम् 'आगमयितव्यम्' आगमनं आगमः-परिज्ञानं वद्गोचरमानेत्रव्यमिति ॥ ११६४ ॥ गतमात्महितद्वारम् । अय परिज्ञाद्वारमाह—

सन्झायं नाणंतो, पंचिदियसंग्रहो तिगुत्तो य । 20

होइ य एक्नगमणो, विषाएण समाहिओ साहु ॥ ११६५ ॥

'साघ्यायं' श्रुतं नानानः साद्यः पञ्चस्तिन्त्रियेषु इष्टा-ऽनिष्टविषयराग-द्वेपपरिहारण संवृतः पञ्चेन्द्रियसवृतः, त्रिषु-मनावाङाययोगेषु गुप्तस्त्रिगुप्तः, भविन च 'एकाप्रमनाः' शुमध्यानेकमानमः

'विनयेन' गुर्नोदियु शिरोनमना-ऽञ्जलिबन्यादिलक्षणेन 'समाहितः' सम्यगुपयुक्त इति । अत्र च 25 ''सञ्झायं नाणंता'' इत्यनेन ज्ञपरिज्ञा ''पंचिदियसंत्रहो'' इत्यादिना तु यत्यान्यानपरिज्ञाऽसिहि-

तेति इष्टन्यम् ॥ ११६५ ॥

गतं परिज्ञाद्वारम् । अथ भावमंवरमाह—

नाणेण सव्यमात्रा, नझंते जे जहिं जिणक्खाया । नाणी चरित्तगुत्तों, मावेण उ संबरी होइ ॥ ११६६ ॥

ज्ञानन भर्वेऽति-अञ्चेषा हिता-हितन्त्या भावा ज्ञायन्ते ये यत्रोपयोगिनो जिनेराम्यादाः। अत एव ज्ञानी चारित्रगुप्तः 'मात्रन' नत्त्वहत्त्या संवरो मवति । गुण-गुणिनोरमेदविवश्रणादेवं निर्देशः ॥ ११६६ ॥ अथ "नवनवो य सवेगो" (गा० ११६२) इति व्याख्यानयन्नाह-

१ °फ्टतं स्टना सम्य° मा॰ ॥

जह जह सुयमोगाहइ, अईसयरसपसरसंज्ञयमपुन्यं। तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसद्धाओ ॥ ११६७ ॥

यथा यथा 'श्रुतम्' आगममपूर्वमवगाहते, कथम्मूतम् ! 'अतिशयरसप्रसरसंयुतम्' अति-शयाः-अर्थविशेषास्तेषु यो रसः-श्रोतृणामाक्षेपकारीं गुणविशेषस्तस्य यः प्रसरः-अतिरेकस्तेन संयुतं - युक्तम् । यद्वा श्रवणं श्रुतम् , तत् कथम्भृतम् ? अतिशयस्य - अर्थस्य रसः - आस्तादनं तत्र 5 यः प्रसरः-गमनं तेन संयुतम्। अपूर्वे यथा यथाऽनगाहते तथा तथा सुनिः 'प्रहादते' शुममान-सुलासिकया मोदते । कथम्भूतः ? इत्याह---नवनवः-अपूर्वापूर्वो यः संवेगः-वैराग्यं तद्गर्भा श्रद्धा-मुक्तिमार्गामिलापलक्षणा यस्य स नवनवसंवेगश्रद्धाक इति ॥ ११६७ ॥

गतं नवनवसंवेगद्वारम् । अथ निष्कम्पताद्वारमाह-

णाणाणत्तीऍ पुणो, दंसणतवनियमसंजमे ठिचा ।

10

विहरह विसुज्झमाणी, जावजीवं पि निकंपी ॥ ११६८ ॥

ज्ञानस्य या आज्ञप्तिः-आदेशः ''जाए सद्धाए निक्खंतो तमेवमणुपारुए" (आचाराङ्ग श्र० १ अ० १ उ० ३) इत्यादिकस्तया दर्शनप्रधाने तपोनियमरूपे संयमे स्थित्वा कर्ममलेन विशु-ध्यमानः सन् यावज्जीवमपि 'निप्कम्पः' स्थिरचित्तवृत्तिः 'विहरति' संयमाध्वनि गच्छतीति ॥ ११६८ ॥ गतं निष्कम्पताद्वारम् । अथ तपोद्वारमाह---15

बारसविहम्मि वि तवे, सर्विभतरवाहिरे कुसलदिट्टे ।

न वि अत्थि न वि अ होही, सज्झायसमं तवीकम्मं ॥ ११६९ ॥

द्वादशिवधेऽपि तपिस 'साम्यन्तरवाहें' सहाऽऽभ्यन्तरेण येद् वाह्यं तत् साभ्यन्तरवाहाम् । तत्राभ्यन्तरं तपः पोढा-

प्रायश्चित्त-ध्याने, वैयावृत्त्य-विनयावथोत्सर्गः ।

20

स्वाध्याय इति तपः षट्प्रकारमाभ्यन्तरं भवति ॥ (प्रशम० आ० १७६)

बाह्यमपि पोढा---

अनशनमूनोद्रता, कृतेः सह्वेपणं रसत्यागः ।

कायक्केशः संलीनतेति वाह्यं तपः प्रोक्तम् ॥ (प्रशम० आ० १७५)

तथा कुशा:-द्रव्यतो दर्भादयो भावतः कर्माणि तान् कर्मरूपान् कुशान् छनन्ति-समूलानुत्पाट-25 यन्तीति कुशलाः, ''पृषोदरादयः'' (सिद्ध० ३--२-१५५) इति रूपनिप्पत्तिः, तीर्थकरा इत्यर्थः, तैर्दृष्टे—कर्मक्षपणकारणतया केवलदृष्ट्या वीक्षिते, पैरं वाचनादिरूपो यः स्वाध्यायस्तत्समं—तत्तुल्यं तपःकर्म नास्ति नापि भविष्यति चशब्दाद् न चामृत्, प्रमृततरकर्मक्षपणहेतुत्वादिति ॥११६९॥

गतं तपोद्वारम् । अथ निर्जराद्वारमाह-

जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ महुयाहि वासकोडीहिं। तं नाणी तिहिं गुत्ती, खवेइ ऊसासमेत्तेण ॥ ११७० ॥

80

यद् अज्ञानी जीवो नैरयिकादिभवेषु वर्त्तमानो बह्दीभिर्वर्षकोटीमिः कर्म क्षपयित 'तत्' कर्म

ज्ञानी 'त्रिपु' मनोवाक्कायेषु गुप्तः सन् उच्छ्वासमात्रेणापि कालेर्न क्षपयित ॥ ११७० ॥ गतं निर्नराहारम् । अय परदेशकत्वहारमाह—

आय-परसम्रतारो, आणा वच्छछ दीवणा मत्ती । होति परंदसियंत्त, अव्वीच्छित्ती य तित्यस्स ॥ ११७१ ॥

गिठतः सन् परेषां देशकर्त्व-मागेदेशित्वं करोति, तिसन् आत्मनः परस्य च समुचारो भवति । तथाहि—स सामुन्वातेश्रुतः सन् अपरान् सामृन् अध्यापयन् आत्मनो ज्ञानावरणीयं कर्म उपहिन्त, ते च साववा ज्ञानोपदेशेनाऽचिरादेवापारसंसारमहोद्येक्तरिन्त । एवं च क्ववेता तीर्थ-कृतामाज्ञा अध्याप्यमानसामृनां च वात्मस्यं तथा दीपना—यमावना मिक्किश्व पारमेश्वरप्रवचनस्य एतानि कृतानि सवन्ति, तीर्थस्य चाऽत्र्यविच्छित्तराम्त्रिता सविति । एते गुणाः परदेशकर्वे । यवन्तिति ॥ ११७१ ॥ गर्वं परदेशकर्वे । ततिश्चावित्ता "आयहिय" (गा० ११६२) हत्यदि हारगाथा । अय पक्वत्रयोजनां कुवेशाह—

जिणकप्पिएण परायं, जिणकारे सो उ केवर्लाणं वा । सो सणइ एव भणिनो, कत्य अहीयं भयंतर्हि ॥ ११७२ ॥

अत्र जिनकल्पिकेन प्रकृतम् । 'स तु' जिनकल्पिको नियमाद् जिनस्य—तीर्थकरस्य काले वा 15साद् अपरेषां वा गणवरादीनां केवलिनां काले । ततः 'सः' शिप्यः 'एवं' हेतु-हप्रान्तेः 'मणितः' प्रज्ञापितो मणित—मगवन् । यद्यवं ततः पटाम्यहम् परमाचल्रतां पृज्याः—कृत्र 'मदन्तेः' मगवद्भिरवीतं यसादसी शिज्यो जिनकल्पिको मिनित्रति स च जिनकाले वा मवत् केवलिकाले वा श ॥ ११७२ ॥ अतः म आचार्यः प्रतित्र्यात्—

अंतरमणंतरे वा, इति उदिए पृलिनायमाहंसु ।

²⁰ चिक्खंहण य नायं, तम्हा उ वयामि जिणम्लं ॥ ११७३ ॥

अन्तरं-परम्परकेण मयाऽघीतम् अनन्तरं वा । तत्र यदि म आचार्यां गणधरिष्ठाप्यत्यसाप्या-राद्धा ततः 'परम्परकेणार्थातम्' इत्यमिद्व्यात् । अयासा गणधर एव ततः 'अनन्तरं निनसकाय एव मयाऽवीतम्' इति त्र्यात् । 'इति' एवम् 'उदिते' आचार्येणाऽमिहिते स शिष्यां धृिस्त्रातं चिक्खछ्वातं चान्त्रातवान्—यथा घृष्ठिरेक्त्र स्थापित्वा तत उद्ध्यान्यत्र यत्रान्त्रीयंतं तत्रावस्यं 25 किश्वित् परिश्रदति, नतोऽप्यन्यत्र प्रसीर्यमाणा स्यस्तरा परिश्रदतिः यथा वा प्रामादं सिष्यमाने मनुत्रपरस्यत्या चिक्खङः प्रयास्थाणो बहुपरिश्रदितः स्तोक्तमात्रावरोष एव सर्वान्तिसमनुष्यस्य इन्तं प्रामातिः एवमताविष स्त्रार्थां परस्यर्था गृह्यमाणो परिश्रदतः, तस्मातु 'जिनमूर्ल'-तीर्थ-करोपक्रण्टमेव वज्ञापि, तत्राविनष्टमेव सृत्रं मिवित्यतीति ॥ ११७३ ॥

कः पुनचत् परिग्रदति १ इत्याह—

3/3

पय-पाय-मक्खरेहिं, मत्ता-त्रोसेहिं ता ति परिहीणं। अति य रवि-राय-हत्थीं, पगाम सेता पया चेत्र ॥ ११७४ ॥ परे: पाँदेरकरेमीत्रया वोषेत्री अभिज्ञव्हाद् तिन्दुना वा परिहीणं मत्रति परम्यर्या अवीयमानं १ °बीतः साधून् २० मो० छाँ०॥ २ सत्रद्भिः मा० त० ४०॥

श्रुतमिति प्रक्रमः । 'अपि च' इत्यभ्युचये, भगवतः समीपे अधीयमानानां कारणान्तरमप्यस्तीति भावः । किं यादशो रवेः—आदित्यस्य प्रकाशः ईदृशः किं खद्योतादीनां सम्भवी ? यादशं वा राज्ञः सेवा विधीयमाना फलमुपढौकयति ईदृशं किममात्यादीनां सेवा सम्पादयति ? यादशानि वा महान्ति हस्तिनः पदानि ईदशानि किं कुन्थूनां सम्भवन्ति ? एवं यादशानि महार्थानि भग-वतस्तीर्थकृतो वचनानि ईटशान्यपरेपां किं कदाचिद् भवन्ति ? इत्यतस्तीर्थकरोपकण्ठमेव वजामि छ ॥ ११७४ ॥ इत्थं शिप्येणोक्ते सूरिराह-

> कोट्टाइचुद्धिणो अत्थि संपयं एरिसाणि मा जंप। अवि य तिहं वाउलणा, विरयाण वि कोउगाईहिं ॥ ११७५ ॥

यथा कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तं तदवस्थमेव चिरमप्यवतिष्ठते न किमपि कालान्तरेऽपि गलति, एवं येपु सूत्रा-ऽर्थों निक्षिप्तौ तदवस्थावेव चिरमप्यर्वतिष्ठेते ते कोष्ठबुद्धयः । आदिशञ्दात् पदा- 10 नुसारिवुद्धयो वीजवुद्धयश्च गृह्यन्ते । तत्र ये गुरुमुखादेकसूत्रपदमनुसूत्य शेपमश्चतंमि भृयस्तैरं पदनिकुरम्बमवगाहन्ते ते पदानुसारिबुद्धयः, ये त्वेकं वीजमूतमर्थपदमनुस्तय शेषमवितथमेव प्रमूततरमर्थपदनिवहमवगाहन्ते ते वीजबुद्धयः, एवंविघाः कोष्ठादिबुद्धयः साम्प्रतमपि सन्ति येपु सूत्रार्थी न परिशटत इति भावः । तद् ईदशानि धूलिज्ञातादीनि 'मा जल्प' मा वृहि । अपि च 'तत्र' भगवतः समीपे अधीयमानानां 'विरतानामपि' साधूनामपि कौतुकादिभिः 'व्याकुळना' 15 व्याकुलीकरणं भवति, सकलस्यापि लोकस्य कौतुकहेतुत्वात् । कौतुकं-समवसरणम्, आदि-यहणेन भगवतो धर्मदेशनाश्रवणादिपरियहः ॥ ११७५ ॥

अथ किमिदं समवसरणम् ? इति तद्वक्तव्यतां प्रतिपिपादियपुद्वीरगाथामाह---

समवसरणवक्तव्यता

समोसरणे केवहया, रूव पुच्छ वागरण सोयपरिणामे । दाणं च देवमल्ले, मल्लाणयणे उवरि तित्थं ॥ ११७६ ॥

समवसरणविपयो विधिर्वक्तव्यः । "केवइय" ति कियतो म्भागाद् अपूर्वसमवसरणे अदृष्ट-पूर्वेण साधुना आगन्तव्यम् ?। "रूवं" ति भगवतो रूपं वर्णनीयम्। "पुच्छ" ति किमुत्कृष्ट-रूपतया भगवतः प्रयोजनम् १ इति प्रच्छा प्रतिवचनं च वाच्यम् । "वागरणं" ति च्याकरणं भगवतो वक्तव्यम् , यथा युगपदेव सङ्गातीतानामपि प्रच्छतां व्याकरोति । तथा श्रोतृपु परि-25 णामः श्रोत्रपरिणामः स वक्तन्यः, यथा भागवती वाणी सर्वेषां स्वस्वभाषया परिणमते । वृत्ति-दानं प्रीतिदानं वा कियत् प्रयच्छन्ति चक्रवर्त्त्यादयस्तीर्थकरप्रवृत्तिनिवेदकेभ्यः ? । तथा 'देव-माल्यं' विलः, देवा अपि तत्र गन्धादि प्रक्षिपन्तीति कृत्वा तत् कः कथक्कारं करोति ? इति ।

"मल्लाणयणे" त्ति तस्य च माल्यस्यानयने यो विधिः । "उवरि तित्यं" ति उपरि प्रथमपौरुप्यां च्यतीतायां 'तीर्थं' प्रथमगणधरो धर्मदेशनां करोति । तदेतत् सर्वमिभधातन्यमिति द्वारगाथा-30

सद्वेपार्थः ॥ ११७६ ॥ अथैनामेव प्रतिद्वार विवरीपुराह—

१ °वतिष्ठते ते डे॰ विना॥ २ °स्तरपद॰ त॰ डे॰ का॰॥

जत्य अपुट्योमरणं, जन्य व देवो महिहिओ एह । बाउदय पुण्फ बहरु, पागारतियं च अमिओगा ॥ ११७७॥

'केन्न' क्षेत्र महबसरणम् 'अपूर्वम्'—अवृत्तपृत्वे यत्र वा मृत्यृत्वेममवसरणेऽित देवो महिद्विको बिन्तुम् 'णृति' आगच्छित तत्र नियमतः ममवमरणं मवतीिन वाक्यरोपः, अयोदापसम् अन्यत्र धन नियम इति । तत्र क्ष्यं कृतिनि ? इत्याह्—''वाउद्य' इत्यादि । सक्तादेः मम्बन्धिन आमियोन्या देवाः सत्तामिनो नियोगाद् मगवता मनवमिर्त्यमाणां सुवमागन्य योजनपरिमण्डछं संवत्क्रवातं विकृतिन्ति, तेन च सर्वतः प्रस्तेता रेणु-तृप-काष्ट्रादिकः क्षवरुगिकनः मर्वोऽित बहिः विष्यते, ततो माविरेणुमन्त्रामेपछान्त्रये उद्कृत्वर्तं विकृत्यं तेन सुरमिगन्योदक्रवर्षं कुर्विन्ति, ततः पुणवर्त्छं विकृत्यं वानुदर्शनयोनिष्टिमवृत्तां पुण्यद्यष्टं निम्नजन्ति, तत्रश्चानी प्राक्षान्त्रयं १० कुर्वन्ति ॥ ११७० ॥ क्ष्यपः इत्याह—

अर्विमनर-मज्झ-चाँहं, विमाण-जोह-मवणाहितकयाओ । पायाग निम्नि मवे, ग्यण कणने य ग्यए य ॥ ११७८ ॥

आम्यन्तर-मध्यम-बाह्या यथाकमं विमान-ज्यादि-मंबनाविषकृताः प्राकाराखयो मवन्ति । तत्राभ्यन्तरः प्राकारो रेंबर्निवृत्तः 'राल'—रक्षयः, तं विमानाविषतयः कुर्वन्ति । मध्यमः १४प्राकारः 'कानकः' क्नकमयः, तं ज्योतिच्या देवाः कुर्वन्ति । बाह्यः प्राकारः 'राज्ञतः' रूप्यमयः, तं भवनाविषदयः कुर्वन्तिति ॥ ११७८ ॥

> मणि-र्यण-हेमया वि य, ऋविसीना मञ्चर्यणिया दान । मञ्चरयणामय चिय, पहाग-अय-तारणा चिना ॥ ११७९ ॥

आभ्यन्तरप्राकारस्य मिनवानि क्रिकींपंकाणि, मध्यमप्रकारस्य रत्रमयानि । अय मणीनं
²⁰रहानां च कः प्रतिविद्देशिः ! उच्यते—चन्द्रकान्ताद्यो मणयः, इन्द्रनीलादीनि रहानि;
अयद्या सलस्सुद्भवा मणयः, जलस्सुद्भवानि रलान्युच्यन्ते । ग्राध्याकारस्य हेममणीनि—जान्यसुवर्शनयानि करिद्दांपंकाणि । एतानि च यद्याक्रमं वर्मानिक-ज्योतिष्क-भवनण्ययः स्वस्त्राकरस्य
कुर्विन्ति । प्राकान्त्रयेऽनि प्रत्येकं सत्तेरत्नमयानि चर्त्वारि चर्चारि द्वाराणि, तथा मवेरत्नमयान्येव
पत्राका-अवस्थवानानि तोर्णानि मवन्ति । क्रयन्त्रनानि । 'चित्राणि' चन्द्रनक्रव्य-सिक्त-मुक्त²⁰दामदिनिरनेक्त्राणि अश्वयेक्तरीणि वा ॥ ११७९ ॥ व्यन्तरक्रत्यमाह—

चेद्दुम पेट छंद्रग, आसण छत्तं च चामराओ य । चं चऽनं करणिखं, करिति तं वाणमंनिर्या ॥ ११८० ॥

किस्यहमन् अञ्चान्नहस्यम्बन्दराकार्स नहुमव्यदेशमाने मगदतः समागाद् हादशगुणस-सुच्छ्रम् । तसादान्द्रत् पीठं सर्वरत्रम्यम् । तसापि पीठसोपरि चेन्यवृष्टसायसाद् देवच्छ्रन्द-२०कम् । तस्य देवच्छन्दक्त्याम्यन्तरे सिद्दास्तम् । तसोपि च्छ्यातिच्छ्यम् । 'चः' समुचये । दमयपार्श्वत्रश्चामरे यस्हन्ताने । चश्च्याद् सगदतः तुरतो वर्मचकं पद्यप्रतिष्ठितम् । यस 'क्षन्यद्' १ "ज्ञय श्रुष्ट्यं नगरं गर्मा वा ज्ञय द्वादेशं स्वयन्त्रा देवान्यः व

१ "ज्ञ्य शतुर्वं नगरं गर्मो हा ज्या दा देशे महिद्विशे वंदगी एति तत्य निर्वेग मन्ति" दित चुर्णी है २ विकृत्य मेन मे॰ टे॰ ॥ ३ अस्यन्तरकु° डे॰ त॰ छं॰॥

वातोवकादिकं 'करणीयं' कर्चव्यं कुर्वन्ति तद् वानमन्तरा देवा इति ॥ ११८० ॥ आह किं यद् यत् समवसरणं भवति तत्र तत्रायमित्यं नियोगः ! उत न १ इति, अत्रोच्यते—

साहारण ओसरणे, एवं जित्थिहिमं तु ओसरई। एको चिय तं सन्वं, करेइ भयणा उ इयरेसिं॥ ११८१॥

साधारणं—यत्र वहवो देवेन्द्रा आगच्छन्ति तत्र समवसरणे 'एवम्' अनन्तरोक्तो नियोगः । 5 यत्र तु 'ऋद्धिमान्' कश्चिदिन्द्रसामानिकादिः 'समवसरति' आगच्छति तत्रैक एवासो 'तत्' प्राकारादिकं सर्वमिष करोति । "भयणा उ इयरेसि" ति यदीन्द्रादयो महर्द्धिका नागच्छन्ति ततः 'इतरे' भवनवास्यादयः कुर्वन्ति वा न वा समवसरणमित्येवं भजना कार्येति ॥

अत्र विशेषचूर्णाविर्देथं विशेषो दृश्यते—चाउक्कोणा तिन्नि पागारा रह्जंति चउद्दारा । अिंभतिरह्यो लोहियक्लेहि, मिन्झह्यो पीयएहि, वाहिरिह्यो सेयएहि । सद्यो समीसरणभागो 10 जोयणं । अिंभतर-मिन्झमाणं पागाराणं अंतरं जोयणं । मिन्झम-वाहिराणं पागाराणं अतरं गाउअं ति ॥ ११८१ ॥

इत्थं देवैः समवसरणे विरचिते सित यथा भगवान् तत्र प्रविशति तथाऽभिधातुकाम आह— स्रुहृदय पच्छिमाए, ओगाहिंतीऍ पुच्चओ एति ।

दोहिं पडमेहिं पाया, मग्गेण य होति सत्तडने ॥ ११८२ ॥

'स्योंदये' प्रथमायां पौरुष्याम् अपराह्णे तु पश्चिमायाम् 'अवगाहमानायाम्' आगच्छन्त्यामित्यर्थः 'पूर्वतः' पूर्वद्वारेण भगवान् 'एति' आगच्छति प्रविश्वतीत्यर्थः । कथम् ' इत्याह—ह्योः
'पद्मयोः' सहस्रपत्रयोर्देवपरिकल्पितयोः पादौ स्थापयित्रत्युपस्कारः। "मग्गेण य" ति प्राकृतत्वाद्
विमक्तिव्यत्यये 'मार्गतः' पृष्ठतो भगवतः सप्ताऽन्यानि पद्मानि भवन्ति, तेषां च यद् यत् पाश्चात्यं
तत् तत् पादन्यासं कुर्वतो भगवतः पुरतिस्तष्ठतीति ॥ ११८२ ॥

ततः प्रविश्य किं करोति १ इत्याह—

आयाहिण पुन्वमुहो, तिदिसिं पिडरूवयाँ य देवकया । जेष्ट्रगणी अन्नो वा, दाहिणपुन्वे अदूरिम्म ॥ ११८३॥

"आयाहिण" ति भगवान् चेत्यद्वमस्य प्रदक्षिणां विधाय पूर्वमुखः सिंहासनमध्यास्ते । यासु च दिक्षु भगवतो मुखं न भवति तासु तिसृष्विप तीर्थकराकारधारकाणि सिंहासन-चामर-च्छत्र-25 धर्मचकालंकृतानि प्रतिरूपकाणि देवकृतानि भवन्ति, यथा सर्वोऽपि लोको जानीते 'भगवानसाकं पुरतः कथयति' । भगवतश्च पादमूलं जघन्यत एकेन गणिना—गणधरेणाऽविरहितं भवति, स च ज्येष्ठोऽन्यो वा भवेत्, प्रायो ज्येष्ठ एव । स च ज्येष्ठगणिरन्यो वा पूर्वद्वारेण प्रविदय दक्षिण-पूर्वे दिग्भागे 'अदूरे' प्रत्यासन्न एव भगवतो भगवन्तं प्रणिपत्य निपीटंति । शेषा अपि गणधरा एवमेवाभिवन्द्य ज्येष्ठगणधरस्य मार्गतः पार्श्वतश्च निपीटन्तीति ॥ ११८३ ॥

१ °करोति । अत प्वाऽऽवश्यकचूर्णिकृताऽभ्यधायि—असोगपायवं जिणउद्यचाओ वारसगुजं सको विडव्वति इत्यादि । "भयणा उ भा॰ पुन्तनं ॥ २ °त्थं पठाते मा० ॥ ३ °या जिणवरस्स । जेट्ट॰ ता० ॥ ४ °दिति इति कियाध्याहारः । रोपा भा०॥

20

प्रविश्य तीर्थकरादीनिमवन्य दक्षिणपश्चिमदिग्मागे यथाक्रममेव तिष्ठन्ति ॥ ११८६ ॥ भवणवई जोइसिया, वोधव्या वाणमंतरसुरा य । वेमाणिया य मणुया, पयाहिणं जं च निस्साए ॥ ११८७ ॥

भवनपतयो ज्योतिप्का वानमन्तरसुराश्च एँते भगवन्तमियन्च यथोपन्यासमेव पृष्ठतः पृष्ठत उत्तरपश्चिमे दिग्मागे तिष्ठन्तीति बोद्धव्याः । वैमानिका देवा मनुष्याः चशव्दाद् मनुष्यस्त्रयश्चं 5 प्रदक्षिणां कृत्वाः तीर्थकरादीनिमवन्द्योत्तरपूर्वे दिग्मागे यथाक्रममेव तिष्ठन्तीति । ''जं च निस्ताए'' ति यः परिवारः 'यं' देवं मनुज वा 'निश्राय' निश्रां कृत्वा आगतः स तस्येव पार्थे तिष्ठति ॥ ११८७ ॥ अत्रान्तरे भाष्यादर्शेषु केषुचिदेता गाथा दृश्यन्ते—

अणगारा वेमाणियवरंगणा साहुणी य पुन्वेणं।
पविसंति विविद्दमणि-रयणिकरणिनकरेण दारेणं।। १।। [प्र०]
जोइसिय-भवण-वणयरद्यिता लायन-रूवकिलयाओ।
पविसंति दिक्खणेणं, पडाय-स्रयपंतिकलिएणं।। २।। [प्र०]
जोइसिय भवण वणयर, ससंभमा लिलयकुंडलाहरणा।
पविसंति पच्छिमेणं, वि तुंगदिप्पंतिसहरेणं।। ३।। [प्र०]
समिहंदा कप्पोवगदेवा राया नरा य नारीओ।
पविसंति उत्तरेणं, पवरमणिमऊहओहेणं।। ४।। [प्र०]

एताश्च द्वयोरिष चूर्ण्योरगृहीतत्वात् प्रक्षेपगाथाः सम्भाव्यन्ते । उक्तार्थाः सुगमाश्चेति ॥ अभिहितार्थोपसङ्ग्रहायाह—

एकेकीऍ दिसाए, तिगं तिगं होइ सिनिविद्धं तु । आइ-चरिमे विमिस्सा, थी-पुरिसा सेम पत्तेयं ॥ ११८८ ॥

एकेकस्यां दिशि त्रिकं त्रिकं 'सिन्निविष्टम्' उपविष्टम् ध्वेस्थितं वा भवति । तथाहि—दक्षिणपूर्वस्यां दिशि संयता वैमानिकाजनाः सयत्यश्चेति त्रयम् , अपरदक्षिणस्यां भवनपति-ज्योतिष्कव्यन्तरदेवीनां त्रयम् , उत्तरापरस्यां भवनपति-ज्योतिष्क-ज्यन्तरदेवाना त्रयम् , उत्तरपृर्वस्यां वैमानिकदेव-मनुष्य-मनुष्यीणां त्रयमिति । अत्र चासे चरमे च त्रिके विमिश्राः स्त्री-पुरुपाः, न्त्रियः
पुरुपाश्चोभयेऽपि भवन्तीति भावः । 'शेषयोस्तु' मध्यमयोर्द्वयोश्विकयो । स्त्रियः पुरुपाश्च 'प्रत्येक्तमिति' १३ऽऽ
निर्मिश्रा एव भवन्तीति ॥ ११८८ ॥ तेषां चेत्यं स्थिताना सुर-नराणां स्थितिमाह—

इंतं महिद्धियं पणिवयंति ठियमवि वयंति पणमंता ।
न वि जंतणा न विकहा, न परोप्परमच्छरो न भयं ॥ ११८९ ॥

येऽल्पर्द्धयः पूर्व भगवतः समवसरणे स्थितास्ते आगच्छन्त महर्द्धिक 'प्रणिपतन्ति' नमस्कु-र्चन्ति । अथ महर्द्धिकः प्रथमं स्थितः ततो येऽल्पर्द्धयः पश्चादागच्छन्ति ते महर्द्धिकं पूर्विम्यत-९० मपि प्रणमन्तो-व्रजन्ति यथास्थानम् । तथा नापि तेपां तत्रस्थितानां 'यग्नणा' 'न गन्तन्यं भवता

१ "एते अवरदारेण पवितिना" इलियकं चूर्णी विद्योपचूर्णी न ॥ २ "उनरेणं पवितिना" इलियकं चूर्णी विद्योपचूर्णी न ॥

10

20

25

ञतः स्तानात्' इति छत्रणा, न 'विकया' स्त्रीकथादिन्द्रमा सामान्यतो वार्चा प्रवन्धात्मका वा, न परस्परं 'मत्सरः' प्रद्वेषः, न 'मयं' सन्नासः कुतोऽपि वरुवतो वैरिणः सकाद्यात्, प्रत्युत मगवतः साम्यपुणसिन्द्वपृरेण हावितमनसां तेषां विर्हीयन्ते विरोधानुवन्धविषोर्मय इति ॥ ११८९ ॥ अण्ह प्राकाराणां वाद्ययोद्वयोरन्तरयोः के तिष्टन्ति ? इत्याह—

विद्यस्मि होंति निरिया, तद्दए पागारमंतरे जाणा । पागारजंदे निरिया, वि होंनि पत्तेय मिस्सा वा ॥ ११९० ॥

हिनीय प्राकारान्तरे मवन्ति 'तिर्यञ्चः' सिंह-हस्त्यादयः । तृनीये तु प्राकारान्तरे 'यानानि' वाहनानि भवन्ति । 'प्राकारलदे' प्राकाररहिते वहिरित्यर्थः तिर्यञ्चः, अपिशञ्दाद् मनुत्य-देवा अपि प्रत्येकं मिश्रा वा भवन्ति ॥ ११९० ॥ एवं समवसरणे विरचिते सति किं भवति ! इत्याह—

सन्दं व देसविरदं, सम्मं घेच्छद् व होद्द कहणा उ । इहरा अमृदलक्लो, न कहेड् भविस्सद्द न तं च ॥ ११९१ ॥

सवैविर्ति वा देशविर्ति वा सम्यन्दर्शनं वा कश्चिद् श्रहीप्यतीति ज्ञात्वा मगवतः 'कथना' धर्मदेशना भवति । 'इत्रया' मन्यक्त्वप्रहणस्याप्यमात्र मृढं—विपर्ययमुपगतं लक्ष्यं—ज्ञेयवन्तु यस्य स मृहल्क्ष्यो न तथा अन्हल्क्ष्यो यथावस्थितवन्तुवर्दाति मावः, एवंविधो मगवान् 'न कथ्यति' १५ कल्गेति वर्मदेशनान् । आह यद्येवं तर्हि नमवसरणकरणप्रयासो विवुधानानपार्थकः प्राप्तो-तीत्याह—भविष्यति न तच्च यद् मगवत्यपि धर्मकथां कुर्वाणेऽन्यतमोऽप्यन्यतमत् सामायिकं न प्रतिप्रचते, मगवतः सातिश्रयत्वात् । नविष्यत्कालनिर्देशिवकालोपलक्षणार्थः ॥ ११९१ ॥

आह यद्येवं ति कियिन्त सानायिकानि ननुत्र्यादयः प्रतिपद्यन्ते ? इत्याह— मणुए चउमन्नयरं, तिरिए निमि व दुवे व पिडविन्ने । जह नित्य नियमसो चिय, सुरेसु सम्मत्तपिडविन्नी ॥ ११९२ ॥

मनुष्यश्चनुषाँ सामायिकानां सम्यक्त-श्चत-दृञ्जित्तित्ति सर्विवरिति कृषाणामन्यत्तत् प्रतिषयते । निर्ययः 'त्रीणि वा' सम्यक्त्व-श्चन-दृञ्जिवरितिकृषाणि, हे वा सम्यक्त्व-श्चतसामायिके प्रतिषयन्ते । यदि मनुष्य-तिरश्चां मध्ये कश्चित् प्रतिषया नान्ति तनो नियमत एव 'सुरेषु' देवेषु कस्यापि सम्यक्त्वप्रतिपिनर्भवति ॥ ११९२ ॥ स च मगवानित्यं धर्ममावष्टे—

नित्यपणामं काउं, कहेद साहारणण सद्देणं। मञ्जेसिं सन्नीणं, जीयणनीहारिणा मगर्वं।। ११९३॥

'नम्तीयोय' इन्यमिवाय प्रणानं च कृत्वा सर्वेषां सुर-नरार्दानां संज्ञिनां जीवानां 'साधारणेन' स्वन्यपापिरिणमनसमर्थेन 'योजननीहारिणा' योजनन्यापिना शब्देन मगवान् वर्मं कथयति । किस्कं भवति ?—भगवतो दिन्यव्यनिरदेयाणानपि समवसरणवर्षिनां मंज्ञिजन्तृनां जिज्ञासि- अनार्थप्रनिपत्तिनिवन्थनस्पत्रायते ॥ ११९३॥

लाह इन्डरूयोऽनि भगवान् किमिनि तीर्थमणानं करोति ? इति उच्यते— तप्युन्तिया अरहया, पृह्यपूया य निणयमृष्ठं च । कयिकचो नि जह कहं, कहेह नमए तहा तित्थं ॥ ११९४ ॥ 'तीर्थं' श्रुतज्ञानं तत्पूर्विका 'अर्हता' तीर्थकरता, न खलु भवान्तरेषु श्रुताभ्यासमन्तरेण भग-वत एवमेवाऽऽर्हन्त्यलक्ष्मीरुपढोकते । तथा पूजितस्य पूजा पूजितपूजा, सा च तीर्थस्य कृता भवति, पूजितपूजको हि लोकः, ततो यद्यहं तीर्थं पूज्यामि ततस्तीर्थकरस्यापि पूज्यमिदमिति कृत्वा लोकोऽपि पूजयिप्यति । तथा विनयमूलं धर्मं प्ररूपयिप्यामि, अतः प्रथमतो विनयं प्रयुक्ते, येन लोकः सर्वोऽपि मद्भचन सुतरां श्रद्द्षीत । अथवा कृतकृत्योऽपि भगवान् यथा कथां व कथयति तथा तीर्थमपि नमति । आह नन्वेतद्प्यसमीचीनं यत् कृतकृत्यः सन् धर्मदेशनां करोति, नैवम्, अभिप्रायापरिज्ञानाद्, भगवता हि तीर्थकरनामगोत्रं कर्मावश्यवेदयितन्यम्, तस्य च वेदनेऽयमेवोपायो यद् अग्लान्या धर्मदेशनादिकरणम्, ''तं च कहं वेइज्जह ! अगिलाए धम्मदेसणाईहि'' ति (आव० नि० गा० १८३) वचनात् ॥ ११९४॥

गतं समवसरणद्वारम् । अथ "केवइय" त्ति द्वारम् । कियतो भूभागादवश्यं समवसरणे 10 आगन्तव्यम् १ इत्याह—

> जत्थ अपुन्वोसरणं, न दिहपुन्वं व जेण समणेणं । वारसिंह जोयणेहिं, सो एइ अणागमे लहुगा ॥ ११९५ ॥

यत्र नगरादौ 'अपूर्व समवसरणं' विवक्षिततीर्थकरापेक्षया अमृतपूर्व येन वा श्रमणेन न दृष्ट-पूर्व स द्वादशभ्यो योजनेभ्यो नियमतः 'एति' आगच्छति । यदि त्ववज्ञया नागच्छति तदा 15 चत्वारो रुघवः प्रायश्चित्तम् ॥ ११९५ ॥ अथ रूपद्वारमाह—

सन्वसुरा जइ रूवं, अंगुद्वपमाणयं विउन्त्रिजा । जिणपायंगुद्वं पइ, न सोहए तं जिहंगालो ॥ ११९६ ॥

कीदृग् भगवतो रूपम् १ इत्याह—'सर्वसुराः' वैमानिकाद्यः सम्भूय यदि सार-सारतर-सारतमान् पुद्गलान् गृहीत्वा अङ्गुष्ठप्रमाणकं रूपं विकुर्वेयुः (विकुर्युः) तथापि जिनपादा सुष्टं २० प्रति उपमीयमान तद् न शोभते, यथाऽङ्गार इति ॥ ११९६॥

साम्प्रतं विनेयजनानुप्रहाय प्रसङ्गतो गणधरादीनामपि रूपसम्पदिभिषित्सयाऽऽह—

गणहर आहार अणुत्तरा य जाव वण-चिक-वासु-वला। मंडलिया जा हीणा, छट्टाणगया भवे सेसा ॥ ११९७॥

तीर्थकररूपसम्पदः सकाशाद् अनन्तगुणहीना गणधरा रूपतो भवन्ति । गणधररूपाद् अन-23 न्तगुणहीनाः खल्वाहारकदेहाः । आहारकदेहरूपाद् अनन्तगुणहीना अनुत्तरोपपातिनां देहाः । ततोऽप्यनन्तगुणहीना उपरितनोपरितनभेवेयकदेवदेहाः । एवं यावदीभानकल्पदेवरूपाद् अनन्तगुणहीनाः सोधर्मकल्पदेवदेहाः । ततो भवनपति-ज्योतिष्क-वनचर-चक्रवर्ति-वासुदेव-वलदेव-महामण्डलिका अपि रूपतो यथाक्रममनन्तगुणहीना द्रष्टव्याः । ततः शेपराज्ञानो जनपदलोकाश्य पह्स्यानगताः परस्परं भवन्ति । तद्यथा—अनन्तभागहीना वा १ असत्त्रेयभागहीना वा २ ३० सत्त्रेयभागहीना वा ३ संख्येयगुणहीना वा ४ असत्त्रेयगुणहीना वा ६ अनन्तगुणहीना वा ६

१ यदि नाग° भा॰ त॰ विना॥ २ गतं केवइय सि द्वारम्, अथ डे॰ ॥ ३ उपनीयमानं भा॰ विना॥

25

'मंहत्तं' वज्रक्षरमतागच्य, 'राम' अन्तरोक्त्यम, 'मंसानं' समचतुरस्य, 'वरीः' विह्न्छाण, 'रातिः' सहरावेत्वातुर्वारांगं सुक्रिता, 'सत्तं' वेयम, सारा द्विण—वाद्य आस्य-त्यस्य, वारो गुल्वमः आस्य-त्यस्य, वारो गुल्वमः आस्य-तेत्रस्यम्, 'क्यायं' ति उच्छाम-निःश्वाय-संत्यम्, एक्पादीति वन्ति तस्य सगवतः 'अनुवर्गाण' अन्त्यसामान्यानि सवितः, आदि-श्रक्ताद् गोक्षीगीतं विद्या-द्वित्यं चर्यचक्षुणसगीचगवाद्या-तिहारेगं इत्यादि । एतानि च 'रामेन द्याद्' नामनाहः क्रमेणः ग्रुस्टरस्योद्यात् 'तस्य' सगवते। उन्तराणि सवित्य।। १९८॥ क्रिब्र— पर्याद्यां अन्नास्यक्षीत्रस्य उद्या अण्यानग होति ।

पय्डीपं अन्नामऽवि, पमन्य उद्या अणुत्तम होति । न्वयउत्रममे वि य नहा, जयम्मि अविगप्यमाहंसु ॥ ११९९ ॥

प्रकृतिनम् 'अन्यानामां' नामकितिरिकानां गोजदानां प्रवक्ती उद्या देवगैंजित्ताद्ये स्वान । अपिडकाद् नामोऽपि ये उक्तकितिन्द्याः नेमान्य-मोन्दर्य-च्छाकीर्तिप्रमृत्यनेऽपि परिगृद्यने । एने च किनिज्ञतनस्य प्रद्यनाः ? उत्त न १ इत्यत आह—'अनुद्यनः' अद्यान-श्रह्याः । ''व्यव्यप्ते वि य उह' नि कर्मगां श्योत्यप्ते छति ये जान-कमाद्यः क्र्यविद्यान् पत्तेऽपि त्रेष्व मगदतोऽज्ञुत्ताः । 'क्ष्ये' शायिक पुतर्मात्रं वर्षमान्यः मगदतः क्षय्वद्यानादिकं गुप्तस्पुद्यम् 'अविक्रसं' वर्मनादिविकस्पानीतं सर्वेत्त्रम् "आहंमु" नि आस्याज्यनः श्रद्यम् इति ॥ ११९९ ॥ आह् क्षेत्रिक्तिक्यानाद्याः श्रद्यन्य दुःचदा न महन्ति । इति अत्रोत्यने—

> अम्मायमाह्याङो, जा वि य अमुहा हवंति पर्गाडांश्रो । निवरमञ्जु व्य पण्, न होति ता अमुह्या तस्म ॥ १२०० ॥

'वरातवाः' वरातवेदर्नायद्ये या वर्ति चार्युमा महन्ति प्रकृतवना वर्ति निम्हासका इत् 'न्यिन' हुत्वे न महन्ति वर्युमदा वर्युमदा वा तस मगदत इति ॥ १२०० ॥ वय हक्यद्वारम् । वाह उत्कृतसम्बर्धा मगदनः द्वि प्रयोजनम् १ इति व्यत्रोच्यते—

वस्पेद्र्ण नवं, ऋति स्वित्यणा वि वह वस्तं । गन्द्रवजा य सुनवा, पत्तिमा स्वयेवं तु ॥ १२०१ ॥

वर्मसन्त्रमञ्ज्ञीतवरम्योद्देन वर्ग महत्तीति गोन्मात्र्य क्षेत्रगेठीत वर्षे प्रवर्तन्ते । तथा कुर्वन्ति 'वर्गविनोठित' न्यहन्तोठित वर्षि वर्षे तदः होतेः सुत्तनं क्लेत्र्य इति क्षेत्रहृतिः प्रक् चित्तं । 'आवत्रक् च' कार्रेयदात्रमः सुन्य पुल्यो महति, चक्षत्रमाहुक्तसमुक्तवार्थन्तत् क्षेतृयां अन्यविमानाद्वारी च । अतः प्रशंसामा वर्षे मगवदो कार्मविमिति ॥ १२०१ ॥

गते न स्युच्छाह्ने । अय ज्याला गहारत् । माजन् देव-मर्गति श्रां प्रमृतपंक्षितां व्यालतं कुर्वत् अयं पंत्राव्यक्तिकांतं अगेरिते । इस्तुव्यते—सुगरेदेकेते । निर्वचते । याह् यसैकेटैं-१ वस्य संश्रुवे को त सैंकेकं संगयं परिपाट्या व्यवच्छिन्यात् ततः को दोषः स्यात् ? इत्याह— कालेण असंखेण वि, संखाईयाण संसईणं तु । मा संसयवोच्छित्ती, न होज कमवागरणदोसा ॥ १२०२ ॥

कालेन 'असद्ययेयेनापि' पल्योपमादिना सद्यातीतानां सग्रयिनां संशयव्यवच्छित्तिः कमव्या-करणदोपाद् न भवेत्, अंत एतद् मा भृदिति भगवान् युगपद् व्यागृणातीति ॥ १२०२ ॥ इ अथ युगपद्याकरणे गुणानाह—

> सन्वत्थ अविसमत्तं, रिद्धिविसेसो अकालहरणं च सन्वन्नुपचओ वि य, अचिंतगुणभृह्ओ जुगवं ॥ १२०३॥

'सर्वत्र' सर्वसत्त्वेषु 'अविषमत्तं' युगपित्रर्वचनेन तुल्यत्वं मगवतो भवति, राग-द्वेषरिहतस्य तुल्यकालसंशियनां युगपिजज्ञासतां कालमेदेन कथने राग-द्वेषगोचरिचतृत्तिसम्भावनाप्रसङ्गात् । 10 ऋद्धिविशेषश्चाय भगवतः, यद् युगपत् सर्वसगियनामशेषसंशयव्यविच्छित्तं करोति । तथा परिपाट्या कथने कस्यापि सशियनोऽनिवृत्तसगयस्येव कालेन—मृत्युना हरणं स्यात्, अतोऽकाल्हरणं युगपित्रर्वचने भवति । तथा सर्वज्ञप्रत्ययोऽपि च तेषामित्थमेव भवति, कमव्याकरणे तु कस्यचिदनपनीतसंशयस्य सर्वज्ञपतीतिरिप न स्यात् । तथा अचिन्त्या—अप्रमेया गुणभृतिः—गुण-सम्पदियं भगवतः, यदेकहेल्यैव सर्वेषामिप सशयव्यपनयनम् । एतेः कारणभगवान् युगपत् । कथयतीति ॥ १२०३ ॥ गतं व्याकरणद्वारम् । अथ श्रोतृपरिणामद्वारम् । तत्र यथा सा पार-मेश्वरी वाग् अशेषसगयोन्मूलनेन परिणमते तथा प्रतिपादयन्नाह—

वासोदगस्स व जहा, वन्नादी होंति भायणविसेसा । सन्वेसिं पि सभासं, जिणभासा परिणमे एवं ॥ १२०४ ॥

'वर्षोदकस्य' वृष्टिपानीयस्य वाशव्दाद् अन्यस्य वा यथेकरूपस्य सतः 'वर्णादयः' वर्ण-गन्ध-20 रस-स्पर्शाः 'भाजनिविशेषाद्' भूमिकाद्याधारिवशेषाद् विचित्रा भवन्ति । यथा कृष्ण-सुरिभमृत्ति-कायां वर्षोदकं पतितं खच्छ सुगन्धं सरस च भवति, ऊपरभृमिकायां विपरीतम्; एवं सर्वेषा-मिष श्रोतृणा खख्माषां प्रति 'जिनभाषा' जैनी वाणी परिणमते । उक्तव्व परमिषिनः—

सा वि य ण भगवओ अद्धमागहा भासा भासिज्ञमाणी तेसिं सञ्वेसिं आयरियमणायरियाणं दुपय-चउप्पय-मिय-पसु-पिक्ति-सिरीसिवाणं अप्पप्पणो भासत्ताए परिणमः ॥ (समवायाः ३४ 25 समवाये)॥ ॥ १२०४॥ भगवद्वाच एव साभाग्यगुणप्रतिपादनायाह—

साहारणा-ऽसवत्ते, तओवओगो उ गाहगगिराए।

न य निव्यिञ्जइ सोया, किढिवाणियदासिआहरणा ॥ १२०५ ॥
'साधारणा' सर्वसिज्ञनां भाषामु सामान्याः यद्वा क्षीर-खण्डाटीनि मधुरद्रव्याण्येकत्र मीलितानि
यथा मुखादुतया साधारणानि भवन्ति एवमसावप्यतीवमुखादुतया साधारणाः नरकाटा पततो वा ३०
जन्तून् या सम्यग् धारयति साधारं—परित्राणं करोतीति साधारणा । 'अगपत्रा' अनन्यमदर्शाः,
यस्या वा अपरवाग्भिर्व्याघातो न कियते । माहिका—अर्थपरिच्छेटकारिणी ना चासा गीश्च

१ अतो भग° भा० ॥ २ °यति सा साधारणा भा० त० उँ० पा० ॥

प्राहकर्गाः । एवंविषायां तसास्पर्यागः-एकाप्रता तदुपयोगः, तुशुक्यस्यविषारणार्थतात् तदुप-योग एव श्रोतुर्भवति, नानुपयोगो न चान्यत्रोपयोग इति । उपयोगे मन्यप्यन्यत्र निर्वेददर्शनात् तस्यामि निर्वेदः स्यादित्याद्—न च निर्विद्यते श्रोता सागवर्गा वाचं शृष्वन् । कृतः सक्वयम-र्थोऽवगन्तव्यः ! इत्याह—किहिवाणिजदास्युदाहरणान—

ग्रास्त वाणियगस्य किंटी टार्मा किंटी थेरी । मा गोमे कहाणं गया । त्रहा-छुहाकिंटता मज्जाहे आगता । 'अतिथेवा कहा आणिय' ति विहित्ता मुक्तिखय-तिमिया पुणो पहितया । मा य दहुं कहमारं गहाय ओगाहंनीए पिट्टिमाए पोरिसीए आगच्छह । को कालो ? जेहा-मूल्यामा । अह ताए य थेरीए कहमाराओ एगं कहं पिडयं । ताए ओणिमता तं गिह्यं । तं-समयं च नगवं तिखारंग धन्मं किंदियाहं तो लोयणर्नाहारिणा सरेणं। सा थेरी नं सहं मुणेती 10 तहेव ओण्या सोडमादता । उन्हं खुई पिवामं परिस्पमं च न विदृह । सुरत्यमणे नित्ययरो धन्मं कहेडमुहिनो । थेरी गता ॥

मञ्त्राउत्रं पि सोया, झिवज जह हु सययं जिणो कहए । सी-उप्ह-ख़ु-प्यित्रासा-परिम्मम-भए अविगणितो ॥ १२०६ ॥

श्रेनेव द्यान्तेन यदि 'हुः' निश्चितं स्ततं 'तिनः' नीयेङ्करः क्रयेयत्, ततः श्रोता 'ईतोष्ण-15 क्षितिमामार्गारश्रममयान्यदिगगणन्' छीतं—हिमस् उष्मस्—आत्रः क्षितियामे प्रनीते परिश्रमः— मार्गगमनादिसहरूषः सर्य-श्रतिण्लादिक्षनितम् एतान्यविन्द्रमाना सगवतो धर्मदेशनां श्रुष्ट्रम् सबोद्युष्ट्रम्भिति क्षयेविति ॥ १२०६॥

गतं श्रोतृपरिणानहारम् । अय वानहारम् । मगवान् येषु नगग-ऽऽक्रमदिषु विहरित तैस्यो दिवसदेवित्रेष्ठं वार्णा ये सख्वानयन्ति यया भगवान अद्यासुत्र क्षेत्रे विहरित देशे यद् १० भगवान अद्यासुत्र क्षेत्रे विहरित हित तेयां यद् १० भगवित्रेवदर्जानिवद्वरहिष्ठ्ये परिमापितं संवन्यगीनयनं दानं द्यायते तद् वृत्तिदानम्, यद् प्रमा सनगरे सगवदागमनिवदेदकाय निष्ठकायानिष्ठकाय वा हर्षप्रकर्माविक्षदमानसर्वायनं तद् प्रानिदानम्, एतद् व्रयमि यथा चक्रवर्त्यदयः प्रयच्छन्ति तथा प्रतिपादयन्नाह—

विची इ सुत्रश्रम्सा, वारस अहं च मयमहस्माई । चात्रहर्य चिय कोडी, पीईदाण तु चैकीण ॥ १२०७॥

25 इचित्रलं सुनगेस 'हात्म अर्ढ च स्वत्यहत्वानि' अर्द्धत्रयोदस सुनगेल्या इत्यर्थः । 'तात्रय एव' अर्द्धत्रयोदस्यमाणा एव सुनगेस कोरयः श्रीतिदानम् । केमान् १ इत्याह—चक्रवर्तिनाम् ॥ १२००॥

> एतं चेव पमाणं, नवरं रययं तु केसवा दिनि । मंडलियाण सहस्ता, वित्तां पीई सयमहस्ता ॥ १२०८॥

हैं। एनदेव तमानं इति-श्रीतिदानयोः, 'नवां' केवलं 'रहनं' मध्यं 'केठवाः' वायुदेवा दृद्धि । 'मन्द्रिक नां' सहां सहवान्यक्षेत्रये दृश्यतमाणानि मध्यस्य दृतिदानम्, श्रीतिदानं पुनर्रद्धत्रयो-दृश्यतप्रहृद्धानि इति ॥ १२०८ ॥

१ चक्रिस्त ८०॥

20

25

30

किमेत एव महापुरुषाः प्रयच्छन्ति १ आहोश्चिदन्येऽपि १ इत्याह— भत्ति-विभवाणुरूवं, अने वि य दिति इन्ममाईया । सोऊण जिणागमणं, निउत्तमनिओइएसुं वा ॥ १२०९ ॥

'भक्ति-विभवानुरूपं' यावती यस्य भगवद्विपया भक्तिः यावती च यस्य विभृति स तदनुमाने-नेत्यर्थः, अन्येऽपि च ददति 'इभ्यादयः' इभमर्हतीति इभ्यः, यस्य सत्क्रयुवर्णादिद्रव्यपुक्षेनान्त- 5 रितो हस्त्यपि न दृश्यते सः, अभ्याधिकद्रव्यो वेत्यर्थः, आदिशव्दाद् नगर-ग्रामभोगिकादयः। कदा दृत्याह—श्रुत्वा 'जिनस्य' तीर्थकृत आगमनं नियुक्तेभ्योऽनियुक्तेभ्यो वा॥ १२०९॥

आह तेपामित्थं वृत्ति-प्रीतिवाने प्रयच्छतां के गुणाः ? इति उच्यते—

देवाणुवित्ति भत्ती, पूया थिरकरण सत्त्रअणुकंपा।

साओदय दाणगुणा, पभावणा चेव तित्थस्स ॥ १२१० ॥

चक्रवर्त्यादिभिरित्थं प्रयच्छद्भिर्देवानामनुदृत्तिः कृता भवति, देवा अपि भगवतः पृजां कुर्व-न्तीति कृत्वा भगवति पूज्यमाने तेपामपि महान् परितोषो भवतीत्यर्थः । तथा भक्तिभगवतः कृता भवति । तीर्थकरपूजायां च स्थिरीकरणमभिनवश्राद्धानां भवति । सत्त्वानां भगवत्प्रदृत्तिनिवे-दकानामनुकम्पा विहिता भवति । 'सातोद्यं' सातवेदनीयं कर्म विशिष्टदिव्य-मानुप्ययुखोपभोग-फंलं वध्यते । एतेऽनन्तरोक्ता दानगुणाः । प्रभावना चेव तीर्थस्य कृता भवति—अहो । 15 अमीपां धर्मः श्रेयान् यत्र स्वदेव-गुरुभिक्तसम्भारस्रभगमीद्द्यमौदार्यमिति ॥ १२१० ॥

गतं दानद्वारम् । अथ देवमाल्यद्वारम् । भगवान् प्रथमां सम्पूर्णपोरुपीं धर्ममाचष्टे । अत्रान्तरे देवमाल्य प्रविगति, वलिरित्यर्थः । आह कस्तं करोति ? इत्याह—

राया व रायमचो, तस्सासइ पउर जणवओ वा वि । दुव्वलिकंडिय वलिछडिय तंदुलाणादगं कलमा ॥ १२११ ॥

'राजा वा' चक्रवर्ति-माण्डलिकादिः, 'राजामात्यो वा' राजो मन्नी। 'तस्य' राजो राजामात्यस्य वा 'असित' अभावे 'पोरं' नगरनिवासिविशिष्टलोकसमुदायः 'जनपदो वा' ग्रामादिवास्तव्यजनसमु-दायो दुर्विलक्या कण्डितानां खण्डीकर्तुमशक्तत्वाद् वलवत्या च्छिटितानां निःशेपतुपापनयनात् तन्दुलानाम् 'आढकम्'

दो असईओ पसई, दो पसईओ य सेइआ होड । चडसेइओ ड कुडवो, चडकुडवो पत्थओ नेओ ॥

ण्वंविधेश्चतुर्भिः प्रस्थेरेक आढको निप्पद्यते, एवंपरिमाणं "कलमं" ति आर्पत्याद् विभक्तित्र्यत्यये 'कलमाना' शालिविद्योपाणा विलं करोति ॥ १२११ ॥ किविशिष्टानाम् १ इत्याह—

भाइयपुणाणियाणं, अखंड-ऽफ़िडियाण फलगमरियाणं । कीरइ बली सुरा वि य, तत्थेव छुहंति गंधाई ॥ १२१२ ॥

भाजिताध्य ते पुनरानीताध्य भाजितपुनरानीताम्तेपाम् । तत्र भाजनम्-ईश्वरादिगृहेषु वीनना-र्धमर्पणम् , तेभ्यः प्रत्यानयनं पुनरानयनम् । तथा 'अखण्डा-ऽम्फुटितानाम्' अखण्डा.-सम्पूर्णा-

वयवाः अस्फुटिताः—राजीरहिताः, "फलकसरिताणं" फलकवीनितानाम् , एवम्मृतानां तन्दुलानां विलः क्रियते । सुरा अपि च 'तत्रैव' वला प्रक्षिपन्ति गन्यादीनिति ॥ १२१२ ॥

गतं देवमाल्यद्वारम् । अय माल्यानयनद्वारम् । तमित्यं तन्दुलादकपिरमाणं सिद्धं बलिमुपादाय राजादिस्त्रिदश्चगणपरिवृतो महता पद्रुपटहादितृर्यनिनादेन सक्तरुमपि दिष्णण्डलमापृग्यन्नागत्य उपवेद्वारेण प्रवेशयति । आह च चृणिकृत्—

तं आहगं तंदुराणं सिद्धं देवनहं राया व रायमचो वा पडरं वा गामो वा जणवओ वा गहाय महया तृरियरवेणं देवपरिवृडो पुरच्छिमिष्टणं ठारेणं पविमइ ति ।

तसिंश्च प्रवेश्यनाने मगवानिष धर्मदेशनामुपसंहरतीति । आह च-

विरुपविनणसमकालं, पुत्रवहारेण ठाइ परिकहणा।

10 तिगुणं पुरबो पाडण, तस्सद्धं अवडियं देवा ॥ १२१३ ॥

पृत्रेद्वारेण विष्ठप्रवेद्यनसमझालं 'तिष्ठति' उपरमने 'परिकथना' घर्मकथा। नतश्च स राजादिः प्रविद्य बल्जियप्रहस्तो मगवन्तं त्रि.प्रदक्षिणीङ्कत्य वर्लि तत्याद्यान्तिके पुरनः पानयति। तन्य चाईमपतितमेव देवा गृहन्ति॥ १२१३॥

अद्धं अहिवइणो, तद्द्धं मो होइ पागयजणस्य । सच्चामयप्पसमर्णा, कुप्पइ नऽन्नो य छम्मासे ॥ १२१४ ॥

देवगृहीतोहरितस्यार्द्धसार्द्धमिषपनेभैवति, राजादेविलिखामिन इत्यर्थः । 'तदर्द्धं' चतुमीगच्छणं 'मो' पादपूरण यद् बलेरान्ते तद् मवति 'प्राकृतजनस्य' प्रकृतिषु मवः प्राकृतो जनस्तस्य, इतर-लोकस्येत्यर्थः । तस्य चायं प्रमावः—यदि तत एकमात्रि सिन्यं शिरसि प्रक्षिप्यते तनः पूर्वोत्यक्षो रोगः सपदि विलीयते, अपूर्वेश्च प्रमासान् यावत्र प्राहुभैवनीति । आह च—'सर्वामयप्रशमनः' 20सर्वरोगोपश्चमनोऽयं विलः, गाथायां प्राकृतत्वात् स्वीत्वन्, कृष्यति न 'अन्यश्च' अपूर्वो रोगः पण्मानान् यावदिति ॥ १२१७ ॥

गतं मान्यानयनद्वारम् । अपरे लनन्तरोक्तं द्वारद्वयमध्येकद्वारीकृत्य व्याचक्षने नयाध्यविरोषः । इत्यं बले प्रक्षिप्ते मगवानुत्याय प्रथमप्राक्षारान्तरादुत्तग्द्वारेण निर्गन्य पृथेत्यां दिश्चि स्कृटिकमये देवच्छन्त्रके यथायुतं समाधिना व्यवतिष्ठने । अध 'उपरि तीर्थम्' इति द्वारम्—भगवत्यु- १० तिथते उपरि-द्वितीयपारच्यां तीर्थ-प्रयमगणघरोऽपरा वा धर्ममाचष्टे । आह मगवानेव किमिति नाचष्टे ! किं तत्त्रथने केऽपि गुणाः मन्ति ! उच्चतं, सन्तीति वृमः । के पुनतं ! इत्याह—

खेयविणोओ सीसगुपदीवणा पत्रओ उमयओ वि ।

सीसा-ऽऽयरियकमो वि य, गणहरकहण गुणा होति ॥ १२१५ ॥

मगवत खेदविनोदो मवति. परिश्रनिवशम इन्ययेः । तथा 'अहो ! अस्य मगवतः शिय्या २० अप्येवंविषव्यान्यानलन्त्रियमन्तः' इति शिय्यगुणदीपना कृता मवति । मस्ययश्चोमयनोऽपि श्रोतृ-णासुपनायते, यथा सगवताऽम्यवायि तथा गगवनोऽप्यमिषन्, न शिय्या-ऽऽचार्ययोः परस्यरं

र 'प्रदेश उमरतों के नि निरूषाण च पत्रद्याण र, वारिस्ट दिन्यर्थे क्वेदि दारिसं दिस्तों है इवेदि; अवन्यवादिने उमरतों दि निन रिष्णावादेशे परस्रकेरहं वजनम्' दिन सूर्णों विदेशपसूर्णी व॥

वचनविरोध इति; गणधरे वा तद्नन्तरं भगवदुक्तानुवादिनि प्रत्ययो भवति भगवद्विपयः श्रोतृणां यथा नान्यथावादीति । तथा जिप्या-ऽऽचार्यक्रमोऽपि च दर्जितो भवति, आचार्यादुप- श्रुत्य योग्यजिप्येण तदुक्तार्थव्याख्यानं कर्त्तव्यम् । एते 'गणधरकथने' गणभृतो धर्मदेशनायां गुणा भवन्तीति ॥ १२१५ ॥ आह स गणधरः क निपण्णः कथयति ? इखुच्यते—

राओवणीय सीहार्सणोवविद्वो व पायवीढम्मि ।

บ

जिद्धो अन्नयरो चा, गणहारि कहेइ चीयाए ॥ १२१६ ॥
राज्ञा उपनीते—ढोिकते सिंहासने वा तदमावे भगवतः पादपीठे वा उपविष्टः 'ज्येष्ठः'
प्रथमो गौतमस्वाम्यादिस्तदभावेऽन्यतरो वा गणं—साध्वादिसमुदायं गुणसमुद्यं वा धारियतुं
शीलमस्येति गणधारी कथयति द्वितीयायां पोरुप्यामिति ॥ १२१६ ॥

आह स कथयन् कथं कथयति ? इत्युच्यते---

10

संखाईए वि भवे, साहइ जं वा परो उ पुच्छिजा। न य णं अणाइसेसी, वियाणई एस छउमत्थो।। १२१७॥

भगवान् गणधरः सद्यातीतानिष भवान् ''साहइ'' ति कथयति । इदमुक्त भवति— असद्ययेषेषु भवेषु यद् वभृव भविष्यति वा तत् सर्वमिष कथयति । 'यद् वा' वस्तुजातं दुर-वगममिष परः प्रच्छेत् तदशेषमिष कथयतीति, अनेनाऽशेषाभिलाप्यपदार्थप्रतिपादनशक्तिमाह । 15 कि वहुना ? 'न च' नेव ''णं'' इति तं गणधरम् 'अनित्यर्या' अवधि-मनःपर्यायाद्यतिशयर-हितो विजानाति यथा 'एपः' गणधरः छद्मस्थः, किन्तु निःशेषप्रश्लोत्तरदानसमर्थतया सर्वज्ञोऽय-

मिति मन्यत इति भावः ॥ १२१७ ॥

एवं तावत् समवसरणवक्तव्यता प्रसद्गत उक्ता । अथ प्रकृतयोजनामाह-

तित्थयरस्स समीवे, वक्खेवी तत्थ एवमाईहिं। स्रत्तग्गहणं ताहे, करेइ सी वारस समाओ ॥ १२१८॥

20

तीर्थकरस्य समीपे 'तत्र' समवसरणे एवमादिभिः प्रकारेरध्ययनस्य व्याक्षेपो भवतीत्युक्ते स शिष्यः प्राह—'भगवन्! सत्यमेवतद् यद् आदिशत यृयं अत इहेव पठामि' इत्युक्ता सूत्रप्र-हणं द्वादश 'समाः' वर्पाणि करोति, द्वादशिमविषेः सकलस्यापि सूत्रस्याध्ययनं विद्धातीत्यर्धः ॥ १२१८॥ गतं शिक्षापदद्वारम् । अथार्थप्रहणद्वारं विवरीपुराह—

सुत्तम्मि य गहियम्मी, दिइंतो गोण-सालिकरणेणं । उवमोगफला साली, मुत्तं पुण अत्थकरणफलं ॥ १२१९ ॥

हारम्

सर्यप्रदण

स्त्रे गृहीते सति अवस्यं तस्यार्थः श्रोतन्यः । कि कारणम् ^१ इति चेद् उच्यते—हप्टान्तोऽत्र 'गवा' वलीवर्देन 'शालिकरणेन च' शालिक्षेत्रेण ।

तत्र गोद्दशन्तो यथा—कश्चिद् वलीवर्षः सकलमपि दिवसं वाह्यित्वा हलाद् अरघटाद् 30 गोद्दशन्तः वा मुक्तः सन् युन्दरामसुन्दरां वा चारि यां प्राप्तोति ता सर्वामनालाद्यन् चरत्येव । पश्चाद् प्रातः सन्तपविदय प्राक् चीण रोमन्थायते. रोमन्थायमानश्च तदा सादमुपलमते, तनोऽमी

१ °सणे च विद्वो गो॰ हे॰ ॥

नीरमं अचवरं परित्यज्ञित । एवनयमित गृहवासारवहाद् सकः प्रथमं यन् किसपि सृत्रं चारि-कर्ल्यं गुम्मकासाद्यविगच्छिति तन् सर्थनयीखादनिवरिहतं गृहाति । ततः स्त्रे गृहीतेऽयंत्र-हणं करोति । यदि पुनर्थं न गृहीयान् तदा तत् मृत्रं निरान्वादमेव सङ्घायते । अर्थे तु श्रुते सम्यक् नद्र्यनववृज्यमानः सद्यमा ज्यावदाचरस्युपदेखन्, परिहरति विन्दु-मात्रामदादिदोषदु-कृतान् क्रववरकस्यानमिलापानिति ॥

शांजिस्म-इयन्तः

ज्ञालिकरणहृष्टान्तः पुनर्यम्—यथा कर्षकः ज्ञार्छान् महृता परिश्रमण निष्पाद्य तते। स्वन-मन्न-पवनादिपिकियापुरम्परं कोष्टागारं प्रक्षिप्य यदि तेः ज्ञास्त्रिमः लाद्य-पेयार्जनासुप-भागं न करोति ततः ज्ञास्त्रिसहरूलसाम्रस्टः मन्यच्यतं । स्थामा करोति तः ज्ञास्त्रिमः यथाया-गस्त्रमागं ततः ज्ञास्त्रिमहृहः मक्तन्ते ज्ञायते । एवं हाद्यवापिके मृत्राच्ययनपरिश्रमे कृतेऽपि । व्यदि तदीयन्थे न शृणुयान् तदा स सर्वोऽपि परिश्रमो निष्पत्र एव मदेन् । स्वर्थे त श्रुतं सम्यगवर्थारिने च नक्तः स्वान् ॥

अत एवाह—उपरोगरूका काल्यः, मृत्रं पुनः 'अर्थक्रूणफलं' चरण-करणादिक्रपच्त्रार्था-चरणरूलम्, तच मृत्रोक्तार्थाचरणं श्रुत एवार्थे सक्ति नान्यथा ॥ १२१९ ॥ अतः—

जड़ वारस वासाइं, सुत्तं राहियं सुणाहि से अहुणा । वारम चेव समाओं, अन्थं तो नाहिसि न वा णं ॥ १२२० ॥

वारम चव ममाआ, अन्य ता नाहाम न वा ण १। १२२० ॥ यदि द्वादश वर्शीण त्वया मृत्रं गृहीतम्, अतः 'तस्य' मृत्रसार्थमद्युना द्वादशेव 'समाः' वर्शीण शृणु । तते।ऽर्थे शृष्ट्यन् स्वज्ञानावारक्षकर्मक्षयोपश्चमानुसारण ज्ञास्यसि वा न वा "णं" इति 'तं' विवक्षितमर्थम् ॥ १२२० ॥ किञ्च—

> सन्नाह्मुन नसमय, परसमय उस्परगमेव अववाए । होणा-ऽहिय-जिण-थेरे, अञ्जा काले य वयणाई ॥ १२२१ ॥

20

च्यास्-यादिकाः

मुझम्बानुः

इह मैं। नीन्द्रप्रवचने अने क्षा नुत्राणि मविन्त । तत्र किञ्चित् मंद्रास्त्रम् , यया—''ने छेए से मार्गार्यं न मेंचे ।'' (आचा० शु० १ अ० ५ उ० १) य. 'छेकः' पण्डितः सः 'मार्गारिकं' मेशुनं न मेचेत । अथवा—''सञ्चामगंबं परिचाय निरामगंबो परिच्यए ।'' (आचा० शु० १ अ० २ ३० ५) आमम्-अविद्योविकोटिः, गम्बं-विद्योविकोटिः । तया—''आरं

३० (४० (३० ५) आनम्-आवद्याविकाटिः, गम्ब-विद्याविकाटिः। तया—''आर ११ हिनुगणं गरं एननुगणं।'' 'आरं' संसारतं 'हिनुगन' नग-हेपयुगलेन् 'णरं' निर्वाणं तद् 'एक्सुगन' नग-हेपर्यारहारच्छ्णेन जीवः प्राप्तातीनि गम्यते। आदिप्रहणाद् देशीसापानियतं सत्र गृद्धने, यथा—''दिगिंडाण्नसहे' (उत्त० अ० २ नद्यमुत्रम्)। 'दिगिंडा' इति बुमुक्षा॥ स्त्रमयस्त्रं यथा—' करेनि संते! सामाह्यं' (सामायिकाव्ययनस्) इत्यादि॥

परपनयनुत्रं वया—

पंच संघे वयंतेने, वाळा ट समजोट्यो । (मृत्रकृट शृट १ अट १ टट १)
 डम्मामूत्रं यथा—"अमिक्समं निजिमई गया य" (दस्र व सृट २ गाट ७) इत्यादि।
 अम्बादमूत्रं यथा—

निष्हमत्रयगग्नम्, निमिज्ञा जन्म कृष्यई । जराए अभिमृयम्म, बाहियम्मा तबस्मिगो ॥ (दृद्य० अ० ६ गा० ५९) 'हीनम्' इति हीनाक्षरं येरक्षेरेविंना सृत्रस्यार्थों न पूर्यते, 'अधिकम्' इत्यधिकाक्षरम् , एव-विधं यत् पूर्वमजानता स्त्रमधीतं तस्यार्थं सम्यगवगम्य हीनं प्रतिपूर्यित अधिकं परित्यजित ॥ जिनकल्पिकसृतं यथा—

तेगिच्छं नाभिनंदिजा, संचिक्खऽत्तगवेसए।

एवं खु तस्स सामन्नं, जं न कुज्ञा न कारवे ॥ (उत्त० अ०२ गा० ३३)६ र स्थिविरकिल्पकसूत्रं यथा—भिक्खू अ इच्छिज्ञा अन्नयिरं तेगिच्छि आउंटिर्त्तए। अथवा जिनकैल्पिक-स्थिविरकिल्पकयोः सामान्यसूत्रमिदम्—

"संसद्टकप्पे ण चरिज्ज भिक्खू" (दश० चू० २ गा० ६)। आर्यासूत्रं यथा—"कप्पइ निग्गंथीणं अतोलित्तं घडिमत्तयं धारितए" (उ०१ सू०१६)॥ "कालि" त्ति कालविषयं किमपि सूत्रं भवति, यथा अनागत कालमङ्गीकृत्य— ॥ "न या लमेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ सम वा। (दश० चृ० २ गा०१०) इत्यादि॥

''वयणाई'' ति 'वचनम्' एक-द्वि-बहुवचनादिकं षोडगथा यथा पीठिकायाम् (गा० १६४),

तत्प्रतिपादकं सूत्रं यथा आचाराङ्गे भाषाध्ययने—

एगवयणं वयमाणे एगवयणं वएजा, दुवयणं वयमाणे दुवयणं वएजा, वहुवयण वयमाणे 15 बहुवयणं वएजा, इत्थीवयणं वयमाणे इत्थीवयणं वएजा । (पत्र ३८६-१) इत्यादि ॥

आदिशब्दाद् भयसूत्रादिपरिग्रहः । इत्थमनेकधा सूत्राणा सम्भवे तदर्थश्रवणमन्तरेण न शक्यते "कीदृशम् " इति विवेकः कर्न्तुमिति कर्त्तव्यमर्थग्रहणम् ॥ १२२१ ॥

अथ ते जिप्या ब्र्युः—'यः कण्ठतः स्त्रे निवद्धोऽर्थस्तेनेव वय तुष्टाः किमस्माकं दुरिष-गमत्वाद् वहुपरिक्षेत्रेन ''मज्जण निसिज्ज अक्खा'' (गा० ७७९) इत्यादिप्रिक्रियापुरस्सरमर्थ-20 प्रहणप्रयासेन ?' इति, ते इत्यंब्रुवाणाः प्रज्ञापयितव्याः । कथम् ? इत्याह—

जे सुत्तगुणा खलु लक्खणिम्म कहिया उ सुत्तमाईया। अत्थग्गहणमराला, तेहिं चिय पन्नविजंति ॥ १२२२ ॥

पीठिकायां रुक्षणद्वारे ये स्त्रस्य गुणाः "निद्दोस सारवत च" (गा० २८२) इत्यादिना कथिताः, यद्वा "सुत्तमाईय" ति "युत्त तु सुत्तमेव उ" (गा० ३१०) इत्यादिना प्रतिपा-१५ दिताः, 'तरेव' हेतुभिरर्थप्रहणे मराला.—अरुमाः शिष्या प्रजाप्यन्ते । यथा—भो भद्राः! निर्दो-प-सारवद्-विश्वतोमुखादयः स्त्रस्य गुणा भवन्ति, ते च यथाविधि गुरुमुखादर्थं शृयमाण एव प्रकटीभवन्ति । किञ्च यथा द्वासप्ततिकरूपण्डितो मनुष्यः प्रसुप्तः सन्न किञ्चित् तासा कराना जानीते एवं स्त्रमप्यर्थेनाऽवोधितं सुप्तमिव द्रष्टत्र्यम् । विचित्रार्थनिवद्वानि मोपस्काराणि च स्त्राणि भवन्ति, अतो गुरुसम्प्रदायादेच यथावदवसीयन्ते न यतस्तनः । इत्यं युक्तियुक्तर्यचोभि ३० प्रज्ञापितास्ते विनेयाः प्रतिपद्यन्ते गुरुणामुपदेशम्, गृहन्ति द्वादश वर्षाणि विधिवदर्थमिति ॥ १२२२ ॥ गतमर्थप्रहणद्वारम् । अथानियतवासद्वारम्—तत्रार्थप्रहणं समापिने निर्त यो

१ °कल्पस्थ° त॰ दे॰॥

विनेय आचार्यपद्याग्यः स नियमाद् द्वाद्य वर्षाणि देशदर्शनं कार्यितद्यः । शिष्यः पृच्छति—तेन द्वादश वर्षाणि स्त्रग्रहणं कृतं द्वादशमिवेषेर्यः समग्रोऽपि गृहीतः, अतो देश-दर्शनेन विना किमिवास्य न सिव्यति ? इति उच्यते—

थनियत-वाच्डारम् _ठ जइ वि पगामोऽहिगओ, देसीमासाजुओ तहा वि यत । उंदुय सिया य वीमुं, एरगमाई य पचक्खं ॥ १२२३ ॥

यद्यपि तेन 'प्रकांच' अर्थः मृत्रस 'अविगतः' सम्यग् विज्ञातस्त्रथापि 'खलु' निश्चयेनासा विनेयो देशदर्शनेन देशीमापायुतः कर्तव्यः । कुतः ? इत्याह—"उंदुय" इत्यादि । 'उन्दुकम्' इति स्थानम् । 'सिय' कि स्थात्शव्दा मनत्यर्थे आग्रद्धायां मननायां वा । तत्र मनत्यर्थे सुप्र-सिद्धः । आग्रद्धाया यथा—"दव्यथओ मानयओ दव्यथओ नहुगुण कि बुद्धि सिया ।" (आन० १९२) मननायां यथा—"सिय तिमागे सिय तिमागितमागे" (प्रज्ञा० प० ६ पत्र २१६—२) इत्यादि । "वीलुं" ति विष्वक् पृथगित्यर्थः । 'एरका' गुन्द्रा मद्रमुस्तक इत्यर्थ एते आदिप्रहणात् पयः पिचं नीरिमत्याद्यश्च शास्त्रप्रसिद्धाः शब्दानेषु तेषु देशेषु छोकेन तथातथा व्यवहित्यमाणा देशदर्शनं कुनेता 'प्रस्थक्न' इति प्रत्यक्षत उपरुक्तनते ॥ १२२३ ॥

आइ यद्यसा तान् प्रत्यक्षतो नोपङ्मेत ततः का नाम न्यूनता मन्तर् टच्यते—

15

जो वि पगासो बहुमा, गुणिओ पचक्खओ न उवलढो । जर्बयस्स व चंदो, फुडो वि संतो तहा स खलु ॥ १२२४ ॥

योऽपि 'प्रकासः' अर्थो बहुद्याः 'गुणितः' सम्यन्तिकृतः परं न प्रत्यक्षत उपल्टघ स जात्यन्यस्येत्र चन्द्रः स्फुटाऽपि सन् 'खलुः' अववारणे तथवास्फुट एव मन्त्रच्यः । इदमत्र हद-यम्—यथा चन्द्रः प्रकटोऽपि साक्षाइग्रेनं विना जात्यन्यस्य न परिस्फुटाकारः प्रतिमासते एव-20मस्यापि शाल्लानुमारत प्रकटा अपि प्रत्यक्षद्रग्रीनमन्तरेण न परिस्फुटा व्यवहारोपयोगिनोऽथीः प्रतिमासन्ते ॥ १२२१ ॥ यत्रक्षेत्रं ततः—

> आयरियत्तअमनिए, भयणा भनिओ परीह नियमणं । अप्यतह्ओ जहने, उमयं किं चाऽऽरियं खेतं ॥ १२२५॥

आचार्यन्त् आचार्यपद्य अमन्यः अयोग्यन्तिसन् 'भजना' अर्थब्रहणानन्तरं देशदर्शनं 25 कार्यते वा न वा, यस्तु 'भन्यः' आचार्यपद्योग्यः स नियमन 'पर्येति' देशदर्शनाय पर्यदिते । स चाऽऽत्सनृतीयो जन्त्येनावत्यन्तया इत्वा प्रेपणीयः । किन्न 'टभयम्' इति किं ऋतुवद्ध-कालपायोग्यमिदं क्षेत्रम् १ टत वर्षावासयोग्यम् १ तथा किनेतद् 'आर्यं' माद्धेपत्रविद्यतिजनपद्म- ध्यवित् श्राह्मोद्धद्वनार्यम् १ एतत् सर्वमाप् देशदर्शनं विद्यानो जानाति ॥ १२२५ ॥ अथ देशदर्शनस्त्रव गुणान्तर्गमिष्ठितस्या हार्गायामाहः—

र क्षागः ख्वार्थः 'अ॰ मा॰ ॥ २ यथा जात्मन्यस्य चक्षुप्पदुपदेशेन 'छोचनानन्द्र-दायो सोम्यः शशी मन्नति इत्यादिकं खरूपं जाननाऽपि द्शंनमन्तरेण न परिस्कृटा-कारखन्द्रः प्रतिमासने एत्रमस्यापि शुक्रपदेशानुसारतः शास्त्रार्थमननुष्यमानस्यापि प्रत्यस्द्शनमन्तरेण ना॰ शुनकं ॥

दंसणसोही थिरकरण देस अइसेस जणवयपरिच्छा। काउ सुयं दायव्वं, अविणीयाणं विवेगी य॥ १२२६॥

देशदर्शने गणा

देशदर्शनं कुर्वतो दर्शनशुद्धिरात्मनः स्विरीकरणं चान्येषां भवति, "देम" ति नानादेश-भाषासु कोशरूम् 'अतिशेषाः' अतिशयाः जनपद्परीक्षा च जायन्ते । तत एतानि दर्शनशु-ज्यादीनि कृत्वा विनीतेभ्यः श्रुत दातन्यम्, अविनीतानां 'विवेकः' परित्यागः कर्तत्र्य इति इ द्वारगाथासमासार्थः ॥ १२२६ ॥ अथ विस्तरार्थ विभणिपुराह—

> जम्मण-निक्खमणेसु य, तित्थयराणं महाणुभावाणं । इत्थ किर जिणवराणं, आगाढं दंसणं होइ ॥ १२२७ ॥

जन्म-निष्क्रमणशब्दाभ्यां तदाधारम्ता भ्मयो गृह्यन्ते । जन्मभृमिषु अयोध्यादिषु, निष्क-मणभृमिषु उज्जयन्तादिषु, चशब्दाद् ज्ञानोत्पित्तभृमिषु पुरिमतालादिषु, निर्वाणभृमिषु मम्मे-10 तर्शल-चम्पादिषु तीर्थकराणां 'महानुभावानां' सातिशया-ऽचिन्त्यप्रभावाणां सम्बन्धिनीषु विह-रतः 'अत्र किल भगवतां जिनवराणां जन्म जजे, अत्र तु भगवन्तो दीक्षां प्रतिपत्राः, इह कव-लज्ञानमासादितवन्तः, इह पुनः परिनिर्शृताः' एवं वहुजनमुखेन श्रुत्वा स्वयं च हृष्ट्वा नि शक्ति-तत्वभावाद् 'आगादम्' अतीवविद्युद्धं 'दर्शनं' सम्यक्त भवतीति ॥ १२२७॥

गतं द्रशनशुद्धिद्वारम् । अथ स्थिरीकरणद्वारमाह—

15

संवेगं संविग्गाण जणयए सुविहिओ सुविहियाणं। आउत्तो सुत्ताणं, विसुद्धलेसो सुलेस्साणं॥ १२२८॥

'संविद्यानां' साधूनां संवेगं जनयति, 'अहो ! अयं मन्याचार्योऽवगाहितसमस्तिस्नान्तिस-न्धुरभ्यस्तचरणकरणसामाचारीक इत्यं देशदर्शनं करोति' इति भावनया स्थिरीकरणं करोती-त्यर्थः । स्वयं 'सुविहितः' शोभनविहितानुष्ठानस्तेपामपि सुविहितानाम्, स्वयम् 'आयुक्तः' 20 विकथा-निद्रादिप्रमादेरप्रमचर्त्वेपामपि 'सुक्तानाम्' अप्रमादिनाम् . स्वयं विशुद्धत्वेद्दयः तेपामपि सुलेद्दयानामिति ॥ १२२८ ॥

गतं स्थिरीकरणद्वारम् । अथ देशद्वारम् । अत्र च विशेषंचृणिकृता दर्शनशुद्धिद्वारमेव विवृण्वतेयं गाथा गृहीता, संवेगस्य सम्यग्दर्शनलक्षणत्वात् सर्वगजनने दर्शनशुद्धिः कृता भव-तीति कृत्वाः स्थिरीकरणद्वारं तु मूल्त एव नोपाचम् । द्वारगाथायागपि "दसणमोही देमप्पवेस 25 अइसेस जणवयपरिच्छा" इत्येप एव पाठो गृहीतः, अतम्नदभिष्रायेण गतं दर्शनशुद्धिद्वारम्, अथ देशप्रवेशद्वारं व्याचष्टे—

नाणादेसीकुमलो, नाणादेसीकयस्म सुत्तस्म । अमिलावअत्यकुसलो, होइ तओ णेण गंतव्यं ॥ १२२९ ॥ कहयति अभासियाण वि, अभासिए आवि पव्चयावेद् । सब्वे वि तत्य पीइं, वंषंति सभासिओ ण ति ॥ १२३० ॥

30

१ "सुत्रेगं स्विमाण गाहा। एन निर् आयारिको होहिति नि नो हेमामूर्ण बरेड । न महमहुनामार्ग निष्यमदास्त्रासं पानित्ता शक्षेति पि स्विमाणं निष्यतरं सद उन्हें ॥ दमप्रविद्वित गर्ने। इसिट हेमप्रीति सि दार्र—नाणाप्रेसीतुनलो गाहाओं निश्चि।" इति विदेशपञ्चर्णां ॥

25

23

पियधम्मऽवज्ञमीरु, साहम्मियवच्छरो असंदभावो । संविग्गावेड् परं, परदेसपवेमण साह ॥ १२३१ ॥

नानाप्रकारा—मगध-मालव-महाराष्ट्र-लाट-क्रणीट-द्रविड-गाँड-विद्मीदिदेशमवा या देशीमारा तस्यां कुशलः सन् 'नानादेशाकृतस्य' नानादेशमापानिवद्यस स्त्रस्य अमिलापे—उद्यारेणे र अयोक्त्यने च कुशलो सवति, यत एवं ततोऽनेन देशदर्शनार्थं गन्तस्यम् ॥ १२२९ ॥ तया—

अयेक्यने च कुञ्चलो मर्जातं, यत एवं तताऽनन द्रश्वद्रशनाथ गन्तव्यस् ॥ १२२६ ॥ तया— नत्रः क्रमार्थलात् क्वन्तिना—अव्यक्तवर्गविमागा मात्रा येषां तेऽमापिकान्त्रगमप्यसे वर्मे क्रथ्यति, निःशेषदेश्वमापानिच्यातत्वात् । अमापिकाँखापि व्रदेशमात्रया प्रतिवेशेच्य प्रवाज्यति । सर्वेऽपि च शिष्याः 'तत्र' आवार्ये प्रीति व्यतन्ति, स्तमापिकः 'ण' अन्याकम् अयमिनि क्रवा ॥ १२३० ॥ द्रया—

10 'नियवनो' घमें ग्रहानुः, अवर्ध-पापक्षमें तसाद् मील्प्वचर्नारः, साध्मिकाः-साध्कतेनां वस्तको द्रव्यतो मक्त-पानादिना साध्वतेनां स्वतिनादिष्ठ मारणादिना, 'अग्रहमादः' नातृसान-रहितः, एवंविवोऽसा मानुः परदेशप्रवेशने वर्णमानः 'परम्' अन्यं संयमयोगेषु मीदन्तमीर 'संविश्यति' सहुपदेशकानादिना मित्रशं करोतीति ॥ १२३१ ॥

गनं देखहारं देखपदेखहारं वा । अथानिखयहारमाह—

सुन-ऽन्यघिनीकरणं, अहसेसाणं च होह उवलर्दा । आयरियदंग्रेणणं, तम्हा सेविज आयरिए ॥ १२३२ ॥

आचायोगां दर्शनेनं—सेंबनेनेति यावत् सुत्राथिसिरीकर्ामतिमयानां च अपृष्णान् 'उरच्छित्र' प्राप्तिमेवति । यन एवं द्यमान् 'सेवेन' प्रीप्रामोनाऽऽचायोन्॥ १२३२ ॥ एतंद्रवः व्यास्यानयनि—

उमए दि मंकियाई, प्राचि बाई सि पुच्छमाणस्य ।

्होइ जओ सुचन्ये, बहुन्सुए नेवमाणस्य ॥ १२३३ ॥

'दन्ये' मुत्रेड्यें च यानि पूर्वे 'से तस दाहितानि पदानि तानि आचार्यामां सनीपें प्रच्यते निःशहितानि नायने । एवं च बहुश्वतान् सेवनानस 'जयः' सुंगर्यविषये।ऽम्यासं-तिशयो मर्वति, अते बहुश्वदिशसनं विषेयम् ॥ १२३३ ॥ अति च—

मित्रवाहिन्छो देनाण दंनणं हुणह एन ह्य सोउं। अने वि उडमेंने, विणिक्डमेंने य से पासे ॥ १२३४ ॥

'मञ्जानाये एप देशानां दर्शनं क्नोति' इति श्रुत्म 'श्रम्येऽपि' एर्गुगस्यमानान्त्र्यसम्बन्धिनः श्रित्याः 'उच्चक्रन्ते' मृत्रार्थप्रहणादां उचमं क्ष्विन्ति । ग्रुहिणोऽपि च तृहुण्णमरिङ्गतमनसः 'विनिक्तमिन्ति' दीक्षां प्रतिप्रचन्ते 'से' दस्य मित्रिष्णवान्त्रायस्य पार्थे इति ॥ १२३०॥ व्यवस्थानाद्यग्रहेकः क्रवं मन्ति १ इत्याह—

सुनत्ये अहमेना, मामायांना य विज्ञ-जोगाई।

विज्ञा जोगा य सुए, विमंति दुविहा अशो होंति ॥ १२३५ ॥ इह तिरुणांचितियाः, तब्रधा मुत्राबीतिष्ठयाः १ सामार्यतिष्ठयाः २ विरु-योगाः

१ कारमग^{्र}रे॰ त॰ ॥ २ बीझा-क्रोगाइ सुप ता॰ विना ॥

आदिशब्दाद् मन्नाश्च ३ इति त्रयोऽतिगयाः । तत्र विद्यां स्रीदेवताधिष्टिता पृत्वेसेवादिप्रक्रिया-साध्या वा, योगाः पादलेपप्रभृतयो गगनगमनादिफलाः, मन्नाः पुरुपदेवताधिष्ठिताः पठित-सिद्धा वा । यहा विद्या योगाः चयव्दाद् मन्नाश्च श्रुते एव 'वियन्ति' अन्तर्भवन्ति, अतो द्विविधा अतिगया भवन्ति—सूत्रार्थातिगयाः सामाचार्यतिगयाश्चेति। प्रेपामतिगयानामुप्रहिध-रपूर्वाचार्यपर्युपासनायां भवति ॥ १२३५ ॥ अथ सामाचार्या अतिशयं विभावियपुराह---

निक्खमणे य पवेसे, आयरियाणं महाणुभावाणं । सामायारीक़सलो, अ होइ गणसंपवेसेणं ॥ १२३६ ॥

स देशदर्शनं कुर्वाणस्तेषु तेषु नगरादिषु वहुश्रुतानामाचार्याणां महानुभावानां सम्बन्धी यो गणः-गच्छरतन्मध्ये यः सम्यग्-एकीभावेन एकत्रावस्थानलक्षणेन प्रवेशस्तेन वहुशो गणान्तरेषु निप्त्रमणे प्रवेशे च सामाचारीकुगलो भवति ॥ १२३६ ॥ कथम् १ इत्याह— 10

आगंतुसाहुभाविम्म अविदिए धन्नसालमाइठिया। उप्पत्तियाउँ थेरा, सामायारीउ ठाविंति ॥ १२३७॥

आगन्तुकाः-प्राघुणका उपसम्पन्ना वा तेषां साधूनां भावे 'अविदिते' 'कीदशेनाभिपायेणाऽऽ-गताः ? के वाडमी ?' इत्यपरिज्ञाते केचित् 'स्वविराः' आचार्या धान्यशास्यम् आदिशब्दाद् धृतशालादिपु च स्थिताः 'औत्पत्तिकीः' अनुत्पन्नपूर्वाः सामाचारीः स्थापयन्ति ॥ १२३७ ॥ 15 कथम् ? इत्याह---

> सन्वे वि पडिग्गहए, दंसेउं नीह पिंडवायद्वा । अहिमरमायासंका, पिंछलेहेउं च पिवसंति ॥ १२३८ ॥

ते आचार्याः 'पिण्डपातार्थं' भिक्षानिमित्तं साधून् निर्गच्छतो भणन्ति—आर्याः ! सर्वेऽपि पतिमहान् दर्शयित्वा निर्गच्छत्, अदर्शितप्रतिमहेर्न गन्तन्यम् । कुत इत्थं कुर्वन्ति ? इत्याह— 20 'अभिमराद्याशद्भया' मा कश्चिद्भिमर उदायिनृपमारकवत् श्रमणवेपेणाऽऽगतो भवेत्, आदिश-हणेन चौरो वा मा धान्यादिमोपणायाऽऽगतो भवेदित्याद्याग्रद्भयाऽपृर्वी सामाचारी स्वापयन्ति । भिक्षामतिनिवृत्ता अपि च गुरुणां पुरतः सर्व प्रत्युपेक्ष्य ततः प्रविशन्ति, तरेवाभिमरादिभिः कारणेरिति ॥ १२३८ ॥ गतमतिशयद्वारम् । अथ जनपदपरीक्षाद्वारमाह-

> अवभे नदी तलाए, कृषे अइपूरए य नाय वणी। मंस-फल-पुष्फभोगी, वित्थिने रोत्त कष्प विही ॥ १२३९ ॥

स देशदर्शनं कुर्वन् जनपदानां परीक्षा करोति-कस्मिन् देशे कथं धान्यनिप्पत्तिः ?। तत्र फचिद् देशेऽभैः सस्य निप्पद्यते वृष्टिपानीयेरित्यर्थः, यथा लाटविषये। फापि नदीपानीये., यथा सिन्धुदेशे । कचित्तु तडागजले , यथा द्रविडविषये । कापि कृपपानीयः, यथा उँत्तरापथे । फचिढतिप्रकेण, यथा वन्नासायां प्राद्विरच्यमानाया तत्र्रपानीयभावितायां क्षेत्रभूमा १० धान्यानि मकीर्यन्ते; 🗠 यथा वा डिम्भरेलके महिरावणपूरेण धान्यानि वपन्ति । 🗻 "नाव"

१ पतेषा° त॰ ४० मो॰ २०॥ २ भागाणं ता॰॥ ३ °वानां ये गणा -गच्छास्त मन्॥ **४ "उत्तरापधे** अरुकेति" इति स्त्रुर्णी ॥ ५ न्य ३० एतितामध्यमा पाठ मो०६० पुरास तिय रणाले ॥

इति यत्र नावमारोप्य धान्यमानीतम्रपस्तव्यते, यथा क्राननद्वीपे । "वणि" ति यत्र वाणि व्यतेन वित्यत्रायते न कर्षणन, यथा मयुगयान् । "मंमै" ति यत्र दुर्मित्रे समापतिने मसिन कालेऽतिवाद्यते । तथा यत्र पुष्प-कलमोगी प्राचुर्येण लोकः, यथा कोङ्कणादिषु । तथा कानि विम्नीणीनि क्षेत्राणि ! कानि वा महिमानि ! । "कप्ये" नि कस्मिन् क्षेत्रे कः कल्यः !, यथा धिमन्युविषयेऽनिमित्राचाहागेऽगिह्नः । "विहि" ति कस्मिन् देशे कीह्यः समाचारः ! यण मिन्युपु रजकाः समोज्याः, महाराष्ट्रविषये कल्पताला अपि सम्मोज्या इति ॥ १२३९॥ अपि च—

मञ्जाय-मंजमहिए, दाणाह्ममाउते मुलमवित्ती । कालुमयहिए खेते, जाणह् पडणीयरहिए य ॥ १२४० ॥

ग्वाच्यायहितं—यत्रालुण्ट मृत्राऽथपे। त्रचा महतः । नंयमहितं — इति। परिहत्तम्पर्याल - हिताहि या। "त्राणाह" नि वानश्राद्धः आदिम्रहणादिमगमश्राद्धेत्री समाकुच्यः । अत एव मुल्मा—सुप्रापा इतिः—प्राणवर्षने नहेतु गहा एसप्यत्तिचेत्र तत् मुज्यमवृत्तिकस् , तथा किमिद्रमागन्तु क्रमद्रकस् १ उत वान्तव्यमद्रकस् १ इत्याव्यप्रस्थात् दृष्टव्यमः । "कान्यस्यहिण् खेते" ति अमृति वर्षावासप्रायोग्याणि अमृति अनुत्रद्धकाच्योग्यानीत्युभयकार्जिहतानि क्षेत्राणि वानाति । तथा प्रत्यनीकः— । अनाव्याद्वानास्यद्वकारी तद्दितानि च क्षेत्राणि नन्यग् ज्ञानार्ताति ॥ १२४० ॥

गतं जनपरपर्शिष्टाहाग्यः । यस्तादिनं गुणान्तसाद्वस्यं देशदर्शनं कर्तव्यम् । गतं "पत्रज्ञा सिक्साक्य" (गा० ११६२) इत्यादिम्बद्धारगाथाप्रतिबद्धमनियतवासहाग्मः । अथ निष्पतिहाग्मः । तज्ञानन्तरोक्तेदिनयतवासहारं, वक्ष्यमाणः विद्यास्त्रारं च सम्भवति । तत्रानियतवासहारं
तावद् दर्शतं—हर्शं तेन देशदर्शनं क्षयंता शिष्याः प्रतीच्छकाश्च सामाचार्यां सुत्राऽर्थप्राहणायां
थिच निष्याद्यितव्या इत्यत्रान्तरं यदुक्तं प्रतिहारगाथायां "काउ सुयं दायवं, अविणीयाणं विवेगो
य ।" (गा० १२२६) तदिदानीसिधित्युद्धारगाथानाह—

निष्यनि-हारम्

उनमंपज्ञ थिरनं, पडिच्छणा नायणाङ्खराण य । घड्ण-रुंचण-पत्ते, दुड्डामें निर्हे गए राया ॥ १२४१ ॥

प्रथमं प्रतीच्छका यथा तनुष्पत्ययन्तं तथा वक्तव्यमः । तत आत्मनः प्रतीच्छकानां च यथा १३ स्थिन्वं तुष्प्तया करोति । तत्तेषां प्रतीच्छना वाचना च यथा मवि । ततः प्रमाद्यतां आर्द्र-च्छगणदृष्टान्तो यहना रुद्धना पत्रदृष्टानाश्च यथाऽभिवीयन्ते । दुष्टाश्वविषयं दृष्टान्तं यथा सावव आवार्यानुद्द्व्य दृश्यिन्तः । "तिहं गण्" ति यत्राऽऽचार्यानिष्टान्ति तत्र गतानां यथा राजदृष्टान्तः यूर्गिस्द्राह्यिने । तदेन्त् सर्वे वक्तव्यमिति द्वारगायामनासार्थः ॥ १२७१॥

१ "मंत्र ति जान संगेन दुध्यिक्तं कीन्त्रति छाले, जवा सिधूण सुनिक्तं वि । सुक ति ज्या पुक्तिनामं नि । स्वतं एकं कर्त्वका पुक्तिनामं नि । सुक ति वासु पुक्तिनामं नि । स्वतं पुक्तिनामं क्ष्यं पुक्तिनामं क्ष्यं सुक्तिनामं क्ष्यं सुक्तिनामं क्ष्यं सुक्तिनामं क्ष्यं से किया सिधूण तिक्ष्यण संगोदण दिन स्वाति । "कि नि ज्ञान्म क्षेम को ज्ञानि आयोगे, जया सिधुल्या कियनमाणीस पान्नं अगरितं भवति, कच्छाति । विकास के के अपनि क्ष्यं स्वाति स्वाति । स्वति विकास स्वाति । स्वति । स्वति

अथ विस्तरार्थं विभणिपुः प्रथमद्वारमधिकृत्याह-

काहिइ अन्वोच्छित्तं, सुत्त-ऽत्थाणं ति 'सो तदद्वाए । अभिगम्मइ णेगेहिं, पडिच्छएहिं विहरमाणो ॥ १२४२ ॥

उपनम्पत्

एप महाभागः सूत्रार्थयोरव्यवच्छित्तं करिप्यतीतिबुद्धा 'स.' भव्याचार्यः 'तदर्थ' सूत्रार्थ-श्रहणनिमित्तमभगम्यतेऽनेकैः प्रतीच्छकैः 'विहरमाण' देशदर्शनं कुर्वन्निति ॥ १२४२ ॥ क

आह किमसा डिण्डिमाडम्बरेण घोषयित यथा 'अहं बहुश्रुतोऽहं बहुश्रुत ' इति यदेव-मनेकेः प्रतीच्छकेरभिगम्यते १, नेवग्, न खल्ल सिद्धिकसुधाधाराधातचेतसः सन्तः सन्तः कदाचनापि खगुणविकत्थने प्रवृत्तिमातन्वते, मिथ्याभिमानाख्यप्रवस्तमतमित्तरम्कृतसञ्ज्ञान-स्रोचनप्रसराणामितरजन्तूनामेव तत्र प्रवृत्तिसम्भवात् । उक्तञ्च—

मोहस्य तदपि विलसितमभिमानो यः परप्रीणितायाः ।

10

तत् तमसोऽपि तमिस्र, याऽऽत्मस्तुतिरात्मना कियते ॥

यधेवं ततः कथमिवासावेवमेव प्रसिद्धिमारोहति ? इति इत्युच्यते—

वासावजनिहारी, जड़ वि य न विकंथए गुणे नियए। अभणंतो वि मुणिजड़, पगड़ चिय सा गुणगणाणं॥ १२४३॥

भविष्यशः चार्यस्य प्राप्ति

वर्षावर्जविहारी, वर्षासु चतुरो मासानेकत्रस्थायी अन्यदा पुनरनियतविहारीत्युक्त भवति । स 15 एवंविधो यद्यपि न विकत्थते 'निजकान्' आत्मीयान् गुणान् तथापि 'अभणत्रपि' खगुणान् अकीर्त्तयत्रपि ज्ञायते । कुतः १ इत्याह—मकृतिरेव सा 'गुणगणाना' ज्ञानादिगुणसम्हानाम् ।

तद्कम्-

अभणंता वि हु नर्ज्ञति सुपुरिसा गुणगणेहिँ नियएहि । कि बोलंति मणीओ, जाओ रुक्खेहि घिप्पंति ? ॥ ॥ १२४२ ॥ २० एतदेवान्योक्तिदृष्टान्तेन द्रदयति—

भमरेहिं महुयरीहिं य, खड्जड् अप्पणी य गंधेणं। पाउसकालकलंबी, जड् वि निग्हो वणनिगुंजे॥ १२४४॥

इह किल कदम्बकबृक्षाः प्रावृषि जलधरधाराभिहताः पुष्पन्ति । ननः प्रावृद्काले यः कदम्बः स यद्यपि वननिकुञ्जे 'निगृदः' गुप्तन्तिष्ठिति तथापि अमर्रमधुकरीभिध्यात्मन सम्बन्धिना गन्धेन 25 च प्रमरता 'सृच्यते' ज्ञाप्यते यथा 'अत्र कदम्बवृक्षिति'। एवमयमपि अमर-मधुकरीकन्याभिः साधु-साध्वीभिः परिमलकन्पेन च निजगुणनिकुरम्बेन प्रसर्पता कदम्बवद् उद्यानाद्यवत्यन्तिन गृहोऽपि तिष्ठन् सृच्यते ॥ १२४४॥ यदि वा—

कत्थ व न जलह अग्गी, कन्थ व चंदो न पायडो होड । कत्थ वरलक्खणधरा, न पायडा होति मण्डुरिया ॥ १२४५ ॥

पुत्र वा 'न ज्वलति' न दीप्यतेऽशि. ' गुत्र वा चन्द्र उदयप्राम प्रस्टो न भवति ' गुत्र वा वगणि-उत्तमानि लक्षणानि-अभ्यन्तरतो ज्ञानादीनि दायन शरीरमान्दर्यादीनि शः, नगदीनि

१ सो य उद्घाप ? ना ॥

वा धाग्यन्तीति वग्रुक्षणवराः मन्तुरुगः प्रकटा न भवन्ति ।। १२४५॥ अत्र परे।ऽनुपपत्तिमुद्भावयन्नाह—

> उद्र न जलह अन्ती, अव्भच्छनी न दीमई चंदी। मुक्खेस महामाना, विजापुरिसा न भायंति॥ १२४६॥

5 उउके न ज्वल्यिमः किन्तु विद्यायित, अञ्चलक्ष्यन्त्रो न दृश्यते, 'मृर्खेषु' मृर्झाणां पुरते महामागा विद्याप्रधानाः पुरुषा विद्यापुरुषान्तेऽपि 'न मान्ति' न द्योमन्तेः, ततः ''कृत्य व न विरुद्द अर्गा।'' (गा० १२७५) इत्यादि नापप्रधते, तद्युक्तम्, अमित्रायापरिज्ञानात्, इह हि स्वविषय एवामि-चन्द्र-मसुरुपाणां ज्वल्नादि सामध्य जिन्त्यते न स्वविषये ॥ १२७६॥

कः पुनरमीयां स्तविषयः १ इत्याह—

10 सुक्षित्रणिम दिप्पड, अग्गी मेहरहिको मसी माइ। जिन्नहरूण य निउण, विज्ञापुरिसा वि मार्यनि॥ १२४७॥

'शुक्तेन्यने' शुक्काशरी दीप्यनेऽभिः, 'सयरहितः' शरदादिकाल्डेब्ररच्छवः सर्शा 'मानि' प्रकाशने, 'तिष्ठियज्ञने च' नाहरी सहदयलोके 'निर्नुणे' व्याकरण-प्रमाणादिशालकुशले विद्या-पुरुग अपि 'मान्ति' शोमां लमन्ते । एव त्रयाणामप्यनीयां स्वविषयः, अत्र च सर्वत्राप्यमी १०दीप्यन्ते, अतो न किञ्चिदनुष्पत्रम् ॥ १२०७ ॥ अत्रवारां दशन्त्रमाह—

इमुजीयर्त्ममृद्धा, किं न विवेहिति पुंडरीयाई। ध्रिकरणा मिसम्म व, इमुयाणि अपंकयर्त्सन्ना ॥ १२४८॥ न य अप्यगासगत्तं, चंदा-ऽऽइ्चाण मिवसए होइ। इय दिप्यंति गुणहा, मुक्तेस हिमजमाणा वि॥ १२४९॥

20 इस्तानस्वराणि इस्तावराणि तेतु नमः—मक्तरनः तिसन् सुन्याः—अनिमनः, तदानीं तेत्रसम्बद्धनाद् इद्योऽनीता मक्तरनः इति न विदर्जीस्पर्यः एवंविधाः सृष्टिरणा यद्यवित्रयः स्नि इस्तानि न विशेषयन्ति तेतः किं स्वविषयन्त्रानि पुण्डरीकाणि न विशेषयन्ति । क्षेप्यन्ति विशेषयन्ति । यदि 'अपङ्कत्यन्ताः पङ्करसासावस्यान्तः किं स्ववित्रयन्ति स्वत्रापन्ति स्वत्रापनि । तत्रश्च 'न च नेवाध्यक्षाराक्तं चन्ना-ऽऽदित्ययोः स्वविषये मवति किन्त । अक्षेत्र पक्ति प्रस्ते प्रक्षेत्र प्रकारक्तं चन्ना-ऽऽदित्ययोः स्वविषये मवति किन्त । अक्षेत्र पक्ति प्रस्ते पक्ति प्रस्ति । अस्ति प्रस्ति । अस्ति प्रस्ति । स्वत्रप्यस्त्रयेषु प्रस्ति । स्वत्रप्यस्त्रयेषु प्रस्ति । स्वत्रप्यस्ति । स्वत्रप्यस्त्रयेषु प्रस्ति । स्वत्रप्यस्त्रयेषु प्रस्ति । स्वत्रप्यस्त्रयेषु प्रस्ति । स्वत्रप्यस्त्रयेषु प्रस्ति । स्वत्रप्यस्त्रयेषु प्रस्त्रयेषु प्रस्ति । स्वत्रप्यस्त्रयेषु प्रस्ति । स्वत्रप्यस्त्रयेषु प्रस्त्रयेषु प्रस्त्रयेषु प्रस्त्रयेषु प्रस्त्रयेषु ।

च्कनातुरक्षिकम् । प्रकृतनतुसर्न्वायन—

वणासद्. प्रवागः मो चर्णमुहिचया, नाणपो महुओ अ माहृहि । दवमंपया य नेमि, पहिच्छणा चेव साहृणं ॥ १२५० ॥

20 'स' इति भविष्णवाचार्यः चर्णमुखिवाता तथा 'जानगरः' सूत्रा-ऽवंषीत्र्णकरणं प्रति स्युक्तः एगं नित्रां प्रातो वा, दर्शनाविनामावित्वाद् ज्ञानस्य व्यंतगर इत्यित द्रष्टव्यन्, स च मार्गुनि त्यारिक रविभिन्नरेणं साव्नां एउतः 'सृत्वितः' श्रुवित तदनेयां साव्नां तसानिके र तवः 'त्रिम्' इति काटा प्रक्षे, कि स्व मान्॥ २ 'मृक्षंः' पशुप्रायः इस्य मन्॥ उपसम्पद् भवति, तेन च तेपां यथाविधि प्रतीच्छना कर्तव्या इति । एप एक उपसम्पदः प्रकार उक्तः ॥ १२५० ॥ अथ द्वितीयं प्रकारमाह-

ण्हाणाइ समीसरणे, परियद्वितं सुणितु सी साहुं। ं अद्वि त्ति पडिचोयण, उवसंपय दीवणा अत्थे ॥ १२५१ ॥

स्नानादो आदियन्दाद् रथयात्रादो 'समवसरणे' साधुमीलके ''अट्टे लोए'' इति व्यजनमे-5 ददूपितं सूत्रं परिवर्त्तयन्तं साधुं कमपि श्रुत्वा स प्रतिनोदनां करोति—''अट्टे होए'' (आचा-रांग श्रु० १ अ० १ उ० २) इति पठ । स प्राह—किम् ! इति । गीतार्थो मृते—"अहे" इति अर्थो न मिलति । इतरः प्राह—किम् अस्यार्थोऽप्यस्ति । [गीतार्थः प्राह—] वादम् नमस्कारमादिं कृत्वा सर्वस्यापि श्रुतस्यार्थी विद्यते । स आह—यद्येवं तर्हि ''अट्टिं' ति पटन्य कोऽर्थः ? उच्यते—'आर्तश्चर्द्धा नाम-स्थापना-द्रव्य-भावमेटात् , नाम-स्थापने सुगमे, द्रव्यत 10 सचित्तादिद्रव्येरप्राप्तेः प्राप्तवियुक्तेर्वा य आर्तः स द्रव्यार्तः, क्रोधादिभिरभिभृता भावार्तः, एवं मकारद्वयेनायं लोक आर्चो वर्तते।' इत्याकर्ण्य प्रमुदितः स साधुश्चिन्तयति—'अहो! अस मूत्र-लवस्यापीद्दग् हृदयङ्गमोऽर्थस्ततो यदि सर्वस्याधीतस्यार्थमववुच्ये ततः मुन्दरं भवति' इत्यभिसन्धा-याऽर्थमहणार्थे तस्येव पार्थे उपसम्पदं प्रतिपद्यते । ततोऽसौ विधिना तस्यार्थे दीपनं करोति, अर्थ कथयतीत्यर्थः । एप द्वितीयः प्रकारः ॥ १२५१ ॥ अथ तृतीयमपि प्रकारमाह-

अंहवा वि गुरुसमीवं, उवागए देसदंसणम्मि कए। उवसंपय साहणं, होई कयम्मी दिसावंधे ॥ १२५२ ॥

अथवा देशदर्शने कृते सति यदाऽसौ गुरूणां समीपमुपागतो भवति तदा गुरुभिराचार्थपदे प्रतिष्ठाप्य दिखन्धे 'कृते' अनुज्ञाते सति विहारं कुर्वतोऽम्य पार्थे प्रतीच्छकमाध्नाग्रुपमण्यन् भवतीति ॥१२५२॥ व्याख्यातं त्रिभिः प्रकारेरुपसम्पद्वारम् । अथ स्थिरत्वद्वारमभिधातुकाम आह— 20

आयपरोभयतुलणा, चउव्विहा सुत्तसारणित्तरिया। तिण्हऽहा संविग्गे, इयरे चरणेहरा नेच्छे ॥ १२५३ ॥

डपगम्य-पानी भिगराम

तत्रासावारमपरोभयविषयां तुलनां करोति । सा च प्रत्येकं चतुर्विधा वक्तन्या । तथा थे केचित् तद्वणावर्जिता अगारिणः प्रवजन्ति तेपामुपनम्पन्नानां चार्मो मृत्रसारणा करे।ति, सृतं पाठयतीत्यर्थः; उपलक्षणं चेतत् , तेनाऽऽसेवनाशिक्षामपि श्राह्यति । नया तेपाग्रुगयेपामप्यमा 25 इत्वरां दिशं बधाति, यथा—यावदाचार्याणां नकाशं व्रजानन्तावदहमेवाचार्योऽहमेवोपाध्यायः, तत्रगतानामानार्या ज्ञायका इति । "तिण्ट्षा संविग्गि" ति ये सविगाः माधान्ते 'त्रयाणां' ज्ञान-दर्शनचारित्राणामधीय उपसम्पद्ममाना प्रत्येष्टव्याः । "उयरे चर्णा" नि 'इतरे' पार्यन्यादयो यदि चरणार्थमुपसम्पद्यन्ते ततस्तेऽपि मद्वाद्याः. "इहरा नेच्छे" पि इतस्या ज्ञान-दर्शननिभिचगः. स्त्रार्थमहण-दर्शनप्रमावकञामाध्ययनार्थमिति भावः, यगुपमन्यपन्ते तनः 'नेच्छेन्' नोपमन्यदं १) माह्येदित्यर्थः ॥ १२५३ ॥

अथ यदुक्तम् ''आतमपरोभयनुरुना ननुर्विधा'' इति नजातमनुरुनां तावद् भावयनि-६ °सार्थदी ° त॰ ४० पा॰ ॥ २ पुणरिव गुरुस्तमीवं ता॰ । चूर्णिकृनाञ्चनेन पाइ पर ॥ टपसम्य-न्नानां न्व-पग्नाम-र्थावदनम् आहाराई दृष्ये, उप्पाएउं सयं जह ममन्यो । खेत्तओं विहारजारना, खेत्ता विह्नारणाईया ॥ १२५४ ॥ कालिम्म ओममाई, भावे अतरनमाहपाउरनं । कोहाइनिरमहं या, जं कारण सारणा वा वि ॥ १२५५ ॥

- 5 वृह्दाऽङमनुरुना चनुर्विष्य—(अन्यायम्-५५००) द्रव्यतः क्षेत्रतः कारुनो मावनश्च । तत्र द्रव्यतः प्यासुपसम्पन्नानां यद्यपणीयान्याहाराटीनि स्वयसुरपाद्यिनुं समर्थः, आद्रिश्हणाद् उपधि- हाव्यापरित्रहः । क्षेत्रत ऋनुवद्धविद्याग्योग्यानि वर्षावामयोग्यानि वा क्षेत्राण्युत्पाद्यिनुं द्यक्रोमि न वा, ''विहं'' इत्यव्या तन्मान् ताग्णं—पारनयनम्, आद्रिशच्दाद् राजद्विष्टादिनारणानि कर्त्तु- महं समर्थो न विति ॥ १२५२ ॥
- 10 कांके अवमं—हर्मिशं तत्र आदिग्रहणाद् अधिव-भयादे। निर्वाहियनुं छक्तोऽसि न वेति । भावे "अतरंत' नि रखनीमृतानाम् आदिशब्दाद् वाष्ट्र-युद्धादीनां या एषां प्रायोग्यसुत्पाद्धितुं समर्थोऽहं न वेति, अथवा झक्तोमि कोयनिग्रहं कर्तु न विति आदिग्रहणाद् मान-माया-लेमिन-श्रह्परिग्रहः, यहा यन् 'कार्णं' ज्ञानादिकं निमिचसुहिद्येने उपमम्पद्यन्ते तस्त्राहं सारणां कर्तु-मीद्यो न वेति ॥ १२५५॥
- 15 गनमात्मनुखनाद्वारम् । अथ परनुखनाद्वारमाह---

आहाराइ अनियकों, रुंमो सो विग्ममाइ निक्कृंदा । उच्मामग खुलखेत्ता, अग्डिहियाओं अ वमहीओ ॥ १२५६ ॥ रुणाइरित्त वासों, अकाल मिक्ख पुरिमहु ओमाई । मावे कमायनिग्गह, चोयण न य पोरुसी नियया ॥ १२५७ ॥

20 ते प्रतीच्छकाः प्रथममेवीच्यन्ते—इत्यन आहागर्दानां कामः 'अनियतः' कहाचिद् मवित कहाचित्रेति, योर्जप मवित मोर्जप विरमः-पुराणोदनादिः, आदिश्रच्दाद् अरसस्य हिङ्का-धनंग्कृतस्य स्थल्य च वङ्क्ष्यणकादेश्रहणम्, नोर्जप 'निर्मृदः' उज्ञितप्रायः । क्षेत्रत उझा-मक्षिश्चर्षया गन्तव्यम्, बहिश्रामेषु मिश्रार्थं यत् पर्यटनं ना उद्घामकमिश्राचर्याः तथा 'खुड-क्षेत्राणि' नाम यत्राव्या रोक्ता मिश्रापदाता, मोर्जप च नोक्तमेव ददाति तत्र विदर्शव्यम् । अक्ष-25 तुहिनाश्य प्रायो वस्त्रयः प्राप्यन्ते, यो यदा अनुवर्षतेते तस्य तदादननुकृत्य इन्यर्थः ॥ १२५६॥

कारतः कटाचिद् मानकरमसाने वर्षावानस्थाने वा उन्तमितिरक्तं वा कालं कारणे वासः—अवस्थानं मवन्, कापि क्षेत्रं 'अकालं' सुत्रपेक्त्या अर्थपारच्या वा वेलायां मिक्षा प्राप्येत, वतः सुत्रार्थद्यानिरिप मानिनी, कुत्रापि पूर्वार्टेऽिर पूर्णे अवमं—स्वादरपृर्काद्यरमात्राया न्युनं सम्बद्धान अर्थियन स्वादरपुर्काद्यरमात्राया न्युनं

छम्येत, आदिमहणान् पानमीत्र सम्पद्येत । 'सावे' सावनः कपायनिमहः खरपरपनीदनायामीप २० कर्तव्यः । न च 'नियना' अवस्यस्माविनी सृत्रार्थयोः पार्त्या, कदाचिद्रसाकं धर्मकथादिव्य-भत्तया सृत्रार्थयोत्र्याचानोऽपि सवनां सवेदित्यर्थः । तदेनन् सवेमीत्र यद्यक्षीकर्तृसुत्सहय ततः -प्रतिपद्यव्यसुपसम्पर्दामिति ॥ १२५७ ॥

१ वर्षायां रान्त मा॰ विना ॥

अत्तिणि य परे चेवं, तुलणा उभय थिरकारणे चृत्ता । पडिवजंने सन्वं, करिंनि सुण्हाए दिइंनं ॥ १२५८॥

आत्मविषया परविषया च तुल्ना उभयोगि 'स्थिरनाकारणे' स्थिरीकरणार्थमेवमुक्ता । गतं स्थिरत्वद्वारम्, अथ प्रतीच्छनाद्वारमाह—''पडिवज्ञंते'' इत्यायुक्तगर्द्धम् । 'सर्वम्' अनन्त-रोक्तमर्थं यदि प्रतीच्छकाः प्रतिपद्यन्ते तटा 'स्रुपया' वध्वा दृष्टान्तमाचार्याः कुर्वन्ति ॥१२५८॥ ह तमेवाह—

आस-रहाई ओलोयणाइ भीया-ऽऽउले अ पहंती । सकुलघरपैरिचएणं, वारिज्जइ ससुरमाईहिं ॥ १२५९ ॥ खिसिज्जइ हम्मइ वा, नीणिज्जइ वा घरा अठाइंती । नीया पुण से दोसे, छायंति न निच्छुभंते य ॥ १२६० ॥

यथा काचिद् वध् संकुलगृहस्य—संकीयिपतृगृहस्य सम्बन्धी यः परिचयः—रमणीयवम्तुदर्शन-हेवाकस्तेन अश्व-रथान् आदिम्रहणेन हम्त्यादीन्, अवलोकनं—गवाधन्तेन आदिगन्दाद् अपरेण या जालकादिना भीतान् आकुलाँश्च जनान् प्रेक्षमाणा सती 'वार्यते' 'पृत्रि ! माऽवलोकिष्ठाः' इति

प्रतिनिषिध्यते श्रमुरादिभिः, मा भृद् अस्याः प्रसन्ननः परपुरुपविषयोऽप्यवङोकनरेवाक इति ॥ १२५९ ॥

यदि वारिता सती नोपरमते ततः "सिंसिज्जइ" ति निन्धते 'आः कुल्पासने ! किनेवं करोपि?' इत्यादि । तथापि यदि न निवर्चते ततः 'हन्यते' कगादिभिग्नाट्यते । एवपपि यदि न तिष्ठति ततोऽतिष्ठन्ती गृहान्निष्काञ्यते, मा भृद्परासामपि गृहमहेत्यनामन्या प्रमहजनित एवं-विध एव कुहेवाक इति कृत्वा । ये तु तस्याः 'निजकाः' पितृगृहसम्बद्धाः स्वजनान्ने 'से' तन्या वोपाँ श्लादयन्ति, कथिंद्वदुपालम्भप्रदानादिनाऽनाच्छादयन्तोऽपि न गृहाद् निष्काशयन्ति, 20 गौरवाईत्वात् तत्र तस्याः ॥ १२६० ॥ एप मुपाइष्टान्तः । अथार्थोपनयमाह—

मरिसिज्जइ अप्पो वा, सगणे दंडो न यावि निच्छुभणं । अम्हे पुण न सहामो, ससुरकुरुं चेव सुण्हाए ॥ १२६१ ॥

ते आचार्या भणन्ति—आर्याः! पितृगृहर्गानीयो युज्माकं खगच्छः । धमुरवुक्त्यानीया वयम् । अध-रथाणवलोकनम्यानीय प्रमादासेवनम् , गवाधादिस्थानीयान्यपृष्टाक्त्रवनानिः , ततो युज्माकः । 'खगणे' खगच्छे प्रमादासेवनं कृतमपि 'मृत्यते' धम्यते । अन्यो वा 'दण्ट ' प्रायध्यिचन्द्राणः प्रमाद्रमत्ययो भवता तत्र दीयते, न च मत्त्वप्यपराधे गच्छानिक्त्रानन गाँग्वाह्नया भवतां भवतिः । वयं पुन. खल्यगप्यपराध भवतां न महामः धमुरवुक्तिय 'नृपायाः' वया मन्वन्धिनमपराधम् इत्युक्ते यदि ते प्रतीच्छका भणेषु — 'ण्वनेतद् यदादिम्यान्त भगवनः । तत्र निष्यान्यने पार्थमादिस्रिण्याः । एते च दिधा—पार्थसादयो वा भवेषु सविद्या वा । तत्र ये पार्थमादयने पार्थमादिस्रिण्याः । या सविद्यस्थिता गाँ। १२६१॥

[े] १ °ते चेवं पा° तार विता ॥ २ प्राण्णं गर ॥ ३ मा वित्ये । भेर रेर्ड ए ० ॥ ४ बार्डाप समनो आर किता ॥

15

टपसम्य-

द्यानमा-छोडना

न्व जामा-

चार्यद्य-

यर्न च

संबंगनप्येपां विविमाह—

पामन्याईमुंडिऍ, आलोयण होइ दिक्खपभिईओ । संविन्गपुराण पृण, जप्यभिई चेव ओमनो ॥ १२६२ ॥ ममणुन्नमनमणुन, जप्यभिई चेत्र निन्गओ गच्छा। मोहि पडिच्छिऊणं, मामायिं प्रयंमंति ॥ १२६३ ॥

यः पार्श्वसादिः पार्श्वसादिभिरेव मुण्डिननस्य 'दीक्षाप्रमृति' दीक्षादिनादारम्य आक्रोबना भवति । यन्तु मविष्ठमुण्डितन्वात् पूर्व सविष्ठः पश्चाद् अवसर्वामृतः म पुगणमंत्रिष्ठ उच्यते, गाथायां प्राकृतन्वाद् व्यत्यानेन पृत्रीपर्गन्पानः, मः 'यत्यमृति' यहिनादारम्याञ्चसन्नः सञ्चात- स्व्यमृत्येवालेचनां दात्यते ॥ १२६२ ॥

10 यम्तु निव्यः न द्विया—'नमनोत्तः' नाम्मोगिकः 'अममनोत्तः' असाम्मोगिकः । स द्विवि-थोऽपि यत्रमृति सगच्छात्तिगैनतत एव दिनागरम्याङोचनां दापयितच्यः । ततः 'योषिम्' आलोचनां प्रतीच्छ्य यो यन् नपः छेदं मुछं वा प्रायश्चित्तमाप्रतस्य तद् दत्त्वा स्कीयां सामा-चार्ग्रमाचार्याः प्रदर्शयन्ति ॥ १२६३ ॥ किं कारणम् १ इति चेदित्याह्—

अति गीय-सुयहगणं, चोह्जंवाण मा हु अचियत्तं । मेगसु य पनेयं, माऽमंखड पुट्यकरणणं ॥ १२६४ ॥

ये गीताणीः श्रुतवराः, बहुश्चता गणि-बाचकादिश्रव्हामियेया इत्यर्थः, तेषामित, किं पुनिरतर्पान्? इत्यिपश्रव्यार्थः, वित्रथसामाचार्गकर्णं नौद्यमानानां 'मेवं सामाचार्गमन्यथाकारं कार्षाः'
इत्यादिवचनमां मृद् ''अचियचं'' अपीनिक्तम . यनोऽन्योऽन्यं गच्छानां काश्चिद्रनीहस्यः सामाचार्यन्ततः 'प्रत्येकं' एथक एथर्ग 'सर्यादान्नं' सामाचार्गमु वर्तनानामु प्रवाहतः पूर्वाम्यस्ताया एव
20सानाचार्योः क्रणेन प्रतिनोदितानां मा 'असंन्वहं' क्रख्हो भवदित्यात्मीया चक्रवावसामाचारी
क्रथयित्य्या ॥ १२६२ ॥ आह् क्रयं पुनरमित्रीयमानेऽप्रीतिकं मवेद् श स्व्यते—

गच्छइ वियारभूमाइ वायओं देह कप्पियारं से । तम्हा उ चक्कवालं, कहिंति अणहिंहिय निर्सि वा ॥ १२६५ ॥

थ्यं वाचको विचारमृत्याम् आदिश्वन्याद् नक्त-यानग्रहणादौ गच्छति अतो दृद्द 'कल्पितारं' श्रुक्तारे कल्पिकं मात्रु 'सं' तस वाचकत्य येन स सामाचार्ग दृश्यित । तत प्रवमिष्वीयमाने तस वाचकत्य यहद्पीतिकं मत्रति. यया—अहो ! त्रगणं विक्तन्य पर्गणमुपसयता वयपण्यं परिम्यामहे हति । यत प्रवं तन्मान् चकवालसामाचार्ग-अतिदिनिक्रियाकलाक्त्रां तथां पुरत आचार्याः क्र्य्यन्ति यथा ते कल्पिका भवन्ति । यावच सा तथां प्रकृत्यने तावन् "अणहिंहय" ति ते मिलायं न हिण्हाय्यन्ते. मा मृत् तेषां सामाचार्राशियणत्यावातः । अय न संसर्ति ततः 30 'निश्चि' रात्रां ने सामाचार्रा आह्यित्व्या हति ॥ १२६५ ॥

गर्न प्रतीच्छनद्वारमं । अथ वाचनाद्वारम् । तथां गृद्दीतमामाचार्गकाणां सूत्रार्थवाचना दात्रच्या। वाच्च्यमानानां च नेतां सामाचारीकरणे प्रमाद्यनां यो विविद्यमिषित्सुद्वीरुखोकमाद्द— १ पृथेपर° त० दे० ॥ २ पुत्रपत्तेणं ता० ॥ ३ °रणेनोद्यच्छमाना° त० दे० ॥ उवएसी सारणा चेव, तह्या पिडसारणा । छंदे अवद्यमाणं, अप्पछंदेण वज्जेजा ॥ १२६६ ॥

उपदेशः सारणा चेव तृतीया प्रतिसारणा, ततः 'छन्दे' उपदेशेऽवर्तनानं विनेयं गुररिष 'आत्मच्छन्देन' आत्माभिप्रायेण 'वर्जयेत्' परित्यजेदिति निर्युक्तिश्रोकसमासार्थः ॥ १२६६॥ अथ विस्तरार्थः, तत्र गुरुभिस्तान् प्रति वक्तव्यम्—अस्माकमेषा सामाचारी यद् निद्रा-ठ

विकथादयः प्रमादाः परिहर्त्तव्याः, एप उपदेशः । अथ सारणामाह—

निद्दायमायमाइसु, सई तु खिलयस्स सारणा होह । नणु कहिय ते पमाया, मा सीयसु तेसु जाणंतो ॥ १२६७॥

निद्रेव प्रमादो निद्राप्रमादः, आदिगट्याद् अप्रखुपेक्षित-दुप्प्रखुपेक्षितादिपरिग्रहः, तेषु 'सर्ह्यू' एकवारं स्विकतस्य सारणा कर्त्तव्या भवति । यथा—भो महाभाग ! नन्त्रेते पूर्वमेवासाभिन्तर 10 प्रमादाः कथिताः ततो जानन्त्रपि 'तेषु' प्रमादेषु मा सीदत्येषा स्नारणा ॥ १२६७॥

अथ प्रतिसारणामाह—

फुड-रुक्से अचियत्तं, गोणो तुदिओ व मा हु पेछेजा। सज्जं अओ न भन्नइ, धुव सारण तं वयं मणिमो ॥ १२६८॥

स्फुटं नाम—यस्तेन प्रमादः कृतः स परिस्फुटं नाभिधीयते किन्त्वन्यव्यपदेशेन भणितव्यम्, 16 स्कृतं नाम—निष्पिपासम्, यथा—'निर्धर्म ! निरक्षर ! निःशुकः !' इत्यादि तदपि न वक्तव्यम्, यतैः स्फुट-रूक्षेडभिधीयमानेडपीतिकं भवति ।

अत्र च गोदृष्टान्तः—यथा 'गोः' वलीवदों महता भारेण रुद्तितो हलं वा वहमानः प्रती-देनाऽतितोदितः सन् कूर्दियत्वा भारं पातयित हलं वा भनिक्तः; एवमयमि स्फुटाक्षरं रहा-भणित्या वा भणितः कपायितत्वाद् असर्इं कृत्वा गच्छात्रिर्गच्छेत्।

अंत एवाह—गोरिव, वाशव्यस्योपमानार्थस्याऽत्र सम्बन्धाद् . असाविष 'तुदितः' तर-पर्य-मणनप्रतोदेन व्यथितः सन् मा 'हुः' निश्चितं 'प्रेरयेत्' सयमगारं वरादपहम्त्य पातयेत् , अत एव च 'सद्यः' तत्कारं यदा प्रमादः कृतस्तदेव न भण्यते । ''धुव सारण'' ति स वक्तन्यः— वस्त । ध्रुवा—अवश्यं कर्तव्या सयमयोगपु सीवतां सारणा, तथा च मीनीन्द्रवचनम्—

रत्सड वा परो मा वा, विस वा परियत्तड ।

भासियद्या हिया भामाः नपन्तगुणकारिया ॥ (महानि॰ ४० २)॥

'तत्' तसाद् जिनाज्ञाराधनाय वयं भवन्तगेवं भणामः, न पुनर्मत्पर-प्रहेपादिना ॥ १२६८ ॥

अथ ''सज्ज अतो न भन्नदः'' ति पदन्यास्थानार्थगाह—

तिहवसं विद्युप् वा, सीयंती युचार पुणी तहयं । एगीऽवराही ने मोही, वीयं पुण ने न विसहामी ॥ १२६९ ॥

'संदिन्' मामाचार्या प्रमाद्यन निसंत्रेव दिवंगेऽन्यस्यां वेद्ययां दिनीये वा दिवसे पुनर्म्योऽ-प्युच्यने 'तृतीयो' प्रनिग्याग्णा, एक उपदेशो द्वितीया न्यार्णा तृनीया प्रतिसारणेति कृत्वा । कथम् १ इत्याद्—एकम्ने महानपग्यः 'मोदः' तितिक्षितोऽस्यामः, यदि पुनर्द्वितीयं सर्यप्रप्य-पराधं करिप्यसि ननो वयं ने "न विसहामा" न सिहप्यामः ॥ १२६९ ॥

वथा चात्रार्द्रच्छगणकदृशन्तः क्रियंत—

गोणाद्द्रणगद्दिशे, मुद्धा य पुणी सद्दोद गद्दिशे उ । उद्घाष्ट्रक्रणणद्दारी, न मुचए जायमाणी वि ॥ १२७० ॥

यथा कश्चित् चार्ग गवादिहरणं कुर्वचारक्षंकगृद्दीतः ततः, 'मुखत मामकवारस्, नाहं भ्यः सल्यमिष चार्यं करित्यामि' इत्युक्तं द्यालुत्वाद् अपरोपरोधाद्वा तेर्म्रकः पुनर्हितीयवेखायां 10 पृत्तीस्यायवद्याद् यद्याद्वित्रेच्छगणहार्ग भवति, सल्यचीर्यकार्गति भावः, तथापि 'सहोदः' सखोष्त्रो गृहीतः सन् याचमानोऽपि मोक्षणं न मुच्यते । एवं भवतोऽप्येकवारं महदपि प्रमादपदं तिति- क्षितमन्पाभिः, इत उन्द्रे तु म्नोकमिप न नितिक्षामहे । हत्थमुक्तोऽपि यदि प्रमाद्यति तदा मास- एवं दण्डं दक्त्वा द्वितीयं घट्टनाइष्टान्तं कुर्वन्ति ॥ १२७०॥ नमेवाह—

यद्विजंतं युच्छं, इति उदिए दंडणा पृणी विद्यं । पासाणी मंयुत्ती, अदृरंचिय कुंकुमं तद्द्ए ॥ १२७१ ॥

यथा हुग्यमाद्रहितं गद् घट्यमानं चात्र्यमानमपि "बुच्छं" ति देशीपदत्वाद् अवदायं विनप्रमिति यायद्, एवं भवानप्यमाभिरित्यं मारणादिना घट्यमानोऽपि प्रमादमेवाऽऽसेवितवान्,'इति' एवम् 'उदितं' कथिने सिन यदि भृयः प्रमाद्यति तदा पुनर्पि 'दण्डना' मासल्ख्यायश्चित्रपा कर्चव्या। "वीय" नि एतद् द्वितीयमुदाहरणम्। इत्यं दण्डिताऽपि यदि प्रमादाद्20नोपरमते तदा रुखनाद्यान्तो वक्तव्यः—"पीसाणो" इत्यादि। अति—अतीव रुखितं—पिष्टं
कुङ्कुमं कि पापाणः संवृत्तः १। एवं भवानपि महता प्रयासेन प्रतिनोद्यमानः किमप्रमत्तः [कि
प्रमतः] संवृत्तः १ इति। एतन तृतीयमुदाहरणं कृत्या तथेव मासल्खु दीयते॥ १२७१॥

अथ यहुक्तं भाक्र "अविणीयाणं विवेगो य" ति (गा० १२२६) तिहतानी मान्यते— अविनीता नाम ये बहुग्रोऽपि प्रतिनोद्यमानाः प्रमाचन्ति, ते च च्छन्देवर्तमाना मण्यन्ते, ताँश्र १९सम्य आन्मच्छन्देन वर्त्वयेष्ठः । कः पुनरासीयच्छन्दे। येन ते परिहियन्ते १ इति उच्यते—

नेण परं निच्छुमणा, आउड़ो प्रण सयं परेहिं वा । तंत्रोलपत्तनायं, नासहिमि मज्ज असे वि ॥ १२७२ ॥

१ °तीयां' प्रतिन्पारणाम्, एक गे॰ छ॰। °तीयाम्' इति प्रतिस्पारणाम्, एक भा॰॥
२ °म इति॥ १२६९॥ अनेन सम्बन्धेनायातमाईच्छगणदृष्टान्तमाद्द्—गोणादृ भा॰॥
३ °ति प्रतिसारणानन्तरसिद् घट्टनादृष्टान्तछक्षणं हितीयं पदं प्रयोक्तस्यम्। इत्यं भा०॥
"पीयं ति परित्रणणाने दीय एवं। एवं देहियो युगा वि उद पमाएद ताह्र भग्गद्द न्वण ति" इति चूणीं
विद्यापत्रणीं न ॥ ४ पागांगे पच्छदं अद्गीतित्रमानं छंड्मं कि पामाणीमृतं १, एवं कि तुमं पि पिर्वोनिद्याणों चेव पमाणीत्र । इति चूणीं विद्याप्याणों च ॥ ५ एनत् प्रतिस्पारणात्रिक्षन्त्यमानं
तृतीयपद्मिति॥१२७१॥ अथ मा०। "पिद्याग्णाओ एवं तित्रंग इति चूणों, विद्याप्यूणीं न ॥

'ततः परं' वारत्रयाद्र्द्धे यदि न निवर्त्तते तदा निष्काशना कर्त्तव्या, निर्गच्छ मदीयगच्छा-दिति । अथासो स्वयं परेण वा प्रज्ञापितः सन् 'आवृत्तः' प्रमादात् प्रतिनिवृत्तः प्रतिभणति 'भग-वन् ! क्षमध्वं मदीयमपराधनिकुरम्वम् , न पुनरेवं करिष्यामि' इति, ततो यद् द्वारगाथायां पत्रज्ञातं सूचितं ततुपवर्ण्यते—"तंत्रोलपत्तनायं" ति, यथा तम्त्रोलपत्रं कुथितं सद् यदि न परित्यज्यते ततः शेपाण्यपि पत्राणि कोथयति । एवं त्वमपि खयं विनष्टो ममाऽन्यानपि साधून् विनाशियप्यसीति कृत्वा निष्काशितोऽसाभिः । सम्प्रत्यप्रमत्तेन भवितव्यं मासगुरु च ते प्राय-श्चित्तम् ॥ १२७२ ॥ अथ निष्काशनस्येव विधिमाह-

> सुहसेगो निच्छुव्भइ, णेगा भणिया उ जइ न वचंति । अन्नावएस उवहिं, जग्गावण सारिकह गमणं ॥ १२७३ ॥

ते पुनः प्रमाद्यन्त एको वाऽनेके वा । यद्येकरततः सुखेनैव 'निर्गच्छ मद्गच्छात्' इत्यमिधाय 10 निप्काश्यते । अथानेके-बहवरतताते यदि 'निर्गच्छत' इति भणिता अपि 'वयं बहवस्तिष्ठामः' इत्यवष्टम्भं कृत्वा न वजन्ति ततः शेपसाधून् रहस्यं ज्ञापयित्वाऽन्येन केनापि अपदेशेन-मिपेण यथा न तेपां शङ्का भवति तथोपिं विहारयोग्य कारियत्वा अन्यव्यपदेशेनेव ते रात्री चिरं जागरणं कारापणीया यथा न प्रातः शीघ्रमुत्तिष्ठन्ति । "सारिकह" ति सागारिकः-शय्यातरस्त-स्यामतो रहिस कथनीयम्, यथा—वयं पैगात एवामुकं माम व्रजिप्यामः, यदि कोऽपि महता 15 निर्वन्धेन युप्मान् प्रश्नयेत्, यथा--आचार्याः क गताः १ इति ततो भवद्भिस्तस्य यथावद् निवे-दनीयम् । "गमणं" ति ततो गमनं कर्त्तव्यम् ॥ १२७३ ॥ गतेपु चाचार्येपु यदि ते ब्रूयुः--

मुका मी दंडरुइणी, भणंति इइ जे न तेसु अहिगारी। सेजायरनिव्यंथे, कहियाऽऽगय न निणए हाणी ॥ १२७४ ॥

'अहो ! सुन्दरं समजिन यद् 'दण्डरुचेः' उग्रदण्डन्यसनिन आचार्याद् मुक्ता वयम्' इति ये 20 भणन्ति न तेप्वधिकारः। ये पुनः परित्यक्ताः सन्तो गाढं परितप्यन्ते 'आः! कप्टम्, उज्झिता वयं वराका निःसम्बन्धवन्धुभिरत्वेर्भगवद्भिः, अतः कथमिव भविष्यामः ?' इति ते शय्यातरं महता निर्वन्धेन प्रच्छन्ति-कथय कुत्रासान् विमुच्य गताः क्षमाश्रमणाः । स प्राह-अमुकं ग्रामम् । ततस्तेन कथिते त्वरितमागतानां तेपां न विनयहानिः कर्त्तव्या, किन्तु प्राग्वदेवाऽभ्यु-त्थानं दण्डकादिग्रहणं च कर्त्तव्यम् । तताते चद्धाञ्जलिपुटाः पाटपतिताश्चित्रमुक्तावलिप्रकाशान्य-25 श्रृणि विसुञ्चन्तो विज्ञपयन्ति—भगवन् ! क्षमध्वमसादीयमपराधम् , विलोकयताऽसान् प्रसादम-न्यरया दशा, प्रतिपद्यध्वं भूयः स्वप्रतीच्छकतया, कुरुतानुमहं सारणादिना, प्रणिपातपर्यवसित-प्रकोपा हि भवन्ति महात्मानः, इत ऊर्छ्व वयं प्रमादं प्रयत्नतः परिहरिप्याम इति । ततो गच्छ-सत्काः साधवः सूरीन् कृताञ्जरुयः प्रसादयन्ति ॥ १२७४ ॥ गुरवो ब्रुवते—आर्याः ! अरुं मम दुष्टाश्वसारथित्वकल्पेनामून् प्रति आचार्यककरणेन, एवमुक्ते साधवो भणन्ति— 30

को नाम सारहीणं, स होइ जो भइवाइणो दमए। दुट्ठे वि उ जो आसे, दमेइ तं आसियं विंति ॥ १२७५ ॥ L

को नाम मार्स्थानां मध्ये न मवति यः 'मद्रवाजिन' विनीताश्वान् दमयत् ? न कश्चिद्मी, धामार्निरेखेल्यक्षेः । 'दुष्टान्' अविनीतानिष योऽश्वान् 'दमयिन' शिक्षा ब्राह्यिति तम् 'आश्वि-रुज्' धश्वदमं हुवते लेकिकाः ॥ १२७५ ॥ अपि च—

हैंति हु पमाय-खिलया, पुट्यन्मामा य दुचया भेने !। न चिरं च जंनणेयं, हिया य अचंनियं अने ॥ १२७६॥

'सदन्त!' परमकत्याणयागिन्! 'पूर्वाभ्यासाद्' अनादिमवास्यस्ततया दुस्यजानि प्रमाद-स्व-लितानि भवन्ति प्रायो जन्तृनाम् । प्रमादाः—निद्रा-विकथाद्यः, स्वितिनानि—अनुपयुक्तगमन-भाषणादीनि । न चेयं नगरणादित्या यत्रणा 'चिरं' चिरकालं भाविनी, सात्मीमावसुपगते द्यमीपामप्रमादे को नाम नगरणादिकं करिष्यति ' इति भावः । न चेयमापातवत् परिणामेऽपि 10 दुस्तहा किन्तु 'हिना च' पथ्या 'आत्यन्तिकम्' अतिशयेन 'अन्ते अवसाने परिणामे इत्यर्थः । यद्य परिणामसुन्दरं तदापातकदुकमष्युपादयम् ॥ १२७६ ॥ अत्रान्तरे मृग्यस्तेषां प्रमादिमाधृनां तिन्तरं संवगनवगम्य नानेव स्थिरीकर्षु राजदृश्यानं क्विन्त—

अच्छिम्यालु निर्देश, आगंतुअविज्ञगुलियमंगणया ।

विसद्दामि नि य भणिए, अंजण वियणा मुहं पच्छा ॥ १२७७ ॥

15 एगो गया। तस्त अच्छित्या जाया। वन्ययिक्तिहं न सिक्त क्षेत्र तिगिच्छिउं। अन्नो अ धार्गहुओं विक्तो आगंतुं भण्ट—सम अस्य गुलियाओं अच्छिस्ख्यसमणीओं, ताहिं अंजिएस् अच्छीस् तिवतग दुरिह्यासा वेयणा भवह सुहुत्तं, जह न वि से सारणाए सिद्सिहि तो अंजिमि ते अच्छीणि। 'न मारिमि' नि अव्भुवगए अंजिएस् अच्छीस् निवतग वेयणा जाया। ताहे रहा भणिय—अच्छीणि से पिंडयाणि, सारह नं वेज। तहिं अव्भुवगंतुं न सारिओं।

²⁰ सुहुर्चेनरेपा डबर्पना वयणा । पोराणाणि अर्च्छाणि जायाणि । विज्ञो पृहुको ॥

जय गायावरार्थः — अङ्ग — चक्षुपो या म्ग्-रेगलाद्वान् कश्चित्ररेन्द्रः । तस्य चागन्तुकवैद्येन सुदिनानां शंसना — सरूपक्षयना । तना गन्ना 'निपदाम्यहं वेदनाम्' इति भणिते वैद्येन चक्षुपो-सुदिकामिरखनम् । तना वेदना । पश्चान् क्रमण सुलं सज्ञानमः, प्रगुणामृने अक्षिणी इति । एम दृष्टान्त्रोज्यमयापनयः — यथा तम्य राज्ञसन्काल्दुम्यहमपि गुटिकाञ्चनं क्रमण चक्षुपोः प्रगु- 25 णांकरणान् परिणामसुन्दरं समजनि, एवं भवनामिष न्यारणादिकं खर-यक्षस्त्वाद् यद्यप्यापातकदुकं नियापि परिणायसुन्दरं समजनि, एवं भवनामिष न्यारणादिकं खर-यक्षस्त्वाद् यद्यप्यापातकदुकं नियापि परिणायसुन्दरं समजनि, इह पर्त्र च सक्लक्ष्याणपरस्यराकारणत्वादिति ॥१२७७॥ चक्षानुक्तविधिसङ्गह्माह—

इय अनिर्णायनिवेगो, विगिनियाणं च मंगहो भूओ । ज उ निमग्गविर्णाया, साम्णया केवलं तेमि ॥ १२७८ ॥

30 "इय" एवनविर्नातानां त्रिवेकः—परित्यागः । "त्रिगिचियाणं च" ित परित्यक्तानां पुनरा-वृत्तानां म्यः सङ्ग्हो त्रियेयः । ये तु निसर्गण—न्यमावेन त्रिनीतान्त्रेषां न्यार्णव केवलं कर्तव्या, यथा 'इत्रमित्यं कर्तव्यम्' इति ॥ १२७८ ॥ उपमहम्बाह्—

एवं पडिच्छिकां, निष्कत्ति कुणह बाग्स समान्ता ।

एसो चेव विहारो, सीसे निष्फाययंतस्स ॥ १२७९ ॥

'एवं' देशदर्शनं कुर्वन् शिष्य-प्रतीच्छ्यकान् प्रतीच्छ्य निष्पत्तिं स्त्रार्थमाहणादिना द्वादश 'समाः' संवत्सराणि करोति । गतं निप्पत्तिद्वारम् । अथ विहारद्वारं व्याख्यायते—"एसो चेव'' इत्यादि । एप एव विहारः गिप्यान् निप्पादयतो चेदितव्यः । इयमत्र भावना—तस्य देशदर्शनं कृत्वा गुरुपादम्लमागतस्य गुरुमिराचार्यपदमध्यारोप्य दिग्वन्धानुज्ञायां विहितायां नव-5 कल्पविधिना विहरतो यः शिप्यनिप्पादनविधिः सं एवमेव द्वादश वर्गाणि यावद विज्ञेयः, त्रल्यवक्तव्यत्वादिति ॥ १२७९ ॥

अथेतदेव विहारद्वारमावृत्त्या जिनकल्पिकमाश्रित्य व्याचिख्यायुद्वीरगाथामाह---

अन्वोच्छित्ती मण पंचतुलण उवगरणमेव परिक्रम्मे । तवसुत्तसुएगत्ते, उवसग्गसहे य वडरुक्खे ॥ १२८० ॥

िपकानां 10 विहार

15

30

जिनक-

अव्यवच्छित्तिविपयं मनः प्रयुद्धे । पञ्चानाम्-आचार्यादीनां तुलना-खयोग्यताविपया भवति, उपकरणं जिनकल्पोचितमेव गृहाति । 'परिकर्म' इन्द्रियादिजयरूपं करोति । तपः-सत्त्व-श्रुतैकत्वानि उपसर्गसहश्रेति पञ्च भावना भवन्ति । 'वटवृक्षे' इति जिनकैल्पं तीर्थकराठीनामभावे वटवृक्षस्या-धस्तात् प्रतिपद्यते इति द्वारगाथासमासार्थः ॥ १२८० ॥ अथेनामेव विवरीपुराह —

अणुपालिओ य दीहो, परियाओ वायणा वि मे दिचा । निष्फाइया य सीसा, सेयं खु महऽप्पणी काउं ॥ १२८१ ॥

तेनाचार्येण सूत्रार्थयोरव्यवच्छित्तं कृत्वा पर्यन्ते-पूर्वापररात्रकालसमये धर्मजागरिकां जाय-तेत्थं चिन्तनीयम् , यथा--अनुपालितो मया दीर्घः 'पर्यायः' प्रव्रज्यारूपः, वाचनाऽपि मया दत्ता उचितेभ्यः प्रतीच्छकादिभ्यः, निप्पादिताश्च भूयासः शिप्याः, तदेव कृता तीर्थस्याव्यवच्छितिः, तत्करणेन विहितमात्मनः ऋणमोक्षणम्, अत ऊर्द्ध 'श्रेयः' प्रशस्यतरं ममात्मनो हितं कर्त्तुम् 20 ॥ १२८१ ॥ किं नाम हितम् १ इति चेद् उच्यते-

> किन्न विहारेणऽव्भुज्जएण विहरामऽणुत्तरगुणेणं। आओ अव्भुजयसासणेण विहिणा अणुमरामि ॥ १२८२ ॥

'किन्नु' इति वितर्क, 'अभ्युद्यतविहारेण' जिनकल्पादिना 'अनुत्तरगुणेन' अनुत्तराः-अन-न्यसामान्या गुणा:-निर्ममत्वादयो यस्मिन् स तथा तेन अहं विहरामि 2 "आउ" ति उताहो 25 "अञ्भुज्जयसासणेणं" ति सूचकत्वात् सूत्रस्याऽभ्युद्यतमरणविषयेण शासनोक्तेन विधिना 'अनु-ब्रिये' अनु—पश्चात् सलेखनाबुत्तरकालं मरणं प्रतिपद्येऽहम् ² इति ॥ १२८२ ॥

अभ्युद्यतविहार-मरणयोः स्ररूपमाह-

जिण सुद्ध अहालंदे, तिविहो अन्ध्रुजओ अह विहारो । अव्युज्जयमरणं पुण, पाओवग-इंगिणि-परिना ॥ १२८३॥

जिनकल्पः शुद्धपरिहारकल्पो यथालन्दकल्पश्चेति त्रिविघोऽभ्युचतोऽथेप विहारो मन्तव्यः ।

१ °ग्रहणा ॰ गो॰ छे॰ विना ॥ २ सः 'एप एव' अनन्तरोक्तो विद्ययः, तुल्य ॰ भा॰ ॥ ३ °कल्पमपवादतो वद° भा॰ ॥

अम्युद्यनमर्णं पुनिस्त्रिवियम्—पाद्रपापगमनम् इङ्गिनीमर्णं 'परिज्ञा' इति मक्तप्रत्यास्याम्य ॥ १२८३ ॥ स्त्राद् बुद्धिः—द्वे अप्येते अम्युद्यतस्त्रपत्रया श्रेयमी, अतः कतरदनयोः प्रतिपत्त-व्यम् १ उच्यते—

सयमेव आउकार्छ, नाउं पोच्छित् वा बहुं सेसं । मुबहुगुणलामकंखी, विहारमञ्जुखयं भज्ञ ॥ १२८४ ॥

स्वयंत्रायुःकारं सानिश्ययुत्तेषयोगाद् 'बहु' दीव 'शेषम्' अवशिष्यमाणं ज्ञाला पृष्ठा वाऽन्यं युतायतिश्ययुक्तमाचार्यं बहुरोपमवनुक्यं ततः सुबहुगुणश्चमकाङ्की सन् विहारमस्युवतं 'मलति' प्रनिपयन द्वयंः । इह चायं विधिः—यदि स्तोक्तमवायुरवशिष्यते ततः पाद्पेप-गमादीनामेकतरमस्युवत्मगणं प्रतिपयनं, अथ प्रज्ञुरमायुः परं जङ्कावल्परिक्षीणस्ततो दृद्धात्राम-१० मव्यान्ते, अथाऽऽयुदीवे न च लङ्कावल्परिक्षीणस्तदाऽस्युवतिवहारं प्रतिपयत दृति ॥ १२८२ ॥ गतमव्यविक्तिनेतिहारम् । अथ पञ्चतुल्नेति हारम्—पञ्चानाम्—आचार्योपाध्याय-प्रवर्तक-स्विद-गणावच्लेदकानां तुल्ना मवित, यथा—त्रयाणामस्युवत्। मरण-बृद्धावासा-ऽस्युवत् विद्धाराणां क्रतं प्रतिपद्यामहे १ । इह चन एव प्रायोऽस्युवतिवहारस्यविकारिण इति कृत्वा पञ्चति सद्यानियमः कृतः । इत्यमात्मानं ते।लियता यदि जिनकल्यं प्रतिपित्नुन्तत इत्यं विधि करोति—

गणनिक्खेतिचरिश्रो, गणिम्य जो व ठितश्रो जिहे ठाणे । उविहें च अहागडयं, गिण्हह जावऽन्न णुप्पाए ॥ १२८५ ॥

'गणिनः' आचार्यस गणिनक्षेपः 'इत्तरः' परिभिनकाछीना मत्रति, यो वा उपाध्यायादिर्यत्र 'स्वानं' पदे न्यापितः स तसदमान्मतृत्र्यगुणं मायात्रित्वरिनक्षेपेण निक्षिपति । आह किमर्थन-सावित्वरं गणादिनिक्षेपं वित्रयानि ! न यावर्ज्ञाविकमः! उच्यते—इह चकाष्टकविवरगमिना ²⁰ शिळीसुक्तेन वामर्थाचने पुत्रकाया वेयनमित्र दुष्करं गणाद्युगान्नम्, अतः पर्यामन्तावत्— 'एनेऽभिनवाचार्यप्रसुद्धः किमस्य गणादेरनुपान्ननं कर्तुं यथावद्याग्रते वा ! न वा !, यदि नेशते तत्रो मया न प्रतिपत्त्रयो जिनकत्यः, यनो जिनकत्यानुपान्ननाद्धि अष्टतरमित्तरस्य तथाविषस्यामात्रे सुत्रोक्तनीत्या गणाद्यनुपान्ननम्, बहुत्रगनिज्ञगन्नमकागणत्वात्, न च बहुगुणपरित्यागेन स्वर्थगुणोपादानं विद्यां कर्तुमुचितन्, सुप्रतिष्टितकार्यारमकत्वात् तेषाम्' इत्यमिमम्बाय म श्रम्भवानित्वरं गणादिनिक्षेपं विद्यानीति ।

उक्कब पश्चत्रमनुक्रयांके इंहेत प्रक्रमे श्रीहरिमद्रस्रिपृज्येः— पिच्छानु ठात एए, केरिसगा होति अम्स ठाणस्स १ । नोगाण ति पाएणं, निबहणं दुक्करं होह ॥ (गा० १३८०) न य बहुगुगचाएणं, येत्रगुणपसाहणं बुह्नणाणं । इहं क्याह कर्जं, हुसछा सुपहहियारंसा ॥ (गा० १३८१)

अशेरकरणहारमार्---''टबर्हि च' इत्यादि । याबद् 'अन्यं' जिनकरुपप्रायोग्यं शुद्धेषणा-युक्तं प्रमाणीपेनं च 'टप्रांचं' वकादि नोत्यावयित ताबद् ययाङ्कतमेव गृहाति । ततः सकरूप-

39

१ व्यवरोपाद्य भागा

۶,

15

प्रायोग्ये उपकरणे रुठ्धे सति प्राक्तनमुपकरणं व्युत्सृजतीति ॥ १२८५ ॥

गतमुपकरणद्वारम् । अथ परिकर्मद्वारम्—परिकर्मेति वा भावनेति वा एकार्थम् । ततोऽयमात्मानं भावनाभिः सम्यग् भावयति । आह सर्वेऽपि साधवस्तावद् भावितान्तरात्मानो भवन्ति अतः किं पुनर्भावयितव्यम् ? उच्यते—

> इंदिय-कसाय-जोगा, विणियमिया जइ वि सन्वसाहृहिं। तह वि जओ कायन्वो, तज्जयसिद्धिं गणितेणं॥ १२८६॥

यद्यपि सर्वसाधुभिरिन्द्रिय-कपाय-योगा विविधेः प्रकारैनियमिताः—जितास्तथापि जिनकरणं प्रतिपत्तुकामेन पुनरेतेपां जयः कर्त्तव्यः । तत्रेहिका-ऽऽमुिष्मकापायपरिभावनादिना इन्द्रियाणां जयस्तथा कर्त्तव्यो यथेष्टा-ऽनिष्टिविपयेषु गोचरमुपागतेषु राग-द्रेपयोरुत्पत्तिरेव न भवति । कपा-याणामपि जये तथा यत्त आस्थेयो यथा दुर्वचनश्रवणादि वाद्यं कारणमवाप्यापि तेपामुद्रय एव 10 नाविभवति । योगानामपि मनःप्रभृतीनां जये तथा यतितव्यं यथा तेपामार्त्तप्यानादिकं दुष्पणि-धानमेव नोदयमासादयति । अथ किमर्थमित्थमिन्द्रिय-कपाय-योगानां जयः कर्त्तव्यः १ इत्याह—तेपाम्—इन्द्रियादीनां जयस्तज्ञयः तज्जयेन सिद्धिः—जिनकरुपपारप्राप्तिस्तां 'गणयता' मन्यमानेने-निद्रयादीनां जयः कर्रणीयः ॥ १२८६ ॥ अत्रेव विशेषमाह—

जोगिदिएहिं न तहा, अहिगारो निजिएहिं न हु ताई। कल्लसेहिं विरहियाई, दुक्खसईवीयभूयाई।। १२८७।।

योगैरिन्द्रियेश्च निर्जितेर्न तथा 'अधिकारः' प्रयोजनम्, यतो नैव 'तानि' योगेन्द्रियाणि 'कल्लपेः' कपायैर्विरहितानि दुःखसस्यवीजमृतानि भवन्ति किन्तु कपाया एव दुःखपरम्पराया मूल्वीजमिति भावः ॥ १२८७॥ आह यद्येवं योगा इन्द्रियाणि च न जेतव्यानि, तेपां कपा-यविरहितानां दुःखहेत्र्वायोगात्, उच्यते—

जेण उ आयाणेहिं, न विणा कल्लसाण होइ उप्पत्ती । तो तज्जयं ववसिमो, कल्लसजयं चेव इच्छंता ॥ १२८८ ॥

आदीयन्ते—गृह्यन्ते शब्दादयोऽर्था एभिरित्यादानानि—इन्द्रियाण्युच्यन्ते तैः, उपलक्षणत्वाद् योगेश्च विना येन हेतुना 'कल्लपाणां' कपायाणामुत्पत्तिनं भवति । कथम् १ इति चेद् उच्यते—— इह माया-लोभो रागः कोध-मानो तु द्वेप इत्यभिधीयते, तो च राग-द्वेपाविष्टा-ऽनिष्टविषयान् 25 प्राप्य सङ्घायेते, ते च विषया इन्द्रियगोचरा इति कृत्वा इन्द्रियविना न कपायाणामुत्पत्तिरावि-रितः । योगानिप मनोवाक्षायरूपानन्तरेण न कापि कपाया उदीयमाना दृश्यन्त इति तैरिप सह कपायाणामविनाभावो दृष्टव्यः । यतश्चैवमतः 'तज्जयम्' इन्द्रिय-योगजयं 'व्यवस्थामः' इच्छामः 'कल्लपजयं' कपायजयमेव इच्छन्त इति ॥ १२८८ ॥

आह के पुनर्गुणा भावनाभावितान्तरात्मनो भवन्ति ^१ इति उच्यते—

खेयविणोओ सीहसजओ य लहुपा तवी असंगी अ। सद्धाजणणं च परे, कालनाणं च नऽनत्ती ॥ १२८९॥

१ साहसे जयो भवति । साहस णाम भयं तं ण उप्पज्जति । इति च्यूणी विशेपचूणी च ॥

30

30

त्रोमावनामावित्रस 'देहिविनोदः' परिश्रमजयो मवित, चतुर्थादितपमा न परिश्राम्यनीत्यर्थः । सस्त्रमावनामावित्रस माञ्चनं—मयं तन्य जयो मवित । एकत्वमावनामावित्रस 'रुह्ता'
'एक एवाह्म्' इतिहुद्धा रुहुमानो मवित । श्रुतमाननामावित्रस तपो मवित, ''न वि अस्यि
न वि य होही, मज्जायमनं ननोकन्ये ।'' (गा० ११६९) इति वचनात् । ष्ट्रतिमावनामाक्षित्रस स्वनादिषु 'श्रमक्तः' निमेग्न्तं मविन । अन्यच्च श्रुतमावनां मावयन् अन्येपानिम श्रद्धाजननं करोति, श्रया—वयनप्येवं कहा विधालामः १ इति । कारुहानं च पारुत्यादिषु
नात्यतः सङ्गाधाद्दगन्तव्यं मवित किन्तु श्रुतपरावर्त्तनानुसारण स्वयमवोच्छ्वासादिकारकरुक्त रुनाः पोक्त्यादिनानं जानाति । यत्र एने गुणान्ततां मावनीय आन्या मावनया ॥ १२८९ ॥

सा च हिया—इत्यता नावत्रव । तत्र इत्यततावदाह—

मरवेह-आन-हन्थी-पवर्गाईया उ भावणा दन्ते । अन्मान मात्रण नि च, एगई नृत्थिमा भावे ॥ १२९० ॥

इह वानुको यद अन्यामित्रेगपात् प्रयमं स्थ्उट्ट्यं ततो बाङ्यद्वां क्यांद्रको ततः सुनि-मीतः स्रोणापि उद्यम्य वेषं क्योति, यद्याध्यः श्रीतं श्रीव्रतरं धावमानः श्रिक्षाविद्योषाद् मह-द्राप गर्नादिकं उद्घयति, हर्ना वा श्रिप्यमापः प्रयमं क्राष्ट्रानि ततः क्षुष्ठकात् पापाणान् ततो १६ गोलिकां तदनु बदराणि तदनन्तरं सिद्धार्थानप्यस्थासातिग्रयाद् गृह्मति. स्वको वा प्रयमं वंशे विरुप्तः मन् स्वतं ततः पश्चाद्य्यसन् आकादोऽपि तानि तानि करणानि करोति, आदिश-द्याद्वित्रकरादिणिग्रहः । एताः सर्वा अपि द्रव्यमावनौः । अस्यास इति वा मावनेति वा एक्य-थेन् । तेत्रता व्ययमाणन्याणाः 'भावे' नावतो मावना मन्तव्याः ॥ १२९० ॥ ता एवाइ—

द्विहाश्रों भावणाओं, अमंकिलिहा य मंकिलिहा य । मुक्ण मंकिलिहा, असंकिलिहाहि मार्वित ॥ १२९१ ॥

हिनिघाश्च मानतो मानताः । 'असंक्रियाः' शुमाः 'मंक्रियाश्च' अशुमाः । तत्र ग्रुक्ता मॅक्रियमानता अमिक्रियामिमीनतानिमीनयन्ति जिनकृत्यं मतिपित्सन इति ॥ १२९१ ॥

थय कन्नाः निष्क्रियमाद्याः १ इत्याच्यक्षापनादाय तन्त्रक्तमिषिष्टुत्रह्—

मंग्रा य पन्यणया, होइ विवेगो च अव्ययस्थासु । एमेव पमन्यासु वि, जन्य विवेगो गुणा नन्य ॥ १२९२ ॥

अप्रधानमान्तानां सद्धा पत्निति नष्ट्णा निकार्गाया । प्रकृषणा च तासां व्यवेका । तासां चप्रधानां 'विकेकः' परिहारो स्वति । एवसेव 'प्रधानात्विप' तपःप्रसृतिसान्तासु सद्धण प्रवचना च वक्तव्या । नवरं ''जत्य विकेगो'' ति यत्र विकेक इति एउं तत्राप्रधाना एवं सावना इष्टक्यों: ता विकेक्तव्याः—प्रीतन्याच्या इति सावः । ''सुगा क्यां' नि यान्तु प्रश्नुता सावनाः

र नार्तिति भावः। यत मानः ॥ २ धात् पद्धां सुवमस्युद्धान् सह मानः ॥ ३ धात् पद्धां सुवमस्युद्धान् सह मानः ॥ ३ धात् पद्धां सुवमस्युद्धान् सह मानः ॥ ३ धातः । अध्या न प्रशासः इति । 'तश्र' इति प्रशासनावनानु भाव्ययानानु गुजा भवन्ति, ते च 'स्येद्विषोश्रो' (गा० १२८९) इत्यादिना प्रागेव भाविता इति चूर्ण्यसिप्रायेण व्यास्थानम् । अथ विशेषसूर्ण्यमिप्रायेण व्याप्यायने—'जाय विशेषसूर्ण्यमिप्रायेण व्याप्यायने—'जाय विशेषसूर्ण्यमिप्रायेण व्याप्यायने—'जाय विशेषसूर्ण्यमिप्रायेण

20

10

भैटिए-भावना-ना फटम 25 तासु भान्यमानासु गुणाः-खेद-विनोदांदयः प्रागुक्ता भवन्तीति चूंर्ण्यभिष्रायेण न्याख्यानम् । विशेषचूर्ण्यभिष्रायः पुनरयम्—यत्रं च प्रगस्तेऽपि वस्तुनि विवेकः—परित्यागोऽस्य घटते तत्र गुणा एव भवन्ति । यथा—आचार्यादीनामवर्णभाषण-श्रवणे औदासीन्यमवरुम्बमानस्याप्यस्य गुण एव भवति, न पुनः स्थविरकल्पिकस्येव यथाशक्ति तित्रवारणमकुर्वतो दोप इति ॥ १२९२ ॥

अथाप्रशस्तभावनानां नामप्राहं गृहीत्वा सग्न्यामाह—

कंदप्प देविकिन्विस, अभिओगा आसुरा य सम्मोहा। एसा य संकिलिहा, पंचिवहा भावणा भणिया।। १२९३।।

अप्रशस्ता भावनाः

कन्दर्पः—कामस्तत्यधानाः पिद्गप्राया देवविशेषाः कन्दर्पा उच्यन्ते तेषामियं कान्दर्पा । एवं देवानां मध्ये किल्विपाः—पापा अत एवास्पृश्यादिधर्माणश्चण्डालप्रायास्तेषामियं देविकिल्विपी । आ—समन्ताद् आभिमुख्येन [वा] युज्यन्ते—प्रेप्यकर्मणि व्यापार्यन्त इत्याभियोग्याः—किङ्करस्थानीया 10 देविवशेषास्तेषामियमाभियोगी । असुराः—भवनपतिदेविवशेषास्तेषामियमाभ्रुरी । सम्मुखन्तीति सम्मोहाः—मूढात्मानो देविवशेषास्तेषामियं साम्मोही । गाथायां प्राकृतत्वाद् आप्प्रत्ययः । एषा अप्रशस्ता पञ्चविधा मावना तत्तत्वभावाभ्यासस्त्रपा मणिता ॥ १२९३ ॥ अथासामेव फलमाह—

जो संजओ वि एआसु अप्पसत्थासु भावणं कुणइ। सो तिन्वहेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ चरणहीणो ॥ १२९४॥

अप्रशस्त-भावना-15 ना फलम्

यः 'संयतोऽपि' व्यवहारतः साधुरप्येतामिरमशस्तामिर्भावनामिः, गाथायां तृतीयार्थे सप्तमी, 'भावनम्' आत्मनो वासनं करोति सः 'तेंद्विधेषु' तादृशेषु कान्द्रिषकादिषु सुरेषु गच्छति । यस्तु 'चेरणरहितः' सर्वथा चारित्रसत्ताविकलो द्रव्यचरणहीनो वा सः 'भाज्यः' तद्विधेषु वा देवेषू-राचते नरक-तिर्यङ्ग-मनुप्येषु वा ॥ १२९४॥

अथासामेव प्ररूपणां चिकीर्पुः प्रथमतः कन्दर्पभावनां प्ररूपयति— कंदप्पे कुकुइए, द्वसीले यावि हासणकरे य । विम्हावितो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ ॥ १२९५ ॥

कन्दर्प-भावना

इह कन्दर्पशन्देन कन्दर्पवानुच्यते, एवं कौत्कुच्यवान् द्रवशील्श्यापि हासनकरश्च विस्माप-यश्च परं कान्दर्पी भावनां करोतीति सङ्ग्रहगाथासमासार्थः ॥ १२९५॥ अथ विस्तरार्थमाह—

कहकहकहस्स हसणं, कंदप्पो अनिहुया य संलावा । कंदप्पकहाकहणं, कंदप्पुवएस संसा य ॥ १२९६ ॥

25 कन्दर्पः

१ "पत्र इति सङ्ख्या एकादिपद्मादिप्रतिषेधार्थम् । ताओ भावणाओ जाणित्ता अप्पसत्थाणं विवेगो कातव्यो, परिवर्जनिमित्यर्थः । 'एवमेव' अवधारणे । किमवधारिमतव्यम् १ उच्यते—'सर्या त परूवणता' जधा अप्पसत्थाणं तथा पसत्थाणं वि । णवर 'जत्य विवेगो' ति वाक्यं अप्पसत्थाणं, 'गुणा तत्य' ति पसत्थाणं प्रेत्तव्वा इति वाक्यशेप । ते च गुणास्तप -सत्त्वादय ।" इति च्यूणों ॥ २ "प्रश्चासत्थापि विवेक एव कार्यः, यथा आचार्याः दीनामवर्णभाषण-अवणे माध्यस्थ्यं भावयतो गुण एव भवति, न स्थविरकत्पवद् दोषः ।" इति विशेषच्यूणों ॥ ३ उत्ता० ॥ ४ 'तिद्विषयेषु' ताद्दं भा० विना ॥ ५ टीकाकृता "चरणरिक्षो" इतिपाठानुसारेण व्याख्यातम्, न चासौ पाठ क्रचनाप्युपलभ्यते । च्यूणों विशेषच्यूणों च "चरणहीणो" इति पाठ आह-तोऽस्ति । तथाहि—"वरणहीणो ति जो चरणविद्वणों सो" इति ॥ ६ 'ति विश्वेक्तिगास्थां सो० हे० ॥

"कह्कह्कह्स्स" ति तृतीयार्थं पष्टी, 'कह्कह्कह्ने उच्चे स्वरेण विद्यतवदनस्य यद् इस-नम्-अट्टह्स्स इत्यर्थः, यश्च 'कन्द्र्पः' स्वानुरूपेण सह परिहासः, ये च 'अनिमृताः' निष्ठुरव-क्रोत्तयादिरूपा गुर्वादिनाऽपि समं संलापाः, यच कन्द्रपेकथायाः—कामसम्बद्धायाः कथायाः कथनम्, यश्च कन्द्र्पस्योपदेद्यः—'इत्थिमत्यं कुरु' इति विधानद्वारेण कामोपदेवाः, या च 'गंसा' क्रमंसा कामविषया, एप सर्वोऽपि कन्द्र्पे उच्चते ॥ १२०६ ॥

गतं कन्दर्पद्वारम् । अथ काेेेे कच्यद्वारमाह—

कीरकुच्यम्

भ्रम-नयण-चयण-दसणच्छदेहिँ कर-पाद-कण्णमाईहि । तं तं करेइ जह हस्सए परो अत्तणा अहसं ॥ १२९७ ॥ यायाकोक्कइओ प्रण, तं जंपइ जेण हस्सए अनो । नाणाविहजीवरुए, कुच्चइ ग्रुहतूरए चेव ॥ १२९८ ॥

10

कुत्कुच:—मण्डचेष्टः तस्य भावः कांत्कुच्यं तद् विद्यते यस्य स कांत्कुच्यवान् । स च द्वेषा—कायेन वाचा च । तत्र श्र-नयन-वदन-दशनच्छेदः कर-चरण-कणीदिमिश्च दहावयेव-स्तां तां चेष्टामात्मना अहसन्त्रव करोति यथा परो हसति एप कायकांत्कुच्यवानुच्यते ॥१२९७॥ वाचा कांत्कुच्यवान् पुनम्तत् किमिष परिहासप्रधानं वचनं जन्पित येनाऽन्यो हसति, नाना-विधानां वा मयूर-मार्जार-कोकिलादीनां जीवानां रुतानि—कृजितानि 'मुखतूर्याणि वा' मुखेनातो-द्यवादनस्थ्यणानि तथा करोति यथा परस्य हास्यमायाति ॥ १२९८ ॥ अथ द्वर्यालमाह—

इवर्शाल

भासइ दुयं दुयं गच्छए अ दरिउ व्य गोविसो सरए । सव्यद्वयद्वयकारी, फुद्दइ व ठिओ वि दप्पेणं ॥ १२९९ ॥

'हुतं हुतम्' असमीक्ष्यं सम्प्रमावेशवशाद् यो भाषते । यश्च हुतं हुतं गच्छति, क इव ? 20 इत्याह—अरदि 'दर्षित इव' दर्षोद्धर इव 'गोष्टपः' व्यक्षीवर्देविद्रोषः । अरदि हि प्रचुरचारि- आणतया मिलकाद्यपद्वरहिततया च गोष्ट्रपो मदौद्रकादुच्छृह्युटः पर्यट्नीति, एवमसाविष निर्द्रुशस्त्वरितं त्वरितं गच्छति । यश्च 'सर्वद्वतहुतकानि' प्रत्युपक्षणादीनां सर्वामामिष क्रियाणा- मतित्वरितकारी । यश्च दर्पेण तीत्रोद्रेकवशान् स्फुटतीव 'स्थितोऽिष' समावस्थोऽिष सन्, गम- नादिकियामकुर्वन्नपीत्पर्थः । एप द्रवर्शाल उच्यते ॥ १२९९ ॥ अथ हासकरमाह—

हासकर्

25

वेस-वयणहिँ हासं, जणयंतो अप्यणी परेसिं च।

अह हासणो ति मनह, त्रयणो व्य छले नियच्छंतो ॥ १३०० ॥
"वयणो व्य' भाण्ड इव परेषां 'छिद्राणि' विरूपवेष-भाषाविषययाणि "नियच्छंतो" ति
निरन्तरमन्वेषयन् ताह्यदेव वष-त्रचनविचित्रेगुत्मनः 'परेषां च' प्रेष्टकाणां हास्यं 'जनयन'
उत्पादयन् अथपः 'हासनः' हास्यकर इति भण्यते ॥ १३०० ॥ अथ परविस्मापकमाह—

परिस्या- ³⁰ पक

गुरजालमाइएहिं, तु विम्हयं क्रुणइ तिब्बह्जणस्म ।

तेमु न विम्हयह सर्य, आहडू-कुहेडएहिं च ॥ १३०१ ॥

मुरजारम्-इन्द्रजारम् आदिशब्दाद् अपरकौतुकपरिमहः न , तथा आहत्तीः-प्रहेरिकाः छहरकाः-बकोक्तिविदेषकप्रासंध तथाविधयाम्यरोकपसिद्धयेत् 'तद्विधजनस्य' तादशस्य यालिशपायलोकस्य 'विस्मयं' चित्तविश्रमं करोति स्वयं पुनस्तेषु न विस्मयते एप परविस्मा-पकः ॥ १३०१ ॥ उक्ता कान्दर्पा भावना । अथ देवकिल्विषकीं विभावयिपुराह—

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियाण सन्वसाहूणं । माई अवन्नवाई, किन्विसियं भावणं कुणइ ॥ १३०२ ॥ दैवकिल्वि-पिकी भा-वना

ज्ञानस्य केविलनां धर्माचार्याणां सर्वसाधूनाम् एतेपामवर्णवादी, तथा 'मायी' स्वभावनिगू- ह हनादिना मायावान् एप क्रिल्विपिकीं भावनां करोतीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ॥ १३०२॥ अथ व्यासार्थमाह—

काया वया य ते चिय, ते चेव पमाय अप्पमाया य । मोक्खाहिगारिगाणं, जोइसजोणीहिं किं च पुणो ॥ १३०३ ॥

ज्ञानावर्ण• वादः

इह केचिद् दुर्विद्ग्धाः प्रवचनाशातनापातकमगणयन्त इत्थं श्रुतस्यावणं ह्यतते, यथा—पद्- 10 जीवनिकायामपि पद् कायाः प्ररूप्यन्ते, श्रुस्पिरिज्ञायामपि त एव, अन्येष्वप्यध्ययनेषु बहुशस्त एवोपवर्ण्यन्ते; एवं व्रतान्यपि पुनः पुनस्तान्येव प्रतिपाद्यन्ते; तथा त एव प्रमादा-ऽप्रमादाः पुनः पुनर्वर्ण्यन्ते, यथा—उत्तराध्ययनेषु आचाराङ्गे वाः एवं च पुनरक्तदोषः । किञ्च यदि केवल्स्येव मोक्षस्य साधनार्थमयं प्रयासस्तिर्हि 'मोक्षाधिकारिणां' साधूनां सूर्यप्रज्ञस्यादिना ज्योतिषशास्त्रेण योनिप्राभृतेन वा कि पुनः कार्यम् १ न किञ्चिदित्यर्थः । तेषामित्थं ब्रुवाणाना- 15 मिद्रमुत्तरम्—इह प्रवचने यत एव कायादयो भूयो भूयः प्ररूप्यन्ते तद् महता यत्नेनाऽमी परिपालनीयाः, इदमेव धर्मरहस्यमित्यादरातिशयस्थापनार्थत्वाद् न पुनरुक्तम् । यत उक्तम्—

अनुवादा-ऽऽदर-वीप्सा-भृशार्थ-विनियोग-हेत्वसूयासु । ईषत्सम्भ्रम-विसाय-गणना-सारणेप्वपुनरुक्तम् ॥

ज्योतिःशास्त्रादि च शिप्यप्रवाजनादिशुभकार्योपयोगफलत्वात् परम्परया मुक्तिफलमेवेति न 20 कश्चिद् दोपः ॥ १३०३ ॥ गतो ज्ञानावर्णवादः । अथ केवल्यवर्णवादमाह—

. एगंतरमुप्पाए, अन्नोन्नावरणया दुवेण्हं पि । केवलदंसण-णाणाणमेगकाले व एगत्तं ॥ १३०४ ॥ केवल्य-वर्णवाद,

इह केविलनामवर्णवादो यथा—िकमेषां ज्ञान-दर्शनोपयोगौ क्रमेण भवतः ² उत युगपत् ²। यद्याद्यः पक्षस्ततो यं समयं जानाति तं समयं न पश्यित य समयं पश्यित तं समयं न जानाती-25 त्येवमेकान्तरिते उत्पादे 'द्वयोरिप' केवलज्ञान-दर्शनयोरन्योन्यावरणता भवेत् , ज्ञानावरण-दर्शना-वरणयोः समूलकाषं किवतत्वाद् अपरस्य चाऽऽवारकस्याऽभावात् परस्परावारकतैवानयोः प्राप्तो-तीति भावः । अथ युगपदिति द्वितीयः पक्षः कक्षीिक्रयते सोऽपि न क्षोदक्षमः, कुतः ² इत्याह—'एककाले' युगपद् उपयोगद्वयेऽक्षीिक्रयमाणे वाशब्दः पक्षान्तरद्योतनार्थः 'द्वयोरिप' साकारा-ऽनाकारोपयोगयोरेकत्वं प्राप्तोति, तुल्यकाल्मावित्वादिति । अत्रोत्तरम्—इह त्थाजीव- 30 स्वामाव्यादेव सर्वस्यापि केविलन एकस्मिन् समये एकतर एवोपयोगो भवित न द्वौ, ''सबस्स

१ खशक्तिनिगू° भा॰ विना॥ २ °िल्वर्षी भाव° भा॰ ॥ २ °भावित्वेन परस्परं संद्ध-

केवित्रसा, जुगर्व दो नित्य उवञ्चागा" (विद्युः गा० २०९६) इति वचनान् । यंथा चायमेक एवकसमये उपयोग उपपद्यते तथा विद्युपावञ्यकादिषु (गाथा २०८८-२१२४) श्रीजिनभद्रक्षमाश्रमणादिभिः प्वेस्रिमः सप्रपञ्चसपद्गित इति नेहोपदर्श्यते, अन्यगारव-गयात् । द्वितीयपञ्चानुपपत्तिनोदना त्वनभ्युपगतोपारुम्भत्वादाकाञ्योमन्थनिव केवलं भवतः ध्यासकारिणीति ॥ १२०४ ॥ अथ धमीचार्यावर्णवादमाह—

धर्माचार्याः चणेवादः

जचाईहिँ अवर्च, भासह वहुद्द न यावि उववाए । अहितो छिद्प्पेही, पगासवादी अणणुक्तलो ॥ १२०५ ॥

नात्या थादिशच्दात् कुछादिमिश्च सद्विरसद्धित्वं दौषेरवर्णं भापते, यथा—नेतं विश्वदनाति-कुछोत्पन्नाः, न वा छोकव्यवहारकुश्रछाः, नाप्येतं थाचित्यं विदन्तीत्यादि । न चापि
10 वर्ततं 'उपपाते' गुरूणां सेवावृत्तां, 'थहितः' अनुचितविधायी, 'छिद्रप्रक्षी' मत्परितया गुगेदौपस्थानिरिक्षणश्रीतः, 'प्रकाशवादी' सर्वसमक्षं गुरुदोपमापी, 'अननुकृष्ठः' गुरूणामेव प्रत्यनीकः कुछवालक्षवत्, एप धर्माचार्यावणेवादः ॥ १२०५॥

थय सर्वेसावृतामवर्णवादमाह--

खाष्त्रवर्णे-बाद् 15 अविसहणाऽतुरियगई, अणाणुवर्त्ता य अवि गुरूणं पि । खणमिचपीइ-रोसा, गिहिवच्छलकाऽइसंचइआ ॥ १२०६ ॥

अहो । अमी साधवः 'अविषहणाः' न कस्यापि परामवं सहन्ते, अपि तु स्वषद-परपक्षापमाने सञ्चाते सित देशान्तरं गच्छन्ति, "तुरियगइ' ित अकारप्रश्चेषाद् 'अत्वरितगतयः'
मायया छोकावजनाय मन्द्रगामिनः, 'अन्तुवर्तिनः' प्रकृत्येव निष्टुगः 'गुरूणामिप' महतामिप,
आतां सामान्यजेकस्यत्यिपश्च्यार्थः, द्वित्योऽिषश्च्यः सम्मावनायाम , सम्माव्यन्त एवंविधा
20 अपि साधव इति, 'श्रणमात्रप्रीति-रोषाः' तद्व रुष्टाम्तद्व च तुष्टा अन्वस्थितिच्ता इत्यर्थः, 'गृहिवत्सछाः' तेल्वश्चाद्ववन्रान्मानं गृहस्यस्य रोचयन्ति, 'अित्सञ्चयिनः' मुबहुवल-क्रम्बच्यादिसङ्गहर्शालाः छोमबहुला इति मावः । अत्र निर्वचनानि—इह साधवः स्वपक्षाद्यपमाने यद् वेशान्तरं
गच्छन्ति तद् अपीतिक-परोपतापादिमीरुतया न पराभवासहिष्णुतया, अत्वरितगतयोऽिष स्थावरत्रसजन्तुपीद्यपरिद्यार्थं न तु छोक्रस्त्रनार्थम्, अन्तुवर्तिनोऽिष संयमवाधाविधायिन्या अनुवर्त२२ नाया अकरणात् न प्रकृतिनिष्टुरतया, श्रणमात्रपीति-रोषा अपि प्रतनुकृषायतया नानवस्थितिचचत्तया, गृहिवत्सल अपि 'कथं नु नामामी धर्मदेशनादिना यथाऽनुरुपोषायेन धर्म प्रतिपर्यरन् १'
इति बुद्धा न पुनश्चादुकारितया, सञ्चयवन्तोऽिष 'मा भृद् उपकरणामावे संयम-प्रवचना-ऽऽसविरायना' इति बुद्धा न तु छोमबहुल्द्रयेति ॥ १६०६॥ अथ मायिद्वारमाह—

मायी

30

गृहड् आयसमार्व, घाएड् गुणे परस्स संते वि । चारो च्व सच्चसंकी, गृहायाने वितहमासी ॥ १२०७॥

'गृहिन' संब्र्णोति 'आत्मसमावम्' आत्मनः सम्बन्धिनं दुष्टपरिणामं बहिर्वकवृत्त्या, तथा परस्य सम्बन्धिनः 'गुणान्' ज्ञानादान् सर्वोऽप्यमिनिवैद्यादिना घानयति, चार इव 'सर्वेद्यक्षी' प्रच्छन्त्रपापकारितया 'अग्रुकोऽमुक्त्व्य मत्सम्ब्रमित्यं मणिप्यति' इति सर्वस्यापि सङ्कां करोति,

गृदः- गायामन्भिभुपिल जानारः- प्रशिवित्य स गृहानारः, 'विस्थभाषी' भैषाभाषणभीलः, एप मानी इष्टव्य इति ॥ १२०७ ॥ उत्ता धिलिनी भावना । अथानियोगीमाह----

फोडअ भूई परिणे, परिणापरिणे निमित्तमाजीवी ।

છાનિયોમી ગામગા

इहि-रस-सायगुरुतो, अभिओमं भावणं फ़ुणह ॥ १३०८ ॥ भाजि:-रस-भावगुरुकः सन् यः कीतुकाजीनी भृतिकर्माजीनी प्रभाजीनी प्रथापशाजीनी ह निमित्ताजीवी में भवति स फ्रांनिम जामियोगी भावनां फरोतीति ॥ १२०८ ॥

फीतकादिपवन्याह्यानार्थमाह ----

विण्हवण-होम-सिरपरिरयाइ स्तारदहणाई भवे य ।

<u>વીસુવામ</u>્

अमरिसचेत्रग्गदणं, अवयासण-उत्भ्रुमण-बंधा ॥ १३०९ ॥

भारमधीनां रकादिनिभित्तं भिया ना सीभाग्यादिसम्पादनाय निदीपेण सपनं तत् निस्नवनम्, १३ ष्टोमः ज्ञान्तिकादिहेतोरमिहचनम्, शिरःपरिस्यः करअगणाभिमन्नणम्, ज्ञादिश्रच्दः समतानेक-भेदरानुकः, 'क्षारपटनानि' तथाविभव्यापिक्षमनायामी लवणप्रक्षेपरदपाणि, "पृथे ज" रि तथा-विभद्रव्ययोगमर्भरा पूर्व्य रागर्णणम् , 'असद्धानेषभटणं' नाम स्यमार्थः राजनार्यनेषं फरोति पुरुषो या सं रूपमन्तिहित्र सीयेषं विद्यातीत्यादि, ''अवगाराणं'' वृक्षादीनामाहिज्ञापनम्, अवस्तीभनम्-अनिष्टोपद्यान्तये निष्टीयनेन श्रुशुकरणम्, बन्पः-मण्डकादिनन्यनम्, प्रतत् सर्व- 16 मिष कीतुक्युच्यते ॥ १६०९ ॥ अथ मृतिकर्ग ज्यानऐ---

भूईऍ महियाऍ व, गुत्तेण व होइ भूइकम्मं तु ।

મૂહિવર્સ

वराधी-रारीर-भंडगरक्याअभियोगमाईया ॥ १३१० ॥

'भूत्या' भयारूपया निषाभिभित्तिया 'मृदा ना' छाईपां गुरुक्षणया 'सूत्रेण ना' तन्तुना यत् परिरमतेष्ट्रनं राद् भूतिकर्मोच्यते । किमर्थभेनं फरोति ! इत्याह----वसि-झरीर-भाण्डकानां या 20 स्तेनापुणद्रनेत्रयो रक्षा तिनिभित्तमभियोगः-पशीफरणम्, जादिशन्त्रायु उत्तरादिख्यमनपरिभटः ॥ १६१० ॥ अथ मश्रमाद---

> पण्डो उ होइ परिणं, जं पासइ वा समं तु तं परिणं । अगुद्धनिष्ट-परे, दप्पण-असि-तोय-गुङ्काई ॥ १३११ ॥

अधाः

मधाप्रधः

'प्रभारतु' देनतादिष्टन्छारतः परिणं भण्यते; यहा यत् 'स्वयप्' जालना तुक्रब्दावन्गेऽपि १६ तत्रम्णाः पश्यन्ति तत् परिणं प्राकृतकेल्याऽभिधीयते । नि. तत् ! इत्याद---- अहुछे ''उचिष्ट'' वि षंत्रारादिभक्षणेनोन्त्रिकोः पटे- प्रतीरी दर्पणे--जादर्श जरो। -सञ्जे तोगे- उदगेः कुट्ये-मिजी जादि-इक्तित् माहावी या सन् देसतादिक्तवतीर्ण एच्छित् परयति या स मक्षः । यदि पा "कुन्नाइ" ि पाठः, तत्र न कुद्धः प्रधान्तो मा यत् तथाविषकस्पविद्येपात् पश्यति स प्रथा इति ॥ १२११ ॥ मथामथागाए--

> पसिणापसिणं सुभिणे, विसासिष्टं फहेइ अन्तरस । अदवा आइंखिणिया, धंटियसिष्टं परिकदेश ॥ १३१२ ॥

ह मुखाआं भी करें ।। य दा पा पा तक कि विना ।।

्र यत् इत्तेऽवतीणिया विद्यया—विद्याविष्ठाच्या देवतया शिष्टं—कथितं सद् 'अन्यन्मे' एच्छकाय कथ्यति; अथवा ''आइंत्तिणिया'' डोम्बी तस्याः कुरुदेवतं घण्टिकयक्षो नाम स एष्ट सन् कर्णे कथ्यति, सा च तेन शिष्टं—कथितं संदन्यन्मे एच्छकाय ग्रुमा-ऽग्रुमादि यत् परिकथयित एष प्रक्षप्रक्षः ॥ १३१२ ॥ निमित्तमाइ——

निमित्तम्

तिविदं होइ निमित्तं, तीय-पदुप्पन्न-ऽणागयं चेव । तेण न विणा उ नेयं, नज्जद् तेणं निमित्तं तु ॥ १३१३ ॥

त्रिविवं भवति निमित्तन् । तद्यया—अर्तातं प्रस्तुसन्नमनागतं च । काल्त्रयवर्षिलामा-ऽलामादिपरिज्ञानहेतुश्रृहामणिप्रमृतिकः श्राम्बविदोप इत्ययः । कृतः ? इत्याह—'तेन' विविधि-तश्चान्वविशेषण विना 'ज्ञेष' लामा-ऽलामादिकं न ज्ञाण्य इति लामा-ऽल्लमादिज्ञानिमित्त्वाद् 10 निमित्तमुच्यते । एतानि कानुकादीनि य आजीवति स तत्तदाजीवको मन्त्रव्य इति ॥१३१२॥ व्यथ 'ऋदि-रस-सात्तुगुक्कः' (गा० १३०८) इतिपद्व्याम्यानार्थमाह—

एयाणि गारवड्डा, इजमाणी आसिओगियं वंचे ।

वीयं गारवरहिओ, कुट्यं आराह्युचं च ॥ १२१४ ॥ 'एतानि' केतिकादीनि ऋदि-रस-सातगारवार्थं 'कुर्वाणः' प्रयुक्तानः सन् 'आमियोगिकं'

विवादिप्रप्रक्रमें ज्यापारफलं कमें नक्षाति । 'हिर्नायन्' अग्नाद्पद्मत्र मनति—गोर्न्यहितः सन्नतिश्यक्ताने सति निस्पृद्दक्त्या प्रवचनप्रमावनार्थमेतानि काँनुकादानि कुर्नेज्ञारावको मनति उँचगोत्रं च कमे नक्षानि, तीर्थेजितकरणादिनि ॥ १३१२ ॥

गना जामियोगिकी मादना । जघाऽऽचुरीमाह—

व्यासुर्ग स्थानना

20

अणुबद्धविगाहो चिय, मंसचतवो निमित्तमाएमी ।

निक्कित्र निराणुकंषो, आसुरियं सात्रणं कुणइ ॥ १३१५ ॥ अनुबद्धविष्रद्दः नंसकृत्या निनिचादेशं निक्क्यो निरनुकृत्यः सन् आयुरीं मात्रनां करोतीति निर्युक्तिगायासमासार्थः ॥ १३१५ ॥ विकागर्यमाह—

स्ट्रद्-विप्रहः

निचं चुंग्गहर्सालो, काऊण य नाणुतप्यए पच्छा । न य खामित्रो पर्नायइ, सपक्त-परपक्तको आवि ॥ १२१६ ॥

25 'नित्यं' सद्वं 'विष्ट्रह्यांडः' कल्ह्करणत्मावः । कृता च कल्हं नानुद्रयने पश्चान् , यथा—हा ं किं कृदं नया पारेन १ इति । तथा 'श्मिदोड्यं' 'क्ष्म्यदां मनायमग्रावः' इति मणिदोऽपि स्वप्यः परपक्षयोरित 'न च' नेव 'प्रडीइति' प्रसन्नदां मजते, तीवक्षायोद्यन्तान् । सत्र च च व्यक्ते साहु-सार्वावर्गः, परपक्षे गृह्सवर्गः । एणेऽनुबद्धविष्ट् उच्यते ॥१३१६॥ स्वयं संसक्तदरसमह—

संसद्ध-दयः

23

आहार-उवहि-यूयासु जस्स मात्रो उ निवनंयचो । मात्रोबहनो कृपह् अ, नत्रोबहापं नदद्वाए ॥ १३१७॥

आहारोगवि-पूज्ञसु यस 'मावः' परिपामः 'तित्यनंत्रकः' सदाप्रतिबद्धः म एवं रसगारवा-

१ बिगाह दे दे दा । २ श्रों वा वि मा हिन ॥

दिना भावेनोपहतः करोति 'तपउपधानम्' अनगनादिकं 'तदर्थम्' आहाराद्यर्थ यः संसक्ततपा इति ॥ १३१७ ॥ निमित्तादेशिनमाह—

> तिनिह निमित्तं एकेक छिन्नहं जं तु वित्रयं पुर्व्व । अभिमाणाभिनिनेसा, नागरियं आसुरं क्रणह् ॥ १३१८ ॥

निमित्ता-देशी

'त्रिविधम्' अतीतादिकालत्रयविषयं यत् पूर्विमिहैवामियोगिकमावनायां (गाथा १३१३) वर्णितं तद् एकेकं 'पिंड्विधं' लाभा-ऽलाम-सुख-दुःख-जीवित-मरणविषयमेदात् पट्पकारम् । आह् आभियोगिकमावनानिवन्धनतया पूर्विमिदमुक्तम् अतः कथिमदिमहाभिधीयते शह्याह—'अभि-मानाभिनिवेशाद्' अहङ्कारतीत्रतया 'च्याकृतं' प्रकटितमेतद् निमित्तमासुरीं भावनां करोति, अन्यथा त्वाभियोगिकोमिति ॥ १३१८॥ निष्कृपमाह—

चंकमणाई सत्तो, सुनिकित्रो थावराइसत्तेसु ।

10 निष्कृपः

काउं च नाणुतप्पइ, एरिसओ निक्किवो होइ ॥ १३१९ ॥

स्थावरादिसत्त्वेषु चङ्कमणं—गमनं आदिशब्दात् स्थान-शयना-ऽऽसनादिकं 'सक्तः' कचित् कार्यान्तरे व्यासक्तः सन् 'सुनिष्कृपः' सुष्ठुगतघृणो निःशूकः करोतीति शेषः । कृत्वा च तेषु चङ्कमणादिकं नानुतप्यते, केनचिद् नोदितः सन् पश्चात्तापपुरस्सरं मिथ्यादुष्कृतं न ददातीत्यर्थः । ईदृशो निष्कृपो भवति, इदं निष्कृपस्य लक्षणमिति भावः ॥ १३१९ ॥ निरनुकम्पमाह— 15

जो उ परं कंपंतं, दहूण न कंपए कढिणभावो । एसो उ निरणुकंपो, अणु पच्छाभावजोएणं ॥ १३२० ॥

निरनुकम्पः

यस्तु 'परं' कृपास्पदं कुतिश्चिद् भयात् कम्पमानमिष दृष्ट्वा कठिनभावः सन् न कम्पते एप निरनुकम्पः । कुतः ! इत्याह—अनुशन्देन पश्चाद्भावनाचकेन यो योगः—सम्बन्धस्तेन, किमुक्तं भवति !—अनु—पश्चाद् दुःखितसत्त्वकम्पनादनन्तरं यत् कम्पनं सा अनुकम्पा, निर्गता अनुकम्पा 20 असादिति निरनुकम्प उच्यते ॥ १३२०॥ उक्ता आसुरी भावना । सम्प्रति साम्मोहीमाह—

उम्मुग्गदेसणा १ मग्गद्सणा २ मग्गविष्पडीवत्ती ३। मोहेण य ४ मोहित्ता ५, सम्मोहं भावणं कुणइ॥ १३२१॥

साम्मोही भावना

उन्मार्गदेशना १ मार्गदूपणा २ मार्गविप्रतिपत्तिश्च ३ यस्य भवतीति वाक्यरोपः, मोहेन च यः स्वयं मुद्यति ४, एवं कृत्वा परं च मोहयित्वा ५ साम्मोहीं भावनां करोतीति निर्युक्ति-25 गाथासमासार्थः ॥ १३२१ ॥ अथैनामेव विवरीपुराह—

> नाणौंइ अदृसितों, तिन्ववरीयं तु उविदसइ मर्गा । उम्मरगदेसँओ एस आय अहिओ परेसिं च ॥ १३२२ ॥

उन्मार्ग-देशना

'ज्ञानादीनि' पारमार्थिकमार्गरूपाण्यदूषयन् 'तद्विपरीतं' ज्ञानादिविपरीतमेवोपदिगति 'मार्गै' धर्मसम्बन्धिनम्, एप उन्मार्गदेशकः । अयं चात्मनः परेषां च वोधिवीजोपघातादिना 'अहितः' 30 प्रतिकृष्ठ इत्येषा उन्मार्गदेशना ॥ १३२२ ॥ अथ मार्गदूषणामाह—

१ °ति गाथा° भा॰ का॰ ॥ २ °णादी दूसेंतो ता॰ ॥ ३ °सणा एस ता॰ ॥

मार्गदूषणा

नाणादि तिहा मर्गं, दृंसयए जे य मरगपडिवना ।

अनुहो पंडियमाणी, सम्रिट्टितो तस्स घायाए ॥ १३२३ ॥

ज्ञानादिकं 'त्रिघा' त्रितिषं पारमार्थिकं मार्गं स्तमनीपिकाकिस्पैतर्जातिदूर्णेर्दूषयति, ये च तिसन् मार्गे प्रतिपन्नाः साध्वादयस्तानिप दूपयति, 'अत्रुधः' तत्त्वपरिज्ञानिकरुः, 'पण्डितमानी' इदुर्विद्ग्धः, 'समुत्थितः' उद्यतः 'तस्य' पारमार्थिकमार्गस्य 'घाताय' निर्केठनायेति, एषा मार्ग-दूषणा ॥ १३२३ ॥ मार्गविप्रतिपत्तिमाह—

मार्गविप्र-तिपत्ति जो पुण तमेव मग्गं, दृसेटमपंडिओ सतकाए । उम्मग्गं पडिवजड, अकोविअप्पा जमालीव ॥ १३२४ ॥

यः पुनः 'तमेव' पारमार्थिकं मार्गमसिद्धर्दूपेणदूपियत्वा 'अपण्डितः' सहुद्धिरिहतः सन् 10 'स्ततक्त्या' सकीयमिथ्याविकल्पेन देशत उन्मार्ग प्रतिपद्यते 'अकोविदात्मा' सम्यक् शास्त्रार्थ- परिज्ञानिकल्पे जमालिवन्, यथाऽसा भगवद्वचनं ''क्रियमाणं कृतम्' इति दूपियत्वा ''कृत- मेव कृतम्' इति प्रतिपत्ववान् । एषा मार्गविप्रतिपत्तिः ॥ १३२४ ॥ अथ मोहद्वारमाह—

मोह

भावोवहयमईओ, ग्रुज्झइ नाण-चरणंतराईसु । इहीओ अ बहुविहा, दहुं परतित्थियाणं तु ॥ १३२५ ॥

भावेन-शङ्कादिपरिणामेनोपहता-दूपिता मतिर्यस्य स मात्रोपहतमितकः एवंतिधः 'मुह्यति' विचित्त्यमुपयाति ज्ञान-चरणान्तरादिषु । ज्ञानान्तराणि नाम ज्ञानित्रहोषाः, तिष्टिपयो व्यामोहो यथा—यदि नाम परमाण्वादिमकलक्षिपद्वव्यात्रसानविषयम्राहकत्वेन मद्यगतितक्षपण्यविज्ञानानि सन्ति तत् किमपरेण मन पर्यवज्ञानेन ? इति । चरणान्तरव्यामोहो यथा—यदि सामायिकं सर्वसावद्यविरतिक्षपं छेदोपस्थापनीयमप्येवंविधमेव तत् को नामानयोविद्रोपः ? व्यादिशव्दाद् 20दर्शनान्तर-मत्यान्तर-वाचनान्तरादिपरिम्रहः । 'ऋदीश्च बहुविधाः' अनेकमकाराः समृद्धीः पर-

०दर्शनान्तर-मतान्तर-वाचनान्तरादिपरिप्रहः । 'ऋदीश्च वहुविघाः' अनेकपकाराः समृद्धीः पर-्तीर्थिकानां दृष्ट्वा यद् सुद्धति स मोह उच्यते ॥ १३२५ ॥ अथ परं मोहयित्वेति व्याचष्टे—

परमोहकः

जो पुण मोहेइ परं, सञ्भावेणं व कड्अवेणं वा । सम्मोहभावणं सो, पकरेड् अवोहिलाभाय ॥ १३२६ ॥

पुनःशन्द्रो विशेषणे, यः पुनः सन्मार्गात् 'परम्' अन्यं प्राणिनं 'मोह्यति' चित्तविश्रमं 25 नयति 'सद्भावेन वा' सत्येनव 'केतवेन वा' परिकल्पनया स सम्मोहमावनां प्रकरोति 'अवोवि- लामाय' अवोविफल्ट्यायिनामित्यर्थः ॥ १३२६॥

उक्ता साम्मोही मावना । अथाऽऽसां मावनानां मामान्यतः फरुमाह— एआओं मावणाओ, भावित्ता देवदुग्गहं लंति ।

वचो वि चुया संता, परिति भवसागरमणंतं ॥ १३२७ ॥

30 एता मावनाः 'मावयित्वा' अभ्यस्य 'देवदुर्गति 'कान्टर्पिकादिदेवगतिन्दपां यान्ति संयता अपि । 'ततोऽपि' देवदुर्गतेश्च्युताः सन्तः पर्यटन्ति 'मवसागरं' संसारममुद्रमनन्तमिति ॥१३२७॥ उक्ता अप्रशन्ता मावनाः । सम्प्रति प्रशन्तमावना अमिवित्युराह— तवेण सत्तेण मृत्तेण, एगत्तेण वलेण य । (व्रन्थाव्रम्-६०००) तुलणा पंचहा बुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जको ॥ १३२८ ॥

प्रशस्त्रा भावनाः

तपसा सत्त्वेन स्त्रेण एकत्वेन वलेन च एवं 'तुल्ना' भावना पञ्चथा प्रोक्ता जिनकल्यं प्रतिपद्यमानस्येति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ॥ १३२८ ॥ अथ विस्तरार्थमभिषित्युराह—

जो जेण अणव्मत्थो, पोरिसिमाई तवो उ तं तिगुणं। कुणइ छुहाविजयद्वा, गिरिनइसीहेण दिद्वंतो॥ १३२९॥

5 तपोभावना र

यद् येन पारुष्यादिकं तपः 'अनम्यग्तं' सात्मीभावमनानीतं तत् 'त्रिगुणं' त्रीन् वारान् करोति । यथा—प्रथमं पारुषीं वारत्रयासेवनेन सात्मीभावमानीय ततः पूर्वार्द्धं तथेवामेत्र्य सात्मीभावमानयतिः एवं निर्विकृतिकादिष्यिप द्रष्टव्यम् । किमर्थम् १ इत्याह—क्षुद्विजयार्थम् , यथा क्षुत्परीपहसहने सात्म्यं भवतीत्यर्थः ।

अत्र च गिरिनदीसिंहेन दृष्टान्तः—यथाऽसो पृणा गिरिनटी तरन् परतटे चिहं करोति, यथा—अमुकप्रदेशे बृक्षाद्युपलिक्षते मया गन्तन्यमिति, स च तरन् तीक्ष्णेनोदकवेगेनापिह्यते ततो व्यावृत्त्य भृयः प्रगुणमेवोत्तरित, यदि हियते ततो भृयक्तथेवोत्तरित, एवं यावत् सकलामि गिरिनदी प्रगुणमेवोत्तरीतुं न यक्षोति तावत् तदुत्तरणाभ्यासं न मुचति । एवमयमि यावद् विविक्षतं तपः सात्मीमावं न याति तावत् तदभ्यासं न मुचति ॥ १३२९॥ एतदेवाह—

एकेकं ताव तवं, करेड़ जह तेण कीरमाणेणं।

हाणी न होइ जइआ, वि होज छम्मासुवस्सग्गो ॥ १२२० ॥

एकंकं तपस्तावत् करोति यथा 'तेन' तपसा कियमाणेनापि विहितानुष्टानस्य हानिर्न भवति । यटाऽपि कथिबद्धं भवेत् पण्मासान् यावद् 'उपसर्गः' देवादिकृतोऽनेपणीयकरणादिस्तपन्त-दाऽपि पण्मायान् यावदुपोपित आग्ते न पुनरनेपणीयमाहारं गृहाति ॥ १३३०॥ 20

तपस एव गुणान्तरमाह---

अप्पाहारस्स न इंदियाइँ विसएसु संपवत्तंति । नेच किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जएँ यावि ॥ १३३१ ॥

तपसा कियमाणेनाल्पाहारस्य सतो नेन्द्रियाणि 'त्रिपयेषु' स्पर्कादिषु सम्प्रवर्तन्ते, न च 'क्षाम्यति' वाधामनुभवति तपसा, नेव च 'रिसकेषु' स्विग्ध-मधुरेप्वश्रनादिषु 'सजिति' सङ्गं 25 करोति, तेषु परिभोगाभावेनावराभावात् ॥ १३३१ ॥ अपि च—

तवमावणाइ पंचिदियाणि दंताणि जस्स वसमिति । इंदियजोग्गा(गा)यरिओ, समाहिकरणाइँ कारयए ॥ १३३२ ॥

तपोभावनया हेतुमृतया 'पञ्च' इति पञ्चसद्गयाकानीन्द्रियाणि दान्तानि सन्ति यस्य 'वग्रम्' आयत्ततामागच्छन्ति सः 'इन्द्रिययोग्या(गा)चार्यः' इन्द्रियप्रगुणनिकयागुरुः 'समाधिकरणानि' ३०

१ °ित समा भा का ।। २ एवसेकादान-निर्वि भा विना ॥ ३ °ए वा वि ता विना ॥ ४ "तवभावणाए गाहा । सो इंदियाई वसे काउं, जोगा इति वा करणाणि ति वा एगहं, जो इंदियस समाहि जोगाओं काउं नकेद सो इंदियजोगायितओं, सो इंदियस्स समाहिकरणाणि कारेति।" इति विशेषचूर्णी ॥ वृ ५२

मनावित्राप्तगन् ऋर्यति इन्द्रियाघि, यथा यथा ज्ञानदिषु समविन्त्रयने तथा तथा तनि कारयतीत्वर्थः ॥ १३३२ ॥ उन्मा दरोमावना । अथ मस्त्रमावनामाह—

सन्दर्भा-दना जे वि य पुष्टि निमि निग्गमेतु विमिहिंसु साहम-मयाई। अहि-नक्का-गीवाई, विमिसु योगं य मंगामे ॥ १३२३॥

येऽति च गजप्रतित्तद्रः, पृष्टे गृह्यांने 'निद्धि' गत्रे। वंगचर्यादिन निर्गमेषु माळ्यस— अहेनुक्रमयन्त्रं भवं—यहेनुकं ते कहिन्तक्त्र-गोष्ठिमकिकां 'व्यवहृत् विषोद्दन्तः, कोंग् च एक्तमे मास्त्रिकत्या 'विभिन्तुं'ति प्रविद्यन् नेऽति जिनकवं प्रतितित्यवः सस्त्रमतना- मदक्यं माद्रयन्ति ॥ १३३३ ॥ कथप् १ इति केद् स्व्यत्न—

पामुत्ताण नुयहं, सायव्यं चं च नीमु जामेमु।

10 थावं थावं जिणह उ, मयं च वं मंमव्ह जन्य ॥ १३३४ ॥

यत् स्वविश्वकिष्यानां गर्थत् उत्तानवं वा ल्वन्तेनम् , यञ्च कार्या विष्ठु 'यानेषु' प्रहेरपु 'सुन्व्यं' खण्तनः . कारणासांव तु यत् तृतीय्यहरे युनव्यं तत सर्वमति स्तेवं स्तानं स्पति द्येतः छैनीर्-खर्थः, 'सर्व च' मृषिक् दिकतिनं यद् 'यत्र' उण्ययपदिषु सम्मन्ति तत् तत्र स्थति ॥१३३४॥

अत्र च मन्त्रमावनायां पत्र प्रतिमा सदिन । ता पृत्रह्—

15

पहमा उत्रम्मयम्मी, विद्या चाहि तद्या चउक्रम्मि । मुख्यगम्मि चउन्भी, तह पंचमिया मुनाणिम्म ॥ १३३५ ॥

प्रथम प्रतिमा उराक्ष्ये ? द्वितीया उपक्रयाद् होहे: २ तृतीया 'चतुन्हें' चर्चे ३ चतुर्धी शून्यगृहे ४ पड्टमी इस्टीते ५ ॥ १३३५ ॥ उत्र प्रथमी तहरुह—

मागडहे नेमीने. उच्चन्य कोह्रय अस्टिं वा ।

27

93

नणुमाइ जागंग वा, झानहाण भयं जिणह ॥ १३३६ ॥

'सोगजंद' अरोमोंने भानति' मान्यक्रों उर्यक्ष्यमंक्ष्यकृतं व कोर्यक्र वा अलिन्दंक्र वा 'तनुक्रातो' मोकनिद्रायान् 'कष्टवृ वा निद्रामकृतंन् 'क्यानार्थ' शुमाक्यवमायसैर्थहेतोः प्रसु-मेषु देशमञ्जूण बारोन्सर्गम्यतो मर्थ कर्यत् ॥ १२३६ ॥ कर्यम् १ इन्यह—

छिक्रम्य व खह्यम्य व, मृतिनमाईहिं वा निष्ठिच्रेनहिं।

थ्य अह महसा न दि जायह, रामंचुब्सेय चाडो वा ॥ १३३७॥

स्यास व कादितस व मुर्गेकः कादिश्हात्तृ मार्जागदिनिः 'निष्ठाकैः' गत्रिर्गाणकार्धाते. यथा महमा कारि वायने 'रोपाक्षेद्धेदः' मयेद्रेकवितो गेर्मोद्धरः 'व्हेरे' व प्यायनं तथा सन्त्रमादनगढणना मार्चित्रव्यः ॥ १३३७ ॥

डच्या स्वरण प्रतिमा । वय द्वितीयदिक्तश्चनत्रेष्टयनिदेशसङ्—

मन्मिमनग बाहि, नक्ल-आगिक-माबयाइंग।

सुरगदान्सुनादेसु य, महिमेसतम मदे तिन्हा ॥ १३३८ ॥ यन्युरण्यादिनायां स्यास्तानि तासुरण्याद् बहिः प्रतिस्वां स्विकेरनाति सस्तान

१ भानगृहें मान । १ भारते गलते दित खुरी विशेषखुरी व ।

महबनाः बनाऽ-स्थानार्वे प्रतिमा-

प्रकृत

ऽऽरक्षिक-श्वापदादिभयसहितानि मन्तव्यानि । शून्यगृह-श्मशानयोः चश्चदात् चतुष्के च सनि-द्रोपतराणि 'त्रिविधानि' दिन्य-मानुष्य-तैरश्चोपसर्गरूपाणि भयानि मवन्ति, तान्यपि सम्यग् जयतीति प्रक्रमः ॥ १३३८ ॥ अस्या एव भावनायाः फलमाह—ः

देवेहिं भेसिओ वि य, दिया व रातो व भीमरूवेहिं। तो सत्तमावणाए, वहइ भरं निव्मओ सयलं ॥ १३३९ ॥

तत एवं सत्त्वभावनया खभ्यस्तया दिवा वा रात्री वा भीमरूपेर्देवैर्मेपितोऽपि 'भरं' जिनकस्प-भारं सकलमपि निर्भयः सन् वहतीति ॥ १३३९ ॥ गता सत्त्वभावना । अथ स्त्रभावनामाह---

जइ वि य सनाममिव परिचियं सुअं अणहिय-अहीणवनाई। कालपरिमाणहेउं, तहा वि खलु तज्जयं कुणइ ॥ १३४० ॥

सूत्र-

यद्यपि खनामेव तस्य श्रुतं परिचितम् 'अनिधका-ऽहीनवर्णादि' अनत्यक्षरं अहीनाक्षरम् 10 आदिशव्दादृ अव्याविद्धाक्षरादिगुणोपेतं च तथापि कालपरिमाणहेतोः 'तज्जयं' श्रुताभ्यासं करोति ॥ १२४० ॥ कथम् १ इति चेद् उच्यते---

उस्सासाओ पाणू, तओ य थोवो तओ वि य ग्रुहुत्तो । मुहुत्तेहिं पोरिसीओ, जाणेइ निसा य दिवसा य ॥ १३४१ ॥

श्रुतपरावर्त्तनानुसारेणेव सम्यगुच्छ्वासमानं करुयति, तत उच्छ्वासात् 'प्राणः' उच्छ्वास- 15, निःश्वासात्मकः, ततश्च प्राणात् 'स्तोकः' सप्तपाणमानः, ततोऽपि च स्तोकाद् 'मुहूर्त्तः' घटिका-द्वयमानः, मुहूर्तेश्च पौरुष्यस्तेन भगवता ज्ञायन्ते, तामिश्च पौरुपीभिर्निज्ञाश्च दिवसाश्च जानाति ॥ १३४१ ॥ तथा--

> मेहाईछनेसु वि, उभओकालमहवा उवस्सम्मे । पेहाइ मिक्ख पंथे, नाहिइ कालं विणा छायं ॥ १३४२ ॥

20

मेघादिना च्छन्नेप्वपि-अनुपलक्ष्येपु विभागेषु 'उभयकालं' क्रियाणां प्रारम्भ-परिसमाप्तिरूपम्, अथवा 'उपसर्गे' दिव्यादौ दिवस-रजन्यादिव्यत्ययकरण रुक्षणे प्रेक्षादेः--उपकरणप्रखुपेक्षाया आदिशब्दाढावश्यककरणादेः "भिक्ल" ति भिक्षायाः "पंथि" ति मार्गस्य विहारस्येत्यर्थः, एतेषां सर्वेपामपि यः कालस्तं छायां विना स्वयमेव ज्ञास्यति ॥ १३४२ ॥

अथ सूत्रभावनाया एव गुणानाह---

25

एगग्गया सुमह निजरा य नेव मिणणम्मि पिलमंथो । न पराहीणं नाणं, काले जह मंसचक्खूणं ॥ १३४३ ॥

श्रुतपरावर्त्तनया चित्तस्यकामता भवति, सुमहती च निर्जेरा भवति स्वाध्यायविधानप्रत्यया, नैव च्छायामापने 'पिलमन्थः' सूत्रार्थव्याघातलक्षणः, न च 'काले' पौरुप्यादिकालविषयं 'पराधीनं' सूर्यच्छायायत्तं ज्ञानम् यथा अन्येषां 'मांसचक्षुपां' छद्मस्थानां साधूनाम् ॥१३४३॥ उपसहरन्नाह— ३०

> सुयभावणाएँ नाणं, दंसण तवसंजमं च परिणमइ। तो उवओगपरिण्णो, सुयमन्वहितो समाणेइ ॥ १३४४ ॥

१ °द्वतेहिं ता॰ ॥ २ °मानस्तेन ज्ञायते, मुहर्तेश्च पौरुषीर्विजानाति, ताभिश्च भा॰ ॥

श्रुतभावनया आत्मानं भावयन् ज्ञानं दर्शनं नयःप्रयानं च संयमं सम्यक् परिणमयति । ततः 'टपयोगपरिज्ञः' श्रुतोपयोगमात्रेणय काल्यरिज्ञाता ''मुतं'' ति श्रुनभावनामन्ययिनः सन् समापयतीति ॥ १२८८ ॥ गना सृत्रभावना । अथेक्ट्यभावनामाह्—

एकत्त-भावना

10

जदं वि य पुच्चममनं, छिन्नं साहृहिं दारमाईसु । आयरियाइममनं, तहा वि संजायए पच्छा ॥ १३४५ ॥

यद्यपि च पूर्व-गृह्वासकालमावि समन्त्रं साधुिमः दारा'—कलत्र तेषु आदिग्रहणान् पुत्रादिषु च्छित्रमेव तथाप्याचार्यादिविषयं समन्त्रं 'पश्चान्' प्रत्रज्यापर्यायकाले सञ्चायते ॥ १२४५ ॥ तच कथं परिहापयितव्यम् १ उच्यते—

दिहिनिवायाऽऽलावे, अवरोप्यरकारियं मपडिपुच्छं । परिहास मिहो य कहा, पुच्चपवचा परिहवेद ॥ १२४६ ॥

गुर्वादिषु ये पूर्व दृष्टिनिपाता —सिन्धियाव छोक्तनानि ये च ते सहाऽ ऽछापान्तान्, नथा 'परस्परोपकारिता' मियो भक्त-पानदान-श्रहणाशुपकारम्, 'नश्रतिष्टच्छं' सृत्रार्थादिप्रतिष्टच्छ्या सिहतं 'परिहानं' हात्यं 'मियः कथाश्च' परम्पर्वाचीः पृत्रप्रवृत्ताः सर्वा अपि परिहापयिति ॥ १३२६॥ तत्रश्च—

15 तणुईऋयम्मि पुच्चं, वाहिन्पेम्मे सहायमाईसु । आहारे उवहिम्मि च, देहे य न सज़ए पच्छा ॥ १३४७ ॥

संहाय.—सङ्घाटिकसाञ्चलद्विषये आदिद्यांच्याचार्यादिविषये च वारायमणि पूर्व 'तनुकीकृते' परिहापित सित ततः पश्चादाहारे उपया देहे च 'न सजति' न नमसं करोति ॥ १३१७॥ ततः किं मवति व हम्याह—

29 प्रवित्र छित्रममत्तो, उत्तरकार्ल विविज्ञमाणे वि । मामावित्र इत्ररं वा, खुब्भइ दहुं न मंगद्र्ए ॥ १३४८ ॥

पूर्व 'छित्रममन्तः' 'सर्वेऽपि जीवा अपकृद् अनन्त्रग्रो वा मर्वजन्तृनां खजनमायेन ग्रष्टुमायेन च सङ्घाताः, अतः कोऽत्र खजनः १ को वा परः १' इतिमावनया छित्रप्रेमवन्त्रः मन् 'उत्तर-कार्छ' जिनक्रप्रप्रतिप्रस्थनन्तरं व्यापाद्यमानानि 'महितकान्' खजनान् खामाविकान् 'इत्यन् 25वां' वैक्रियद्यक्त्या देवादिनिर्मिजान् इट्टा 'न क्षुम्यित' ध्यानान्त्र चलित ॥ १३४८ ॥

अत्र दृशन्तमाह्—

ड्रिज-मादनार्ग सुमन्द्र- खंदन्तम

23

ष्ठुप्तपुर प्रुप्तकेक, पुष्पवई देवि ज्वयतयं पसवे। पुनं च प्रुप्पच्लं, धृअं च मनामिश्रं तस्त ॥ १२४९॥ महबद्विपाऽणुरागो, रायत्तं चेव पुष्पत्वतम्य। घरजामाउगदाणं, मिलद्द निर्सि केवलं तेषां ॥ १२५०॥

र वनुकीकृते स्रति पूर्व बाह्यंप्रमित्र 'सहायादिषु' सहायः-सङ्घाटिकासासुः आदि-राज्याद आसायादिपरिष्रहः, ततः पश्चाद् आहारे उपया देहे वा 'न सन्नति' न०॥ २ बहिन्न° ता०॥ ३ 'मिश्रं पस्त्रे न०॥

पन्यजा य नरिंदे, अणुपन्ययणं च भावणेगत्ते । वीमंसा उवसरने, विडेहिं सम्रुहिं च कंदणया ॥ १३५१ ॥

पुण्फपुरं नयरं । तत्थ पुण्फकेळ राया, पुण्फवई देवी । सा अन्नया जुगलर्थ पसूया— पुष्फचूलो दारओ पुष्फचूला दारिया। ताणि दो वि सहविद्वयाणि परोष्परं अईव अणुरत्ताणि। अन्नया पुण्फचूलो राया जाओ । पुण्फचूला राहणा घरजामाउगस्स दिन्ना । सा य दिवसं 5 सबं भाउणा समं अच्छइ । अन्नया पुण्फ्रचूली राया पबड़ओ । अणुरागेणं पुण्फ्रचूला वि भगिणी पबद्या । सो य पुष्फचूलो अन्तया जिणकप्पं पडिविजिडकामो एगत्तभावणाए अप्पाणं भावेइ। इओ य एगेणं देवेणं वीमंसणानिमित्तं पुण्फचूलाए अज्ञाए रूवं विडविङणं तं धुत्ता धरिसिउं पवता । पुष्फचूलो य अणगारो तेण ओगासेणं वोलेइ । ताहे सा पुष्फचूला अज्ञा 'जेट्टज ! सरणं भवाहि' ति वाहरइ । सो य भगवं वुच्छिन्नपेमवंधणो

''एगो हं नित्थ में को वि, नाहमन्नस्स कस्सइ।"

इचाइ एगत्तभावणं भावितो गओ सद्दाणं । एवं एगत्तभावणाए अप्पा भावेयबो ति ॥

गाथाक्षरयोजना त्वेवम्—पुप्पपुरे पुप्पकेतू राजा । पुप्पवती देवी युगळं पस्ते । वर्तमाननिर्दे-शस्तत्कालविवक्षया । पुत्रं च पुप्पचूलं दुहिता च तस्य 'सनामिका' समानाभिधानाम् ॥ तयोश्च सहवद्धितयोरनुरागः । राजत्वं चैव पुप्पचृत्स्य । पुप्पचृत्रायाश्च गृहजामात्रे दानम् । सा च 15 'तेन' भर्ता समं केवल 'निणि' रात्री मिलति ॥ भैत्रज्या च 'नरेन्द्रे' पुप्पचूलाख्ये । तेंदनु प्रवजनं च पुष्पचृत्वायाः । ततो जिनकल्पं प्रतिपित्सुरेकत्वभावनां भावियतुं लग्नः । 'विमर्जः' परीक्षा । तदर्थ देवेनोपसर्गे कियमाणे विदेः सम्मुखी पुष्पचूलां कृत्वा धर्पण कर्त्तुमारव्धम् । ततः 'ऋन्दना' आर्य ! जरणं शरणमिति ॥ १३४९ ॥ १३५० ॥ १३५१ ॥

अथोपसहारमाह---

20

एगत्तभावणाए, न कामभोगे गणे सरीरे वा। सज्जह वेरग्गगओ, फासेह अणुत्तरं करणं ॥ १३५२ ॥

एकत्वभावनया भाव्यमानया 'कामभोगेपु' जव्दादिपु 'गणे' गच्छे शरीरे वा 'न सजति' न सङ्गं करोति, किन्तु वैराग्यगतः सन् 'स्पृगति' आराधयति 'अनुत्तरं करणं' प्रधानयोगसाधनं जिनकरुपपरिकर्मेति ॥ १३५२ ॥ गता एकत्वभावना । अथ वरुभावना । तत्र वरुं द्विधा—25 शारीरवरुं भाववरुं च । तत्र भाववरुमाह---

भावी उ अभिस्तंगी, सी उ पसत्थी व अप्पसत्थी वा। नेह-गुणशो उ रागो, अपसत्थ पसत्थओ चेव ॥ १३५३ ॥

वलभावना

भावो नाम अभिप्वद्गः । 'स तु' स पुनरभिप्वद्गो द्विधा—प्रशस्तोऽप्रशस्तश्चै । तत्रापत्य-कल-त्रादिपु स्नेहजनितो यो रागः सोऽप्रशस्तः, यः पुनराचार्योपाध्यायादिषु गुणबहुमानप्रत्ययो रागः ३० स प्रशस्तः । तस्य द्विविधस्यापि भावस्य येन मानसावप्टम्मेनासौ व्युत्सर्गं करोति तद् भाववरुं

१ प्रव्रजनं च नरेन्द्रे, अनुप्रव्रजनं च पुष्प^० मा॰ ॥ २ तद्युरागेणानुप्रवज^{० ह}॰ ॥ ३ °श्च । कथम्? इत्याह—"नेह" इत्यादि । इहापत्य° भा॰ ॥

मन्तत्र्यम् । शारीरमपि वछं शेपजनापेक्षया जिनकल्पाईस्यातिगायिकमिप्यते ॥ १३५३ ॥ आह तपो-ज्ञानप्रमृतिमिर्मायनामिर्माययतः कृष्यतरं श्रीरं भवति ततः कृतोऽस्य गारीरवछं भवति १ इति, उच्यते—

> कामं तु सरीग्वलं, हायइ तव-नाणभावणज्ञअस्य । देहावचए वि सनी, जह होइ घिई तहा जयइ ॥ १२५४ ॥

'कामम्' अनुमृतं 'तुः' अवधारणे अनुमृतमेवास्माकं यत् तपो-ज्ञानभावनायुक्तस्य अरीरवर्छ हीयते, परं देहापचयेऽपि सति यथा 'यृतिः' मानसावप्रम्भरुखणा निश्चन्य भवति तथाऽमा यतते, यृतिवर्लेन सम्यगात्मानं भावयतीत्यर्थः ॥ १२५४॥

थाह इत्थं प्रतिवर्कन भावयनः को नाम गुणः न्यान्? उच्यते—

10 कसिणा परीसहचम्, जह उद्विलाहि सोवयग्गा वि । दुद्धरपह्करवेगा, भयलणणी अप्यसत्ताणं ॥ १२५५ ॥ चिह्घणियबद्धकच्छो, लोहेह अणाउलो तमव्यहिओ । बलमावणाऍ घीरो, संपृण्णमणोरहो होह ॥ १३५६ ॥

'कृत्जा' सम्पृणी 'परीषहचम्.' मार्गाच्यवन-निर्वरार्थं परिषाहच्याः परीषहाः—श्रुवादयस्त एव 15 तेषां वा चम्,—मेना सा यदि 'उचिष्टन' सम्मुर्खाभ्य परिभवनाय प्रगुणीभवेत् 'सोपमर्गाऽपि' दिच्याद्यपमर्गे. कृतमहायकाऽपि, तथा "दुद्धरपहक्तन्वेग" ति दुर्द्धरं—दुवेहं पन्थानं—सम्यग्दर्श-नादिक्षं मोक्षमार्गं करोतीति दुर्द्धरप्यकरन्त्रथाविथा वेगः—प्रसरो यस्याः सा दुर्द्धरप्यकर्वगा, 'भयजननी' संत्रामैकरी 'अल्यमस्वानां' कापुरुपाणाम् ॥ १३५५ ॥

तामेर्वविधानिष स जिनकर्लं प्रतिपनुकामो योधयित । कथम्मृतः ? धृतिरेव धणियम्— 29 अत्यर्थं वद्धा कथा येन स तथा 'अनाकुरुः' औन्युक्यरिहतः 'अव्यथितः' निष्पकम्यमनाः म बरुमावनया नां योधियत्वा 'श्रीरः' सत्त्वसम्पन्नः सन् सम्पृणेमनोर्थो भवति, परीपहोपसर्गान् पराजित्य सप्रतिज्ञां पृर्यर्तात्यर्थः ॥ १२५६ ॥ अपि च —

> धिह्-यलपुरम्यराओ, ह्यंनि सन्या वि मावणा एता । नं तु न विज्ञह सन्द्रं, जं धिहमंत्रो न साहेह ॥ १३५७ ॥

25 मर्बा अप्येतान्तपंपमृतयो मावना घृति-बळपुरम्सरा मवन्ति, निह घृति-बळमन्तरेण पाण्मा-सिक्तप करणाद्यनुगुणान्ताः तथा माविष्तुं शक्यन्ते । किञ्च 'तत् तु' तत् पुनः 'साव्य' कार्यं जगित न विद्यते यद् 'घृतिमान्' मास्त्रिकः पुन्या न सावयित, "सर्वं मस्त्रं प्रतिष्टितम्'' इति वचनात् । एतेन "अजोच्छित्तां मण" (गा० १२८०) इत्यादिद्वारगायायाः "उवसम्ममहे" इति यत् पदं तद् मावितं मन्त्रव्यम्, बळमावनया उपमर्गमहत्वमावादिति ॥ १३५७॥

30 गना बच्चमावना । अथ ''उवसगामहै य'' ति इत्यत्र यः चशब्दः माँऽनुक्तममुच्चये वर्तनः, अनमन्दर्थन्यत्र्यं विविदेशपमाह—

१ शर्गरिमिनि ततः गाँ० छे० ॥ २ °चये सत्यपि यथा मा० ॥ ३ °सकारिणी 'अस्प' मो० छे० दिना ॥

जिणकिष्पयपिडरूबी, गच्छे वसमाण दुविह परिकम्मं। तितयं भिक्खायरिया, पंतं छहं अभिगहीया।। १३५८।।

एवमसो पञ्चिमभीवनाभिभीवितान्तरात्मा जिनकल्पिकस्य प्रतिरूपी—तदनुरूपो भूत्वा गच्छ एव वसन् द्विविधं परिकर्म वक्ष्यमाणनीत्या करोति । तथा तृतीयस्यां पोरुप्यां मिक्षाचर्या, तत्रापि प्रान्तं रूक्षमाहारं गृह्णाति, एपणा च 'अभिगृहीता' अभिग्रहयुक्ता ॥ १३५८॥ तथा—

परिणाम-जोगसोही, उवहिविवेगो य गणविवेगो य । सिज्ञा-संथारविसोहणं च विगईविवेगो य ॥ १३५९ ॥ तो पच्छिमम्मि काले, सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं । पच्छा निच्छयपत्थं, उवेह जिणकप्पियविहारं ॥ १३६० ॥

परिणामस्य गुर्वोदिममत्विविच्छेदेन योगानां चावश्यकव्यापाराणां यथाकालमेव करणेन 10 शुद्धिः तथा प्राक्तनस्योपधेर्विवेको गणविवेकश्च गय्या-संस्तारस्य विशोधनं च विक्वतिविवेकश्च तदा तेन कर्त्तव्यः ॥ १३५९॥

ततः 'पश्चिमे काले' तीर्थान्यविच्छित्तिकरणानन्तरं 'सत्पुरुपनिपेत्रितं' धीरपुरुपाराधितं 'परम-घोरं' अत्यन्तदुरनुचरं 'पश्चाद्' आयतौ 'निश्चयपथ्यम्' एकान्तहितं जिनकल्पिकविहारसुपैति ॥ १३६०॥ अथ द्विविध परिकर्म न्याख्यानयति—

पाणी पिंडग्गहेण व, सचेल निचेलओ जहा भविया। सो तेण पगारेणं, भावेइ अणागयं चेव।। १३६१।।

द्विविधं परिकर्म

द्विविधं परिकर्म, तद्यथा—पाणिपरिकर्म प्रतिग्रहपरिकर्म च; अथवा सचेलपरिकर्म अचेल-परिकर्म च। तत्र यो यथा पाणिपात्रधारकः प्रतिग्रहधारको वा सचेलको अचेलको वा मविता स तेनैव प्रकारेण पाणिपात्रभोजित्वादिना अनागतमेवाऽऽत्मानं भावयति ॥ १३६१॥ 20

प्रकारान्तरमाह---

आहारे उवहिम्मि य, अहवा दुविहं तु होइ परिकम्मं । पंचसु अ दोसु अग्गह, अभिग्गहो अन्नयरियाए ॥ १३६२ ॥

अथवा द्विविधं परिकर्म आहारे उपधो च । तत्राहारं तावदसो तृतीयपौरुप्यामवगाढायां गृह्णाति, तं चालेपकृतमेव । तत्राप्यसस्रप्टादीनां सप्तानां पिण्डेपणानां मध्याद् 'द्वयोः' आद्य-25 योरेपणयोः 'अग्रहः' सर्वथेवास्त्रीकारः, उपरितनीपु 'पञ्चसु' उद्धृता-ऽरुपलेपा-ऽवगृहीता-प्रगृही-तोज्ञितधर्मिकासु ग्रहणम् । तत्राप्यभिग्रहोऽन्यतरस्यामेपणायाम्, एकया भक्तमपरया पानकमिति नियद्यय शेपाभिस्तिस्रभिस्तद्दिवसमग्रहणमित्यर्थः । उपधो तु वस्त्र-पात्रयोः प्रतिमाचतुष्टयं यत्

१ ''आहारे॰ गाधा। आहारपरिकम्मेणं उवधिपरिकम्मेण य। तत्थाहारो तितयाए पोरुसीए। मत्त-पाणं अलेवाढं गेण्हियव्वं। तदिप सत्तण्हं पिंडेसण-पाणेसणाणं आदिक्षियाओ दो मोत्तुं उवरिक्षियाहिं पंचिहं 'आग्गहो' आट् मर्यादा-ऽभिविध्यो आ-मर्यादया प्रहः आग्रह। कायं दीहा मत्ता॰ स्वस्खणगाधा। दोहि-मिभगहो, तत्य वि 'अण्णत्तरीए अभिग्रह ' अण्णाए भत्तं अण्णाए पाणयं गेण्हित। वत्थे उवरिक्षियाहिं दोहिं आग्गहो, अभिग्गहो अण्णतिरयाए॥'' इति चूर्णिः॥

पीठिकायामुक्तं (गाथाः ६१० प्रमृतयः ६५५ प्रमृतयश्च) तत्रायद्वयर्वतम् नरयोर्व प्रहणम् । तत्राप्यपरस्यामभिष्रदः ॥ १३६२ ॥ अथ "धंनं व्हरं"ति व्याचरे—

निष्काव-चणकमाई, अने पंते तु होइ यावण्णे । नेहरहियं तु लुई, जं वा अवलं समावेणं ॥ १२६२ ॥

निप्पावाः—यश्रश्रणकाः—प्रतीता आदिश्वव्यात् क्रुग्गापादिकं च औन्तिमित्युच्यते । प्रान्तं
पुनन्तदेव 'व्यापत्रं' विनष्टं कुथिनिमित्यर्थः । यत पुनः केंड्रहितं तद् कक्षम्, यद्वा न्यमायेन
'अवलं' रव्यादिकं तदिष कक्षं मन्तव्यम् ॥ १३६३ ॥ अत्रय विधिविदेशपमाह----

उक्कुच्यानणसमुद्दं, करेंद्र पुर्द्धानिलाद्युवंबेसे । पिडवन्नो पुण नियमा, उक्कुद्धश्चा केंद्र उ सर्यंति ॥ १३६४ ॥ तं तु न जुजद जम्हा, अणेत्रंग नित्य भृमिपरिकारोा । निम्म य हु नम्म काले, खोयग्गहितावही नित्य ॥ १३६५ ॥

उक्तुहुकासनस्य "ममुहं" नि देशीवचनन्याद् अम्याम करोति, 'प्रथिवीशिलादिषु वा' पृथ्वीशिलादिषु वा' पृथ्वीशिलाप्टके आदिशक्ताद् अपरेष्यपि तथाविषययानं मृतेषु उपविदेशाः । जिनकत्य मितप्तः पुनर्तियमाहुक्तुहुक एव । केचिद् 'मजित' विकर्ष क्वेन्ति—उन्हुरको वा तिष्टेहपविदेशाः, ततु । जनवानः' अध्यवहितो नान्ति सायुना नावद् मुमिपरिमोगः, "सुद्धपुद्धीए न निमिए" (दर्शवे० अ० ८ गा० ५) ति वचनात् ; तिम्बेश जिनकत्यकाले औपप्रहिको-पिर्मान्ति, तदमावाच निषयाऽपि नान्तीति गम्येतं , तत्थाश्रीदापत्रं उन्हुरक एव निष्टित ॥ १६६८ ॥ १६६५ ॥ उक्तश्राक्रस्वितो विधिनेषः । अय वर्श्वाहरमाह—

ত্রিনক্রথ-প্রতিথ্নি- 29 আর্থানী বিথিঃ द्व्याई अणुक्रुके, संघं अमती गणं समाहय ।

जिण गणहरे य चउदम्, अभिन्न अमर्ता य बडमाई ॥ १३६६ ॥ इत्थमान्मानं परिकर्म्य द्रव्ये आदिख्टदान् क्षेत्रे काल मात्रे च 'अनुकूले' प्रदाने सहुं मील-यिखा महुत्य 'असिन' अमात्रे गणं सकीयमबस्यमेव समाह्य तनः प्रथमं जिन-तीर्थकरस्त-

म्यान्तिकं नद्भावे गणवर्सिक्याने तद्छाँग चतुर्द्रशपृत्रीयगन्तिके तद्मम्यवेऽभिन्नद्रशपृत्रीयरपा-श्रें नसाप्यमित वरबृक्षस्याव आदिष्रद्णीत् तद्माप्तावद्योक्ता-ऽश्वन्थबृक्षादीनामयन्ताद् जिनकर्णं

²⁵प्रतिपद्यते ॥ १३६६ ॥ केन विधिना १ इत्याह—

राणि गणहरं ठविना, खामे अगर्णा उ देवलं चामे । सब्दं च वाल-पुट्टं, पुट्यविरुद्धं विसेनेणं ॥ १२६७ ॥

'गणी' गच्छाविपाचार्यः स पृत्रीमत्वरनिक्षिमगणं खिन्छ्यं गणवरं म्यापयिन्या श्रमणसङ्घं क्षमयि । ''अगणि'' ति यम्नु गणी न भविन किन्नु सामान्यसाधुः स कवलं क्षमयित न तु

१ अन्त भो॰ २०॥ २०ते, तस्याखासात्रे शुक्षपृथिव्यामुपवेशनस्याकस्पनीयत्यादः-र्थादा भा॰। "नालि न्रकापर्णहरूमुगरुराम, तेन निष्या नागाति गम्यते, तद्मागहर्षेशनामदः" इति चूर्णा विशेषचूर्णा च॥ ३०त् क्षेत्र-काल-भावेषु 'अनुकृत्रेषु' प्रशस्तेषु सद्दं मा०॥ ४ 'णाद्शोका' रा॰॥

कमिप खापयति । किं पुनः क्षमयति ? इत्याह—'सर्वं' सकलमि सह्वं चशन्दात् तदमावे खगच्छं वाल वृद्धाकुलम् । ये च 'पूर्वविरुद्धाः' प्राग्विराधितास्तान् विशेषेण क्षमयति ॥१३६७॥ कथं पुनः ? इत्याह—

जइ किंचि पमाएणं, न सुड्डु मे विट्टयं मए पुटिंव। तं मे खामेमि अहं, निस्सल्लो निकसाओ अ॥ १३६८॥

शामणा

यदि किञ्चित् 'प्रमादेन' अनामोगादिना न सुष्ठु 'मे' भवतां मया वर्त्तितं पूर्वं तद् ''मे'' युप्मान् क्षमयाम्यहं निःशल्यो निष्कपायश्च ॥ १३६८॥

इत्थं तेन क्षमिते सति शेपैसाधवः कि कुर्वन्ति ? इत्याह—

आणंदअंसुपायं, कुणमाणा ते वि भूमिगयसीसा । खामिति जहरिहं खल्ज, जहारिहं खामिता तेणं ॥ १३६९ ॥

10

'तेऽपि' साधव आनन्दाश्चपातं कुर्वाणाः 'मूमिगतशीर्षाः' क्षितिनिहितशिरसः सन्तः क्षम-यन्ति 'यथार्हे' यो यो रत्नाधिकः स स प्रथममित्यर्थः, तेनाचार्येण 'यथार्हे' यथापर्यायज्येष्ठं क्षामिताः सन्त इति ॥ १३६९ ॥ अथेरथं क्षामणायां के गुणाः १ इत्याह—

खामितस्स गुणा खळु, निस्सळ्य विणय दीवणा मग्ने। लाघवियं एगत्तं, अप्पिडवंधो अ जिणकप्पे॥ १३७०॥

15

जिनकरुपे प्रतिपद्यमाने साधून् क्षमयतः खरुवेते गुणाः । तद्यथा—'निःश्रारुयता' मायादि-शरूयाभावो भवति । विनयश्चै प्रयुक्तो भवति । मार्गस्य दीपना कृता भवति, इत्थमन्यैरिप क्षामणकपुरस्सरं सर्व कर्त्तव्यमिति । 'लाघवम्' अपराधमारापगमतो रुघुमाव उपजायते । 'एँकत्वं' 'क्षामिता मयाऽमी साधवः, इत ऊर्द्धमेक एवासिंग इत्यनुध्यानं भवति । 'अप्रतिवन्धश्च' मम-त्वस्य च्छिन्नत्वाद् भूयः शिष्येषु प्रतिवन्धो न भवति ॥ १३७० ॥

अथ निजपदस्थापितस्य सूरेरनुशिष्टिमाह—

अह ते सवाल-बुद्धी, गच्छी साइज णं अपरितंती।
एसी हु परंपरती, तुमं पि अंते कुणसु एवं ॥ १३७१॥
पुन्वपवित्तं विणयं, मा हु पमाएहिँ विणयजोगेसु।
जो जेण पगारेणं, उववज्जइ तं च जाणाहिं॥ १३७२॥

नव्यस्थापि-ताचार्य प्रति ग-च्छसाधू-

25 य प्रति 25 प्राक्तना-चार्थस्य

शिक्षाव-

अथैपः 'ते' तव सवाल-वृद्धो गच्छो निस्षष्ट इति शेपः, अतः 'अपरितान्तः' अनिर्विणणः ''णं'' एनं गच्छं 'सातयेः' सेङ्गोपायेः, सारणा-वारणादिना सम्यक् पालयेरित्यर्थः। न च 'परि-त्यक्तोऽहममीभिः' इत्यादि परिभाव्यम् , यत एष एव 'परम्परकः' शिष्या-ऽऽचार्यक्रमो यद् अव्यवच्छित्तिकारकं शिष्यं निष्पाद्य शक्तौ सत्यामभ्युद्यतिवहारः प्रतिपत्तव्यः। त्वमपि 'अन्ते' शिष्यनिष्पादनादिकार्यपर्यवसाने एवमेव कुर्याः॥ १३०१॥

चनानि

ळू० ५३

१ °पाः सा° मा॰ हे॰ ॥ २ °न्ति ते 'यथाई' यथापर्यायज्येष्ठं यथार्थं तेन क्षामि भा॰ ॥ ३ °श्चाराधितो भव भा॰ ॥ ४ "एगत्तं" ति एकत्वभावनात्मकं 'क्षामिता मो॰ हे॰ ॥ ५ संयमात्मनि खेदं प्राप्येः, स्वाण्मो हे॰ ॥

25

ये च तव बहुश्चत-पर्यायज्येष्ठाद्यो विनययोग्याः—गाँ, वार्हानेषु 'पृष्ठेप्रकृतं' यथोचितं विनयं 'मा प्रमाद्येः' मा प्रमादेन परिहापयेः । यथ सावृर्येन तपः-स्वाव्याय-वेयाहृस्यादिना प्रकारण 'उपयुज्येन' निर्वराप्रसुरयोगसुपयानि 'नं च जानीहि' नं तैयव प्रवर्त्येस्वर्यः, ॥ १३७२ ॥ अय माष्ट्रनामनुधिर्धि प्रयच्छिनि—

ओमी समगइणिओ, अप्यतरमुओ अ मा य णं तृत्मे । परिसवह तुम्ह एसी, विसंसओ संपर्य पुलो ॥ १२७३ ॥

'अवमोऽयं ननगत्तिकोऽयं अन्यत्रश्चुता वाज्यनसद्येशया, अतः किन्धंमस आज्ञानिदेशं वयं कुर्मेद्दे !' इति मा यूयमञ्जे परिमवत । यत एष शुन्माकं नान्यतमन्मन्यानीयत्वाद् गुन्तर-गुणाविकत्वाच विद्येषतः पूज्यः, न गुनग्वज्ञातुम्चचित इति मावः ॥ १२७३ ॥

10 इत्यमुमयपामप्यनुशिष्टिं प्रदाय कि करोति ? इत्याह—

पक्खीव पत्तमहिश्रो, समंहगो वचए निग्वयक्खो । एगंनं जा नह्या, नीएँ विहागे में नऽन्नामु ॥ १३७७ ॥

यथा पत्नी पत्री-यान्यां महितः याक्तनस्थाननिर्पेक्षः स्थानान्तरं त्रजति, एवमयमी भगवान् 'ममाण्डकः' पात्रमहितः 'निर्पेक्षः' गच्छसन्कापेक्षया रहितः 'एकान्तं' मासकस्यप्रायोग्यं 17क्षेत्रं त्रजति । अयं च यान्त् नृतीयैपान्णां नावद् गच्छति, यन्नस्थामेव ''मं' तस्य विद्यागे नान्यानु पारुपीसु, यत्र तु चनुर्थी पारुपी सवति तत्र नियमान् निष्टतीति ॥ १२७४ ॥

तिसन् निर्गते सति श्रेषसाधवः किं क्षत्रीनि ? इत्याह—

सीहम्मि व मंद्रकंद्राओं नीहम्मिए तथी तम्मि । चक्रसुविसयं अहगए, अहंति आणंदिया साह ॥ १३७५ ॥

20 सिंहे इत मन्द्रकृत्वायानिस्त्रनगार्सिंहे गच्छाद् ''नीहिस्पएं' निर्गने सिन क्रियनपि मृगागमनुगमने विधाय नृत्रश्रक्षित्रयम् 'अनिकान्ने' अदर्शनीमृते आयान्ति स्वत्रसिम् 'आनितृत्ताः' 'अहो ! अयं सगवान् सुन्त्रमेवनीयं स्वविरक्त्यविद्यारं विद्यायातिहुष्कर्मस्युव्यविद्यारं मस्युगिते' इति परिसावनया हृष्टाः यन्तः सावव इति ॥ १३७५ ॥ इदमेव सविद्यायाह—

निबंछ संबंदे वा, गच्छारामा विणिगाए तस्मि ।

चक्तुविसयं अईए, अयंति आणंदिया साह ॥ १३७६ ॥

निश्चेत्रं वा मन्त्रत्ये वा गच्छारामान मुन्नमेवनीयाद् जिनिगेन तिस्त्रश्चिष्ठविंगयमनीने आया-न्यानन्दिताः साध्य इति ॥ १३७६ ॥ अथाना विवक्षितं क्षेत्रं गन्त्राकि क्लोनि १ इत्याह—

आयोण्डं खेनं, निव्यायाएण मामनिव्याहि । गंत्रण तृत्य विहरह, एस विहारा समासेणं ॥ १३७७ ॥

²⁹ 'आमोन्य' विद्याय क्षेत्रं 'निर्व्यायातन' विद्यामात्रेन 'मास्तिवीहि' मामिनवेहणसमर्थं गत्या 'तत्र' क्षेत्रं 'विद्यति' स्तर्नाति परिपाच्यति । एत विद्यागे विदेशानुष्ठानस्योऽस्य मगवतः ममासन प्रतिप्रादित इति ॥ १२७७ ॥ इन्तं विद्याग्द्यारम् । अय सामाचारीद्वारमाह—

१ वा या भागा

इच्छा-मिच्छा-तहकारो, आवस्सि निसीहिया य आपुच्छा। पिडपुच्छ छंदण निमंतणा य उनसंपया चेन ॥ १३७८ ॥

सामाचा-रीद्वारम

'इदं मदीयं कार्यमिच्छया कुरुत, न वलाभियोगेन' इत्येवमिच्छायाः करणमिच्छाकारः। कथित्रत् स्विलितस्य 'मिथ्या मदीयं दुप्कृतम्' इति भणनं मिथ्याकारः । गुर्वादिपु ब्रुवाणेपु 'यथाऽऽदिशत यूयं तथैव' इति भणनं तथाकारः । कचिद् वहिर्गमनकार्ये समुत्यन्ने 'अवश्यं 5 गन्तव्यम्' इति भणनं आवश्यिकी । वसतिप्रवेशे 'निषिद्धोऽहं गमनिकयायाः' इति भणनं नैपेधिकी । खकार्यप्रदृत्तावापच्छनमाप्टच्छा । आदिप्टस्य कार्यस्य करणकाले पुनः प्रच्छनं प्रति-प्रच्छा । पूर्वगृहीतेनाशनादिना साधूनामभ्यर्थना च्छन्दना । तेनैवागृहीतेन 'यथालाभं युष्मद्यो-ग्यममुकमानेष्ये' इति प्रार्थना निमन्नणा । उपसम्पद् द्विधा—साधुविषया गृहस्थविषया च । ज्ञानादिहेतोर्थदपरं गणं गत्वोपसम्पचते सा साधुविषया । यत् पुनरवस्थाननिमित्तं गृहिणामनु-10 ज्ञापनं सा गृहस्थविपया ॥ १३७८ ॥

अथैतासां मध्याद जिनकल्पिकस्य काः सामाचार्यो भवन्ति १ इत्यच्यते—

आवसि निसीहि मिच्छा, आपुच्छुवसंपदं च गिहिएसु। अना सामायारी, न होंति से सेसिया पंच ॥ १३७९ ॥

आविश्यकीं नैषेधिकीं मिथ्याकारमापृच्छां उपसम्पदं च 'गृहिपु' गृहस्थविषया एताः पञ्च 15 सामाचार्यः सामाचारीर्जिनकल्पिकः प्रयुद्धे । अन्याः सामाचार्यो न भवन्ति 'सें' तस्य 'शेषाः पश्च' इच्छा-काराद्याः, प्रयोजनाभावात् ॥ १३७९ ॥ आदेशान्तरमाह---

> आवासियं निसीहियं, मोत्तं उवसंपयं च गिहिएसु । सेसा सामायारी, न होंति जिणकप्पिए सत्त ॥ १३८० ॥

आवश्यिकीं नैषेधिकीं मुक्तवा उपसम्पदं च 'गृहिपु' गृहस्थविषया जिनकल्पिकस्य 'शेषाः 20 सामाचार्यः' मिथ्याकाराद्याः सप्त न भवन्ति, तद्विषयस्य स्विलतादेरभावात् ॥ १३८० ॥

> अहवा वि चक्कवाले, सामायारी उ जस्स जा जोग्गा। सा सन्वा वैत्तन्वा, सुयमाई वा इमा मेरा ॥ १३८१ ॥

अथवाऽपि 'चक्रवाले' प्रत्युपेक्षणादौ नित्यकर्मणि यस्य जिनकल्पिकादेयी सामाचारी योग्या सा सर्वी अत्र सामाचारीद्वारे वक्तव्या । श्रुतादिका वा 'इयं' वक्ष्यमाणा 'मेरा' मर्यादा सामा-25 चारी ॥ १३८१ ॥ तामेवाभिधित्सुद्वीरगाथात्रयमाह—

सुय संघयणुवसग्गे, आतंके वेदणा कइ जणा य । थंडिल्ल वसहि केचिर, उचारे चेव पासवणे ॥ १३८२ ॥ ओवासे तणफलए, सारक्खणया य संठवणया य । पाहुडि अग्गी दीवे, ओहाण वसे कइ जणा य ॥ १३८३ ॥ भिक्खायरिया पाणग, लेवालेवे तहा अलेवे य। आयंविल पिंडमाओ, जिणकप्पे मासकप्पो य ॥ १३८४ ॥

जिनक-ल्पिकस्य श्रुतादिका सामाचार्यः

श्रुतं १ संहननं २ उपसर्गाः ३ आतङ्कः ४ वेदनाः ५ कतिजनाश्च ६ स्वण्डिलं ७ वसितः ८ कियचिरं ९ उच्चारश्चेव १० प्रश्रवणं ११ अवकाशः १२ तृणफलकं १३ संरक्षणता च १४ संस्थापनता च १५ प्रामृतिका १६ अग्निः १७ दीपः १८ अवधानं १९ वत्स्वथ कित जनाश्च २० भिश्चाचर्या २१ पानकं २२ लेपालेपः २३ तथा अलेपश्च २४ आचाम्लं २५ प्रतिमाः ५२६ मासकल्पश्च २७ "जिणकप्पे" ति एतानि सप्तविंगतिद्वाराणि जिनकल्पविषयाणि वक्तन्त्र्यानीति द्वारगाथात्रयसमुदायार्थः ॥ १३८२ ॥ १३८३ ॥ १३८४ ॥ अथावयवार्थं प्रतिद्वारं प्रतिपिपाद्विपुः "यथोद्दर्गं निदंशः" इति न्यायात् प्रथमतः श्रुतद्वारमाह—

आयारवत्थुतइयं, जहन्नयं होइ नवमपुट्यस्स । तहियं कालण्णाणं, दस उक्रोसेण मिन्नाइं ॥ १२८५ ॥

10 जिनकिएकस्य जयन्यकं श्रुतं 'नवमपूर्वस्य' प्रत्याख्याननामकस्याचाराख्य तृतीयं वस्तु तिसम्मवीते सित काळ्ज्ञानं भवनीत्यतस्तद्वांक्छुतपर्यायं वर्जमानस्य न जिनकरपप्रतिपितः । उक्तपंता दश पूर्वाणि मिल्लानि श्रुतपर्यायः । सम्पूर्णदशपृर्वेघरः पुनरमोघवचनतया प्रवचन-प्रभावनापरोपकारादिद्वारेणेव वहुतरं निर्जगलाममासादयित अतो नासा जिनकरुपं प्रतिपद्यते ॥ १३८५ ॥ उक्तं श्रुतद्वारम् १ । अथ संहननद्वारमाह—

पदमिछुगसंघयणा, घिई्ऍ पुण वज्जकुडुसामाणा । उप्पञ्जंति न वा सिं, उवसग्गा एस पुच्छा उ ॥ १३८६ ॥

जिनकिष्यकाः 'प्रथमिष्ठुकसंहननाः' वज्ञर्पमनाराचनंहननापताः 'घृत्या' अङ्गीकृतनिर्वाहक्षम-मन प्रणिघानरूपया वज्ञकुड्यममानाः २ । अथोपसर्गहारम्—उत्पद्यन्ते न वा अमीपामुपसर्गा दिज्याद्यः ? इत्येषा प्रच्छा ॥ १३८६ ॥ अत्रोत्तरमाह—

20 नइ वि य उप्यज्ञंते, सम्मं विसहंति ते उ उवसग्गे । रोगानंका चेवं, भइआ नइ होति विसहंति ॥ १२८७ ॥

नायमेकान्तो यद्द्रवस्यमेतेपामुपसर्गा उत्पद्यन्ते , परं यद्युत्यद्यन्ते तथापि सम्यगदीनमनमो विषद्दन्ते तानुपसर्गान् ३ । आतङ्कद्वारमतिदिश्चिति—रोगाश्च—कारुमहाः आनङ्काश्च—सद्योषा-तिनः एवमेव 'माज्याः' उत्पद्यन्ते वा न वा । यदि 'मवन्ति उत्पद्यन्ते ततो नियमाद् विष25 हन्ते ४ ॥ १३८७ ॥ वदनाद्वारमाह—

अन्मोत्रगमा ओवक्समा य तेसि वियणा भवे दुविहा । भुवलोआई पदमा, जरा-विवागाइ विद्यको ॥ १३८८ ॥

^{? &#}x27;ति गाया' मो॰ हे॰ बिना ॥ २ 'हारमाह—आयार' मा॰ ॥ ३ 'न्ते, यद्यप्युत्पद्य' मो॰ है॰ को॰ ॥ ४ 'बाद्या' धु' भा॰ बिना ॥

ष्टाद् न्याख्यास्यते ॥ १३८८ ॥ अथ स्थण्डिलद्वारमाह—

उचारे पासवणे, उस्सर्ग कुणइ थंडिले पढमें। तत्थेव य परिजुण्णे, कर्यकिचो उज्झई वत्थे ॥ १३८९ ॥

उचारस्य प्रश्रवणस्य च 'उत्सर्गे' परित्यागं 'प्रथमे' अनापाते असंलोके स्थण्डिले करोति । 'तत्रैन' प्रथमस्थिण्डले 'कृतकार्यः' विहितशीतत्राणादिवस्त्रकार्य उज्झति वस्त्राणि ॥ १३८९ ॥ 5 अयं च संज्ञां व्युतसृज्य न निर्हेपयति, कुतः १ इति चेद् उच्यते---

> अप्पमिनं वर्च, अप्पं ऌहं च भोयणं भणियं। दीहे वि उ उवसग्गे, उभयमवि अथंडिले न करे ॥ १३९०॥

' अल्पमभिन्नं च 'वर्चः' पुरीपमस्य भवति, कुतः ^१ इत्याह—यतोऽल्पं रूक्ष च मोजनमस्य भणितं भगवद्भिः । अल्पा-ऽभिन्नवर्चस्कतया तथाकल्पत्वाचासौ न निर्छेपयति । न चासौ 10 'दीर्घेऽपि' वह्रदैवसिके उपसर्गे 'उभयमपि' संज्ञां कायिकीं च 'अस्थण्डिले' आपातादिदोषयुक्ते भूभागे करोति ७ ॥ १३९० ॥ वसतिद्वारमाह-

> अममत्त अपरिकम्मा, नियमा जिणकप्पियाण वसहीओ। एमेव य थेराणं, मुत्तूण पमज्जणं एकं ॥ १३९१ ॥

: 'अममत्वा' ममेयमित्यभिष्वद्गरहिता 'अपरिकर्मा' साध्वर्थमुपलेपनादिपरिकर्मवर्जिता नियमाद् 15 जिनकल्पिकानां वसतिः । स्थविरकल्पिकानामप्येवमेव वसतिरममत्वा अपरिकर्मा च द्रष्टव्या, मुक्तवा प्रमार्जनामेकामन्यत् परिकर्म तेऽपि न कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १३९१ ॥ एतदेव स्पष्टयति—

ैविले न ढकंति न खज्जमाणि, गोणाई वारिंति न भज्जमाणि । दौरे न ढकंति न वऽग्गिलिंति, दप्पेण थेरा भइआ उ कजे ॥ १३९२ ॥

एते भगवन्तो बिलानि धूल्यादिना न स्थगयन्ति, न वा गवादिभिः खाद्यमानां भज्यमानां वा 20 वसतिं निवारयन्ति, द्वारे ''न ढकंति'' कपाटाभ्यां न सयोजयन्ति, न वा 'र्अंगेलयन्ति' नार्ग-लया नियन्नयन्ति । स्यविरकल्पिका अपि 'दर्पेण' कार्याभावे एवमेव न वसतेः परिकर्म कुर्वन्ति, 'कार्ये तु' पुष्टालम्बने 'भाज्याः' परिकर्म कुर्वन्त्यपीति भावः ८ ॥ १३९२ ॥ कियचिरोचार-प्रश्रवणा-ऽवकाश-तृणफलक-संरक्षण-संस्थापनाद्वाराणि गाथाद्वयेन मावयति----

> किचिरकालं वसिहिह, इत्थ य उचारमाइए कुणसु । इह अच्छसु मा य इहं, तण-फलए गिण्हिमे मा य ॥ १३९३ ॥ सारक्वह गोणाई, मा य पर्डिति उविक्खहउ मंते!। अनं वा अभिओगं, नेच्छंतऽचियत्तपरिहारी ॥ १३९४ ॥

यस्यां वसतौ याच्यमानायां तदीयस्वामिन इत्थं भणन्ति—कियचिरं कालं वत्स्यथ यूयम् १ ९, यद्वा 'अत्र' प्रदेशे 'उच्चारादीनि' पुरीष-प्रश्रवणादीनि कुरु, अत्र तु मा कुरु १०-११, 'इह' 30 असिन्नवकारो आसीथाः, इह मेति १२, 'एतानि वा' हस्तसज्ञया निर्दिश्यमानानि तृण-फल-

१ °यकजो उ° ता०॥ २ दारं ण ढकेंति ता०॥ ३ विले ण घट्टेति न ता०॥ ४ 'अर्ग- लिन्त' मो० ले०। "अगलंति" भा०॥ ५ °काशे भवता आसितव्यम्, इह नेति १२ भा०॥

कानि गृहीयाः मा एतानीति १२, संग्यत वा गवादीन् वहिनिर्गच्छतो यूर्यमन्माकं क्षेत्रादी गनानां व्याकुलानां वा १४, मा च पतन्तीं वमितमुपेक्षव्वं किन्तु 'संस्थापना' पुनःसंस्काररूपा विघेया १५। ''संद्रवणया य'' ति (गाया १२८२) हार्गाथायां यथ्यद्यव्यस्तिन स्चित्रमन्यं वा स्वाच्यायनिषेवादिक्षपं यत्र वमितस्त्रामी 'अभियोगं' नियव्रणां करोति तं मनसाऽपि नेच्छित्ति, असुसम्स्थाप्यप्रांतिकस्य परिहारिणोऽसी मगवन्त इति ॥ १२९२॥ १३९०॥

प्राप्तृतिका-ऽग्नि-दीपा-ऽवयानद्वाराणि व्याचरे-

पाहुडिय दीवओं वा, अग्गि पगामा व जन्य न वसन्ति । जन्य य भणिति ठेते, ओहाणं देह गेहे वि ॥ १३९५॥

यसां वसता 'प्राभृतिका' बलि: कियत १६ द्वापको वा यस्यां विवीयत १८ 'अग्निः' 10 अङ्गार-ज्वास्तरिकत्तस्य प्रकाशो वा यत्र भवति तत्र न वसन्ति १७ । यत्र च तिष्ठति सन्यगा- रिणो भणन्ति अन्याकमपि गेहे 'अवयानम्' स्पयोगं दृद्देनित तत्रापि नावतिष्ठन्ते १९ ॥ १३९५ ॥ वन्स्य कृति जनाः ! इति हारमाह—

वसिंह अणुष्णवितो, वह मण्णह कह जण त्य तो न वसे । सुहुमं पि न सो हच्छह, परस्स अप्यत्तियं भगवं ॥ १३९६ ॥

वस्तिमनुज्ञापयन् यद्यमा मण्यते 'कति जना यृयं वस्त्रथ १' इनि नत्रापि न वसति, छनः १
 इत्याह—सृक्षमणि नासाविच्छति परस्याप्रीतिकं मगवान् । "कढ़ जणा उ" ति अत्र यन्त्रय व्यस्तिनान्यामणीपद्यीनिकजननी वसतिममा पिरहरतीति गम्यते २० । उक्तव पश्चवस्तुके—

मुहुमं पि हु अचियत्तं, परिहरण् मा परम्य नियमेणं ।

नं तेण तुमहाओ, वज्जर् अतं नि तज्जणींण ॥ (गा० १४५०)॥ १६९६॥ 20 भिक्षाचर्या-यानक-न्रेपान्यम्[अन्त्रपोद्धाराणि विवृणोति—

तद्याद् भिक्खचरिया, पग्गहिया एसणा य पुच्छुत्ता । एसेव पाणगस्स वि, गिण्हद् अ अलेवड हो वि ॥ १३९७ ॥

आयंतिलं न गिण्हर्, जं च अणायंतिलं पि लेतारं।

अयामाम्बर्मा न य पहिमा पहित्रज्ञह्, मासाई जा य सेसाओ ॥ १३९८ ॥ आयामाम्बर्मा न गृहाति, पुर्रापमेदाहिदोषनम्मवात्; अनायामाम्बर्मा यद् लेपकृतं तत्र गृहाति २५ । न च प्रतिमा मानिक्यादिका असी प्रतिपद्यते । याश्च 'द्रोपाः' यद्ग-महामदा-दिकाः प्रतिमाना अपि न प्रतिपद्यते, स्वक्र्यस्थितिप्रतिपारम्भेव तस्य विद्योगिष्यह इति भावः २६ ॥ १३९८ ॥ अथ मासकल्प इति द्वारमिभित्युराह—

कप्पे सुत्त-ऽत्थविसारयस्स संघयण-विरियज्ञत्तस्स ।

जिणकिपयस्य कप्पइ, अभिगहिया एसणा निर्च ॥ १३९९ ॥

करपे जिनकरपविषयो यो सूत्रार्थो तत्र विशारदस्य-निपुणस्य संहननं-गारीरवर्छ वीर्य-धृतिस्ताभ्यां युक्तस्य जिनकरिपकस्य करपते 'अभिगृहीता' साभिप्रहा एपणा ॥ १३९९॥ । ४

सा च मासकल्पस्थितिमनुपालयतो भवतीत्यतस्तस्येव विधिमाह---

छन्वीहीओ गामं, काउं एकिकियं तु सो अडइ। वज्जेउं होइ सुद्दं, अनिययवित्तिस्स कम्माई॥ १४००॥

यत्रासौ मासकल्पं करोति तं यामं 'पड् वीथीः' गृहपिक्करूपाः कृत्वा ततः प्रतिदिनमैकेकां वीथीमटित यावत् पष्ठे दिवसे पष्टीम् । कृतः ? इत्याह—अनियतवृत्तेरपरापरवीथीपु पर्यटतः 10 'कर्मादि' आधाकर्म-पूर्तिकर्मादिकं 'सुखं वर्जयितुं भवति' सुखेनैव परिहर्तु शक्यत इति भावः ॥ १४००॥ कथं पुनराधाकर्मादिसम्मवो भवति ? इत्याशक्क्य तत्सम्भवं दिदर्शयपुराह—

अभिग्गहे दहुं करणं, भत्तोगाहिमग तिन्नि पूर्ड्यं । चोदग ! एगमणेगे, कप्पो त्ति य सत्तमे सत्त ॥ १४०१ ॥

तस्य भगवतः प्रथमवीथीमटतः कयाचिदगार्या श्रद्धातिरेकाद् घृत-मधुसंयुक्तं भेक्षमुपनीतम्, 15 तेन च 'न कल्पते मे लेपकृता भिक्षा' इति न गृहीतम्, तत एवमादीनिमग्रहान् दृष्ट्वा आधा-कर्मणः करणं भवति । तच्च मक्तमवगाहिमं वा भवेत् । त्रीणि च दिवसानि तत् पूतिकम् । नोदकः प्रश्नयति—एकं ग्रामं किमनेकान् भागान् पड्वीथीरूपान् करोति ?। सूरिराह—कल्प एपोऽमीपां यत् पड् वीथीः कृत्वा सप्तमे दिवसे पर्यटन्ति, सप्त च जना एकस्यां वसतौ सम्भव-न्तीति समासार्थः ॥ १४०१ ॥ अथ विस्तरार्थमाह—

दहुण य अणगारं, सह्वी संवेगमागया काइ।

नित्य महं तारिसयं, अनं जमलिजया दाहं ॥ १४०२ ॥

तमनगारं तपःशोपितमरूपटरूजिटरूवपुपं दृष्ट्वा काचित् श्राद्धिका परमसवेगमागता सती चिन्त-यति—किं मे जीवितेन यद् ईदृशस्य महात्मनो भिक्षा न दीयते 2, नास्ति मम तादृशं शोभनमन्नं यद् यहमरुजिता सती दास्यामि ॥ १४०२ ॥ ततः—

सन्वपयत्तेण अर्ह, कर्छ काऊण भोअणं विउलं । दाहामि तुद्धमणसा, होहिद्द मे पुण्णलाभो त्ति ॥ १४०३ ॥

सर्वप्रयत्नेनाहं 'करुये' द्वितीयेऽहिन भोजनं विपुर्लं कृत्वा दास्यामि 'तुष्टमनसा' मह्छेन चेतसा, ततो भविष्यति मे महान् पुण्यलामः । इत्थं विचिन्त्य द्वितीये दिवसे विपुलमशनादि भक्तमवगाहिमं वा उपस्कृत्य तं भगवन्तं प्रतीक्षमाणा तिष्ठति ॥ १४०३ ॥

ततः किमभूत् ? इत्याह---

फेडित वीही तेहिं, अणंतवरनाण-दंसणधरेहिं। अदीण अपरितंता, विद्यं च पहिंडिया तहियं॥ १४०४॥ स्फेटिना-परिहता र्वार्था 'ते:' जिनकण्यिकः, अथम्पृते: ! 'अनन्तवर्ज्ञान-दर्शनर्थेः' इहा-नन्तज्ञानमयनादनन्ताः-र्नार्थकरानेन्यदिष्टे वरे-उनमे जिनकण्यिकानां ये ज्ञान-दर्शने उपस्थ-णन्तात् चारित्रं च तानि धारयन्तिस्यनन्तवरज्ञान-दर्शनवरानेः । आह् च चूर्णिकृत-

अणंतं नाणं जेनि ने अणंजा-निन्यक्ता, तेहिं जिणकप्रियाणं वरं नाणं दंसणं चिन्तं च वर्तं सणियं तद्धरेहिं नि ॥

नतने 'अदीनाः' मनसा अविषणाः 'अपरितान्ताः' कायेनानिर्विष्णा द्वितीयां वीर्था क्रमा-गतां पर्यटिनान्तव क्षेत्रे । एक्रवचनप्रकलेऽपि बहुवचनासियानसन्येपानपि जिनकण्यिकानामवं-विषवृत्तान्तसन्यवस्थापनार्थम् ॥ ११०१ ॥ अत्र चेत्रं व्यवस्था—

पदमदिवनस्मि कम्मं, निन्नि उ दिवसाईँ पृद्यं होइ ।

10 पूर्नामु निमु न कप्पद्दं, कप्पद्दं नहुओं जया कप्पा ॥ १४०५ ॥
प्रथम दिवन नद्दं मन्तुपन्त्रनायाक्तमं । त्रीणि दिवनानि यानद् नद्दं गृतिभविति, नेषु
च त्रिषु पृनिदिनेषु निमन् गृद्देऽन्यद्रि किञ्चित्र कप्पने । यदा नु नृतीयः क्रप्यो गनो मविति
नदा कर्यने । कर्यदान्तेनेद्दं दिवन उच्यते । उक्तञ्च पञ्चवस्तुकरीकायाम्—

कर्यतं तृतीये 'कर्ये' दिवसे गर्नेऽप्रसिन्नहर्नानि (गा० १४६६)। ॥ १४०५॥

15 ट्रुमेंब स्परयन्नाह—

39

विद्यदिवसम्मि क्रम्मं, निन्नि उ दिवसाँ पृद्यं होह । तिसु क्रयमु न कप्पद्द, कप्पद्द नं छड्डदिवसम्मि ॥ १४०६ ॥

यनिन् दिवमे स जिनकल्पिकः प्रथनवीध्यानटन् तथा दृष्टनदृष्ट्या द्वितीये दिवमे तद् मक्तमाश्रक्तमे, तदनन्तरं त्रीणि दिवसानि पृतिकं मवति, तेष्ठ त्रिष्ठ 'क्र्येषु' दिवसेषु न क्रव्यते, २०किन्तु कल्पने तत् पष्ठे दिवसे ॥ १४०६ ॥ अयादगाहिमविषयं विविमाह—

कछं से दाहीमी, श्रोगाहिसनं न आगना अज । नहयदिवसाहने होह पृह्यं कष्णए छहे ॥ १४०७ ॥

अवगाहिमं दिनहण्मित स्मत इति हत्वा सा श्राद्धां चिन्तण्ति—यद्र्यमयमवगाहिमपाञी मया इतः स सिन्द्रया सम गृहाक्षणं नागतः, अतः कल्यं 'सि' तस्महं दास्मामीदमवगाहिममिति व्यविचिन्य तह्नार्थं यदि स्मपणि तदा तत् तृतीयेऽति दिवसे कर्में मवति । यत् पुनस्तिन् वेष पाकदिवसे व्यविच्छक्तमावा मा आस्माधितं क्लोति तद्ववगाहिममित सक्तद् मालदिवसाण-क्षया हितीये दिवसे कमे, तृतीणदिष्टु तद् गृहं पृतिकत्, पष्ट तु दिवसे क्लाने ॥ १०००॥ एतदेव सप्रणीति—

प्रेचोगाहिमगं, नवरं तह्यदिवने वि तं कम्मं। निमु पृह्यं न कप्यह, कप्यह नं मुचमे दिवसे॥ ११०८॥

'ण्वमेत्र' मक्तवद् अत्रगाहिसमार यन् तहित्रस एक्तमार्थीकृतं तत् हिनीय दिवसे कर्म, नृतीयादिषु त्रिषु पृति, ण्ये तु करराने । नदरं यन् तहित्रमे नाऽऽन्मार्थयित तत् नृनीयऽपि १ श्वामि तार ॥ दिवसे कर्म, ततिर्स्निष् दिवसेषु तत् पृतिकं गृहमिति कृत्वा न कल्पते, किन्तु कल्पते तद् गृहं सप्तमे दिवसे, अत एव चासौ भृयः सप्तमे दिने तस्यां वीथ्यां पर्यटति ॥ १४०८ ॥

आह यद्येवं तर्हि यदि तसिन्नेव दिवसे तं प्रथमवीथीमटन्तं हृद्वा कश्चिदाधाकमीदि कुर्यादृ मोदकादिकं वा तदर्थं कृत्वा सप्तमदिवसं यावदव्यवच्छिन्नभावः स्थापयेत् तदानीमसौ कथं जानाति ! कथं वा परिहरति ! इति, उच्यते-

चोयग ! तं चेव दिणं, जइ वि करिजाहि कोइ कम्माई। न हु सो तं न वियाणइ, एसो पुण सि अहाकप्पो ॥ १४०९ ॥

हे नोदक ! तसिन्नेव दिने यद्यपि कुर्यात् कश्चित् किञ्चिदाधाकर्मादि 'न हि' नैव स तन्न विजानाति, ''द्वौ नञौ प्रकृत्यर्थ गमयतः'' इति वचनाद् जानात्येवासौ श्रुतोपयोगवलेन । आह यद्यसो श्रुतोपयोगपामाण्यादेव जानीते ततः किमर्थमेकं याममनेकमागान् परिकल्प्य पर्यटित 2, 10 उच्यते—करूप एपः ''सिं'' अमीपां भगवतां यत् सप्तमे दिवसे भूयः प्रथमवीथीं पर्यटन्ति ॥ १४०९ ॥ ततश्च तं सप्तमे दिवसे प्रथमवीथीमटन्तं दृष्ट्वा सा श्राद्धिका बृयात्-

किं नागय तथ तहया, असन्वओं में कओ तह निमित्तें। इइ पुट्टो सो भगवं, विइयाएसे इमं भणइ ॥ १४१० ॥

'तदानीं यूयं किं नागताः ?, ''थ'' इति निपातः पूरणार्थः, मया हि त्वन्निमित्तं विपुर्छं,15 भक्तादिकमुपस्कुर्वन्त्या युप्पवनुपयोगादसद्ययः कृतः' इति पृष्टोऽसौ भगवाँस्तूष्णीक आस्ते इति शेपः । 'द्विंतीयादेशे' आदेशान्तरे पुनरिदं भणति ॥ १४१०॥ किं तत् हस्याह—

, अनियंताओ वसहीओ, भमरकुलाणं च गोकुलाणं च । समणाणं सडणाणं, सारइआणं च मेहाणं ॥ १४११ ॥

अनियताः 'वसतयः' अवस्थानानि उपलक्षणत्वात् परिश्रमणानि च । केपाम् १ इत्याह— 20 अमरकुलानां च गोकुलानां च श्रमणानां शकुनानां शारदानां च मेघानाम् । इत्यमनियतचर्यया मिक्षाटने श्रद्धावतामपि प्राणिनां नाधाकर्मादिकरणे भूयः प्रवृत्तिरुपजायत इति ॥ १४११ ॥

अथ ''सत्त'' (गा० १४०१) त्ति पदं विवृणोति---

प्काए वसहीए, उक्कोरोणं वसंति सत्त जणा। अवरोप्परसंभासं, चयंति अनोन्नवीहिं च ॥ १४१२ ॥

एकस्यां वसताबुत्कर्पतः सप्त 'जनाः' जिनकल्पिका वसन्ति । ते चैकत्र वसन्तोऽपि परस्पर-सम्भापणं 'त्यजन्ति' न कुर्वन्तीत्यर्थः, अन्योन्यवीथीं च त्यजन्ति, यस्मिन् दिने यस्यां वीथ्या-मेकः पंर्यटित न तस्मिन्नेव तस्यामपर इत्यर्थः ॥ १४१२ ॥

गतं सामाचारीद्वारम् । अथ स्थितिद्वारमभिधित्युराह—

खेत्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए। कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिगहा य ॥ १४१३ ॥ पन्नावण मुंडावण, मणसाऽऽवने वि से अंशुग्याया ।

१°गओ तथ ता॰ ॥ २°यत्ता वस° ता॰ ॥

कारण निष्पडिकम्म, भन्तं पंथो य तह्याए ॥ १४१४ ॥

किमन क्षेत्रेडमी भगवन्तो भवन्ति १ एवं काल २ चारित्र ६ तीर्थे १ पर्याये ५ आगमे ६ वेदे ७ कर्षे ८ छिङ्के ९ छेद्यायां १० ध्याने ११ गणनाया १२ अभिम्रहाध्यामीपां भवन्ति न वा १ १६ प्रवाननायां ११ मुण्डापनायां च कीहर्या स्थितिः १५ मनसा आपन्ने 'ध्यपरावे 'स्ते' तस्य 'अनुद्धाताः' चतुर्गुग्वः प्रायध्यित्तं १६ कारणं १७ निष्यतिकर्म १८ मक्तं पन्थाध्य तृतीयस्या पोरुत्याम् १९ इति द्वारगाथाद्वयसमासार्थः ॥ १११३ ॥ ११११ ॥

ज्यामीर्थं प्रतिद्वारमिषित्युः प्रथमतः क्षेत्रद्वारमङ्गीकृत्याह—

जम्मण-संतीमावेमु होज सच्चासु कम्मभृमीसु । साहरणे पुण भइयं, कम्मे च अकम्मभृमे वा ॥ १४१५ ॥

शत्रिविषया हिया मागेणा—जन्मनः सङ्घावनश्च । जन्मनो यत्र क्षेत्रेऽयं प्रथमत उन्पर्यते, सङ्घावनस्तु यत्र जिनकरूपं प्रतिपद्यते प्रतिपत्तो वाऽन्ति, नत्र जन्म-मङ्गावयोग्ग्मयं 'मर्वायु कर्मम्मीपुं' भरतपञ्चकेरावनपञ्चक-विदेहपञ्चकरुश्रणायु भवेन् । 'संहर्ण' देवादिना अन्यत्र नयने पुनः 'मार्ज्य' मजनीयम्, कर्मम्मो वा भवेद् अकर्मम्मो वा । एतज्ञ सङ्घावमाश्रित्यो- क्षम् । जन्मतस्तु कर्ममृमावेवायं भवनीति १॥१४१५॥ उक्तं क्षेत्रहाग्म् । अथ कारुहारमाह—

श्रीसप्पिणीइ दोमुं, जम्मणनो तीमु मंतिमावेणं ।
 उस्सप्पिणि विवरीया, जम्मणनो मंतिमावे य ॥ १४१६ ॥
 नोमप्पिणिउम्मप्पे, मवंति पित्रमागनो चउत्यिम्म ।
 काले पित्रमागेसु य, साहरणे होति सच्वेसु ॥ १४१७ ॥

अवसर्पिण्यां जन्मतः 'हयोः' सुपमदःपमा-दःयमसुपमयोस्तृतीयचतुर्थारकयोभीवेत्; मझा-२० वतस्तु 'त्रिष्ठ' तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमारकपु, दुःपमसुपमाया अन्ते जातो दुःपमायां जिनकर्षये प्रतिपद्यते इति कृत्वा । उत्सर्पिणां विपरीता जन्मतः सङ्घावतश्च । इटसुक्तं सवति—उत्सर्पिण्यां दुःपमा-दुःपमसुपमा-सुपमदःपमासु तिसपु ममासु जन्माऽश्चृते, दुःपमसुपमा-सुपमदुःपमयोस्तु हयोरसुं कृत्यं प्रतिपद्यते, दुःपमायां नीयं नास्त्रीति कृत्वा नस्यां जातस्यापि दुःपमसुपमायामेव कृत्यप्रतिपचिरिति ॥ १२१६ ॥

25 नेश्वरसर्पिण्युन्पर्पिणीरूषे अवस्थितकाले चत्वारः प्रतिमागाः, तद्यथा—नृषमपुषमाप्रतिमागः सुषमपुषमाप्रतिमागः दुःषमपुषमाप्रतिमागश्चिति । तत्राद्या देवकुरूत्तरकुरुषु, द्वितीयो हिर्तिषं-रम्यकवर्षयोः, तृतीयो हैमर्वतरण्यवतयोः, चतुर्थम्तु महाविदेहेषु । तत्र चतुर्थं प्रतिमाग जन्मतः सद्भावतश्चामी मवन्ति, नांद्यपु त्रिषु प्रतिमागिषु। "काल्" ति यो महाविदेहजो जिनकिष्यकः स गुषमसुषमादिषु पदस्तिष कार्रेषु संहरणतो भवेत् । "पिलिमागिसु अ" ति अभरतेगवत-महाविदेहेषु सम्मनः संहरणतः सर्वेष्वित प्रतिमागिषु देवकुर्वादिसम्बन्धिषु सम्मवन्तीति २ ॥ १११७ ॥ चारित्रहारमाह—

[े] १ °सार्थमाइ मा॰ ॥ २ °मयोररकयोः सद्घायतस्तु 'तिसृषु' सुपमदुःपमा-हुःपमसुपमा-दुःपमासु स्थितिमेवति । उन्सर्पिणी ति" मा॰ ॥

पढमे वा वीये वा, पडिवजह संजमिम जिणकप्पं। पुन्वपडिवन्नओ पुण, अन्तयरे संजमे होजा ॥ १४१८॥

'मथमे वा' सामायिकाख्ये 'द्वितीये वा' छेदोपस्थापनीयनाम्नि संयमे वर्तमानो जिनकरूपं मितपद्यते । तत्र मध्यमतीर्थकर-विदेहतीर्थक्वतीर्थवर्ती प्रथमे संयमे, पूर्व-पश्चिमतीर्थकरतीर्थ-वर्ती तु द्वितीये इति मन्तव्यम् । पूर्वपितपन्नः पुनरसौ जिनकर्रिपकः 'अन्यतरिसन्' सूक्ष्मस-ठ म्परायादाविप संयमे उपशमश्रेण्यां वर्तमानो भवेत् ३ ॥ १४१८ ॥ तीर्थ-पर्यायद्वारद्वयमाह—

नियमा होइ सतित्थे, गिहिपरियाए जहन्नै गुणतीसा । जइपरियाए वीसा, दोस्र वि उक्तोस देखणा ॥ १४१९॥

स जिनकिएपको नियमात् तीर्थे भवति, न पुनर्व्यवच्छिन्नेऽनुत्पन्ने वा तीर्थे ४। पर्यायो द्विधा— गृहिपर्यायो यतिपर्यायथ्य । तत्र गृहिपर्यायो जन्मपर्याय इत्येकोऽर्थः, तत्र जघन्यत एकोन-10 त्रिंशद् वर्षाणि । यतिपर्याये तु जघन्यतो विंशतिवर्षाणि । उत्कर्पतस्तु 'द्वयोरिप' गृहिपर्याय-यतिपर्याययोर्देशोनां पूर्वकोटीं यदा प्राप्तो भवति तदा जिनकरुपं प्रतिपद्यते ५ ॥ १४१९॥

अथाऽऽगम-वेदद्वारे आह----

न करिंति आगमं ते, इत्थीवज्ञो उ वेदों इक्तरो । पुन्वपडिवन्तओ पुण, होज सवेओ अवेओ वा ॥ १४२० ॥

न कुर्वन्ति 'ते' जिनकिष्पकाः 'आगमम्' अपूर्वश्चताध्ययनम्, पूर्वाचीतं तु श्चतं विश्रोत-सिकाक्षयहेतोरेकाग्रमनाः सम्यगनुसारति ६ । वेदमङ्गीकृत्य—प्रतिपत्तिकाले 'स्नीवर्ज एकतरः' पुरुषवेदो नपुंसकवेदो वा असंक्षिष्टस्तस्य भवेत् । पूर्वप्रतिपन्नः पुनः सवेदोऽवेदो वा भवेत् । त्रित्र जिनकिष्पकस्य तद्भवे केवलोत्पत्तिप्रतिपेधादुपशमश्चेण्यां वेदे उपशमिते सत्यवेदत्वम् ।

तदुक्तम्-

उवसमसेढीए खलु, वेदे उवसामियम्मि उ अवेदो । न उ खिनए तज्जम्मे, केवरुपिडसेहभावाओ ॥ (पञ्चव० गा० १४९८) रोपकारुं तु सवेद इति ७ ॥ १४२० ॥ अथ कल्प-लिङ्ग-लेक्याद्वाराण्याह—

ठियमद्वियम्मि कप्पे, लिंगे भयणा उ दन्वलिंगेणं।

तिहि सुद्धाहि पढमया, अपढमया होज सन्वासु ॥ १४२१ ॥

' स्थितकरंपे—प्रथमा-ऽन्तिमजिनसत्के अस्थितकरंपे च—मध्यमजिन-महानिदेहजिनसत्के अमी भवेयुः ८ । लिक्ने चिन्त्यमाने भजना तु द्रव्यलिक्नेन कार्या । तुशब्दो निशेषणे । किं निशि-निष्ट प्रथमतः प्रतिपद्यमानो द्रव्य-भावलिक्नयुक्त एव भवति । ऊर्द्धमि भावलिक्नं नियमाद् भवति, द्रव्यलिक्नं तु जीर्णत्वात् चौरादिभिरपहृतत्वाद्वा कदाचिन्न भवत्यपि । उक्तञ्च—

इयरं तु जिण्णमावाइएहिँ सययं न होइ नि कयाइ। न य तेण निणा नि तहा, जायइ से भावपरिहाणी॥ (पञ्चन० गा० १५०२)

१ °र्थकृतां विदेहतीर्थकृतां च प्रथमे, पूर्वे° भा०॥ २ °न्न उगुतीसा ता०॥ ३ तत्र गृहिपर्याये जन्मत आरभ्य जघन्यत एकोनिर्विद्यां भा०॥ ४ तत्रोपद्यमश्रेण्यां वेदे उपदाा-सिते सत्यवेदः । तदुः भा०॥ ५ °मादेव भ° भा०॥ อ

19

33 . 1

'ह्नन्द्' इति द्रव्यिष्ट्रम् १ । छेद्या अद्रीष्ट्रन्य 'निस्तु प्रछन्नेष्ट्यामुं' नेजसादिकासु 'प्रथमकाः' प्रतिपद्यमानका मण्डित । 'अप्रयमकान्तु' पृत्रेप्रतिपद्याः 'मर्वान्ति' गुढ़ा-उगुढ़ामु केद्यामु संबद्धः, केवलमगुढ़ामु वर्षमाना नात्यन्त्रमंक्षिष्टामु वर्षने न च स्थांसं कालमिनि १० ॥ १२२१ ॥ ध्यान-गणनाहारह्यमाह—

श्रम्मेण उ पडिवजह, इअनेमु वि होज इन्य झाणेमु । पडिवत्ति संयपुहुनं, महमपुहुनं च पडिवन्ने ॥ १४२२ ॥

श्रेम्बेण ब्यानन तुञ्जस विशेषणार्थकान् प्रवर्द्धमानन सना क्रत्यं प्रतिपद्यते । पृष्टपति-पत्रम्तु 'इन्तेर्ज्ञपि' आर्जीदिषु ब्यानेषु कर्मने चित्र्यक्याद् मण्डपि, व्यानेष्ठ क्रुक्षचर्णारणामस्योद्दान-स्वान् नीत्रक्रमेणीरप्रतिज्ञनितः सोऽपि गेद्रा-ऽऽर्जमानोऽस्य प्राची निग्नुबस्या मजनि । नद्दक्तम्—

एव च हुपलतांगं, टहांगं निवकन्पर्रारणामा ।

कृद्-छेट्टमु ति सात्रों, इसस्य पायं निर्णुवंघो ॥ (ण्डवर गा० १५०६) ११ । गणनाहारे— 'प्रतिप्रति' प्रनिय्यपाननाम्ह्रीकृत्योत्कर्णनः सन्द्रयन्त्रमेकिन्न् स्पयेऽमीपां मग-बनां प्राप्येत । पृथेप्रतिप्रक्षकानां पुनरुक्षितः सहस्रप्रक्षकम् , कर्ममृमिण्डवर्शकेऽप्येनावनामे-बोक्कर्यनः प्राप्यमाणकान् । जबस्यनस्तु प्रनिप्यमानका एको है। ययो वेन्स्यदि । पृथेप्रतिण्वास्तु १७ जबस्यनोऽपि सहस्रप्रस्क्षेत्र, महाविदेह्पडके स्वेदैवन्तवनामकात्रमाननान् । नवरमुक्त्रप्रध-दाक्तवस्यतं स्वरुत्ति १२ ॥ १२२२ ॥ अमिप्रह्-प्रवासना-सुम्हाननान्त्राणां व्याच्ये—

भिक्तायरियाईया, अभिरमहा नेत्र सी उ पव्वावे । उत्रदेसं प्रण कृणती, युत्रपव्याति वियाणिना ॥ १४२३ ॥

पिक्षात्रयं-ऋजी-गत्वापत्यागितिकाद्या गोजर्ज्यविदेशानदाद्योऽनिष्रद्या इन्त्रस्तादस्य २०न मत्रीत, जिनकरुण एव हि यादक्रियक्रनस्यपिष्रहः, तत्र च प्रतिनियता निरपत्राद्यश्च गोज-राद्यः, अञ्चतस्यन्पेत्रास्य परमं विद्युद्धिसानम् । यदाह—

एयन्ति गोयर्गर्ड, नियम नियमेण निरवनाडा य ।

तयालगं चित्र परं, एयम्छ विद्युद्धियमं तु ॥ (पञ्चव० गा० १५१०) १३ । तया नेवासवन्यं प्रवादयति, उरल्ल्याखाद् न च द्वायायाति, कल्लिसिनिर्यामिनि कृत्वा १४ द्वारेकं पुनः 'क्लेनि' प्रयच्छित 'बृवप्रवादिनम्' अक्ल्यप्रवद्यकं विद्याय कञ्चन सन्त्वम् । तं च संविष्णगीतायंसावृत्तं समीपे प्रहिणोति ११–१५ ॥ ११२३ ॥

अय "मगण्डञ्बेल वि से अगुग्गय" ति हारम्—मनपाऽति मृक्ष्ममर्नात्रारमाग्त्रसास्य संवेतवन्यं चतुर्गुन्तं प्रायक्षित्रम् १६ । अय कारण-नियतिकर्महारे आह्—

निष्यहिकम्मसर्रास्, न कार्णं अत्यि किंचि नाणाई। वंबावलीम्म र्खाणे, अविहरमाणा वि नाऽऽवले॥ १४२४॥

नियनिक्रमंद्रगंग यमं मगदनो नाष्ट्रिमकदिक्रमध्यपनयान, न व विक्रित्सदिकं कार-यनि १७। नच तेपा काण्यमं अल्यनं ज्ञानादिकं किबिद् विद्येने यहस्यत् ते दितीयरगरेन .

१ घर्मेण ट॰ दे॰ इरं॰ ॥ २.श्वाचि ति लालि॰ ट॰ ॥

परिहार-

विश्रद्धिक-

वनं विद्ध्यः १८। 'भक्तं पन्थाश्च तृतीयस्याम्' इति द्वारम्— तृतीयस्यां पौरुप्यां मिक्षाकां ि विहारकालश्चास्य भवति, शेषासु तु पौरुषीषु प्रायः कायोत्सर्गेणाऽऽस्ते । जङ्घावले परिक्षीणे पुनः 'अविहरन्नि' विहारमकुर्वन्निप नापद्यते कमिप दोषम्, किन्त्वेकन्नैव क्षेत्रे सकरपिस्थितिमनुपालय-तीति १९॥ १४२४ ॥ न्यास्यातं स्थितिद्वारम् । तद्यास्याने चामिहितो जिनकरपिवहारः । अथ शुद्धपरिहारिक-यथालन्दिकविहारिवषयं विधिमतिदिशन् विशेषं च विभणिषुराह—

एसेवं कमो नियमा, सुद्धे परिहारिए अहालंदे ।

नाणत्ती य जिणेहिं, पडिवज्जइ गच्छ गच्छो य ॥ १४२५ ॥

एप एव ''पवजा सिक्खावय'' (गाथा ११३२) इत्यादिकः क्रमः शुद्धपरिहारिके यथा- कल्ययो- किन्दिके च मन्तन्यः। नवरं परिहारकल्पविषयं नानात्वं 'जिनेभ्यः' जिनकल्पिकेभ्यः सकाशात्, विधि किम् १ इत्याह—प्रतिपद्यते ''गच्छ गच्छो य'' ति गच्छद्वयं चशब्दात् तृतीयश्च गच्छः, 10 त्रयो गच्छा जघन्यतोऽप्यमुं कल्पं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः॥ १४२५॥

तवभावणणाणत्तं, करंति आयंविलेण परिकम्मं । इत्तिरिय थेरकप्पे, जिणकप्पे आवकहियाओ ॥ १४२६ ॥

तपोभावनायां नानात्वं—विशेषः, किम् १ इत्याह—कुर्वन्त्यायामाम्लेन ते भगवन्तः 'परिकर्म' अभ्यासम् । ते च द्विविधाः—इत्वरा यावत्कथिकाश्च । प्रस्तुतकलपपरिसमाप्तो ये भूयः स्थवि-15 रकलपं प्रतिपद्यन्ते ते इत्वराः, ये तु जिनकलपं ते यावत्कथिकाः ॥ १४२६ ॥

पुण्णे जिणकप्पं वा, अइंति तं चेव वा पुणो कप्पं । गच्छं वा इंति पुणो, तिनि विहाणा सिं अविरुद्धा ॥ १४२७ ॥

'पूर्णे' शुद्धपरिहारकरुपे जिनकरुपं वा आयान्ति, तमेव वा परिहारविशुद्धिकं करुपं पाल-यन्ति, गच्छं वा आगच्छन्ति पुनः । एवं त्रीण्यपि 'विधानानि' प्रकाराः ''सिं'' तेषां परिहार-20 विशुद्धिकानामविरुद्धानि ॥ १४२७ ॥

इत्तरियाणुवसग्गा, आतंका वेयणा य न भवंति । आवकहियाण भइया, तहेव छ ग्गामभागा उ ॥ १४२८ ॥

इत्वराणां गुद्धपरिहारकाणामुपसर्गा आतङ्का वेदनाश्च न भवन्ति, तत्करुपप्रभावादेव जीत-मेतत् । यावत्कथिकानां तु भाज्या उपसर्गादयः, जिनकरुपिस्थितानां तेषां तत्सम्भवात् । यथा 25 च जिनकिरुपकानां पड् प्रामभागा भिक्षाटनविषया उक्तास्तथैवामीषामपि । एवं सर्वाऽपि सामा-चारी तथैव द्रष्टव्या । विशेषः पुनर्यम्—नवपुरुषप्रमाणो गणस्तावदम्नं करुपं प्रतिपद्यते, तत्र चत्वारः परिहारिकाः, चत्वारः पुनरनुपरिहारिकाः, एकस्तु तेषां करुपिस्थितः, अनुपरिहारिकाणां करुपिस्थितस्य चैकः सम्भोगः, परिहारिकाणां प्रथक् प्रथगित्यादिका प्रक्रिया तावक्षेया यावत् पण्मासाः । (प्रन्थाप्रम्—६५०० । मूलत एवम्— १११००) ततः परिहारिका अनुपरिहा-³⁰-रिकीभवन्ति, अनुपरिहारिकाः परिहारिकत्वं प्रतिपद्यन्ते, करुपिस्थितस्तु प्राक्तन (प्रवेत्येवमपि षण्मासाः । ततः करुपिस्थितोऽपि षण्मासान् यावत् परिहारिकत्वं प्रतिपद्यते, शेषास्तु यथायोगमनु-

१ °व गमो ता॰ ॥ २ वि ठाणा सि अ ता॰ ॥ ३ °हपं परिपाल ते हे ॥

19

23

पान्हिन्तित्वं कञ्चित्वत्वं चेत्यष्टादश्भिनींनेग्यं करूपं. समाध्यत इत्यकं यमक्रेन । एतेषां हि स्वक्पिनेहेव पष्टोडेशके माध्यकृतेव न्यक्षेण वश्यते ॥ ११२८॥ अनीषानेव स्वितिनानात्वन-मिवित्युः याक्तनेव (गा० १४१२–१४) द्वारगायाद्वयनाह—

खेने काल चिर्ने, तित्ये परियाय आगमे वेए । कृष्ये लिंगे लेना, झाणे गणणा अमिगहा च ॥ १४२९ ॥ पञ्जावण मुंडावण, मणमाऽऽवन्ने वि से अणुग्याया । काग्ण निष्यद्विकस्मा, मन्तं पंथो य नह्याए ॥ १४३० ॥

अन्य समामार्थे व्यामार्थेश्च जिनकलिकद्वार इनकान्त्रव्यः ॥ ११२९ ॥ ११३० ॥ यम् यत्रं विभागत्त्रत्र नम्रान्द्रंग्यन—

खेचे मरहेखण्मु होंनि माहरणविजया नियमा । ठियकपम्मि उ नियमा, एमेव य दृविह लिंगे वि ॥ १४३१ ॥

हेरहार परिहारित मर्टेगदरयोख महीन, न विदेहेषु । त्रापि 'मंहरणविद्याः' अमी न केन विदेहेषु । त्रापि 'मंहरणविद्याः' अमी न केन विदेहेषु । त्रापि 'मंहरणविद्याः' अमी न केन विदेशित्राध्या महिल्ली । एतेन काल्हारनानान्यस्थां मन्त्राम् । त्रांचरम्— काले स्मार्पित्रानम्पर्यां वा महेर्षुः, न नीववर्षां खुत्रमपुण्यादिषु वा प्रतिमा- । एतेषु । करणहोरे—निव्यादमी खितकरंगे महीन, प्रयम्भारमीयंक्रतीर्यक्रियोग्नीयाम- महिल्ली किरहोरे—एतेषेव 'द्विविवेदिः' दृत्य-महिल्ले किर्हे निव्यादमी महिल्ली १९६१॥ व्याख्यारनानाद्यमाह—

तुछ जहना ठाणा, मंजमटाणाण पहम-वितियाणं । तना अमंत्र छोण्, गंतुं पन्हित्यिद्वाणा ॥ १४३२ ॥ ते वि अमंत्रा छोगा, अविक्छा ते वि पहम-विद्याणं । उत्रति पि ततो अमंत्रा, मंजमटाणा उ दोन्हं पि ॥ १४३३ ॥

प्रथमितियोः सम्पायित-च्यते स्थाति स्थाति स्थाति स्थातियाः स्वन्वति याति व्यवस्ताति तिति यस्यं तुर्व्यति, विश्विद्धस्यति । ततः व्यवस्यति स्थाति यातः 'अस्टेश्यत् केत्रम् गर्ना अस्टेय्यते त्रक्षण्यते स्थाने स्थाने

सहाये परिवर्ता, असेस वि होज पुट्यपरिवरी । असेस वि वर्डुना, तीयनयं बुर्चाइ पट्टा । १४३४ ॥

'स्रस्थाने' सेषु-परिहारिनशुद्धिकचारित्रसत्केषु संयमस्थानेषु वर्त्तमानः परिहारकरुपस्य प्रतिपत्तिं करोति । पूर्वप्रतिपन्नः 'अन्येप्वपि' सामायिकादिसंयमस्थानेषु स्वसंयमस्थानापेक्षया विश्चद्धतरेप्वध्यवसायविशेपाद् भवेत् । तेषु चान्येप्वपि सयमस्थानेषु वर्त्तमानोऽसावनुभूतपूर्व-परिहारिवशुद्धिकसंयमस्थानत्वाद् 'अतीतनयम्' अतीतार्थ्वाभ्युपगमपरं व्यवहार्नयं 'प्राप्य' अङ्गी-कृत्य परिहारिवशुद्धिक इति प्रोच्यते, निश्चयनयमङ्गीकृत्य पुनर्नोच्यते, संयमस्थानान्तराध्यासना- ६ दिति ॥ १४३४ ॥ गणनाद्वारे नानात्वमाह—

गणओ तिनेव गणा, जहन्न पिंचित्र सयसाँ उक्तोसा । उक्तोस-जहनेणं, सतसो चिय पुन्वपिंचन्ना ॥ १४३५ ॥

इह गणना द्विधा—गणप्रमाणतः पुरुषप्रमाणतश्च । तत्र यदा किल प्रस्तुतकल्पस्य प्रतिपत्तिः प्राप्यते तदा 'गणतः' गणप्रमाणमाश्चित्य त्रय एव गणा जधन्यतः प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य ज्ञातन्याः । 10 उत्कर्पतः 'शतशः' शतप्रथक्त्वसद्दयाका गणा अम्रं कल्पं युगपत् प्रतिपद्यन्ते । ये तु पूर्वप्रतिप- नास्ते उत्कर्पतो जधन्यतश्च 'शतग्र एव' शतप्रथक्त्वसद्ध्याका एव । नवरं जधन्यपदादुत्कृष्टपद- मधिकतरम् ॥ १४३५ ॥

सत्तावीस जहना, सहस्स उकोसतो उ पिडवत्ती । सयसो सहस्ससो वा, पिडवना जहन उकोसा ॥ १४३६ ॥

सप्ता(प्त)विंगतिः पुरुषा जघन्यतोऽस्य कल्पस्य मितपितं कुर्वन्ति, त्रिपु नवकगणेषु सप्ता-(प्त)विंशतेर्जनानां भावात् । उत्कर्पतः सहस्रप्टथक्त्वम् । पूर्वमितिपन्नास्तु जघन्यतः 'शतगः' शत-प्रथक्तवम् , उत्कर्पतः 'सहस्रगः' सहस्रप्टथक्तवम् ॥ १४३६ ॥ पुरुषममाणत एव विशोपमाह—

पडिवजमाण भइया, इंको वि उ होज ऊणपक्खेवे । पुन्वपडिवन्नया वि उ, भइया इको पुहुत्तं वा ॥ १४३७ ॥

प्रतिपद्यमानकाः पुरुषाः 'भक्ताः' विकल्पिताः । कथम् १ इत्याह—एकोऽपि भवेद्नपक्षेपे, अपिशञ्दाद् द्यादयोऽपि । इदमुक्तं भवति—पूर्णायामप्टादशमास्यां यदि केचित् परिहारिकाः कालगता जिनकल्पं वा प्रतिपन्ना गच्छं वा प्रत्यागताः, ये शेषास्ते तमेव परिहारकल्पमनुपाल्चित्रकामाः, ततो यावद्भिः प्रविष्टेर्नवको गणः पूर्यते तावन्तोऽपरे प्रवेशनीया इति कृत्वा प्रति-पद्यमानका एक-द्यादिसह्याका अपि भवेयुः । पूर्वप्रतिपन्नका अपि भाज्याः । कथम् १ इत्याह—25 एको वा भवेत् पृथक्तवं वा । इयमत्र भावना—यदि पूर्णेष्वप्टादशसु मासेष्वप्टी परिहारिवर्यु-द्विकाः कल्पान्तरं प्रतिपद्यन्ते तत एकः पूर्वप्रतिपन्नः, यदा तु केचित् कल्पान्तरं प्रतिपद्यन्ते केचित् द्यादिसह्याकास्तमेव कल्पमनुपाल्यन्ति तदा पृथक्तवं पूर्वप्रतिपन्नकानां भवतीति ॥ १४३७ ॥ गतं गणनाद्वारम् । शेषद्वाराणि तु सर्वाण्यपि जिनकल्पतुल्यवक्तव्यान्येवेत्युक्तं ग्रुद्धपरिहारनानात्वम् । सम्प्रति यथाल्व्वकल्पनानात्वमाह—

लंदो उ होइ कालो, उक्कोसगलंदचारिणो जम्हा । तं चिय मज्झ पमाणं, गणाण उक्कोस पुरिसाणं ॥ १४३८ ॥ इन्दस्तु भवति कालः, इन्द्रशब्देन काल उच्यते इत्यर्थः । स पुनिस्निधा—जघन्य उत्कृष्टो मञ्चमश्च । यावता कार्ठनोद्यार्टः करः शुष्यित तावान् जवन्यः, उत्हृष्टः पञ्च गित्रिन्द्रिण्नीः, वयन्यादृद्धेमुक्तृष्टाद्वीक् सर्वोऽित मञ्चमः। इह् चोक्र्ष्यन्त्रदेनाविकारः। तथा चाह—'उक्त्रप्ट-लन्द्वारिणः' उक्त्रप्टं लन्दं-पञ्चगत्रत्यमेकस्यां वीध्यां चरणशीन्य यसात्, ततोऽमी 'उक्त्रप्ट-लन्दानिकमो ययाजन्दम्, तद्रम्येपान्' इति व्युत्पत्त्या यथाजन्दिका उच्यन्ते । 'तदेव च' उल्द्यानं 'मध्यमं' त्रिक्त्वक्षणनमीपां गण्यमाणम्, त्रयो गणा अन्तं कर्त्रं प्रतिपद्यन्त इन्ययः। 'तदेव च' लन्द्रमानमुक्त्र्ष्टं पञ्चत्रान्यक्रमेकेकस्य गणस्य पुत्पाणां प्रमाणं द्रष्टव्यम्, एकेकिन्मिन् गणे पञ्च पञ्च पुत्रा मद्यनीति मावः॥ १४३८॥

ज बेव य जिणकच्ये, मेग सा चेव लंदियाणं पि । नाणत्तं पुण मुने, मिक्खायरि मामकच्ये य ॥ १४३९ ॥

10 वेव च जिनकले 'मर्गेता' मामाचारी मणिता तुलनादिका मैव यथायन्दिकानामपि मन्त्रया । नानात्वं पुनः सुत्रे मिक्षाचर्यायां मासकले चछन्दात् प्रमाण चेति ॥ १४३९ ॥

तत्र मृत्रे दावद् नानान्त्रमियानुमाह—

पहित्रद्वा इअरं ति य, इक्तिका ने जिणा य थेग य । अत्यस्य उ देसम्मी, असमने नेनि पडितंथो ॥ १४४० ॥

15 यथानित्का द्विया—गण्डणित्वद्वा इतरे च । युनरेकेके द्वितियाः—जिनाश्च स्वितिश्चे । तत्रं ये प्रस्तुतकल्पारिसमातों जिनकल्पं प्रतिप्रस्तने ते जिनाः, ये तु स्विरकल्पं स्यः समाध्यियने ते स्वित्ताः । अय क्रुतोऽनीपां गण्डिविषयः प्रतिवन्तः ? इत्याह्—'अर्थस्य [तु]' त्रुव्वस्थावयाग्णार्थन्तद्र्यस्य न स्वत्रस्य देशः—एकदेशोऽद्याप्यसमानः—न गुरुसनीपं गृहीत इति जिल्ला ब्रहीत्व्ये सित तेषां गण्डे प्रतिवन्तः । आह तमर्थदेशं समाप्यानी विविश्वतः १०कर्षं कि न प्रतिप्रचन्ते ? उच्यते—त्रानीं हि स्वान्योग-वन्त्रकर्त्वानि प्रक्तानि वर्तन्ते अस्यानि च प्रवत्त्वकर्तानि दृरकास्वर्तानि, न वा त्यासन्यानि, तत्तोऽनी अगृहीतेऽत्यर्थदेशे तं कस्यं प्रतिप्य गुवैविष्टितक्षेत्राद्व विद्यानित्वा विश्वितन्त्रात्वानित्वा अगृहीत्वर्भयदेशे गृहितः । अय सिक्षाचर्णयां नानान्तन्—प्रानं यहर्वायीः परिकल्प्येकेकस्यां द्वाय्यां प्रवातिनित्वाने पर्यदित्तिमनीसकल्यः समास्यते । मासक्रयविषयं तु नाना-१५ व्यविष्याद्वन्य मिनस्यते ॥ १४४०॥

अथ स्वित्यमां जिनानां च यथात्रन्तिकानां परम्परं कः प्रतिविद्यमाः ? उच्यने— येगानं नाणानं, अनरंतं अप्पिणंति गच्छस्म । ते वि य में फासुएपं, करिति सर्व्यं तु पडिकम्मं ॥ १४४१ ॥ प्रेड्डपडिन्गह्गा, सप्पादर्णा ह्वंति येराओ ।

विष्य मि जिणक्रये, मय तेमि वत्य-पायाणि ॥ १४४२ ॥
सैतिरत्रस्य अन्दिक्षां 'नानर्जं विशेषोऽयम्—'अतरनं' स्कृत्य अग्रह्मनतं निर्व १ श्वा ये जिनक्षयं प्रतिपत्स्यन्ते ते जिनाः, इतरे स्विताः। अयः नः ॥ २ स्वितिस् यधारुन्दिकानां 'नानान्वं' विशेषोऽयम्—'अतरन्जेः अग्रह्मननं-न्छानीसृतं स्वसार्खं साधुं गच्छस्यार्पयन्ति । 'तेऽपि च' गच्छवासिनः ''से'' तस्य यथारुन्दिकग्छानस्य प्राशुकेनान्ना-दिना सर्वमेव प्रतिकर्म कुर्वन्ति । जिनकल्पयथारुन्दिकास्तु निष्प्रतिकर्माणः, ततो ग्छानीभूता अपि न चिकित्सादि कारयन्ति । तथा ये स्थिवरा यथारुन्दिकास्ते 'एकैकप्रतिप्रह्काः' प्रत्येक-मेकप्रतिप्रहोपेताः 'सप्रावरणाः' सवस्त्राश्च भवन्ति । ये पुनरमीषां मध्ये जिनकल्पे भविष्यन्ति तेषां 'भाज्ये' विकल्पनीये वस्त्र-पात्रे, यदि पाणिपात्रमोजिनः प्रावरणरहिताश्च जिनकल्पिका मिविष्यन्ति तदा वस्त्र-पात्रे न गृह्णन्ति, शेपास्तु यथोचितं गृह्णन्ति ॥ १४४१॥ १४४२॥

अथ प्रमाणनानात्वं भावयति--

गणमाणओ जहन्ना, तिनि गण सयग्गसो य उक्कोसा । पुरिसपमाणे पनरस, सहस्ससो चेव उक्कोसा ॥ १४४३ ॥

'गणमानतः' गणमानमाश्रित्य जघन्यतस्त्रयो गणाः, उत्कर्षतस्तु 'शतायशः' शतपृथक्तं 10' गणा अम्रं कल्पं प्रतिपद्यन्ते । पुरुषप्रमाणे तु जघन्यतः पञ्चदश पुरुषा अस्य कल्पस्य प्रतिपद्य-मानकाः, त्रिषु पञ्चकगणेषु जघन्यतः प्रतिपद्यमानेषु पञ्चदशजनाना भावात् । उत्कर्पतः पुरुषप्र-माणं 'सहस्रशः' सहस्रपृथक्तवम् ॥ १४४३ ॥ अत्रैव विशेषमाह—

पिडवज्जमाणगा वा, एकादि हवेज ऊणपक्खेवे । होंति जहना एए, सयग्गसो चेव उक्कोसा ॥ १४४४ ॥

L5

प्रतिपद्यमानका एते जघन्या एकादयो वा भवेयुन्यूनप्रक्षेपे सित, यदा ग्लानत्वादिवशतो गच्छस्य स्वसाधुसमर्पणादिना तेपां न्यूनता भवित तदैकादयः साधवस्तत्र प्रवेश्यन्ते येन पञ्चको गच्छः पूर्यत इत्यर्थः । तथा 'शताय्रशः' शतसद्ध्याः पुरुषा न्यूनप्रक्षेपे उत्कर्पतः प्रतिपद्यमानका भवित ॥ १४४४ ॥ पूर्वप्रतिपन्नानां मानमाह—

पुन्वपडिवन्नगाण वि, उक्कोस-जहन्नसो परीमाणं। कोडिपुहुत्तं भणियं, होइ अहालंदियाणं तु ॥ १४४५॥

20

पूर्वप्रतिपन्नानामप्युत्कर्षतो जघन्यतश्च परिमाणं कोटिप्रथक्तवं यथालन्दिकानां भवति, महा-विदेहपञ्चके जघन्यपदवर्त्तिनः कर्मभूमिपञ्चदशके चोत्कर्षपदवर्त्तिनः कोटिप्रथक्त्वस्यामीषां प्राप्य-माणत्वात् । भणितमेतद् भगवद्भिरिति ॥ १४४५ ॥ गतो यथालन्दकलपविहारः । अथ गच्छ-वासिनां मासकलपविधिमभिधित्युः प्रस्तावनार्थ प्राक्तनीमेव (गा० ११३२) मूलद्वारगाथामाह—— 25

पन्वजा सिक्खापय, अत्थग्गहणं च अनियओ वासो । निष्फत्ती य विहारो, सामायारी ठिई चेव ॥ १४४६ ॥

गच्छवा-सिना मास-कल्पविधिः

गच्छस्यार्पयन्ति । 'तेऽपि च' गच्छवासिनः ''से'' तस्य ग्लानस्य प्राशुकेनान्नादिना कुर्वन्ति सर्वमेव 'प्रतिकर्म' प्रतिजागरणम् , जिनकल्पं प्रतिपत्तुकामास्तु नात्मीयं ग्लानं गच्छ-स्यार्पयन्तीति भावः । तथा ये स्थविरा यथा° भा० ॥ ३ ग्लानं गच्छस्या° त० डे० का० ॥

१ °णाः प्रतिपद्यमानकाः । पुरुप° मो॰ हे॰ विना ॥ २ °पाः, पञ्चको हि गणोऽमुं कर्लं प्रतिपद्यते, गणाश्च जघन्यतस्त्रयः, ततः पञ्च त्रिभिग्रीणिताः पञ्चदश भवन्ति । उत्क° मा॰ । °पाः, त्रिष्ठ पञ्चकगणेषु पञ्चदशजनानां त॰ डे॰ का॰ ॥ ३, °तमेव भ् भा॰ त॰ विना ॥

बु॰ ५५

अत्र प्रवच्यादीनि पञ्च द्वागांग यथा जिनकरुग्द्वारे तथाऽत्रापि मन्तव्यानि ॥ १२४६ ॥ अय विद्यारद्वागविषयं विधिमीमीयन्तुगद्

> निष्कित्ति कृणमाणा, थेरा विद्तंति तेनिमा मेरा । आयरिय उवन्हाया, मिक्न्बु थेरा य खुड्डा य ॥ १४४७ ॥

इ. शिष्णणो निर्मात दुर्वन्तः 'स्थितगः' गच्छ्यामितः सावतः 'विद्यान' अथ्नियदं विद्यारं विद्याने । नेशं चेग्यं विद्यानियं 'सर्योद्य' सानास्याने । नत्र गच्छ्यामिननावन् पर्वविद्याः, दुरुया—शास्याये दगच्याया निर्देशः स्वित्यः शुरुष्ठमञ्जेति ॥ १४४७ ॥ व्याप्यानियम्बन्तो, मण्डानिसनियाविद्या अ मानविद्या ।

ភ

नोपरंस्यते पन्थानः कर्दमदुर्गमाश्च मविष्यन्तीत्यतिशयज्ञानवशेन परिज्ञाय 'तेन' कारणेन 'अप्राप्ते' चातुर्मासिके निर्गच्छन्ति । निर्गमनकालं च ज्ञात्वा 'प्रतिचरकान्' क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान् तथा प्रेषयन्ति यथा तेष्वायातेषु सत्सु निर्गमनकारु उपढौकते ॥ १४५२ ॥ तच क्षेत्रं द्विधा— दृष्टपूर्वमदृष्टपूर्वं च, उभयमि नियमात् प्रत्यपेक्षणीयम्, कुतः १ इति चेद् उच्यते—

अप्पडिलेहियदोसा, वसही भिक्खं व दुल्लहं होजा। वालाइ-गिलाणाण व, पाउग्गं अहव सब्झाओ ॥ १४५३ ॥

अप्रत्युपेक्षिते क्षेत्रे गच्छतामेते दोषाः सा पूर्वदृष्टा वसतिः स्फेटिता पतिता वा भवेत्, अन्ये वा साधवस्तस्यां स्थिता भवेयुः, भैक्षं वा दुर्रुभं भवेत्, दुर्भिक्षादिभावाद् बालादीनां ग्लानानां वा प्रायोग्यं दुर्लभं भवेत्, खाध्यायो वा दुर्लभः स्यात्, मांस-शोणितादिभिरखाध्या-यिकैराकीर्णत्वात् ॥ १४५३ ॥ यतश्चैवमतः कि विधेयम् ² इत्याह-10

तम्हा पुन्ति पिडलेहिऊण पच्छा विहीए संकमणं। पेसेइ जइ अणापुच्छिउं गणं तितथमे दोसा ॥ १४५४ ॥

तसात् पूर्वं प्रत्यपेक्ष्य क्षेत्रं पश्चाद् विधिना सङ्गमणं तत्र कर्तन्यम् । अथाप्रत्यपेक्षिते व्रजन्ति ततश्चतुर्लघु, आज्ञामज्ञे चतुर्गुरु, अनवस्थायां चतुर्लघु, मिथ्यात्वे चतुर्लघु, यद् वा संयमविराध-नादिकं प्राप्तुवन्ति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । यदि पुनराचार्यः 'गणं' गच्छमनाप्टच्छ्य क्षेत्रप्रत्युपे-15 क्षकान् प्रेषयति तदा मासल्छु । 'तत्र' गणमनाप्टच्छच प्रेषणे इमे दोषाः ॥ १४५४ ॥

तेणा सावय मसगा, ओमऽसिवे सेहइत्थि पडिणीए। थंडिछ वसि उद्दाण एवमाई भवे दोसा ॥ १४५५ ॥

स्तेना द्विविधाः - शरीरस्तेना उपिधस्तेनाश्च, 'श्वापदाः' सिंह-व्याघादयः 'मशकाः' प्रतीताः 'अवमं' दुर्भिक्षं 'अशिवं' व्यन्तरकृत उपद्रव·, शैक्षस्य वा तत्र सागारिकः स्त्रियो वा मोहोद्रेक-20 बहुलाः साधूनुपसर्गयन्ति, प्रत्यनीको वा कोऽप्युपद्रवति, स्थण्डिलानि वा तत्र न विद्यन्ते, वस-तिर्वा नास्ति, "उद्घाणे" त्ति उत्थितः—उद्घसितः स देशः, एवमादयस्तत्रापान्तराले पथि गच्छतां दोषा भवन्ति ॥ १४५५ ॥ तत्र स्थाने प्राप्तानां पुनरिमे दोषाः---

पचंत तावसीओ, सावय दुब्भिक्ख तेणपउराई । नियग पउडुट्ठाणे, फेडणया हरियपत्ती य ॥ १४५६ ॥ स प्रामः 'प्रत्यन्तः' म्लेच्छाद्युपद्रवोपेतः, तापस्यो वा तत्र प्रचुरमोहाः संयमात् परिश्रंश-यन्ति, श्वापदमयं दुर्भिक्षमयं स्तेनप्रचुराणि च तानि क्षेत्राणि, शैक्षस्यान्यस्य वा कस्यापि साधो-स्तत्र 'निजकाः' खजनास्ते तमुत्प्रवाजयन्ति, 'प्रद्विष्टो वा' प्रत्यनीकस्तत्र साधूनुपद्रवति, उत्थितो वा स ग्रामः, स्फेटिता वा सा वसतिः, 'स्फेटितानि वा' विपरिणामितानि तानि कुलानि येषां निश्रया तत्र गम्यते । आह च चूर्णिकृत्-

फेडियाणि वा ताणि कुलाणि जेसिं निस्साए गम्मइ ति । ''हैरियपत्ती य'' ति हरितपत्रशाकं बाहुल्येन तत्र भक्ष्यते । अथवा तत्र देशे केषुचिद् गृहेषु १ °यमेन प्र° डे॰ ॥ २ °लादि वा तत्र न विद्यते मो॰ छे॰ ॥ ३ "हरितपण्णी पिक्षच्छायं

तं' मदेन घूणिंतंचेतनं सत् सुखं 'हन्तुं' विनाशयितुम्, सुखेन तद् व्यापाद्यत इति भावः । उक्तश्र—

> अतिरागप्रणीतान्यतिरमसक्ततानि च । तापयन्ति नरं पश्चात्, कोधाध्यवसितानि च ॥ '

यतश्चैवमतः सर्व एव मिलिताः सन्तः प्रष्टन्याः ॥ १४५९ ॥ अत्रैव प्रायश्चित्तमाह—

आयरियअवाहरणे, मासो वाहित्तऽणागमे लहुओ।

वाहित्ताण य पुच्छा, जाणगसिट्ठे तओ गमणं।। १४६०।।

आचार्या गणं न व्याहरिनत—नामन्नयन्ते मासलघु । शिष्य-प्रतीच्छक-तरुण-स्विराणामन्य-तमान् निशेष्यामन्नयन्ते तदाऽपि मासलघु । तेऽपि च व्याहृताः सन्तो यदि नागच्छिन्ति तदाऽपि मासलघु । व्याहृत्य च सर्वमिष गणं पृच्छा कर्त्तव्या, यथा—कतरत् क्षेत्रं प्रत्युपेक्षणीयम् १ । १० ततो ज्ञायकेन—क्षेत्रखरूपज्ञेन शिष्टे—कथिते सित गमनं क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैः कर्त्तव्यम् ॥ १०६० ॥

आमन्रणस्येव विधिमाह—

थुइमंगलमामंतण, नागच्छइ जो व पुच्छिओ न कहे। तस्सुवरिं ते दोसा, तम्हा मिलिएसु पुच्छिजा॥ १४६१॥

आवश्यके समापिते 'स्तुतिमङ्गलं कृत्वा' तिस्नः स्तुतीर्दत्त्वेति भावः । सर्वेषामि साधूना- 15 मामन्नणं कर्त्तव्यम् । कृते चामन्नणे यः कश्चिद् नाऽऽगच्छिति आगतो वा क्षेत्रस्रह्मपं पृष्टः सन् न कथयित तदा मासलघु, तथा तस्योपिर 'ते दोषाः' स्तेन-धापदादयो भवन्ति ये तत्र गतानां भविप्यन्ति । तसाद् मिलितेपु सर्वेष्विप पृच्छेत् , उपलक्षणत्वात् सर्वेऽिप च कथयेयुः ॥१४६१॥ अत्रैव मतान्तरमुपन्यस्य दूषयन्नाह—

केई भणंति पुन्ति, पिंडलेहिय एवमेव गंतन्वं । तं तु न जुज़इ वसहीफेडण आगंतु पिंडणीए ॥ १४६२ ॥

20

केचिद् भणन्ति—'पूर्व' प्राक् प्रत्युपेक्षिते क्षेत्रे एवमेव गन्तव्यम् न पुनस्तत्र क्षेत्रप्रत्युपे-क्षकाः प्रेषणीया इति, तत् तु 'न युज्यते' न घटते । कुतः ' इत्याह—वसतेः कदाचित् स्फेटनं कृतं भवेत्, आगन्तुको वा प्रत्यनीकस्तत्र सम्भवेत्, अतः पूर्वदृष्टमपि क्षेत्रं प्रत्युपेक्षणीयम् ॥ १४६२ ॥ अथ कथं प्रष्टव्यम् ' इत्याह—

कयरी दिसा पसत्था, अग्रुगी सन्वेसि अणुमए गमणं। चडिदिसि ति दु एकं वा, सत्तग पणगे तिग जहने॥ १४६३॥

यदा सर्वेऽिप साधवो मिलिता भवन्ति तदा गुरवो द्युवते—आर्थाः ! पूर्णोऽयमसाकं मास-कल्पः, क्षेत्रान्तरं सम्प्रति प्रत्यपेक्षणीयम्, अतः कतरा दिक् साम्प्रतं प्रशस्ता । ते द्रुवते— 'अमुका' पूर्वादीनामन्यतमा । एवं सर्वेषां यद्यसौ 'अनुमता' अभिरुचिता तदा गमनं कर्तव्यम्। ३० प्रथमं चतस्रुव्विप दिक्षु, अथ चतुर्थ्यां कोऽप्यशिवाद्यपद्रवस्ततिसम् दिक्षु, तद्मावे द्वयोर्दिशोः, तद्सत्येकस्यां दिशि गच्छन्ति । ते चैकैकस्यां दिश्युत्कर्षतः सप्त व्रजन्ति, सप्तानाममावे पञ्च, जवन्येन तु त्रयः साघवो नियमाट् गच्छन्ति ॥ १४६३ ॥

तत्र च ये आमिप्रहिकाः—क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रतिपन्नाभिष्रहास्ते स्वयमेव गुरूनाष्ट्रच्छ्य गच्छन्ति । अथ न सन्त्याभिष्रहिकान्त्रनः को त्रिधिः १ इत्याह—

दलगंत. योग्या श्र-योग्याश्र क्षेत्रप्रम्यु-पेक्षका वेयावचगरं वाल गुहु खमयं वहंतऽगीयत्यं । गणवच्छेह्अगमणं, तन्स व असती य पहिलोमं ॥ १४६४ ॥

वैयावृत्यकरं १ वालं २ वृद्धं ३ क्षपकं ४ 'वहन्तं' योगवाहिनं ५ अगीतार्थं ६ एतान् न क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय व्यापारयेन् , किन्तु गणावच्छेदकस्य गमनं भवति । तस्य वाशव्दादपरस्य वा गांतार्थस्य 'असिन' अमार्वे 'प्रतिन्तोमं' प्रतीपक्रमेण पश्चानुपृद्धेत्यर्थः, एनानवागीनार्थमादिं कृत्वा व्यापारयेदिति सङ्गह्नाथासमासार्थः ॥ १४६४ ॥

10 अर्थनामेव विवरीषुः प्रथमतः प्रायश्चित्तमाह—

आइतिए चउगुरुगा, लहुओं मामो उ होइ चरिमतिए। आणाइणो विराहण, आयरियाई मुणयव्या ॥ १४६५॥

'आदित्रिके' वैयावृत्त्यकर-बान्छ-बृद्धेन्छले। व्यापार्यमाणे चत्वारो गुरुकाः । 'चरमत्रिके तु' अपक्र-योगबाहि-अर्गानार्थन्छणे रुषुको मामः । आज्ञाद्यश्च दोषाः, विराधना चाऽऽचार्या-१६ दीनां ज्ञातव्या ॥ ११६५ ॥ तामेव मावयति—

> ठवणक्कले व न साहद्द, सिद्धा व न दिति जा विराहणया । परितावणमणुकंपण, तिण्हऽसमत्यो भवे खमश्रो ॥ १४६६ ॥

वैयाद्यस्यकरः प्रेप्यमाणो रूयति । रुपितश्च यान्याचार्याद्रियायोग्यदायकानि स्थापनाकुरुनि वानि न क्ययति । 'शिष्टानि वा' कथिवानि परं वानि तस्यव उद्गति नान्यस्य, तेन मावित10त्वात् तेपाम् । नवोऽरुप्यमाने प्रायोग्ये या काचिदात्मनो ग्रानार्टानां वा विराधना विविष्यकमाचार्यस्य प्रायश्चित्तम् । अय क्षपकं प्रेपयति वतो यदसो जीवा-ऽऽतपादिना परिवाप्यते विकिष्पन्नम्, देववा वा काचिन् क्षपक्रमनुकम्पमाना स्तृष्ठ क्षेत्रेऽपि मक्त-पानमुत्पाद्यति, रुनेको वा
अपक इति कृत्वा वस्यानुकम्पया सवमेषि द्वानि नान्यस्य, तपः क्षामकुक्षिश्चासा तिस्रणां
गोचरचर्याणामनमर्थ इति ॥ १९६६ ॥ शास्त्रहारमाह—

²⁵ इीनेज व खेलेज व, कज़ा-क्कंज ने याणई वाली । मा व अणुकंपणिज़ो, न दिति वा किंचि वालस्म ॥ १४६७ ॥

हियेत वा मेञ्च्छादिना, खेळयेद् वा चेटरूपैः सार्द्धम् , 'कार्या-ऽकार्यं च' कर्तच्या-ऽकर्तव्यं न जानाति वाछः । 'स वा' वाछः खमावत एवानुकम्पनीयो मवति ततः सर्वोऽपि छोकस्तस्य मक्त-पानं प्रयच्छिति । स चागत्याचार्याय कथयति—यथा मवेमपि प्रायोग्यं तत्र प्राप्यते । १० ततान्द्वचनादागतस्त्र गच्छः, यावत्र किञ्चिद् छम्यते । न ददति वा किञ्चिद् वालाय छोकाः, परामवनीयतया दर्शनात् ॥ १७६७ ॥ वृद्धहारमाह—

२ न जाणप याखो वा॰॥

बुड्ढोऽणुकंपणिकों, चिरेण न य मर्गा थंडिले पेहे। अहवा वि वाल-बुड्डा, असमत्था गीयरतियस्स ॥ १४६८॥

'वृद्धः' परिणतवया अनुकम्पनीयो लोकस्य भवति, ततश्चायं सर्वत्रापि लमते नापरः । तथा स मन्दं मन्दं गच्छन् चिरकालेनोपैति, न च 'मार्ग' पन्थानं स्थण्डिलानि च प्रत्युपेक्षते ।

अथवा बाल-वृद्धावसम्थी 'गोचर्त्रिकस्य' त्रिकालभिक्षाटनस्येति ॥ १४६८॥ योगवाहिद्धारमाह—5

तूरंतो व न पेहे, गुणणालोभेण न प चिरं हिंडे । विगई पडिसेहेई, तम्हा जोगिं न पेसिजा ॥ १४६९ ॥

योगवाही 'श्रुतं मम पठितव्यं वर्त्तते' इति त्वरमाणः सन्नपान्तराले पन्थानं न प्रत्युपेक्षते । गुणना—परावर्त्तना तस्या लोमेन चिरमसौ भिक्षां न हिण्डते । लम्यमानामपि 'विक्वतिं' घृतादि-कामसौ प्रतिपेधयति । तस्माद् योगिनं न प्रेपयेत् ॥ १४६९ ॥ अगीतार्थद्वारमाह—— 10

पंथं च मास वासं, उवस्सयं एचिरेण कालेण।

एहामो त्ति न याणइ, अगीतों पडिलोम असतीए ॥ १४७० ॥

अगीतार्थः 'पन्थानं' मार्ग 'मासं' मासकल्पविधि 'वासं' वर्षावासविधि 'उपाश्रयं' वसिने-तानि परीक्षितुं न जानाति । तथा शय्यातरेण पृष्टः 'कदा यूग्रमागमिष्यथ ' ततोऽसौ ज्ञवीति— 'इयता कालेन' अर्द्धमासादिना वयमेष्याम इत्येवं वदतो यः खल्वविधिमापणजनितो दोपताम-15 गीतार्थो न जानाति । यत एवमतः प्रथमतो गणावच्छेदकेन गन्तव्यम् । तस्याभावेऽपरोऽपि यो गीतार्थः स व्यापारणीयः । तस्यापि 'असित' अभावे 'प्रतिलोमं' पश्चानुपूर्व्या एतानेवागीतार्थ-मादिं कृत्वा प्रेषयेत् ॥ १४७० ॥ केन विधिना ' इति, चेद् उच्यते—

> सामायारिमगीए, जोगिमणागाढ खमग पारावे । वेयावचे दायण, जुयल समत्थं व सहियं वा ॥ १४७१ ॥

अगीतार्थः ओघनिर्युक्तिसामाचारी कथित्वा प्रेषणीयः । तद्मावे 'अनागाढयोगी' बाह्य-योगवाही योगं निक्षिप्य प्रेप्यते । तस्याप्यभावे क्षपकः, तं च प्रथमं 'पारयेत्' पारणं कारयेत् , ततो 'मा क्षपणं काणीः' इति शिक्षां दत्त्वा प्रहिणुयात् । तस्याप्यभावे वैयावृत्त्यकरः प्रेप्यते । "दायण" ति स वैयावृत्त्यकरो वास्तव्यसाधृनां स्थापनाकुलानि दर्शयति । ततो वाल-वृद्धयुगलम् , क्थन्मृतम् ? 'समर्थ' दृढशरीरम् , वाशव्दो विकल्पार्थः, 'सिहतं वा' वृषभसाधुसमन्वितम् । इत्थमादिष्टैस्तैः 25 रोषसाधृनां स्वमुपधिं समर्प्य परस्परं क्षामणां कृत्वा गमनकाले म्योऽपि गुरूनापृच्छ्य गन्त-व्यम् । यदि नापृच्छन्ति तदा मासल्धु । तो चाविश्यकी कृत्वा निर्गच्छन्ति ॥ १४७१ ॥

कियन्तः ? कथं च ? इत्याह---

तिनेत्र गच्छवासी, हवंतऽहालंदियाण दोनि जणा ।

गमणे चोद्गपुच्छा, थंडिलप्डिलेह्ऽहालंदे ॥ १४७२ ॥ जधन्यतस्त्रयो गच्छवासिनो जना एकैकस्यां दिशि व्रजन्ति । यथालन्दिकानां तु गच्छपति-बद्धानां द्वौ जनावेकस्यां दिशि क्षेत्रप्रत्युपेक्षकौ गच्छतः । श्लेपासु तिसपु दिश्च।गच्छवासिनामा-चार्या आदिशन्ति, यथा—यथालन्दिकानामपि योग्यं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षणीयम् । द्वोपां च गमने

क्षेत्रप्रत्यु-20 पेक्षाकृते

गमन-

अपवादतः क्षेत्रप्रत्यु-

पेक्षका

विधि प्र-त्युपेक्षणी-यस्य च निह्नपणा

30

यक्षिते नोदकपृच्छा वक्तव्या । स्विण्डिटपद्धेपेक्षणं ययाङिन्दिकानां वाच्यम् ॥ १९७२ ॥ तत्र गमनद्वारं विवृणोति---

पंयुचारं उद्द्, ठाण भिक्लंतरा य वमहीओ । नेणा मात्रय वाला, पचात्राया य नाणविदी ॥ १४७३ ॥

७ 'पन्थानं' नार्ग ''उचारं' ति उच्चार-प्रथनणमृभिक, ''उदारं' ति पानकस्थानानि येषु वाला-दियोत्यं प्राशुंकपणीयं पानकं लम्यन, ''ठाणं' ति विश्वामस्थानानि, "मिकलं' ति येषु येषु प्रदेशेषु मिला प्राप्यतं न ना, अन्तरा-अन्तराले वसतय -प्रतिथ्रयाः सुरुमा हुर्छमा ना, स्तेनाः श्वापत्रा व्यालाश्च यत्र मन्ति न ना, प्रत्यपायाश्च यत्र दिना रात्रा ना मनन्ति, तदेतन् मन् सम्यग् निरुपयद्भिगेन्तव्यन् । यानं-गमनं तस्य विधिरयं द्रष्टव्य इति ॥ १९७३ ॥

10 इद्रमेव व्याचिन्त्रासुराह्—

वावारिय सच्छंदाण वा वि नेमिं हमा विही गमणे। दन्त्रे खेने काले, मावे पंथं तु पहिलेहे॥ १४७४॥

'त्र्यापारिताः' आचार्येण नियुक्ताः 'खच्छन्दाः' नाम ये आनिम्रहित्राः, नेपानुसयेपानप्ययं गमने विधिः । तम्रया—द्रव्यतः क्षेत्रतः काल्ता सावतश्च पन्यानं प्रस्यपेक्षन्ते ॥ १८७८ ॥

15 कथन् ? इत्याह—

कंटम तेणा वाला, पहिणीया सावया य द्व्वस्मि । सम विसम उद्य थंडिल, मिक्यायरियंतन खेते ॥ १४७५ ॥ दिय राओं पचवाए, य जाणई सुगम-दुग्गमे काले । मावे सपक्छ-परपक्खेपेछणा निण्हगाईया ॥ १४७६ ॥

29 द्रज्यतः कण्टकाः नेता व्यासा प्रत्यनीका श्वायताश्च पथि प्रन्युपेङ्णीयाः । क्षेत्रतः 'समः' गिरिकन्दरा-प्रपात-निक्षोन्नतरहितः पन्याः, 'नियम ' तिद्वपर्गतः, ''उद्ग' ति पानीयबहुस्रो मार्गः, स्रिष्टिस्रोनि मिक्षाचर्या तथा 'अन्तर्ग' अपान्तरास्त्रे वसनयः ॥ १२७५ ॥

कालते दिवा गरें। वा यत्यायान् जानानि, यथा—अत्र दिवा यत्याया न रात्री, अत्र तु रात्रे। न दिवेति; यहा दिवा गरें। वार्ष्य पन्या. युगमें। दुर्गमें। वा । भावतः न्वरक्षेण पर्पक्षेण वा ध्रेपितः—आकान्ते। इसं प्रामः पन्या वा न विनि । अथ कः पुन. न्वरक्ष. को वा पर्पक्षः १ इत्याह— ''निम्हगाईय' नि निहव-पार्श्वस्थादयः साबुलिक्षयारिणः न्वरक्षः, आदिग्रहणात् चरक-परिम्राज-कादयः परण्यः । एवं प्रत्युपेक्षमाणात्यावद् मजन्ति यावद् विविध्वनक्षेत्रं प्राप्ताः ॥ १४७६ ॥ उक्तं गमनद्वारम् । अथ नोदकपुच्छाद्वारमाह—

मुनन्याणि करिने, न व नि वर्षनगाउ चोएइ।

थ्ये न करिति मा हु चायग !, गुरुण निह्आह्आ दोमा ॥ १४७७ ॥ पेग नीद्यति—केत्रप्रस्थेकका त्रस्तः कि मृत्रायी छुक्ते न वा १। गुरुगह—न हुर्वन्ति, मा मृत्रन् गुरुपां निस्यवास्त्रयो दोषा. । अदी बदि मृत्रपार्सी हुर्वन्ति नदा मामल्ख, अर्थ- पेशिय्यो मामगुरु ॥ १४७० ॥

"थंडिलपडिलेहऽहालंदे" (गा० १४७२) ति पदं व्याख्यानयति— सुत्तत्थपोरिसीओ, अपरिहवंता वयंतऽहालंदी। थंडिल्ले उवओगं, करिंति रित्तं वसंति जिहें।। १४७८।।

यथारुन्दिकाः सूत्रार्थपौरुप्यावपरिहापयन्तो विहारं भिक्षाचर्या च तृतीयस्यां पौरुप्यां कुर्वाणा व्रजन्ति । यत्र च रात्रौ वसन्ति तत्र 'स्थण्डिले' कालग्रहणादियोग्ये उपयोगं कुर्वन्ति ॥ १४७८ ॥ 5 केन विधिना गच्छवासिनस्तत्र क्षेत्रे पविशन्ति ? इत्याह—

> सुत्तत्थे अकरिता, भिक्खं काउं अइंति अवरण्हे । बीयदिणे सन्झाओ, पोरिसि अद्धाए संघाडो ।। १४७९ ॥

सूत्रार्थावकुर्वन्तः मस्तुतक्षेत्रासन्ने यामे मिक्षां कृत्वा समुद्दिस्य अपराह्ने विचारमूमिस्थण्डिरुनि प्रखुपेक्षमाणा विविक्षतं क्षेत्रं "अइंति" ति प्रविशन्ति । ततो वसितं गृहीत्वा तत्रावश्यकं कृत्वा 10 कारुं प्रत्युपेक्ष्य प्रादोषिकं खाध्यायं कृत्वा पहरद्वयं शेरते । ये तु न शेरते तेऽर्द्धरात्रिक-वैरात्रिक-कालद्वयमपि गृह्णन्ति । ततः प्राभातिकं कालं गृहीत्वा द्वितीयदिने खाध्यायः कर्त्तव्यः । ततोऽ-र्द्धीयां पौरुष्यामतिकान्तायां सङ्घाटको मिक्षामटित ॥ १४७९ ॥ एतदेवाह—

> वीयार भिक्खचरिया, बुच्छाणऽचिरुगगयम्मि पडिलेहा । चोयग भिक्खायरिया, कुलाइँ तहुवस्सयं चेव ॥ १४८० ॥

15

विचारभूमी प्रथममेवाऽपराहे प्रत्यपेक्षणीया । ततो रात्रावुषितानामचिरोद्गते सूर्ये अर्द्धपौ-रुप्यां भिक्षाचर्यायाः प्रत्युपेक्षणा भवति । अत्र नीदकः प्रश्नयति—किमिति पातरारभ्य भिक्षा-चर्या विधीयते । सूरिरमिदधाति—एवं भिक्षाचर्या कुर्वाणाः 'कुलानि' दानकुलादीनि तथोपा-श्रयं च ज्ञास्यन्तीति समासार्थः ॥ १४८० ॥ अथैतदेव व्याच्छे—

बार्ल बुह्वे सेहे, आयरिय गिलाण खमग पाहुणए।

20

तिनि य काले जहियं, भिक्खायरिया उ पाउँगा।। १४८१।। षष्ठी-सप्तम्योरर्थं प्रति अभेदाद् बालस्य वृद्धस्य शैक्षस्य आचार्यस्य ग्लानस्य क्षपकस्य प्राघूर्ण-कस्य च 'प्रायोग्या' तदनुकूलप्राप्यमाणभक्त-पानी- 'त्रीनिप' पूर्वीह्न-मध्याह्न-सायाह्नलक्षणान् कालान् यत्र भिक्षाचर्या भवति तत् क्षेत्रं गच्छस्य योग्यमिति गम्यते ॥ १४८१ ॥

कथं पुनस्तत् प्रत्युपेक्ष्यते ? इत्याह---

खेत्तं तिहा करित्ता, दोसीणे नीणितम्मि उ वयंति। अनोने वहुल हे, थोवं दल मा यं रूसिझा ॥ १४८२ ॥

क्षेत्रं 'त्रिधा' त्रीन् भागान् कृत्वा एकं विभागं प्रत्युषसि पर्यटन्ति, द्वितीयं मध्याहे, तृतीयं सायाह्रे । तत्र यत्र प्रातरेव भोजनस्य देशकालस्तत्र प्रथमं पर्यटन्ति । अथ नास्ति प्रातः कापि देशकालस्ततः "दोसीणे" पर्युषिते आहारे निस्सारिते वदन्ति, यथा—अन्यान्येषु गृहेषु ३० पर्यटिद्भः बहुः-प्रचुर आहारो लब्धस्तेन च मृतमिदं भाजनम् अतः स्तोकं देहि, 'मा च

१ "जत्थ य वसति तत्य महाथंडिछस्स उवओग करेंति" इति विशेषचूर्णो ॥ २ °ना एवंविधा 'त्रिप्वपि' पूर्वाह्न-मध्याद्ध-सायाद्वलक्षणेषु कालेषु यत्र मा॰॥ बृ० ५६

33

रुपः' मा रोषं कार्षाः 'यदेतं न गृहन्ति' इति । एतचामी परीक्षार्थं कुर्वन्ति 'किमयं दानशीरुो न वा १' इति ॥ १४८२ ॥

अहून न टोसीणं चिय, जायामा देहि ण टहिं खीरं। स्वीरं घय गुल गोग्म, थानं थानं च मन्त्रत्थ ॥ १४८३ ॥

5 अथवा न वयं दोसीणसेव याचामः किन्तु देहि "ण" असम्यं दिव क्षीरं च । क्षीरं उन्वे सित घृतं गुई गोरसं च याचित्वा सर्वत्र म्नोकं म्नोकसेव गृहन्ति । एवं तावत् प्रन्युपित येषु मिक्षाया देशकालो यानि च सदककुरणनि तानि सम्यगवधारयन्ति यथा वाज-बृद्ध क्षपका-दीनां प्रथम-द्वितीयपरीपदादितानां समाधिमन्धारणार्थं प्रातरेव तेषु पेयादीनि याचित्वोपनी-यन्ते । एवमकम्य पर्याप्तं गृहीत्वा वसितमागम्यालोचनादिविधिपुरम्मरं समुहिद्य मध्याद्दं द्वितीये 10 विभागे मिक्षां पर्यटित ॥ १४८६ ॥ कथम १ इन्याह—

मञ्झण्हें पउर मिक्पं, परिताविय पेऊ ज्ञम पय कहियं। औमहमणीमई, लब्मह जं जन्य पाउर्ग ॥ १४८४॥

मध्योह प्रसुरं मेशं तथा 'परितापिनं' परिनिलिनं मुकुमारिकादि प्रकाशं यहा 'परितापितं' कथिनं कहरादिकिमित्यर्थः 'पया' यद्याग् 'यूपः' सुदृरमः तथा 'पयः' दुग्धं 'कथिनं' तापितम् । 15 एत्रमेव भाषिनमनवभाषिनं वा यद् यत्र प्रायोग्यमन्त्रिप्यंतं तन नत्र यदि रुप्यंतं तना प्रशमं नत् क्षेत्रम् । अत्राप्येकस्य पर्योमं गृहीत्वा प्रतिनिष्टस्य समुद्दिस्य संज्ञाम्मां गत्वा वैकालिकीं पात्रादिप्रसुपेक्षणां कृत्वा सायाँद नृतीये विमागे मिक्षामटन्ति ॥ १८८९ ॥ कथम १ हत्याह—

चिन्मि परिताविय पेज स्तीर आएम-अनुरणहाए । एकक्रममंज्ञनं, मनहं एक्सेकम्म ॥ १४८५ ॥

20 चिरमे मिक्षाकाँ परिनापिनं पेया क्षीरं च येषु प्राप्यने तानि कुछानि सम्यगवधारयन्ति । किमर्थम् ! इत्याह—आदेशाः—प्राप्तृणेकान्तदा समागच्छेयुः, अतरणः—स्यानम्दानीं पय्यसुप-युक्षीत नदर्थम्, उपन्यलग्वाद् वाछाद्यम् च । अत्राप्येकस्य पर्याप्तं गृहीन्वा प्रनिनिवर्तन्ते । यत आह—"णेकका" इत्यादि । एककः साधुरन्यमाधुना संयुक्ता यसिन्नानयने तदेककसं-युक्तं 'मक्तार्थम्' उद्दरपृरमाहारमेककस्य माघार्यायानयन्ति । इत्युक्तं मविन—प्रातद्वीं साध् ध्वस्त्रादेकेन पर्यटनः, नृतीयो रक्षपाठ आस्तः हिनीयन्यां वेन्त्रयां तयोमध्यादेक आने, अपरः प्रथमव्यवस्त्रिनं गृहीन्वा प्रयातिः, नृतीयस्यां तु हिनीयवेछारक्षपानः प्रथमव्यवस्तितरक्षपालेन सह पर्यटित, यन्तु वाग्द्रयं पर्यटितः स निष्टतिः, एवं त्रयाणां जनानां है। हो वारा पर्यटनं योजनंवम् ॥ १७८५ ॥ किञ्च—

ओमह मेमलाणि य, कान्ते च कुने अ दाणमहाई। मन्माम पहिचा, पहींन नओ परम्मामे ॥ १४८६॥

'श्रीपर्धानि' हर्रानक्यादीनि 'भेषज्ञानि' पेयादीनि जिफ्लादीनि वा चग्रज्ञान् पिष्पछक-सूच्यादीनि च ''क्रांक य'' चि येषु कुलेषु यत्र कार्क वेटा यानि वा टानश्राद्धादीनि कुटानि एतानि सत्रामे प्रन्युपेक्ष्य ततः पर्धामे प्रन्युपेक्षन्ते ॥ १९८६ ॥ अत्र च चाटनां कारयति— चीयगवयणं दीहं, पणीयगहणे य नणु भवे दोसा । जुजइ तं गुरु-पाहुण-गिलाणगट्टा न दप्पद्वा ॥ १४८७ ॥ जइ पुण खद्ध-पणीए, अकारणे एकसिं पि गिण्हिजा। तहियं दोसा तेण उ, अकारणे खद्ध-निद्धाई ॥ १४८८ ॥

नोदकः-भेरकस्तस्य वचनं-चाळनारूपम्--- ननु तेपामित्यं दीर्घी मिक्षाचर्या कुर्वतां प्रणी- 5 तस्य च-दिध-दुग्धादेर्प्रहणे 'दोपाः' सूत्रार्थपरिमन्थ-मोहोद्भवादयो भवेयुः । सूरिराह-भद्र ! युज्यते 'तत्' प्रणीतप्रहणं दीर्घभिक्षाटनं च गुरु-प्राचूर्णक-ग्लानार्थम् , न 'दर्पार्थ' नात्मनो वल-वर्णादिहेतोः ॥ १४८७ ॥

यदि पुनः खद्धं-प्रचुरं प्रणीतं-स्निग्ध-मधुरं ते 'अकारणे' गुर्वादिकारणाभावे एकशोऽपि गृंहीयुः ततः 'तस्मिन्' खद्ध-प्रणीतग्रहणे भवेयुर्दोषाः । कुतः ^१ इत्याह—अकारणे आत्मार्थ ¹⁰ यसात् तेन "खद्ध-निद्धाइं" ति प्रचुर-सिग्धानि भक्ष्यन्त इति वाक्यशेषः । अतो गुरु-ग्लानादि-हेतोः क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाकाले प्रणीतं गृहतां चिरं च पर्यटतां न कश्चिद् दोप इति ॥ १४८८ ॥

अथ ''कुलाइँ तहुवस्सयं चेव'' (गा० १४८०) त्ति पदं व्याख्यायते—भिक्षामटन्तः कुलानि जानन्ति । कथम् ? इत्याह-

> दाणे अभिगम सहै, सम्मत्ते खळ तहेव मिच्छत्ते । मामाए अचियत्ते, कुलाइँ जाणंति गीयत्था ॥ १४८९ ॥

1ŏ

'दानश्राद्धानि' प्रकृत्येव दानरुचीनि, 'अभिगमश्राद्धानि' प्रतिपन्नाणुत्रतानि श्रावककुरुानि, 'सम्यत्तवश्राद्धानि' अविरतसम्यन्द्रष्टीनि, तथैव 'मिथ्यात्वे' मिथ्यादृष्टिकुलानि, 'मामाकानि' 'मा मदीयं गृहं श्रमणाः प्रविशन्तु' इति प्रतिषेधकारीणि, "अचियत्ते" त्ति नास्ति प्रीतिः साधुषु गृहमुपागतेषु येपां तान्यप्रीतिकानि, एतानि कुलानि गीतार्था पर्यटन्तः सम्यग् जानन्ति 20 ॥ १४८९ ॥ उपाश्रयाँश्च जानन्ति । कथम् १ इत्याह-

> जेहिँ कया उ उवस्सय, समणाणं कारणा वसहिहेउं। परिपुच्छिया सदोसा, परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥ १४९० ॥

इह श्रमणाः पञ्चर्या--तापसाः शाक्याः परित्राजका आजीवका निर्श्रन्थाश्च । तेषां पञ्चानां निर्प्रन्थानामेव वा 'कारणात्' कारणमुद्दिश्येत्यर्थः, कारणमेव व्यनक्ति—वसितः-अवस्थानं ²⁵ तद्वेतोः—तन्त्रिमित्तम् , येर्गृहिभिः कृता उपाश्रयास्तेषां समीपे भिक्षामटद्भिः 'परिष्टच्छ्य' उपाश्रयमूलोत्पत्तिं पर्यनुयुज्यं 'सदोषाः' सावचदोषदुष्टास्ते उपाश्रयाः प्रयतेन परिहर्त्तन्याः ॥ १४९०॥ तथा---

> जेहिँ कया उ उवस्सय, समणाणं कारणा वसहिहेउं। परिपुच्छिय निद्दोसा, परिभोत्तं जे सुहं होइ (होंति)॥ १४९१॥

यैः कृता उपाश्रयाः 'श्रमणानां' निर्श्रन्थवजीनां शाक्यादीनां कारणाद् वसतिहेतोस्तान् परि-प्रच्छय 'निर्दोषाः' निरवद्यास्ते उपाश्रयाः परिभोक्तं ''जे'' इति निपातः पादपूरणे 'सुखं भवन्ति'

१ व्हीयात् ततः मो॰ हे॰ विना ॥

सुन्देनेत्र संयमवाधामन्तरेण ने परिसुज्यन्त इत्यर्थः ॥ १४९१ ॥

तिहिँ कया पाहृद्विया, समणाणं कारणा वसहिहेटं । परिवृत्तिष्ठया मदोसा, परिहृतियच्या पर्यत्तणं ॥ १४९२ ॥

यै: कृता 'यामृतिका' उपाश्येषु उपलेपन-धरकादिका 'श्रमणानां' पश्चानामित सावृतामेव व्या कारणाद् वस्तिहेताः तान, परिष्टक्का 'सरोपाः' उत्तरगुणस्युद्धत्वात् सावद्याने उपाश्रयाः प्रयोजन परिहर्तक्याः ॥ ११२२ ॥

जेहिं क्या पाहुडिया, समणाणं कारणा वनहिंहेंडं । पारिपुच्छिय निहोसा, परिभोत्तं जे सुहं होह (होति) ॥ १४९३ ॥ ४

र्यः कृता प्रामृतिका 'श्रमणाना' माधुर्वार्जनानां तापसादीनां कारणाद् वमतिहेतोत्तान् परि१० पृच्छ्य निर्होषा हिन सन्ता परिमोक्तुं ''जे' इति प्राप्ता 'सुन्वं मयन्ति' सुर्खेनव परिसुज्यन्त
इत्यर्थः ॥ १७९३ ॥ अथ कीहरो स्थानं वसतिरन्वपर्णाया १ उच्यतं — यावन्मात्रं क्षेत्रं विसमात्रान्तं मवित तावनात्रं पृत्तीमहत्तवस्मात्रःश्रीतिविद्यप्रामाकारं बुद्ध्या परिकल्य प्रशनेषु स्वानेषु
वस्तिर्गृहने । अथ कुत्रावयवस्ताने गृह्यमाणा वसतिः किक्त्य मवित १ इत्युच्यते —

गच्छना-दिनां दि-बराजीका 15 दर्गदेः मिंगक्लोंड कउहाँ, ठाणं पुण नित्य होह चलणेसु । अहिठाणे पृड्नांगा, पुच्छिम्म च फेडणं लाणे ॥ १४९४ ॥ मृहमृल्डीम्म उ चारी, मिने अ कउंह अ पूअ मक्कांगे । गंधे पहीह मने, पृड्डीम्म उ घायओ वसहा ॥ १४९५ ॥

'शृहतोर्ड' शृहतदेशे यदि वर्गाते क्रोति तदा निरन्तरं मावृनां करहो मवति । 'स्वानम्' अवस्थितिः पुनर्नानि 'चरणेषु' णद्यदेशेषु । 'श्रीयष्ठाने' अप्रानपदेशेषु ''पुट्टं' ति उदरं तस्य १९रोगो सवति । 'पुच्छे' पुच्छपदेशे 'स्केटनम्' अपनयनं वसतेर्जानीहि ॥ ११९१ ॥

मुन्यं गर्द वयतिः तदा 'चार्ग' मोजनस्यतिः प्रश्नता । 'शिर्मि' शृङ्गयोर्मध्ये क्कुदि च वस्तिक्रणे पृज्ञ च वक्र-पण्नादिमिः सक्तरश्राम्युत्यानदिना साधृनां मवति । स्कृत्यप्रदेशे ग्राप्रदेशे च वसता स्यां माशृमिरितन्तत आगच्छिद्धिर्मरो सविति । 'पोड्डे' उद्दर्षदेशे वसती गृह्मप्रायों 'श्राद्धः' निल्यतुनः 'बृत्रमः' बृत्रमर्गरक्त्यनागृह्दीत्वसितिनवासी साञ्चनो मव-श्रिति । एवं पर्गथ्याध्यस्त्रस्थानस्युत्रासेन प्रश्नतेषु स्थानेषु स्वी-यञ्च-पण्डकविता वसतिरस्वेष-पीया ॥ १४२% ॥ तद्दनेशेषे चये विश्वः—

ब्रास्ट्रेस पास विदेश

. देउलियअणुष्णवणा, अणुष्णविष् तिम्म लं च पाउन्तं । मायण कारे किचिर, मागरमित्मा उ आयरिया ॥ १४९६ ॥

देवेकुलिका- यहातीनामायतनं नदार्श्ववित्ती वा स्टाः । आह किमर्थे देवलुलिकाया १) निक्कः १ उच्यते — सा प्रायेण प्रामादीनां विहर्भवितः, साष्ट्रमिखीन्मर्गतो विहः स्वातव्यम् , देवकुणिकः च विविक्त वक्षारा स्वति, अतः प्रयमतमस्या अनुकृषना कर्तव्या । अथ नामित देवकुणिकः चिह्नी सप्रत्याणं तते ब्रामादेशनः प्रतिश्रयोऽनिवयते । यस्त्र प्रमुः प्रमुमनिष्टो १ विक्तिया — स द्यारम् प्रवा व द्याविद्याः, वेक्तियाः, वः से प्रशे महाः इति विद्यापन्तृणीं ॥ वा सः 'प्रायोग्यं' वक्ष्यमाणमनुज्ञाप्यते । अनुज्ञापिते सित तसिन् यच तेन प्रायोग्यमनुज्ञातं तस्य परिमोगः कार्यः । अथासौ नानुजानीते प्रायोग्यं ततो भोजनदृष्टान्तः कर्तव्यः । तथा कियिचिरं कालं मवन्तः स्थास्यन्ति ? इति पृष्टे अभिधातव्यम् — यावद् भवतां गुरूणां च प्रतिभासते । कियन्तो भवन्त इहावस्थास्यन्ते ? इति पृष्टे वक्तव्यम् — सागरः – समुद्रस्तत्सदृशा आचार्या भवन्तीति सङ्गृहगाथासमासार्थः ॥ १४९६॥

अथेनामेव न्याचिख्यायुः ''अणुत्रविए तम्मि'' इति पदं विवृणोति— जं जं तु अणुनायं, परिभोगं तस्स तस्स काहिंति । अविदिने परिभोगं, जइ काहिइ तिथमा सोही ॥ १४९७॥

'यद् यत्' तृण-डगलादिकं शय्यातरेणानुज्ञातं तस्य तस्य परिभोगमिम्हिनते क्षेत्रे समायाताः सन्तः करिष्यन्ति । यदि पुनः 'अवितीर्णे' शय्यातरेणाननुज्ञाते द्रव्य-क्षेत्रादौ परिभोगं कोऽपि 10 करिष्यति तत्र 'इयं' वक्ष्यमाणा शोधिः ॥ १४९७ ॥ तामेवाह—

इकड-कढिणे मासो, चाउम्मासो अ पीद-फलएसु । कट्ठ-कलिंचे पणगं, छारे तह मल्लगाईसु ॥ १४९८ ॥

इक्कडमये कठिनमये च संस्तारकेऽटत्ते गृह्यमाणे लघुमासः । चत्वारो मासा लघवः पीठ-फलकेषु । तथा काष्ठ-कैलिज्ज्ञयोः क्षारे मल्लक-तृण-डगलादिषु च पञ्चकम् । अतः प्रायोग्यमनुज्ञा- 15 पनीयम् ॥ १४९८ ॥ अथासो त्रूयात् 'कि तत् प्रायोग्यम् ?' ततो वक्तव्यम्—

दैन्वे तण-डगलाई, अन्छण-भाणाइधोवणा खित्ते । काले उचाराई, भावि गिलाणाइ ऋरुवमा ॥ १४९९ ॥

प्रायोग्यं चतुर्द्धी— द्रव्यतः क्षेत्रतः कारुतो भावतश्च । तत्र 'द्रव्ये' द्रव्यतस्तृण-डगरुनि, आदिशब्दात् क्षार-महुकादीनि च । क्षेत्रतः ''अच्छणं'' ति स्वाध्यायादिहेतोः प्राङ्गणादिपदे-20 शेऽवस्थानम्, तथा भाजनानाम् आदिश्रहणादाचार्यादिसत्कमित्वस्थाणां धावनं—प्रक्षालनं च प्रतिश्रयाद् बहिर्विधीयते । कारुतो रात्रो दिवा वा अवेरुायामुच्चारस्य प्रश्रवणस्य वा व्युत्सर्जनम् । भावतो ग्रह्मात्यस्य वा प्राश्चणकादेर्निवात-प्रवाताद्यवकाशस्थापनेन समाधिसम्पादनम् इत्युक्ते यद्यनुजानाति ततः सुन्दरम् । अथ ब्रूयात्—'मया युष्मभ्यं वसतिरेव दत्ता, अहमन्यद् युष्मदीयं प्रायोग्यं न जानामि' ततो यः प्राग् भोजनहृष्टान्त उद्दिष्टः स उपदर्शते—"कृरुव-25 मे"ति क्ररः—भक्तं तस्योपमा । यथा केनचित् कस्यापि पार्थे क्ररः प्रार्थितः, तेन च दत्तः, तत-स्तस्य स्नाना-ऽऽसन-भाजनोपढीकना-ऽवगाहिम-सूप-नानाविधव्यक्षनादीन्यपि दीयन्ते; एवं भव-ताऽपि वसित्तं प्रयच्छता सर्वमपि प्रायोग्यं दत्तमेव भवति, परं तथापि वयं भवन्तं सूयोऽपि दृतीयव्रतभावनामनुवर्त्तयन्तोऽनुज्ञापयामः । एवमुक्तं स सर्वमपि प्रायोग्यमनुजानीयात् तनो यत्र यद् उच्चारादिव्युत्सर्जनमनुज्ञातं तत् तत्र विधेयम् ॥ १४९९ ॥ यत आह—

उचारे पासवणे, लाउअनिलेवणे य अच्छणए।

१ ''कलिनि त्ति तणपूलिया'' इति विदेशपचूर्णों ॥ २ गाथेयं विदेशपचूर्णिकता .''ज जं तु॰'' १४९७ गाथायाः प्राग् व्याख्याताऽस्ति ॥

29

करणं तु अणुनाए, अणणुनाए भने छहुओ ॥ १५०० ॥

उचारम्य प्रश्रवणस्य 'अलाबुनिर्लपनस्य' पात्रप्रश्नालनस्य ''अच्छणए'' चि स्वाध्यायाद्यर्थमव-स्थानस्य गाथायां पष्ट्यर्थं सप्तमां 'करणं' समाचरणं अच्यातरेणानुज्ञाते प्रदेशे कर्चव्यम् । अथा-ननुज्ञाते अवकाशे उच्चारादिक करोति तटा लघुको माय इति ॥ १५०० ॥

गतं मोजनद्वारम् । अय कियचिरं कालमिति द्वारम्—यदि अय्यातरः प्रश्नयति 'कियनं कालं यृयं स्थास्यथ्रं ततो वक्तव्यम्—

जाव गुरुण य तुन्भ य, केवड्या तन्थ मागरेणुवमा । केवड् कालेणेडिड, सागार ठवंति अने वि ॥ १५०१ ॥

यावद् गुरुणां युप्माकं च प्रतिमानि नावद्यस्थान्यामः, परं निर्व्यावाते सासमेकं व्यावाते तु
1º हीनमिवकं वा वयमकत्र निष्ठामः । अथ 'मासमेव स्थास्थामः' इति निर्द्धारिनं भणित ततो मासलघु । अथासी प्रश्चेयत् 'कियन्तो यृयं तिष्ठथ '' ततो वक्तव्यम्—"सागरणुवम" ति सागरः—
समुद्रस्तेनोपमा—यथा ममुद्रः कदाचित् प्रसरित कदाचिच्चापसर्गते, एवमाचार्या अपि कदाचिद् दीक्षामुपसम्पदं वा प्रतिपद्यमानः माधुमिः परिवारनः प्रसपिन कदाचिन् तेष्वेवान्यत्र
ग्रानप्यपसपिन्त, अन इयन्त इति सद्ध्यानं कतुं न अक्यते । यस्तु 'ण्नावन्तो वयम्' इति निश्चितं

15 र्वृते तन्य मासल्खु । अथासो पृच्छिति कियना कालेन 'ण्प्यथ' आगमिष्यथ श तनः 'साकारं'
मिवकल्पं वचनं 'स्थापयन्ति' त्रुवते इन्यर्थः । यथा—अन्येऽपि क्षेत्रप्रत्युपेक्षका अपरामु दिशु
गताः सन्ति तनचिनिवेदिते यदा गुरुणां विचारे समप्यिति तदा व्यावानामावे इयत्यु दिवसेषु
गतेषु व्यावाते तु हीने अधिके वा काले वयमेष्याम इति । यः पुनः 'इयना कालेनागमिष्यामः'
इति व्यतिति तन्य मामल्खु ॥ १५०१ ॥

पुर्व्विहें विच्छइ, अहव भणिजा हवंनु एवइश्रा । तत्य न कप्पइ वामो, अमई खेत्तस्सऽणुन्नाओ ॥ १५०२ ॥

अथासा 'पृत्रेदृष्टान्' यः प्राग् मासक्त्या वर्षावासा वा कृत आसीत् तानेवेच्छति नान्यान्, भणति च—य साधवो मया दृष्टपृत्रीन्त्रपामहं शिल्समाचारं सर्वमिष जानामि अनस्त एवेह समानेतव्या न दोषाः; अथवा मणत्—य वा ते वा साधवो भवन्तु पर्मेतावन्न एवात्र तिष्ठन्तु १ इत्याह्—'तत्र' एवं ग्रव्यातरेण निर्द्धारिने मित 'न कल्पते वासः' न युज्यते तन्यां वसताववन्यानुमिति मावः । अथ नाम्यपरं मासकल्प्यायोग्यं क्षेत्रं तत इत्रग्या वसतराज्ञमे तन्यामेव वसतो वासोऽनुजातः ॥ १५०२॥

तत्र च वसतां यदि पातृणेकः समागच्छति ततः का विधिः ? इत्याह— सक्कारा सम्माणो, भिक्खग्गहणं च होइ पाहुणए ।

वह वसइ जाणको तिहैं, आयजह मासियं छहुगं ॥ १५०३ ॥ 'सत्कार.' वन्त्रना-ऽम्युत्थानादिः 'सम्मान ' विश्वामणादिः 'मिक्षाग्रहणम्' उपविष्टस्य मिक्षाया धानयनम्, एतत् सर्वेनपि प्रावृणेके आगते सित कर्त्तव्यम् । यदि वसतिर्येषां तेषां वा परि-

१ वृयात् तस्य भाः॥

Б

मितानां साधूनां दत्ता तटा यावन्तः पाघुणकाः समायातास्तावतो वास्तव्यानन्यत्र विसर्ज्य पाष्टुणकाः स्थाप्यन्ते । अथ नामग्राहं गृहीत्वा नियमितानामेव साधूनां सा दत्ता ततः प्राष्ट्रणकस्य वसतिस्वरूपं निवेद्यते । निवेदिते च यदि 'ज्ञोऽपि' वसतिस्वरूपं जानानोऽपि तत्र वसति तदा आपद्यते मासिकं लघुकम् ॥ १५०३ ॥ ततः-

> किइकम्म भिक्खगहणे, कयम्मि जाणाविओ वहिं वसइ। हिय-नहेसुं संका, सुण्हा उच्माम वीच्छेदो ॥ १५०४ ॥

'कृतिकर्मणि' विश्रामणादौ भिक्षाग्रहणे च कृते सति वसतिस्वरूपं ज्ञापितः सन् रात्रो वहि-र्वसित । यदि ज्ञापितोऽपि सन् वहिने वजित तदा सागारिकस्य केनचिचौरादिना हृते नष्टे च एवमेवाद्दरयमाने किसिश्चिद् वस्तुनि शङ्का भवेत्---नूनं यदद्यामुकं वस्तु न दृदयते तदेतेषां यः प्राघुणको रात्राबुपित्वा प्रतिगतः तेन हृतं भविष्यति । 'स्नुषा वा' वधू रात्राबुद्धामकेण सह 10 गता भवेत् तत्रापि यदि प्राघुणकस्य शङ्कां सागारिकः करोति तदा तद्रव्या-ऽन्यद्रव्याणां व्यवच्छेदो भवेत् ॥ १५०४ ॥ एवं वसतौ लब्धायां किं विधेयम् १ इत्याह---

> पडिलेहियं च खेत्तं, थंडिलपडिलेहऽमंगले पुच्छा। गामस्स व नगरस्स व, सियाणकरणं पढम वत्थुं ॥ १५०५ ॥

यदा क्षेत्रं सम्यक् प्रत्युपेक्षितं भवति तदा 'महास्थण्डिलं' शवपरिष्ठापनभूमिलक्षणं प्रत्युपेक्ष- 15 हेराना णीयम् । ''अमंगले पुच्छ'' ति नोदकः पृच्छति—भगवन् ! यूयं तिष्ठन्त एव किमेवममङ्गलं कुरुथ ?। सूरिराह—ग्रामस्य वा नगरस्य वा ''सियाणकरणं'' इमज्ञानस्थापनायोग्यं 'प्रथमम्' आदं वास्तु प्रत्युपेक्ष्यत इति वाक्यशेषः । इयमत्र भावना-प्राम-नगरादीनां तत्प्रथमतया निवेश्यमानानां वास्तुविद्यानुसारेण प्रथमं श्मशानवास्तु निरूप्य ततः शेषाणि देवकुल-सभा-सौधादिवास्तूनि निरूप्यन्ते, लोके तथादृष्टत्वात्, न च तदमाङ्गलिकम्, एवमत्रापि महास्थ- 20 ण्डिलं प्रथमं प्रत्युपेक्ष्यमाणमस्माकं नामाङ्गलिकं भवतीति ॥ १५०५ ॥

तच करवां दिशि प्रत्युपेक्षणीयम् 2 उच्यते-

दिस अवरदिक्खणा दिक्खणा य अवरा य दिक्खणापुच्या'। अवरुत्तरा य पुन्ना, उत्तर पुन्नुत्तरा चेव ॥ १५०६ ॥

प्रथमतो महास्थण्डिलप्रत्युपेक्षणविषया अपरदक्षिणा दिक् । अथ तस्यां नदी-क्षेत्रा-SSरामा- 25 दिर्व्याघातः ततो दक्षिणा । तस्या अभावे अपरा । तदलामे दक्षिणपूर्वा । तदसत्त्वे अपरोत्तरा । तस्या अप्यपासौ पूर्वा । तस्या असम्भवे उत्तरा । उत्तरस्या अभावे पूर्वोत्तरा दिग् मन्तव्या ॥ १५०६ ॥ अथासामेव गुण-दोषविचारणामाह—

पउरन-पाण पढमा, वीयाए भत्त-पाण न लहंति। तइयाइ उवहिमाई, चउत्थी सज्झाय न करिंति ॥ १५०७ ॥ 30 पंचिमयाऍ असंखड, छद्वीऍ गणस्स भेयणं जाण । सत्तमिया गेलनं, मरणं पुण अहमीए उ ॥ १५०८ ॥ 'प्रथमा' अपरदक्षिणा दिक् प्रचुरान्न-पाना भवति, तस्यां प्रत्युपेक्ष्यमाणायां प्रचुरमन्न-पानं

10

प्राप्यतं इत्यर्थः । यदि तस्यां मत्यां 'हिनीया' दक्षिणां प्रत्युपेक्षन्ते नतो मक्त-पानं न रूमन्ते । अथ प्रथमायां कोऽपि व्यायानस्त्रनो हिनीयामपि प्रन्युपेक्षमाणाः ग्रुद्धाः । एत्रमुत्तरास्त्रपि दिशु भावनीयम् । तथा तृतीयस्या ''उविह्माइ'' ति उपिधः—वस्त्र-पात्रादिकः स्नेनस्पिह्यते, तिसँधा-पह्ने तृण्यहणा-ऽग्निसेवनादयो दोषाः । चतुथ्या 'स्वाध्यायं न कुवैन्ति' स्वाध्यायः कर्त्तव्यो न भवतीत्यथः ॥ १५००॥

पञ्चम्याम् 'असङ्घ्रहं' कळहः साधृनां भवति । पछ्यां 'गणस्य' गच्छस्य 'सदनं' हैवीमवनं नानीहि । सर्पर्मा 'स्टान्यं' स्नानत्वं साधृनां ननयति । अष्टम्यां पुनर्मरणमपरस्य साधोरपनायते ॥ १५०८ ॥ असुमेव गाथाह्योक्तमर्थमकगाथया प्रतिपादयति—

> समाही य भत्त-पाण, उत्रगरणें तुमंतुमा य कलहाँ उ । मेटो गेलचं त्रा, चरिमा पुण कहुए अन्नं ॥ १५०९ ॥

एकेक्कम्मि उ ठाण, चउरो मामा हर्वनऽणुग्वाया । आणाहणो अ दोमा, विराहणा जा जर्हि मणिया ॥ १५१० ॥

एकैंकसिन् साने यथोक्तक्रममन्त्ररण दक्षिणादीनां दिझाँ प्रखुँपेक्षणे चत्वारा मामा अतु-द्वानाः प्रायिक्षित्तं भवन्ति, आज्ञाद्यश्च दोषाः, 'विराधना' भक्त-पानान्त्रामीपधिहरणादिका या 20 यत्र भणिना मा नत्र द्रष्ट्या ॥ १५१० ॥

एनेन विधिना यदा क्षेत्रं प्रख्येपितं भवति तदा किमपरं भवति ? इत्याह— पिंडलेहियं च खेनं, अह य अहालंदियाण आगमणं । नित्य उवम्मयवालां, सब्वेहि वि होइ गंनव्वं ॥ १५११ ॥

एकता गच्छत्रामिमिः क्षेत्रं प्रस्पुपेक्षितं भवति, अयात्रान्तरे ययालिन्क्षानामागमनं भवति, 25 ते हि सृत्राविषेशस्यावद्यापयन्त्रस्तृतीयपेशस्यां विहारं क्षेत्रेन्ता गच्छवासिमिः क्षेत्रं प्रस्पुपेक्षिते समायान्ति, तेषां च नान्ति तत्र क्षेत्रे स्थापनयोग्य उपाश्रयपाछः, जनह्रयस्थेवागमनादिति कृत्वा सर्वेगि भवति गन्तव्यम् ॥१५११॥ अथ ते यथाछन्दिकाः कथं क्षेत्रं प्रस्पुपेक्षन्ते १ उच्यते—

पुच्छिय म्ह्यं खेनं, गच्छे पहिबद्ध बाहि पेहिति । ज नेमि पाउग्गं, रोत्तविभागे य पृरिति ॥ १५१२ ॥

30 यं गच्छप्रतिबद्धा ययाकन्दिकार्निर्गच्छवायिनः प्रष्टाः—आर्याः ! अभिरुचितं क्षेत्रं न वा ! इति । तता गच्छवायिनः प्राहुः—अभिरुचितम् । तता यथालन्दिका गच्छवासिप्रन्यु-(प्रन्या- प्रम-७०००) पेक्षितस्य क्षेत्रस्य 'वाहिं' ति सक्षोद्ययोजनाद् बहिः क्षेत्रं प्रन्युपेक्षन्ते । कथम् !

गच्छ्या-नियथा-लन्दहते क्षेत्रप्रदु-

पेक्षणम्

१ 'नम्यां 'ग्छा' मा॰ घना॥ २ 'छः, एकाकिनः स्थानुं बिहर्त्तु या न कल्पत इति छु' मा॰ ॥

· 26

इत्याह—यत् 'तेपां' यथालन्दिकानां 'प्रायोग्यं' कल्पनीयमलेपकृतं भक्त-पानं परिकर्मरहिता च वसतिस्तदेव गृह्णन्ति, 'क्षेत्रविमागाश्च' पड्वीथीरूपास्तानपि पूर्यन्ति ॥ १५१२॥

जं पि न वचंति दिसिं, तत्थ वि गच्छेछगा सि पहित । पग्गहियएसणाए, विगई-लेवाडवजाई ॥ १५१३ ॥

यामि दिशं यथालिन्दका न व्रजन्ति 'तत्रापि' तस्यामि दिशि गच्छवासिनः क्षेत्रप्रसुपे- 5 क्षकाः 'तेषां' यथालिन्दकानां योग्यं सप्रत्युपेक्षितक्षेत्रस्य सक्रोशयोजनाद् वहिः क्षेत्रं प्रसुपेक्षन्ते । कथम् १ इत्याह—पगृहीतया—सामिप्रहया तृतीयपौरुष्यामुपरितनैपणापञ्चकस्यान्यत्रयेषणया विकृति-लेपकृतवर्जे भक्त-पाने गृह्णन्ति, घृतादिका विकृतीस्तक-तीमनादिकं द्राक्षापानादिकं च लेपकृतं वर्जयन्तीत्यर्थः ॥ १५१३ ॥

जइ तिनि सन्त्रगमणं, एहामु ति लहुओ य आणाई। परिकम्म कुडुकरणं, नीहरणं कट्टमाईणं॥ १५१४॥

्यदि ते गच्छवासिनस्त्रयो जनास्ततः सर्वेषामिष गुरुसकाशे गमनम् । ते च गच्छन्ती यदि सागारिकेण प्रच्छवन्ते 'किं यूयमागमिण्यथ न वा ?' तती यदि 'एण्यामः' आगमिण्याम इति निर्वचनमर्पयन्ति ततो रुघुको मासः आज्ञादयश्च दोषाः । शय्यातरिश्चन्तयति — 'यदेते एण्याम इत्युक्तवा प्रतिगतास्तद् नूनमागमिण्यन्ति' इति परिभाव्य 'परिकर्म' उपलेपनादिकं वसतेः 15 कुर्यात्, कुड्यस्य वा जीर्णस्योपरुक्षणत्वात् कपाटस्य वा करणं—संस्थापनं विदध्यात्, काष्टानाम् आदिग्रहणात् तृणानां धान्यस्य वा 'नीर्हरणं' निष्काशनं कुर्यात् ॥ १५१४ ॥

यद्वा तेषामाचार्याणामपरं किमपि क्षेत्रमिक्चितं ततस्तत्र गताः, तत्र च क्षेत्रेऽपरे साधवः समायाताः ततः किम् १ इत्याह—

अद्धाणनिग्गयाई, असिवाइ गिलाणओं अं जो जत्थ । णेहामो त्ति य लहुओ, तत्थ वि आणाइणी दोसा ॥ १५१५-॥

अध्वा—विप्रकृष्टो मार्गस्ततो निर्गताः—निष्कान्ता अशिवादिभिर्वा कारणैः प्रेरिताः परिश्रा-न्तास्ते साधवस्तत्रायाताः । तत्र चान्या वसितर्गस्ति, सैव प्राचीनसाधुप्रत्यपेक्षिता वसितस्तैर्या-चिता । सागारिको ब्रूते—मयेयमन्येषां साधूनां दत्ताऽस्ति, तेऽप्येष्याम इति मणित्वा नाताः सन्ति, अतो नाहं दातुमुत्सहे । एवं ते वसितमलममानाः श्वापद-स्तेन-कण्टकैः शितेन वा प्रार-25 भ्यमाणाः प्रतिगमनादीनि कुर्युः, ग्लानो वा यस्तेषां सह विहारं कार्यमाणो यत्र यत् परितापना-दिकं प्रामोति तिन्नष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । यतश्चैवमतः 'एप्यामः' इति न वक्तव्यम् । 'न एप्यामः' इत्यपि वदतां मासलघु, तन्नाप्याज्ञादयो दोषाः ॥ १५१५ ॥ अपरे चेमे—

वकर्अ विकएण व, फेडण धन्नाइछुभणमावासे । नीणिते अहिकरणं, विराहणा हाणि हिंडंते ॥ १५१६ ॥

'नागमिप्यन्ति साधवः' इति कृत्वा 'वक्रयिता' वक्रयेण—भाटकेन दत्ता सा वसतिः, विक्रयेण वा दत्ता विक्रीतित्यर्थः; स्फेटनं वा वसतेः कृतम्, धान्यस्य आदिशब्दाद् भाण्डस्यान्यस्य वा उप-करणजातस्य क्षेपणं तस्यां कृतम्, बटुक-चारणादयो वा तत्र शय्यातृरेणावासिताः, तेपां चाज्ञा- 15

योणां तदेव क्षेत्रमिरुचिनं तनम्त्रेव ममागताः । स प्राह—युप्माकं सार्युमिरिति कथितं 'वयं नैप्यामः' ततो मयेवमन्येषां दत्ता धान्यादीनां वा भृता । ततो यथामद्रकोऽसा सागारिक-मान् बहुकादीन् निष्काग्ययित, नतम्तेषु निष्काग्ययानेषु 'अधिकरणं' पृथिव्याद्युपमर्दनम् । यच ने प्रहिष्टाः मागारिकन्य साय्नां वा करिष्यन्ति निष्ठिपत्रम् । वर्मातं वा विना 'हिण्डमा- इनानाम्' इनम्ततः पर्यटनां या संग्मादिविगधना या च मृत्रार्थयोः परिहाणिमक्तिपत्रमपि प्रायश्चित्तम् । तस्मान्न वक्तव्यं 'नैप्यामः' इति ॥ १५१६ ॥ कि पुनम्ति वक्तव्यम् १ उच्यने—

जह अम्हे तह असे, गुरु-जेडमहाजणस्म अम्हे मो । पुत्र्यमणिया उ दोमा, परिहरिया कुडमाईया ॥ १५१७॥

श्या वयमत्रागतानया अन्येऽि सायवित्तन्यु दिशु गनाः मन्ति ततो न जानीमः कीदृशं 10 क्षेत्रं तः प्रस्तुपेक्षितमन्ति । अन्माकं नावदिदं क्षेत्रमिरुचितम्, परं गुरवश्च—आचार्या ज्येष्टमहा- जनश्च—त्र्यष्टायंनाष्टुससुदाया गुरू-ज्येष्टमहाजनं तस्य वयम् 'मो' इति पादपृर्णे परतन्ना वर्णा- मद्दे इति वाक्यदेशः । नदम्तत्रगतानां गुरूणां ज्येष्टायाणां वा यद् विचारं समेप्यति तद् विचान्यामः । एवंत्रुवणाः 'पृवंभणिनाः' कुक्यकरणादयो दोषाः परिद्वताः ॥ १५१७॥

इत्यमुक्त्रा मार्गाएकमाप्टच्छ्य ते कि क्वंनि ! इत्याह्—

जह पंच तिवि चनारि छमु मनमु य पंच अच्छेति । चोयगपुच्छा सञ्झायकरण वर्चत-अच्छेने ॥ १५१८ ॥

यदि ते पत्र वनाम्बद्धयन्त्रेवासने हैं। गुरुसकार्श गच्छतः । अथ पड् जनामनश्रवार-निष्टन्ति हैं। गुरुणायम्यणें बजतः । अथ सम जनाः तदः पत्र तेवासते हैं। गुरुणासपकण्ठे गच्छतः । यदि च ऋजुः पन्थाः मध्याधानमने।ऽपरं पन्थानं प्रखुपेक्षन्ते । नोदकः प्रच्छति— १०थे ते गुरुसकार्यं बजन्ति ये च ते दंपाश्रये आसने ते दमयेऽपि कि स्वाच्यायं कुर्वते वा न वा ? ॥ १५१८ ॥ दच्यने—

> वर्चतकरण अच्छेतअकरण लहुओं मासों गुरुओ उ । जाबदकार्ल गुरुणो, न इंति सर्व्य अकरणाए ॥ १५१९ ॥

ये नावर बजिन ने यदि मृत्रपौरुयां छ्वेन्नि नना मासल्खु, अर्थपौरुयां छुवेन्नि मामगुर । 25 ये नृपाश्रये निष्ठन्ति नेतां मृत्रपौरुया अकरणे छुको मास., अर्थपौरुया अकरणे गुरुको मामः । यावन्त्रालं गुरुणां संसीपे 'नायान्ति' न प्रामुवन्ति तावन् "सर्व अकरणाए" ति सर्व-मित-सृत्रमर्थं च न छुवेन्ति ॥ १५१२ ॥ इत्येव सित्रदेषमाह—

नइ वि अर्णनर खेनं, गयाओं तह वि अगुणंनगा एति । निययाई मा गच्छे, इतरत्य य सिजवायाओ ॥ १५२० ॥

थ यद्यपि 'अन्तर्स' अञ्चवहिनमेव क्षेत्रं गतामधापि 'अगुणयन्नः' मृत्रार्थावकुर्वन्त आ-यान्ति । क्षत्रः ! इत्याह—नित्यवासावयो दोषा गच्छस्य मा मृत्रन् , 'इतरत्र च' प्रस्तुपेक्षिते क्षेत्रं विरक्षारुं विद्यस्थागच्छतां द्यायायाः—उपाश्रयस्य स्थाधानो मा सृत् ॥ १५२० ॥

१ समीपं मा॰ द॰ दे॰ ॥ २ न या॰ मो॰ हे॰ ॥

क्षेत्रप्रत्यु-पेक्षकै:

प्रत्युपे-

क्षितस्य

क्षेत्रस्य आचार्या-

निवेदनम्

यत एवमतोऽगुणयन्तः समागम्य ते इदं कुर्वन्ति—

ते पत्त गुरुसगासं, आलोएंती जहकमं सब्वे । चिंता वीमंसा या, आयरियाणं सम्रुप्पन्ना ॥ १५२१ ॥

'ते' क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः प्राप्ताः सन्तो गुरुसकाशमालोचयन्ति यथाक्रमं सर्वेऽपि क्षेत्रखरूपम् । ततस्तेषामालोचनां श्रुत्वा 'चिन्ता' 'कस्यां दिशि व्रजामः !' इत्येवंलक्षणा 'मीमांसा च' शिष्या- 5 भिप्रायविचारणा आचार्याणां समुत्पन्ना ॥ १५२१ ॥ अथैनामेव गाथां भावयति---

गंतूण गुरुसगासं, आलोएचा कहिंति खेचगुणे। न य सेसकहण मा होजऽसंखडं रत्ति साहंति ॥ १५२२ ॥

गरवा गुरूणां सकाशमालोच्य गमनागमनातिचारं कथयन्ति क्षेत्रगुणान् । ते चाचार्यान् विमुच्य 'न च' नैव रोषाणां साधूनां कथयन्ति । कुतः १ इत्याह—मा भूद् असङ्खं खखक्षे-10 त्रपक्षपातसमुत्थम् । यद्यन्येषां कथयन्ति तदा मासल्घु । तसाद् रात्री "साहंति" ति कथयन्ति ।। १५२२ ॥ कथम् १ इति चेद् उच्यते—आचार्या आवश्यकं समाप्य मिलितेषु सर्वेष्विप साधुषु प्रच्छन्ति—आर्याः! आलोचयत कीदृशानि क्षेत्राणि ?। तत उत्थाय गुरूनभिवन्द बद्धाञ्जलयो यथाज्येष्टमालोचयन्ति-

> पढमाऍ नत्थि पढमा, तत्थ य घय-खीर-क्र-दिधमाई। विइयाएँ वीय तइयाएँ दो वि तेसिं च धुव लंभो ॥ १५२३ ॥ ओभासिय धुव लंभो, पाउँग्गाणं चउत्थिए नियमा । इहरा वि जहिच्छाए, तिकाल जोगं च सव्वेसिं ॥ १५२४ ॥

'प्रथमायां' पूर्वस्यां दिशि यद् असाभिः क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं तत्र 'प्रथमा' सूत्रपौरुपी नास्ति, तस्यामेव भिक्षाटनवेलासम्भवात्, परं तत्र क्षेत्रे घृत-क्षीर-कूर-दध्यादीनि प्रकामं प्राप्यन्ते । 20 द्वितीयाः क्षेत्रप्रत्येक्षका ब्रुवते—द्वितीयस्यां दिशि 'द्वितीया' अर्थपौरुषी नास्ति, तस्यामेव भिक्षा-'द्वे अपि' सूत्रार्थपौरुष्यो विद्येते, मध्याहे भिक्षालामसद्भावात्, तेषां च घृत-दुरधादीनां 'ध्रुवः' निश्चितो लाभ इति ॥ १५२३ ॥ तथा---

् चतुर्थाः पुनरित्थमाहुः—असात्प्रत्युपेक्षितायां चतुर्थ्या दिशि प्रायोग्याणामवभाषितानां 25 'ध्रुवः' अवस्यम्भानी लाभः । 'इतरथाऽपि' अवभाषणमन्तरेणापि 'यहच्छया' प्रकामं 'त्रिकालं' पूर्वीह्न-मध्याहा-ऽपराह्नलक्षणे कालत्रये 'सर्वेषामपि' वाल-वृद्धादीनां 'योग्यं' सामान्यं भक्त-पानं प्रोप्यते ॥१५२४॥ इत्थं सर्वेरिप खखक्षेत्रखरूपे निवेदिते सत्याचार्याश्चिन्तयन्ति—कस्यां दिशि गन्तुं युज्यते ? । ततः स्वयमेवाद्यानां तिसृणां दिशां सूत्रार्थहान्यादिदोषजारुं परिभाव्य चतुर्थी दिशमनन्तरोक्तदोपरहितत्वेन गन्तन्यतया विनिश्चित्य किं कुर्वन्ति ? इत्याह— 30

इच्छागहणं गुरुणो, कैत्थ वयामो ति तत्य ओअरिया । खुहिया भणंति पढमं, तं चिय अणुओगतत्तिल्ला ॥ १५२५ ॥

१ तत्र यथा ते आलोचयन्ति तथा प्रतिपादयति इसवतरणं भा॰ प्रती ॥ २ काई व॰ ता॰ ॥

15

हेत्रप्रमु पेम्ब्रीतः वेदिवयः हेन्द्रम् पान्यस् निवयः निवयः

15

विद्यं सुनग्गाही, उभयग्गाही य नद्यगं खेनं । आयरिको ड चउन्थं, मो उ पमाणं हवद्द नत्य ॥ १५२६ ॥

'गुरोः' आचार्यस्य 'इच्छाग्रहणं' शिष्याणामसिमायपरीक्षणं मवति—आर्थाः! क्रयवत 'कुत्र' क्सां दिश्चिं त्रजामः ? इति । तता ये 'श्रोदिर्द्धाः' खोदरमर्णकचित्तान्ते 'क्षिमिताः' सम्म्रान्ताः वसन्तो मणन्ति—प्रथमां दिशं त्रजामा यत्र प्रथमपाद्रत्यामेव प्रकामं मोजनमगुष्यते । तामेव दिशं ''अणुश्रोगतित्त्वः' ति अनुश्रोगप्रहणकिनिष्टाः शिष्या गन्तुमिच्छन्ति, येन हितीयपारत्यां निज्यीवातमर्थप्रहणं भवति ॥ १५२५ ॥

ये तु मृत्रग्राहिणके भणिन—हिनीयां दिशं गच्छाम. यत्र न सृत्रपेतिर्णव्यायात इति । ये नृभग्रग्राहिणने 'नृतीयं' नृतीयदिग्र्वार्ति क्षेत्रमिच्छन्ति, नत्र हि हयोरप्यायपोरुन्योर्निव्यायानं 19 सृत्रार्थप्रहणे भवनः । आचार्यास्तु चतुर्थ क्षेत्रं गन्तुमिच्छन्ति, यतन्त्रत्र त्रिन्यपि कालेषु वाल- इद्वाययं मामान्यमक्तं प्राय्णेकाययं पुनरवमापितं दुग्वादिकं प्रायोग्यं प्राप्यते, न च कोऽपि मृत्रार्थयोर्व्यायात इति । 'म एव च' आचार्यः 'तत्र' तेषां मच्ये प्रमाणं मवित ॥ १५२६ ॥

आह कि पुन कारणं येनाचार्याश्चनुर्थक्षेत्रमिच्छन्ति ? इति अत आह— मोहुञ्मयो उ प्रलिए, दुव्यलदेही न साहए अन्यं ।

नो मन्त्रवला साह, दुइस्से होह दिईनो ॥ १५२७ ॥

प्रथम-द्वितीय-मृतीयष्ठ क्षेत्रेषु प्रचुरित्राय-मञ्जाहार्यामः द्यारिण वल्वान् मवति, वल्वतश्वावस्थ्यमावी मोहोद्भवः । एवं वर्ष्ट् यत्र मिक्षा न लम्यते तत्र गत्ना वृक्षक्षात्रामकुक्षयित्रिष्ट्राः,
नेवन्, ह्वेल्वेहः सावृने साययि 'अर्थ' ज्ञान-इर्ग्यन-चारित्रकृषम् । यत एवं ततः 'मय्यवलाः'
नातिवण्यन्तो न वाऽतिदुर्वन्तः सायव ह्यन्ते । दृष्टाक्षश्च मवत्यत्र ह्यान्तः—'दृष्टाक्षः'
20गर्दमः, म यथा प्रचुरमञ्जणाहृद्धित सन् उत्खन्य कुम्मज्ञागरोतिवानि माण्डानि मिनचि, भयमौनव कुम्मजोरण निरद्धाद्याः सन् माण्डानि वाद्धं म अक्रोतिः म एव च गर्दमो विमय्यमाहारक्रियया प्रतिचर्यमाणः सुन्यम् माण्डानि वहित । एवं माधवोऽपि यदि निरव-मवुराम्यवहारवः
अर्गरोरचयमाजो मद्यन्ति, तत उत्यक्षद्धनिवारमेहोदेकृत्या संयमयोगान् वलादुपमृद्धितिं द्वः,
आहारमाव त्विज्ञामवर्षुषः सन्तः संयमयोगान् वोद्धं न द्यक्ष्युः; मध्यमवलोपेताम्तु व्यपगता१० त्युक्या अनुद्धिमर्गरिणानाः सुत्रेनेव संयमयोगान् वहन्तीति मत्ना क्षेत्रत्रयं परिकृत्याचार्याश्चनुर्थ
कृत्रं क्रचन्ति ॥ १५२७ ॥ क्रिञ्च—

पणपन्नगस्म हाणी, आरेणं जेण तेण वा घरह ! वह नन्या नीरोगा, वर्चेनि चडत्यगं नाहे ॥ १५२८ ॥

प्रविश्वाश्वर्गार्थकस्य नातुपस्य विश्विष्टाहारमन्त्रेरण 'हानिः' व्लपरिहाणिर्भवति । "आरेणं" ति ४०पद्मग्रद्याश्वरो वर्षम्य आराद् वर्तमानो येन वा तेन वा आहारेण 'व्रियते' निर्वहति । त्रवो यदि ते मावदन्त्रस्थान्त्रया नीरोगान्त्वश्चतुर्थमेव क्षेत्रं व्रवन्ति न दोषाणि ॥ १५२८ ॥

--- '· वह पुण जुना येरा, रेगिविमुका व असहुणी तरुणा ।

ते अणुक्लं खेत्तं, पेसिति न यावि खग्गूडे ॥ १५२९ ॥

यदि पुनः 'जीर्णाः' पञ्चपञ्चाशद्वापिकादय इति भावः, के ते ? 'खविराः' वृद्धाः, तथा तरुणा अपि ये रोगेण—ज्वरादिना मुक्तमात्रा अत एव च 'असिहण्णवः' न यदि तदप्याहार- जातं परिणमियतुं समर्थाः 'तान्' एवंविधान् खिवर-तरुणान् 'अनुकूलं' प्रायोग्यलाभसम्भवेन हितं 'क्षेत्रं' प्रथमक्षेत्रादिकं गीतार्थमेकं सहायं समर्प्य प्रेषयन्ति सूरयः, 'न चापि' नैव खग्गू- 5 हान् । इहालसाः क्षिग्ध-मधुराद्याहारलम्पटाः खग्गूहा उच्यन्ते ॥ १५२९ ॥

, आह कियता पुनः कालेन ते वृद्धादयः पुष्टिं गृह्धन्ति ? उच्यते—पञ्चभिर्दिवसैः । तथा च वैद्यकगास्त्रार्थस्चिकामेतदर्थविषयामेव गाथामाह—

एग पणगऽद्धमासं, सद्घी सुण-मणुयं-गोण-हत्थीणं । राइंदिएहिं उ वलं, पणगं तो एक दो तिन्नि ॥ १५३० ॥

10

क्षीणशरीरस्य शुनः पोष्यमाणस्यैकेन रात्रिन्दिवेन वलमुपजायते । एवं मनुष्यस्य रात्रिन्दिव-पञ्चकेन, गो-त्रलीवर्दस्यार्द्धमासेन, हस्तिनस्तु क्षीणवपुषः पुष्टिमारोप्यमाणस्य पष्टा दिवसैर्वलमु-द्भवति । तत एते वृद्धादयः प्रथमक्षेत्रे पोष्यमाणाः पञ्चकमेकं रात्रिन्दिवानां व्यवस्थाप्यन्ते, ततश्चतुर्थक्षेत्रे नीयन्ते । अथ पञ्चकेनामी न वलं गृहीतवन्तः ततो द्वे पञ्चके, तथापि वलमगृं-ह्यानास्त्रीणि पञ्चकानि व्यवस्थाप्य चतुर्थक्षेत्रे नेतव्याः ॥ १५३०॥ एवं ते चतुर्थक्षेत्रगमनं 15 निर्णीय शय्यातरमाप्रच्छ्य क्षेत्रान्तरं सङ्कामन्ति तद्विपयं विधिममिधित्सुराह—

> सागारिय आपुच्छण, पाहुिंडया जह य विजया होई । के वर्चते पुरओ, उ मिक्खुणो उदाहु आयरिया ॥ १५३१ ॥

क्षेत्रान्तर-गमनसमये शय्यातर-स्याप्टच्छा ० तस्क्रमणा-

क्षेत्रान्तरं सङ्गामद्भिः सागारिकस्याऽऽप्रच्छनं कर्तन्यम् । यथा च 'प्रामृतिका' हरितच्छेद- स्याप्रच्छा नाद्यधिकरणरूपा वर्जिता भवति तथा विधिना आप्रच्छनीयम् । तथा गच्छतां के पुरतो व्रजन्ति १ ३० तत्कारणा- किं भिक्षवः १ उताहो आचार्याः १ इति निर्वचनीयम् । एव द्वारगाथासमासार्थः ॥ १५३१ ॥

अथैनामेव विवरीषुराह—

सागारिअणापुच्छण, लहुओ मासो उ होइ नायन्वो । आणाहणो य दोसा, विराहण इमेहिँ ठाणेहिं ॥ १५३२ ॥

सागारिकमनाप्टच्छ्य यदि गच्छन्ति तदा छघुको मासः प्रायश्चित्तं भवति ज्ञातन्यः, आज्ञा-25 दयश्च दोपाः । विराधना चामीभिः स्थानैः प्रवचनादेर्भवति ॥ १५३२ ॥ तान्येवाह—

सागारिअपुच्छगमणम्मि वाहिरा मिच्छैगमण कयनासी । अनस्स वि हिय-नहे, तेणगसंका य जं चऽनं ॥ १५३३ ॥

सागारिकमनाप्टच्छेंच यदि गच्छन्ति ततः सागारिकश्चिन्तयेत्—''वाहिरि''ति वाह्या लोकधर्मस्यामी भिक्षवः, यतः—

आपुच्छिऊण गम्मइ, कुरुं च सीरुं च माणिअं होइ ।

१ °य-गावि-ह° ता॰ ॥ २ °गृह्वतस्त्री° है॰ ॥ ३ °च्छ छेद कयनासी । गिहि-साहु-भिभारण, तेणग° ता॰ ॥ ४ °च्छव गमने सागा॰ भा॰ ॥ 10

अभिनाओं पि अ मन्नइ, सो वि नणो माणिओं होइ ॥

एप छोकधमें: । तथा "मिच्छगमण" ति 'ये छोकधमंमि प्रत्यक्षदृष्टं नाववुच्यन्ते ते कथ-मतीन्द्रियमदृष्टं धर्ममवमोत्स्यन्ते ?' इति सागारिको मिध्यात्वं गच्छेत् । तथा 'कृतनाञिनः' कृतमा एते, एकरात्रमि हि यस गेहे स्थीयते तमनाष्ट्च्छ्य गच्छता भवत्योचित्यपरिहाणिः, उक्ति पुनरमीपामियन्ति दिनानि मम गृहे स्थित्वा युक्तं मामनाष्ट्च्छ्य गन्तुम् ? इति । तथा 'अन्यत्यं' प्रातिचिद्दिमकस्य अपिशच्छात् सागारिकस्य वा हते नष्टे वा कस्मिश्चिद् वस्तुनि स्तन-कृशक्षा भवेन्—यदमी साधवोऽनाष्ट्च्छ्य गतास्तुद् नृन्मेभिरेव स्तेनितं तद् द्रव्यमिति । "जं चडन्न" ति यच 'अन्यदृ' वमतिच्यवच्छेडादि भवति तद्धि दृष्ट्यम् ॥ १५३३॥ तदेवाह—

> वसहीए वोच्छेदो, अभिघारिताण वा वि साहणं । पत्रवस्नाभिम्रहाणं, नेणहि व संकणा होस्रा ॥ १५३४ ॥

'विप्रलम्भिताम्नावदमीभिरेकवारम्, अन ऊर्द्धं ये किचन सयना इति नाम उद्घहन्ते तैभ्यो वमति न प्रदासामि' इत्येवं वसनेव्यवच्छेटो भवेतै । तथा 'अभिघारयन्तो नाम' ये साघवस्तमा-चार्य मनसिकृत्योपसम्पदः प्रतिपत्त्यर्थं समायातामे सागारिकं प्रश्नयन्ति—आचार्याः कस्मिन् क्षेत्रे विहृतवन्तः ?, मागारिकः पाह—यः कथयित्वा त्रजति स ज्ञायते यथा अमुकत्र गत इति, ये 15 तु प्रथमत एव नाष्ट्रच्छन्ति ने कथं ज्ञायन्ते ²; ततस्तेषामभिधारयतां साधूनाम् 'अहो! छोकन्य-बहारबहिर्मुखा अमी आचार्याः, ततः को नामामीपासुपकण्ठे उपसम्पत्स्यते ?' ईति विचिन्त्य म्बगच्छं गणान्तरे वा गमनं भवेदिति वाक्याध्याहारः । य चाचार्यमेपां श्रुतवाचनापदानादि-जन्याया निर्जगया अनाभागी भवति । प्रवज्याभिमुग्वानां वा "तेणिहि" ति मनविषया शङ्का भवत् । किसुक्त भवति ?—किचिद्गारिणः संसार्प्रपञ्चविगक्तचेनसम्नद्निके प्रवज्यां प्रतिपि-2 रमवः समायानाः मागारिकं पृच्छन्ति—क गता श्राचार्याः ?; स प्राह—वयं न जानीमः तत्त्व-रूपमिति, तनलेपामगारिणां यद्वा समुपजायते, यथा--नृनं किमप्यस्य सागारिकस्य चोरयित्वा गतान्त, अन्यथा किमर्थमेष परिस्फुटमाचार्याणां गमनवृत्तान्तं न निवेदयति १ इति । ततश्च ते प्रवज्यामप्रतिपद्यमाना यन् पण्णां जीवनिकायानां विराधनां कुर्वन्ति यच बोटिक-निह्वादिषु व्रजन्ति अपगन् वा प्रवजना विपरिणामयन्ति निविष्पन्नमाचार्याणां प्रायक्षित्तम् । यत प्वमनः 25 मागारिकमाष्ट्रच्छ्य गन्नत्र्यम् ॥ १५३७ ॥ सा च पृच्छा द्विविया—विविष्टुच्छा अविवि-प्रच्छा च । नत्राविधिप्रच्छाममिथित्युः प्रायिश्चत्तं तावदाह्—

१ °स्यं सागारिकव्यतिरिक्तस्य अपि भा ॥ २ केचित् सं त ह । ३ °त्, ततोऽध्यनिगेताद्यो यद्याप्सन्ति तिल्पन्नम् । 'अभि भा । "जं च अद्याणिगगया साह प्राविद्ति तिल्पन्नम् । देते चूर्णा विशेषचूर्णा च ॥ ४ मो । द तिनाऽन्यत्र—इति कृत्या स्वगच्छे गणान्तरे चा गमनं भवेत् । स चाचा न ह । इति पुनरावृत्तिमंत्रेत्, उपसम्पद्मप्रतिपद्यय भूयः स्वगच्छे गणान्तरं चा गच्छेगुरिति मावः। स चाचा भा ॥ ५ मो । दे । तिनाऽन्यत्र— निद्तिन्या त ह ह । निद्रित्रान्तन्या भा ॥ ६ थां नित्रियया शक्का भा ॥

अविहीपुच्छणें लहुओ, तेसिं मासो उ दोस आणाई। मिच्छत्त पुच्यभणियं, विराहण इमेहिँ ठाणिहिं॥ १५३५॥

गमनसम-येऽविधि-प्रच्छा

अविधिप्रच्छने 'तेषाम्' आचार्याणां लघुको मासः, दोषाश्चाज्ञादयः, तथा मिथ्यात्वं 'पूर्वभ-णितं' प्रागुक्तमेव मन्तव्यम् । विराधना एभिः स्थानैर्भवति ॥ १५३५ ॥ तान्येवाह—

सहसा दहुं उग्गाहिएण सिजायरी उ रोविजा । सागारियस्स संका, कलहे य सएन्झिखिंसणया ॥ १५३६ ॥

5

अविधिष्टच्छा नाम वस्त्र-पात्राद्युपकरणं विहारार्थमुद्राह्य प्टच्छिन्त 'वयमिदानीं विहारं कुर्महे' ततः 'सहसा' अकसाद् उद्घाहितेन उपकरणेन प्रिष्यतान् दृष्ट्वा राय्यातरी रुदियात् । तंद् दृष्ट्वा सागारिकस्य राह्वा-भवेत्—मयि प्रवसित कदाचिदप्यस्या अक्षिणी अश्रपातं न कुरुतः, अमीषु तु प्रिष्यतेष्वृत्यमश्रूणि मुद्धतः, ततो भवितच्यं कारणेनेति'। मिथ्यात्वं गच्छेत्, तद्रच्या-10 ऽन्यद्रच्यव्यवच्छेदादयश्च दोषाः। तथा ''सइिक्शय'' ति प्रातिवेशिमकी रुदन्ती शय्यातरी दृष्ट्वा पश्चात् करुहे समुत्पन्ने खिसनां कुर्यात्—िकमन्यद् भवदीयं दुश्चरितमुद्गीर्यते येन तदानीमाचार्येषु विहारं कर्त्तुमुद्यतेषु भवत्या रुदितम्, किं वा स आचार्यस्ते पिता भवति येन रोदिषि श्विति ॥ १५३६॥

अथानागतमेव प्रच्छन्ति 'वयममुकदिवसे गमिष्यामः' तत्राप्यमी दोषाः—

15

हरियच्छेअण छप्पईअथिचणं किचणं च पुत्ताणं। गमणं च अम्रगदिवसे, संखिडकरणं विरूवं वा ॥ १५३७॥

तानि शय्यातरमानुषाणि 'अद्य साधवो गमिण्यन्ति' इति कृत्वा क्षेत्रादौ न गच्छन्ति । ततो यानि तत्र महान्ति तानि धर्म शृणुयुः । चेटरूपाणि सुषाश्च पुरोहडादिषु हरितच्छेदनं यद्वा परस्परं पट्पदिकानां "थेचणं" उपमर्दनं "किचणं" ति कर्तनं वा विदध्यः, पोतानि—वस्ताणि 20 तेषां प्रक्षालनं कुवीरन् । यद्वा 'अमुकदिवसे गमनं करिष्यामः' इत्युक्ते सयतार्थं सङ्ख्वाः करणं भवेत् । तत्र यदि गृह्वन्ति तदाऽऽधाकर्मादयो दोषाः, अगृह्वतां तु प्रद्वेषगमनादयः । "विरुव्यान् ति 'विरूपम्' अनेकप्रकारं कुड्यधवलनादिकमपरमप्यधिकरणं कुर्युः । यत एते दोषा अतोऽविधिष्टच्छा न विधेया ॥ १५३७ ॥ कः पुनः प्रच्छायां विधिः ! इत्याह—

जत्तो पाए खेत्तं, गया उ पडिलेहगा ततो पाए । सागारियस्स भावं, तणुईति गुरू इमेहिं तु ॥ १५३८ ॥

²⁵ गमनसमये प्रच्छाया विधि

'यतः प्रगे' यतो दिनादारभ्य क्षेत्रप्रत्युपेक्षका गताः 'ततः प्रगे' ततः प्रभृति सागारिकस्य 'भावं' प्रतिबन्धं 'तनुकुर्वन्ति' हानिं प्रापयन्ति 'गुरवः' आचार्या एभिर्वचनैः ॥ १५३८॥

तान्येवाहं---

उच्छू बोलिंति वर्ड, तुंबीओ जायपुत्तभंडाओ । वसहा जायत्थामा, गामा पट्यायचिक्खल्ला ॥ १५३९ ॥ अप्पोदगा य मग्गा, वसुहा वि य पक्तमिट्टया जाया ।

30

अर्चोकंता पंथा, विहरणकाला सुविहियाणं ॥ १५४० ॥

इह पूर्व ग्रानादिविहारे भवनीत्युक्तम्, अतः शनकाळमेवाक्षीकृत्याभिर्वायते—इक्षवः भ्वाळ्यन्ति व्यतिक्रामन्न 'वृति' न्वपरिक्षेपन्याम्, तुम्ब्यश्च 'जानपुत्रभाण्डाः' समुत्यवतुम्बकाः, नया वृपया जानस्यामानः, शमाः प्रन्यनिवक्षवाद्याः, अञ्योदकाश्च मार्गाः, वसुवाऽपि च पक्ष्मित्वा जाना, अन्यः—पश्चिक्षदिभिरक्षान्ताः—श्चण्णाः पन्यानः मम्यति वर्चन्ते, अतो विहरण्याक्षः सुविहितानाम् । एतद् गाथाद्वयं ग्रव्यानरस्य शुण्यतो गुग्वश्चद्धनणं क्ष्यंन्तः पटिन् । ततः ग्रव्यानरे वृयान्यानस्य श्वप्यतो गुग्वश्चद्धनणं क्ष्यंन्तः पटिन् । ततः ग्रव्यानरे वृयान्यानस्य श्वप्यते । गुरवः प्राहुः—वादम्, गन्तु-क्षामा वयम्, प्रितिश्चान्माभिः क्षेत्रान्तरं प्रन्युपेश्चितं नायवः । इत्यमन्तराञ्चरा प्रज्ञाप्यमानानां ग्रव्यावरमानुगणां व्यविच्छ्यने केहानुवन्यः ॥ १५२९ ॥ १५२० ॥ नतः—

गमनसम्बे 10 शुज्जातर-स्योपदेश-डानम् आवासगक्यनियमा, ऋहं गच्छामु नो उ आयरिया । सपरिज्ञणं सागरियं, बाहेर्ड दिनि अणुमिहं ॥ १५४१ ॥

आवस्यकं-यितिक्रमणं तदेवावस्यमनुष्टेयन्वाद् नियमः स इतो येसे इतावस्यकित्यमाः । गायायां प्राञ्चतत्वादावस्यक्वाव्यस्य पृथेनिपातः । "कृष्टं गच्छान्तु" ति "वर्तमानासके वर्तमाना" इति वचनान् 'कृष्ये' प्रमाने गमिन्यान इति मत्वा तन आचार्याः 'सर्गरज्ञनं' सङ्दुम्बं सागा- । १५७१ ॥ तनः—

पञ्जज सावत्रो चा, दंनणसहो जहन्त्रजो वमहि । नागम्मि चहुमाणे, अमुगं वेलं गमिस्मामो ॥ १५४२ ॥

स श्रव्यानगे धर्मकथां श्रुत्वा कराचित् प्रश्न्यां प्रतिप्रधने । अथ प्रश्न्यां प्रतिप्रतुमशक्त-स्तः 'श्रावको मर्वात' देशविगीतं प्रतिप्रधने । अथ नामप्यक्तीकर्तुमश्रमस्तदः 'दर्शनश्रादः' १०अविग्नसम्यन्तिष्टमेवति । अथ दर्शनमप्युर्राकर्तुं नोत्महते नतो ज्ञष्म्यनोऽवस्यन्तया वस्तिं साध्नां यथा दराति तथा प्रज्ञाप्यते । स्र्णेऽपि धर्मकथां समाप्याचार्या श्रुवते—योऽमा योगो गम-नायान्यान् प्रेर्यित तसिन् वर्णमाने सति ''असुनं वेस्तं' नि सप्तम्यथं हिनीया असुकस्यां वेस्त्यां गमिष्यानः । इत्यं विकास्वेद्ययां कथित्वा प्रस्तुप्रसि श्रज्ञन्ति ॥१५२२॥ कथम् १ इत्याह—

केत्रान्तरे गमनम् *धा* नदुभय सुनं पिंडेन्द्रिंगा य उन्नयमणुन्नए वा वि । पिंडेन्ड्राहिनरण तेण, नेंद्र सन्गृह मंगान ॥ १५४३ ॥

'तहुमयं' सुत्रपारुणमध्येपार्था च कृत्वा वजित । अय दूरं क्षेत्रं गन्तव्यं ततः मृत्रपारुधी कृत्वा । अय दूरतमं ततः पादानगहरे पात्रमञ्ज्येषक्षणां कृत्वा । अय दूरतमं तत उद्गतमात्र मृथे । अथातिद्वीयान् मार्गा गन्तव्यः गन्छक्ष तृपादिमिसकान्त उन्मृरे न शकोति गन्तुं तनोऽनुद्रते सुर्ये प्रच्यति । 'पिहिच्छ'' ति निशि निर्गता उपाश्रयाद् बहिः परम्परं प्रतीकृते । अन्यया ये अध्याविगेच्छिन ते न जानिन 'केनाि मार्गण गनाः साववः श' नते। महता शब्देनाश्रतनान् सायुन् व्याहरेखः, तत्रक्ष 'अविकृत्यम्' अञ्जाययव्यवहन्यणित्यामान्तरगमनादि सविति । १ भाम् । द्रन्यमुक्तं शब्यातरो वृयात् ना० ॥ २ भित्तं ते सायव उपाश्रयाद् बहिर्निर्गताः परस्परं भा० ॥

Ē

'''तेणे नहे" ति ते पाश्चात्यसाधवोऽर्वेतनानां 'नष्टाः' स्फिटिताः सन्तः स्तेनकैरुपद्रथेरन् अतः प्रतीक्षणीयम् । "खग्गूड" ति कश्चित् खग्गूडः – निद्राङ्घः उपरुक्षणत्वात् कश्चिद्धाः धर्मश्रद्धाङ्घरिदं ब्रूते—'न कल्पते साधूनां रात्रौ विहर्तुम्' इति तस्य ''संगारो'' त्ति सङ्केतः क्रियते—त्वयाऽमु-कत्रागन्तव्यमिति ॥ १५४३ ॥ अथास्या एव गाथायाः कानिचित् पदानि विवृणोति---

पिंडलेहंत चिय वेंटियाउ काउं कुणंति सज्झायं। चरिमा उग्गाहेउं, सोचा मज्झण्ह वचंति ॥ १५४४ ॥

ते साधवः प्रभाते प्रत्यपेक्षमाणा एव वस्ताणि विण्टिकाः कुर्वन्ति । ततो विण्टिकाः कृत्वा खाध्यायं कुर्वन्ति तावद् यावत् 'चरमा' पादोनपोरुपी । ततः पात्रकाणि प्रत्यपेक्षणापूर्वं 'उद्घाद्य' यन्थिदानादिना सज्जीकृत्य ततोऽर्थं श्रुत्वा 'मध्याहे' प्रहरद्वयसमये व्रजन्ति ॥ १५४४ ॥

कथम् १ इत्याह--

तिहिं-करणिम्म पसत्थे, णक्खत्ते अहिवईण अणुक्ले । घेत्रण णिति वसमा, अक्षे सडणे परिक्खंता ॥ १५४५ ॥

तिथिश्च-नन्दा-भद्रादिका करणं च-बव-बालवादिकं तिथि-करणं तसिन् उपलक्षणत्वाद् वार-योग-मुहूर्त्तीदेषु प्रशस्तेषु नक्षत्रे च 'अधिपतीनाम्' आचार्याणामनुकूले वहमाने सति, किम् ? इत्याह—'अक्षान्' गुरूणामुत्कृष्टोपधिरूपान् गृहीत्वा 'वृपमाः' गीतार्थसाधवः शकुनान् परीक्ष-15 माणाः ''णिति'' निर्गच्छन्ति ॥१५४५॥ आह किमथे प्रथममाचार्या न निर्गच्छन्ति ? उच्यते—

> वासस्स य आगमणं, अवसउणे पहिया नियत्ता य । ओभावणा उ एवं, आयरिया मग्गओ तम्हा ॥ १५४६ ॥

वर्पणं वर्षः - वृष्टिस्तस्यागमनं दृष्टा अपशकुने वा दृष्टे वृपमाः प्रस्थिताः सन्तो निवृत्ता अपि न कोकापवादमासादयन्ति, सामान्यसाधुत्वात् । यदि पुनराचार्या दृष्टिमपशकुनान् वा विज्ञाय 20 निवर्त्तन्ते तत एवमपश्राजना भवति, यथा-यदेव ज्योतिपिकाणां विज्ञानं तदप्यमी आचार्या न बुध्यन्ते अपरं किमवमोत्स्यन्ते । तस्मादाचार्याः 'मार्गतः' पृष्ठतो निर्गच्छन्ति न पुनरयतः। अथ पुरतो गच्छन्ति ततो मासलघु । एतेन "के वच्चते पुरओ उ भिक्खुणो उदाहुँ आयरि-य" (गा० १५३१) ति पदं भावितम् ॥ १५४६ ॥ आह 'अपशकुने दृष्टे सति निवर्तन्ते' इंत्युक्तं तत्र के शकुनाः ? के वा अपशकुनाः ? इति अत्रोच्यते— 25

मइल क्रुचेले अन्भंगियछए साण खुज वडभे या । एए तु अप्पसत्था, हवंति खित्ताउ णितस्स ॥ १५४७ ॥

'मलिनः' शरीरेण वस्त्रेवी मलीमसः 'कुचेलः' जीर्णवस्त्रपरिधानः 'अभ्यङ्गितः' सेहाभ्यक्त-

् १ "तेण" त्ति स्तेनका विवुद्धाः सन्तो मोपणार्थमायाताः पश्चाद् व्रजन्ति । "नहु" त्ति कदाचित् कोऽपि साधुः मार्गात् परिभ्रह्येत् । अतः प्रथममेव प्रदोपवेळायां सङ्केतः क्रियते-अमुकत्रार्द्धमार्गे चृक्षादेरधस्ताद् विश्रामं श्रहीष्यामः, अमुकत्र वसति स्रीकरिष्याम इति । "खग्गृड" ति कश्चित् कदाग्रही खग्गृड इदं ब्रुते—न क° भा०॥ २ सोउं तो जंति मज्झण्हे ता॰॥ इ० ५८

10 गमनसमये प्रशस्तदिन-शकुनाद्यव-लोकनं त-**त्कारणानि**

अपश-क्रना

शरीरः श्वा वामपार्श्वोद् दक्षिणपार्श्वगामी 'कुछाः' वक्रशरीरः 'वडमः' वामनः । 'एते' मलिना-हयोऽप्रशम्ता भवन्ति क्षेत्रान्तिर्गच्छतः ॥ १५४७ ॥ नथा-

रत्तपड चरन तावस, रोगिय विगला य आउरा वेछा । ुकासायवस्य उद्धृतिया य जत्तं न साहंति ॥ १५४८ ॥

'रक्तपटाः' सागताः, 'चरकाः' क(का)णाटा धाटीबाहका वा, 'तापसाः' सरनस्काः, 'रोगिणः' कुष्टादिरोगाक्रान्ताः, 'विकलाः' पाणि-पादाद्यवयवन्यक्रिताः, 'आतुराः' विविधदुःस्रो-पहुताः, 'बद्याः' प्रसिद्धाः, 'कापायवस्ताः' कपायवस्त्रपरिधानाः, 'उद्वृत्रिताः' अस्मोद्वृत्रितगात्रा धृहीधृमरा वा । एते क्षेत्रान्निर्गच्छिद्धिर्दृष्टाः सन्तो यात्रा-गमनं तत्प्रवर्त्तकं कार्यमप्युपचाराद् यात्रा तां न साधयन्ति ॥ १५४८ ॥ उक्ता अपशकुनाः । अथ शकुनानाह-

शङ्गा.

10

नंदीत्रं पुण्णस्य दंसणं संख-पडहसद्दो य । भिगार-छत्त-चामर-वाहण-जाणा पसत्थाहं ॥ १५४९ ॥ समणं संजयं दंतं, सुमणं मोयगा दधि । मीणं घंटं पडागं च, सिद्धमत्थं वियागरे ॥ १५५० ॥

'नन्दीतृर्यै' द्वाद्यविधनूर्यसमुदायो युगपद् वाद्यमानः, 'पृणेस्य' पृणेकस्यस्य दर्शनम् , 15 अञ्च-परहयोः अञ्दक्ष श्रृयमाणः, भृङ्गार-च्छत्र-चामराणि प्रतीतानि, 'वाहन-यानानि' वाहना-त्रि-हिल-तुरक्तमार्टानि यानानि-चिविकार्टानि, एतानि 'प्रशन्तानि' शुभावहानि ॥ १५४९ ॥ 'श्रमणं' लिङ्गमात्रघारिणम् , 'संयतं' पर्कायरक्षणे सम्यग्यतम् , 'टान्तम्' इन्द्रिय-नोइन्द्रि-यदमनेन, 'मुमनसः' पुण्पाणि, मोदका दिध च प्रतीतम्, 'भीनं' मत्स्यम्, घण्टां पताकां च दृष्ट्रा श्रुत्वा वा 'सिर्ह्न' निप्पन्नम् 'अर्थे' प्रयोजनं व्यागृणीयादिति ॥ १५५० ॥

अथ प्रशम्त्रेषु शकुनेषु सञ्जातेषु गुरवः किं कुवेन्ति ? इत्याह-

सिजायरेऽशुमासद्द, आयरिओ सेसगा चिलिमिलिं तु । काउं गिण्हंतुर्वाहं, सारवियपडिस्सया पुन्ति ॥ १५५२ ॥

ध्ययान्राननुद्यास्त आचार्यः, यथा—न्नजामा वयम्, भवद्भिर्धर्मकर्मण्यप्रमत्तेभीवतव्यमिति । द्रोपान्तु साधवः चिलिमिळीं 'ऋत्वा' बद्धा तटन्तरिताः सन्त उपिवं 'गृह्वन्ति' संयद्रयन्तीत्यर्थः, 25 कथम्मृताः १ मार्त्रितः-सम्मार्जितः प्रतिश्रयो यम्ते सार्वितप्रतिश्रयाः 'पूर्वं' प्रथमम् ॥१५५१॥

थथ कः कियटुपकरणं गृहाति १ इत्युच्यते-

बालाईया उवर्हि, जं बोद्ध तरंति तत्तियं गिण्हे । जहण्णेण अहाजायं, सेसं तरुणा विरिचंति ॥ १५५२ ॥

वाल-बृद्ध-राजप्रविज्ञतादयो यावन्मात्रमुपीयं वाहुं ब्रक्कवन्ति तावन्मात्रमेव गृहन्ति । यदि च ⁸⁰ संवंथेव न शक्नुवन्ति तटा 'जयन्येन' सर्वस्तोकतया यथाजातमुर्पायं गृहन्ति । 'शेषं' वालादि-सत्कसुपकरणं तरुणाः साघवः 'विरिच्चन्ति' विमज्य गृह्गन्ति ॥ १५५२ ॥

तत्र च यदि 'आमित्रहिकाः' 'बारु-बृद्धादीनामुपधिरसामिर्वोद्दत्रयः' इत्येवं प्रतिपन्नाभित्रहाः

१ द्वावि⁹ मा॰ तिना ॥

सन्ति ततस्ते परस्परं विभज्य गृह्णन्ति । अथ न सन्त्याभित्रहिकास्ततः को विधिः ! इत्याह— आयरिओवहि वालाइयाण गिण्हंति संघयणज्ञत्ता । दो सोत्ति उण्णि संथारए य गहणेक्कपासेणं ।। १५५३ ॥

आचार्योपिं वालादीनां चोपिं गृह्णन्ति 'संहननयुक्ताः' अनाभित्रहिका अपि सन्तो ये समर्थ-साधवः । कथम् १ इत्याह—द्वी सौत्रिकी कल्पो एक और्णिकः कल्पैः संस्तारकः चशब्दादुत्तर-5 पष्टकश्च । एतेपामाचार्यादिसम्बन्धिनां ''गहणेक्कपासेणं'' ति सप्तम्यर्थे तृतीया 'एकस्मिन् पार्थे' एकत्र स्कन्धे महणं कुर्वन्ति । द्वितीये तु पार्श्वे आत्मीयमुपिषं स्थापयन्ति ॥ १५५३ ॥

अथ "सम्मूड" (गा० १५४३) त्ति पदं विवृणोति---

रित्तं न चेव कप्पइ, नीयदुवारे विराहणा दुविहा। पण्णवण बहुतर गुणा, अणिच्छ वीओ व उवही वा ॥ १५५४ ॥

कश्चिद् धर्मश्रद्धालुतया खम्गूडतया वा प्राह—रात्रौ न चैव कल्पते विहर्तुम्, यतः "नीय-र्दुवारं तमसं, कोष्टगं परिवजाए।" (दशवै० अ० ५ गा० २०) त्ति वचनाद् दिवाऽपि तावद् नीचद्वारे कोष्ठके प्राणिनां कण्टकादीनां चानुपरुभ्यमानतया 'द्विविधा' सयमा-ऽऽत्मविराधना भवति इति कृत्वा प्रवेष्टुं न कल्पते, किं पुना रात्रो विहर्त्तुं कल्पिप्यते 2 । इत्थं ब्रुवाणस्य तस्य प्रज्ञापना कर्त्तव्या, यथा--वत्स ! दूरतमक्षेत्रस्य गन्तव्यतया बहुतरा गुणाः सवाल-बृद्धस्य गच्छस्य 15 साम्प्रतं रात्री गमने भवन्ति । इत्थमपि प्रज्ञापितो यदि नेच्छित ततोऽस्य 'द्वितीयः' सहायो दीयते उपिर्वा तस्य जीर्ण उपहृतश्च समर्प्यते³, मा सारतरस्तदीयोपिधः स्तेनैर्गृह्येत मा वा रात्री सुप्त-स्योपह्नयेतेति ॥ १५५४ ॥ तदेवमुक्तविधिना ततः क्षेत्राद् निर्गत्य सूत्रोक्तनीत्या गच्छन्ति । **शामं** च प्राप्तानां क्षेत्रप्रखुपेक्षका यत्र पूर्वे वसितः प्रखुपेक्षिता आसीत् तत्र प्रथमं खयं गत्वा वसतिं निरूप्य ततो गच्छ तत्र प्रवेशयन्ति । तत्र रात्रावुषित्वा प्रभाते ग्रामान्तरं गच्छन्ति । एवं च— 20

वचंतेहि य दिद्दो, गामो रमणिजभिक्ख-सञ्झाओ। जं कालमणुत्राओ, अणणुत्राए भवे लहुओ ॥ १५५५ ॥

व्रजद्भिरतः साधुभिः कश्चिद् प्रामो दृष्टः, कथम्भूतः १ रमणीयं सुखप्राप्यत्वेन मनोज्ञभक्त-पानलामेन च मैक्षं अत एव रमणीयः खाध्यायश्च यत्र स रमणीयमैक्ष-खाध्यायः । एवं विघो प्रामः 'यं' यावन्तं 'कालम्' एकदिवसलक्षणं स्थातव्यत्वेनानुज्ञातः तावन्तं कालं वसन्तो न प्राय-²⁵ श्चित्तभाजो भवन्ति । 'अननुज्ञाते' द्वितीयादिषु दिवसेषु वसतां रुघुको मासो भवेर्ते ॥१५५५॥

अथवा---

तवसोसिय उन्वाया, खुल छुक्खाहारदुन्वला वा वि । एग दुग तिन्नि दिवसे, वयंति अप्पाइया वसिउं ॥ १५५६ ॥ त्तपसा-पष्टा-ऽष्टमादिना ये शोषिता ये वा उद्घाताः-अतीवपरिश्रान्ताः ये च "ख़ुरु" ति ३०

१ °त्यः तथा सं° त॰ ॥ २ तु स्कन्धे आ° भा॰ ॥ ३ °ते, तदीयः पुनः शोभनो गृहाते, मा स्तेनाद्यस्तमेकाकिनं दंष्ट्वा शोभनमुपधिं गृह्वीयुरिति ॥ १५५४ ॥ तदेव° भा॰ ॥ ४ °त्। प्य एकः पक्षः ॥ १५५५ ॥ अथवा भा॰ ॥

õ

कर्कशिक्षत्रादायाताः ये वा रूक्षाहारमे।जिन्याद् दुर्वन्ताः, एते एकं वा है। वा त्रीन् वा दिवसान् तिसान् प्रामे 'उपित्वा' स्थित्वा 'आप्यायिताः' मनोज्ञाहोरेः स्वस्तीम्ताः अपरं प्रामं वजन्ति ॥ १५५६ ॥ इटमेर्वं भावयति—

पढमदिणे समणुण्णा, सोहीब्रही अकारेण परतो ।

तिचि व (वि) समणुचाया, तश्री परेणं भवे सोही ॥ १५५७ ॥

प्रथमिदने तत्र प्रामे वसता समनुज्ञा, प्रथमो दिवसस्तत्रानुज्ञात इति भावः । ततः 'परतः' हितीयादिदिवसेप्वकारणे वसनां शोधिः—प्रायश्चित्त तस्या युद्धिभैवति । सा चानन्तरगाथायां वश्यते । अथ तपःशोपितत्वादिकमनन्तरगाथोक्त कारणं वर्चते तत्र त्रीण्यपि दिनानि समनुज्ञातानि । 'ततः' दिवसत्रयात् परतः 'शोधिः' प्रायश्चित्तं भवेत् ॥ १५५० ॥ तामेवाह—

10 सत्तर्नं तयो होइ, तओ छओ पहायई।

छेएणऽच्छिन्नपरियाए, नश्रो मृहं नश्रो दुगं ॥ १५५८ ॥

सप्तरात्रं यावत् तपो भवति । 'ततः' सप्तरात्रानन्तरं छेटः प्रधावति । छेदेनाप्यच्छित्वपर्याये साधा ततो मूलम् । ततः 'हिकम्' अनवस्थाप्य-पाराश्चिकद्वयम् ॥ १५५८ ॥

इद्मेव व्याख्यानयति-

मासो लहुओ गुरुओ, चड़ने लहुया य होति गुरुगा य । छम्मासा लहु गुरुगा, छेओ मृलं तह दुगं च ॥ १५५९ ॥

- इह प्रथमदिवमे वसन्तोऽनुज्ञाना एव, "पदमदिणे पमणुल" (गा० १५५७) ति वच-नात्। द्वितीये दिवमे यदि मनोज्ञाहारलम्पटतया तत्र यामे वसन्ति तदा लघुको मासः, तृतीये गुरुका (कः), चतुर्थे चत्वारो लघवः, पञ्चमे चतुर्गुरवः, पष्ट पण्मामा लघवः, सप्तमे पण्मासा 20 गुरवः, ततः समरात्रानन्तरमप्टमे दिवमे च्लेटः, नवमे मृल्म, द्यमेऽनवस्थाप्यम्, एकाटशे पाराश्चिकमिति। अथ तपःग्रोपिनगरीगदयने तत्रक्षीणि दिवसानि वसन्तः प्रायश्चित्तं नाप-चन्ते, "तिन्नि व (वि) ममणुन्नाय" (गा० १५५७) ति वचनान्। चतुर्थे दिवसे वसतां लघु-मामः, पञ्चमे गुरुनासः, पष्ट चतुर्लघवः, मममे चतुर्गुरवः, अप्टमे पट्लघवः, नवमे पद्गुरवः, दशमे च्लेदः, एकादशे मृल्म, हादशेऽनवस्थाप्यम्, त्रयोदशे पाराश्चिकमिति विशेषचृण्ये- १ 25 मित्रायः। चृहदृद्वाप्ये गुनिरित्यमुक्तम्—

एकेक सत्तवाग, मार्साइयं तवं तु ठाउगा ।

ष्ट्रें वि सचमत्त्रों, तिन्नि गमा नस्स पुन्तुत्ता ॥

'पूर्व' पीठिकायां (गाया ७०६) 'तस्य' च्छेडस्य ये त्रयो गमा उक्तास्तेऽत्रापि इष्टच्याः । तत्र यतः स्थानात् तपः प्रारञ्धं तत आरम्य च्छेडोऽपि दीयते, लघुमामाडारम्यस्यर्थः इत्येको ४०गमः । उधुपत्रकाडारम्येति द्वितीयः । गुमपञ्चकाडारम्येति तृतीयः ॥ १५५९ ॥

इंद सामान्यतः प्रायश्चित्तम् । अथ विदेशपत आह—

अणणुण्णाए निकारण व गुरुमाइणं चउण्हं पि ।

१°व पक्षड्यं भा° मा॰ ॥ २ °रणे एत्तो ना० ॥

गुरुगा लहुगा गुरुगो, लहुओ मासो य अच्छते ॥ १५६० ॥

अननुज्ञाते दिवसत्रयादुर्द्ध 'निष्कारणे वा' कारणं विना प्रथमदिवसादूर्द्ध गुर्वादीनां चतुर्णा-मपि तिष्ठतां यथाकमं गुरुका रुघुका गुरुको रुघुकश्च मासः । इयमत्र भावना—आचार्यस्यान-नुज्ञाते निष्कारणे वा तिष्ठतश्चत्वारो गुरवः, वृपभस्य चत्वारो रुघवः, अभिषेकस्य गुरुमासः, भिक्षोर्रुषुमासः ॥ १५६० ॥ आह किंनिमित्तमित्थं प्रायश्चित्तमापद्यते ² उच्यते—

> , नेहामु त्ति य दोसा, जे पुट्यं विणया कइयमादी । ते चेव अणद्वाए, अच्छंते कारणे जयणा ॥ १५६१ ॥

'नैष्यामः' नागमिष्याम इत्युक्ते ये पूर्व 'क्रयिताद्यः' वसतेर्माटकंसमर्पण-विक्रयणाद्यो दोषाः वर्णितास्ते चैव अर्थः-प्रयोजनं तदमावोऽर्नर्थं तेन प्रयोजनमन्तरेणेत्यर्थः, तत्र ग्रामे तिष्ठतां दोषाः । किमुक्तं भवति 2—तत्र श्रामे रसगीरवबहुरुतया तेषां तिष्ठतां कारुविरुम्बरुगनात् 10. चिकीर्पितमासकल्पे क्षेत्रे वसतिं गय्यातरो भाटकेन समर्पयेत् विकीणीत वा धान्यादिना वा श्रियेत बहुकादीनां वा दद्यात् ततस्त एवात्मविराधनादयो दोपाः । कारणे तु तिष्ठतां यतना, एकं द्वी त्रीन् वा दिवसान् स्थित्वा तथा गन्तव्यं यथा विलम्बमन्तरेण तत् क्षेत्रं पाप्यत इति भावः । एवमेतेन विधिना व्रजन्तस्तावद् गता यावद् मूलक्षेत्रम् ॥ १५६१ ॥

ततः किम् १ इत्याह—

15,

भत्तद्विया व खमगा, पुव्वि पविसंतु ताव गीयत्था। परिपुच्छिय निद्दोसे, पविसंति गुरू गुणसिमद्धा ॥ १५६२ ॥

ंते हि भक्तार्थिनः क्षपका वा सन्तस्तत्र क्षेत्रे प्रविशन्ति । 'भक्तार्थिनः' भोक्तकामाः, 'क्षपकाः' उपोषिताः । तत्र च पूर्व तावद् गीतार्थाः प्रविशन्तु । ततस्तोः गीतार्थैः 'परिप्रच्छ्य' शय्यातरं -प्रष्टा निर्दोषे उपाश्रये सुनिश्चिते सति प्रविशन्ति गुरवो गुणसमृद्धाः । सामिप्रायकमिदं विशे-20 पणम् । ते हि भगवन्तो गुरवो गुणैः समृद्धाः, अतो यदि प्रथमं प्रविश्य सन्याघातां वसति मत्वा प्रतिनिवर्त्तन्ते ततो भवति महानवर्णवादः, यथा—एतेषामेतदपि ज्ञानं नास्तीति, ततः पश्चात् प्रविश्चन्ति ॥ १५६२ ॥ अथैनामेव गाथां विवरीपुराह-

वाहिरगामे बुच्छा, उज्जाणे ठाण वसहिपडिलेहा। इहरा उ गहियभंडा, वसहीवाघाय उड्डाहो ॥ १५६३ ॥

प्रत्यासन्ने वाह्यग्रामे उपिताः प्रत्युपसि विवक्षितक्षेत्रस्योद्यानमागम्य तत्र स्थानं कुर्वन्ति । यैः क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं ते वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं प्रेप्यन्ते । 'इतरथा' यदि वसतिमप्रत्युपेक्ष्यं प्रविशन्ति ततो मासलघु । सा वसतिरन्येषा प्रदत्ता भवेत् ततः 'गृहीतभाण्डाः' गृहीतोपकरणा - वसति-व्याघाते सत्यपरां वसतिमन्वेषयन्त इतस्ततः पर्यटन्ति, तथाभूताँश्च दृष्ट्वा उड्डाहो भवेत्, यथा—अहो ! निष्परिग्रहा निर्श्रन्था इति ॥ १५६३ ॥ ततः कि विधेयम् ² इत्याह—

तम्हा पिंडलेहिय साहियम्मि पुन्वगत असित सारविए। फड्डगफड्ड पवेसो, कहणा न य उट्टऽणायरिए ॥ १५६४ ॥ तसात् चिलिमिली-दण्डकपोञ्छने गृहीत्वा वसतिं प्रखुपेक्ष्य यदि सा नान्येपां पदत्ता तदा "साहियम्मि" ति शञ्यातस्य 'शाचार्या श्रागताः मन्ति' इति कथितं सित यदि 'पृवे-गताः' पृवेखिताः क्षेत्रप्रस्रुपेक्षकान्त्रं सिन्ति तदा तैः प्रागेव वमिनः प्रमानितेव । अय न सिन्ति ततः स्वयमेव "सारिवण्" ति मन्मानिते प्रतिश्रये हारे च चिलिमिलीं बद्धा धर्मकथि-नमकं मुक्त्वा व्यावृत्य गुरुणां निवेदयन्ति । ततो वृषमान्त्रथेवाश्चान् गृहीत्वा शकुनान् परीक्ष-कमाणाः प्रविश्चन्ति । तेश्च प्रविष्टः रोषाः माधवः स्पर्वकस्पर्वकः प्रविश्चन्ति, न पुनः सर्वे एकत्र पिण्डीमृयेति मावः । यश्च तत्र धर्मकथिकः स्थित शान्ते स नागारिकत्य धर्मकथां करोति । स च "श्रणायित्य" ति शाचार्य मुक्ता रोषमावृनां ज्येष्टार्याणामप्यम्युत्थानं न करोति 'मा मृद्धं धर्मकथाया व्यावातः' इति ॥ १५६७ ॥

. अय दृषमाणां प्रविश्वतां शकुना-ऽपशकुनविसागनिरूपणायाह—

बस्तिः प्रदेशेः ऽपश्डनः शङ्गाः 10

15

महल कुचेले अन्मंगियछए साण खुझ बढमे या । एयाँ अप्यमत्याँ होति गामं अहंताणं ॥ १५६५ ॥

रत्तपड चरन नावम, रागिय विगला य आउरा वेजा । कासायवन्य उदृष्टिया य कर्ज न साहिति ॥ १५६६ ॥

नंदीत्रं पुण्णस्य दंसणं संख-पहहसदो य । मिगार-छत्त-चामर-चाहण-जाणा पसत्यादं ॥ १५६७ ॥

समणं संजयं दंतं, समणं मोयगा द्घि । भीणं घंटं पडागं च, सिद्धमत्यं वियागरे ॥ १५६८ ॥

चतनोऽपि गायाः प्राप्तत् (गायाः १५१७-५०)। नवरं श्वा दक्षिणपार्धाद् वामपार्थ-गामी गृह्यते ॥ १५६५ ॥ १५६६ ॥ १५६७ ॥ १५६८ ॥

20 इत्यं बुप्रेमपु प्रशक्तः शक्ते पविष्टेषु सुरयः क्षेत्रं प्रैविस्य किं द्ववेन्ति १ इत्याह—

कात्रावेख बर्गत-प्रवेशन-विधिः पविमंते आयरिए, सागरिओं होह पुच्च दहुच्वी। अहडूण पविहो, आवजह मासियं लहुयं ॥ १५६९ ॥

"पित्रसंत आर्यार्ए" ि तृतीयार्थं सप्तमी, वसीतं प्रतिशता आचार्येण सागारिकः पूर्वमेव द्रष्ट्यो भवति । अय सागारिकमदृष्ट्रेव प्रतिष्ट आचार्यः तत आपयते मासिकं लघुकस् 25॥ १५६९ ॥ अथाचार्यमायान्तं दृष्ट्रा यर्मकर्या किं क्लोति ? द्वलाह—

> आयरियअणुहाणे, ओमात्रण बाहिरा अद्क्लिना । कहणं तु वंदणिला, अणालवंत वि आलावो ॥ १५७० ॥

धर्मकथिना आचार्याणानम्युत्यानं कर्तव्यन् । यदि न करोति तदा 'अपमादना' लाधवमा-चार्याणां भविन—नृतं नामधारक एवायमाचार्यः, नास्य किमप्योज्ञेश्वर्य विद्यते । यद्वा लोक-उ)व्यवहारम्य बाह्या अमी, यदः पद्मानामप्यक्कुलीनां ताबदेका ज्येष्टा मवित । तथा 'अदाक्षिण्याः' 'गुरूनिप प्रति एतेषां दाक्षिण्यं नान्ति' इति ग्रय्यानगिश्चन्यति । ''कहणं तु'' ति ग्रय्यातरस्य

१ °त्र वसन्ति मो॰ ॥ २ सर्वेऽपि एक° दे॰ ॥ ३ प्रतिष्यन्तः (प्रविद्यान्तः) सन्तः त॰ दे॰ कं॰ ॥

धर्मकथिना कथपुनः र्े यथा—वन्दनीया एते भगवन्त इति । ततो गुरुभिरनालपतोऽपि शय्यातरस्यालाप्ने पत्यः ॥ १५७० ॥ अथ न कुर्वन्त्यालपनमाचार्यास्तत एते दोषाः—

यद्धा निरोवयारा, अग्गहणं लोकजत्त वोच्छेदो ।

तम्हा खल्ज आलवणं, सयमेव य तत्थ धम्मकहा ॥ १५७१ ॥

स शय्यातरिश्चन्तयेत्—अहो ! 'स्तव्धाः' आत्माभिमानिन एते, वचसाऽपि नान्यस्य गौरवं ६ प्रयच्छिन्त । 'निरुपकाराः' कृतमप्युपकारं न बहुमन्यन्ते, कृतन्ना इत्यर्थः । 'अग्रहणम्' अनाद्रिरो मां प्रत्यमीषाम् । लोकयात्रामप्येते न जानित, लोके हि यो यस्याश्रयदानादिनोपकारी स ततः स्निग्धदृष्टयवलोकन-मधुरसम्भाषणादिकां महतीं प्रतिपत्तिमहितीति । इत्थं कषायितस्तद्रव्य-स्यान्यद्रव्याणां वा व्यवच्छेदं कुर्यात् । यत एवं तसात् खल्वालपन्माचार्येण कर्तव्यम्, स्वयमेव च तत्राचार्येण धर्मकथा कार्या ॥ १५७१॥ कथम् १ इत्याह—

वसिंहफलं धम्मकहा, कहणमलद्धीओं सीस वावारे। पच्छा अइंति वसिंह, तत्थ य भुजो इमा मेरा।। १५७२।।

· धर्मकथां कुर्वन्तः सूरयो वसतिफलं कथयन्ति । यथा---

रयणगिरिसिहरसरिसे, जंबूणयपवरवेइआकलिए। मुत्ताजालगपयरग-खिंखिणिवरसोभितविढंगे॥ वेरुलिय-वयर-विद्रुमखंभसहस्सोवसोभिअमुदारे।

साह्ण वसहिदाणा, लमती एयारिसे भवणे ॥ (कल्पबृहद्भाष्ये) इत्यादि ।

अथाचार्याणां धर्मकथने लिब्धनं भवति तदा शिष्यं धर्मकथालिब्धसम्पन्नं व्यापारयेयुः । ततः पश्चादाचार्याः प्रविश्चन्ति वसतिम् । तत्र च प्रविष्टानां 'मूयः' पुनरियं 'मर्यादा' सामाचारी ॥ १५७२ ॥ तामेवाभिधित्सुराह—

मजाया-ठवणाणं, पवत्तगा तत्थ होंति आयरिया । जो उ अमजाइस्लो, आवज्जह मासियं लहुयं ॥ १५७३ ॥

मयीदा च—सामाचारी स्थापना च दानादिकुलानां तयोः प्रवर्तकास्तत्र क्षेत्रे आचार्या भवन्ति । यश्च साधुः 'अमर्यादावान्' मर्यादामाचार्यैः स्थापितां न पालयति स आपद्यते मासिकं लघुकम् ॥ १५७३ ॥ मर्यादामेवाह—

पिंडिलेहण संथारग, आयिरिए तिन्नि सेस एके हिं। विटियउक्खेवणया, पिंवसह ताहे य धम्मकही ॥ १५७४ ॥ उचारे पासवणे, लाउअनिल्लेवणे अ अच्छणए । करणं तु अणुनाए, अणणुनाए भवे लहुओ ॥ १५७५ ॥

संस्तारकभूमीनां 'प्रत्युपेक्षणाम्' अवलोकनां कुर्वते । तत्राचार्यस्य तिस्रः संस्तारकभूमयो ३३ निरूपणीयाः, तद्यथा—एका निवाता अपरा प्रवाता तृतीया निवातप्रवाता । शेपाणां साधूनामे-

१ 'यश्च' आचार्यः 'समर्यादाचान्' मर्यादाम् उपलक्षणत्वात् स्थापनां च न प्रवर्तयति स आपद्यते मासिकं लघुकम् ॥ १५७३ ॥ अध मर्यादां तावदाह् भा० ॥

20

25

15

मर्थादा-स्थापनयो-व्यवस्था

मर्यादा

कैन्न संसारकंग्रम वंशान्ताविकत्या अपयन्ति न यथाकयिति । तिः यहानामान्मायान्मीय-विण्यित्तानामुखेपणं कर्त्वयम्, येन नाम्बित्रामु मृनिमागः प्रतिनियनपरिमाण-छेदेनावयम्यने । तदा च धमकथी सम्तारक्ष्यद्यार्थं धमकथामुपनंद्व्य प्रतिश्रयाम्यन्तरे प्रविद्यति । तथा क्षेत्र-प्रत्युपेक्षकाः सञ्चातरानुक्तातां सुनं ग्यानवण् दर्शयन्ति । यथा—हयति प्रदेशे उच्चार्णरप्यापन-अमनुक्तानम् नेत कर्व्वम्, एतं "पानवण्" नि प्रश्रवणम्भि "लाउण्" ति अळावृति—तुम्बक्तानि तेषां क्ष्यपकरणप्रायोग्यं प्रदेशं 'निन्देशनं पुनप्रशाचनं तस्य म्यानं "अच्छण्णं" ति यत्र न्ताव्यायं कुर्विद्व-पासने, एतानि तथात्र वर्शयन्ति । तने य एव सम्यानं पानुक्तातेऽत्रकासम्तत्रेवोच्चार्णनां करणं भगविद्यादिष्टम । अननुक्ताने त्ववकारो कुर्वनो मामञ्ज्ञ, तद्वव्या-ज्यद्वस्यवच्छेदादयश्च दोषाः ॥ १५७४ ॥ १५७५ ॥ उक्ता मर्यादा । अथ स्वापनामीमियन्तुः प्रनावनामाद्द्

स्यापना

10

25

मनिद्विया व समया, अमंग्छं चायणा जिणाहरणं । जह समया वंदंता, दादंतियरे विहि वाच्छं ॥ १५७६ ॥

ते हि साधवः क्षेत्रं प्रविद्यन्ता मक्तार्थना य मवयः अपका वा । यदि अपकाः तता नोद-कत्य 'नोदना' प्रेरणा, यथा—प्रथममेव तावदमङ्गर्जनदं यदुण्वानं प्रत्यान्याय प्रविद्यते । सृदि-गह्—'जिनाहरणं' जिनानानुदाहरणमत्र मत्त्रव्यम् । ते हि सगवन्ता निष्क्रमणसमय प्रावश्च-गेठनुशादि तपः कृत्वा निष्कामन्ति, न च तत् तयाममङ्गर्जन , एवमत्रापि मावनीयम् । तत्रश्च यदि ते अपकान्तवा चेत्यानि वन्द्रमाना एव द्रश्यन्ति स्थापनाकृत्यानि क्षेत्रप्रसुपंक्षकाः । अथ मक्ता-थिनन्ते ततः ''ह्यरे' ति द्रतेरपु मक्तार्थिषु यो विधिन्तं वक्ष्ये ॥ १५७६ ॥ तमेवाह्—

> मन्त्रे दहुं उग्गाहिएण श्रोयरिय मय ममुष्यत्ने । - तम्हेश दाहि निर्हि वा, उग्गाहिय चेहए वंद ॥ १५७७ ॥

20 वैस्पवन्द्रनार्थं गन्तुकाना यदि सर्वेऽपि पात्रक्सुहाह्येयुः तदः सर्वान् साधृन् उहाहितेन पात्रकण दृशां अद्यो ! औदिनिका एते दिनि शान्कश्चिन्त्रयदि । सर्व च तस्य ससुन्यवते, यथा—कथमेतावतां संयकेन दास्ते ! दिनि । तन्मादेकेन द्वान्यां त्रिमिवी साधुमिरुहाहिनपार्वेकः देपैः पुनरनुहाहिनपार्वेकः सहिताः सुर्यश्चेत्रानि वन्दैन्ति ॥ १५७७॥

थय यथेकेंऽपि माधुः पात्रकं नोहाह्यनि ततः को दोपः १ इत्याह—

सदामंगीऽशुग्गाहियम्मि ठवणाह्या सदे दोमा । यग्चेह्य आयग्गि, क्रयवयगमणं च गहणं च ॥ १५७८॥

अशनुहाहित एवक प्रशानि नरक्षेणित वन्त्रमानात् हृष्टा काँ ऽति वर्नेश्रद्धावात् मक्त-पानन निम्बयन् तदा यदि माननं नार्न्ताति कृत्वा न गृह्यते ततः श्रद्धामहन्त्रस्त्रोपज्ञायते । अथ श्रुवते 'पात्रकं गृहीन्य यात्रद्द वयमागन्छामनावद्द्रस्य निष्टतु' ततः स्यापनद्यो दोषा मवेद्यः । ३७ तमाहृह्यहर्षायं पात्रकत् । जिनगृहेषु च बृत्देन सर्वेऽपि चेन्यानि वन्दित्व गृह्चैत्यत्रन्त्रनार्थ-माचार्येष कतिर्येः सावृत्तिकहाहितपार्वेकः समे गमनं कर्तव्यम् । तत्र यदि शावकः प्राशुक्तेन मन्त्रभावन निम्हवत् तत्रो यहणम्यि तस्य कर्तव्यम् ॥ १५७८ ॥

१ प्रायेणोपवासं क्रन्वेव नि॰ मा॰ ॥ २ त्रन्त्ने मा॰ ॥ ३ सर्वेरपि छां० ॥

10

आह कानि पुनः कुलानि चैत्यवन्दनं विद्धानास्ते दर्शयन्ति १ उच्यते— दाणे अभिगम सहै, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते । मामाए अचियत्ते, कुलाइँ दाइंति गीयत्था ॥ १५७९ ॥

यथाभद्रको दानरुचिः दानश्राद्धः । सम्यग्दृष्टिगृहीताणुव्रतोऽभिगमश्राद्धः । "सम्मत्ते" चि अविरतसम्यग्दृष्टिः । "मिच्छत्ते" ति आभिग्रहिकमिथ्यादृष्टिः । 'मामाको नाम' ईर्प्याल्चतया 'हे व श्रमण ! मा मदीयं गृहमायासीः' इति त्रवीति । यस्त्वीर्प्याञ्जतयेव साधुषु गृहं प्रविशत्सु महद्-पीतिकं खचेतिस करोति वाचा न किमिप ब्रुते एष देशीभाषया अचियतः। एतेषां कुलानि दर्शयन्ति 'गीतार्थाः' क्षेत्रप्रत्यपेक्षकाः ॥ १५७९ ॥ दर्शयत्वा च किं कुर्वन्ति ? इत्याह—

दाणे अभिगम सहे, सम्मत्ते खल्ज तहेव मिच्छत्ते । मामाए अचियत्ते, कुलाइँ ठाविति गीयत्था ॥ १५८० ॥

एतानि कुलानि स्थापयन्ति गीतार्थाः, 'अमीषु प्रवेष्टन्यम्, अमीषु तु न' इति न्यवस्थाप-यन्तीत्यर्थः ॥ १५८० ॥ अथ न स्थापयन्ति तदा किम् १ इत्याह—

> दाणे अभिगम सङ्घे, सम्मत्ते खल्ल तहेव मिच्छत्ते । मामाए अचियत्ते, कुलाइँ अठविंति चउगुरुगा ॥ १५८१ ॥

एतानि कुळान्यस्थापयतश्चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तम् ॥ १५८१ ॥ यत एवमतः—

कयउस्सग्गाऽऽमंतण, अपुच्छणे अकहिएगयर दोसा । ठवणक्कलाण य ठवणं, पविसइ गीयत्थसंघाडो ॥ १५८२ ॥

'उत्सर्गे' चैत्यवन्दनं विधायागतानामैर्यापथिकीकायोत्सर्गे कृते यद्वा ''उत्सग्ग'' ति आव-स्यके कृते सर्वेऽपि साधवो गीतार्थेरामन्नणीयाः—आर्याः! आगच्छत, क्षमाश्रमणाः स्थापनां प्रवत्तीयप्यन्ति । इत्थमुक्ते सर्वेऽप्यागम्य गुरुपदकमलमभिवन्द रचिताञ्जलयस्तिष्ठन्ति । तत 20 भाचार्यैः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः प्रष्टव्याः—कथयत कानि कुलानि प्रवेष्टव्यानि ? कानि वा न ? इति । ततस्तैरि क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैर्विधिवत् कथनीयम् । यद्याचार्याः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान् न प्रच्छन्ति, ते वा प्रष्टाः सन्तो न कथयन्ति, ततस्तेषु प्रविशतां ये सयमा-ऽऽत्मविराधनादयो दोषास्तान् 'एकतरे' सूरयः क्षेत्रप्रत्युपेक्षका वा प्राप्नुवन्ति । ततः कथिते सति यान्यभिगृहीतमिथ्यात्व-मामाका-ऽचि-यत्तानि तानि सर्वथैव स्थाप्यानि, यथा—नैतेषु केनापि प्रवेष्टव्यम् । यानि तु दानश्राद्धादीनि 25 स्थापनाकुलानि तेषामपि स्थापनं कर्तव्यम् । कथम् १ इत्याह—प्रविशति एक एव गीतार्थस-द्वाटको गुर्वादिवैयावृत्त्यकरखेषु ॥ १५८२ ॥ इदमेव भावयति---

गच्छिम्म एस कप्पो, वासावासे तहेव उडुबद्धे। गाम-नगर-निगमेसुं, अइसेसी ठावए सही ॥ १५८३ ॥

वर्षावासे तथैव ऋतुवद्धे ग्राम-नकर-निगमेषु स्थितानां गच्छे एष कल्पः । कः ² इत्याह---30 अतिशेषाणि—अतिशायीनि स्निग्ध-मधुरद्रव्याणि प्राप्यन्ते येषु तानि कुलान्यतिशेपीणि "सिंह" त्ति दानश्रद्धावन्ति एवंविधानि कुलानि स्थापयेत् । एकं गीतार्थसङ्घाटकं मुत्तवा रोपसङ्घाट-कान् न तत्र प्रवेशं कारयेत् ॥ १५८३ ॥ आह---

किं कारणं चमहणा, द्व्वचुक्रा उन्ममा वि य न सुन्वे । गच्छम्मि नियय कक्षं, आयरिय-निराण-याहुणण् ॥ १५८४ ॥

'क्षि कार्णं' को हेतुः येन स्थानाकुँखयेक एव सङ्घाटकः प्रविद्यति है। सरिगह—"चम-हण' नि अस्थर्मेश्र सङ्घाटकः प्रविद्यद्विनानि कुच्यस्त्रेतं प्रायन्ते । तनश्च द्रव्याणां—निष्व-व्यवस्थां श्यो सहित्, उद्दमोऽति च न शुक्यति । गच्छे च 'नियतं निश्चितं प्रयोग्यद्वयः कार्य सबि । क्रिमर्थस् हे इत्याह—शाचार्य-न्यानशाक्ष्यकानां हेर्नोरिति निर्युक्तिगायासमा-मार्थः ॥ १५८२ ॥ अथ मायकार एत्रसेव विद्युणीति—

> पुष्ति पि त्रीन्सुणिया, मणिया भणिया पहात्रए तुन्ति । मा चमहणाएँ मिन्गा, निच्छद् दहुं पि गंतुं जे ॥ १५८५ ॥

बीरहार-बीदाह-राम 10 जहा कह कंत्युविया केलंह पार्वहिन्छ नितिगहेंचे गहेंचे छिछिक्कांत्या समार्गा नितिग्र-इंगि गिष्टह । पच्छा सो नेहिं सवएण किया वि कार्ड हंतृम छिछिक्चांग्ह । सा वांत्युविया हतो तथा पहाबद जाव न किंकि पेच्छह । तहे सा वेर्णात्या समार्गा वह सो साव्यं दहुं पच्छा छिछिक्चांग्ह नहा वि पर्य नि न इच्छए गेतुं ॥

अथ गायाङखोजना—यः छुनकहिनीयः छम्राइण्हानहिनो स्तायां क्रमेनि स वीर १९ उच्येत, तत्त्व छुनिका यथा पूर्वमहेण्डीय भागेत 'मितना मितना' क्रीकृता छीकृता सनी नितिनेत्रतः प्रणानि । ततः सा 'चमहाग्य' निर्यक्षस्टेद्रजन्या ''मिनगा' क्रान्ता सती सन्तमीय श्राप्तं ह्या पदमीय गन्तुं ''हें' इति पादमुग्ये नेच्छिनि ॥ १७८५ ॥

ए। द्यानः । अर्थीपनयम्बेदम्—

एवं महहराई, चमहिलंगाई असमस्रीहं।

20 नेच्छीत किंचि दाउं, संतं पि निहं गिलागस्स ॥ १५८६ ॥

'पूरम्' अष्टतेत प्रकारण श्राद्धकुर्यात 'चनिह्यांताई' ति उद्देश्यमान नि 'अत्यांत्येः' श्रुटकुर्त्यावित्त्याक्ष्मादिनिः । यहा ''अञ्चमकेहिं' ति अत्यान्येः-परिक्रणुप्रांवः कारणेः । यथा एकः प्रह्—कन्त्रम् श्रीपं दुप्यति श्रुक्तां प्रयच्छः अगः प्राह—मनोतः दुप्यति द्र्यः करांच्या प्रयोजनम् ; दर्द्यः प्रह्—प्रशृते आयाताऽति हृतादिकं देहिः अत्यः ध्रमह—अहमाज्यंत्र हेताग्याताऽति हृत्यं मश्कतं प्रतिक्रमयेन्यदि । तत्रति वृत्तांत्रम् स्वं प्रवास्त्र करो व्यक्तां प्रयच्यामः । को वा जानि वृत्तम्वार्णदीनां हेतागृह्वायः अत्याद्यात्र प्रवास्त्रम् अत्याद्ये हिन्द्रम् प्रवास्त्रम् अत्याद्ये हिन्द्रम् प्रवास्त्रम् अत्याद्ये हिन्द्रम् व्यक्ति । प्रवाह्ये प्रयच्यात्रम् क्रिक्ति चित्रमानम् प्रवादिकं क्रिक्ति चेत्रमानम् क्रिक्ति चित्रमानम् विक्रमानम् विक्रमानं विक्रमानं प्रवास्त्रम् ॥ १५८६ ॥

१० गतं चमहणाहाग्म् । अय ह्य्यस्यादम् गुविद्वागद्वयमार्-

अस्रो चमहण दोमा, दत्वनको उग्गमा वि य न सुन्ते । र्नाण दुष्डमदत्वे, नत्यि गिराणम्य पाउनां ॥ १५८७ ॥ 'अन्यः' अण्ययस्दनायां दोतः, कः १ इत्यह—त्रवस्य—अवग्रहिम-युनादेः क्राणमन्त- रेणापि दिने दिने गृह्यमाणस्य क्षयो भवति । ततश्च यद्यभिनवमवगाहिमादि द्रव्यं साघूनामशीय करोति कीणाति वा तत उद्गमोऽपि व न शुच्यति, सदोपत्वात् तद् उत्पादितमपि न कल्पत इति भावः । ततः 'क्षीणे' व्यवच्छिन्ने दुर्रुभद्रव्ये प्रयोजने उत्पन्नेऽपि नास्ति ग्लानस्य प्रायोग्यम् । ततः परिताप-महादुःखादिका ग्लानारोपणा द्रष्टव्या, भद्रक-प्रान्तकृताश्च दोषा भवन्ति ॥१५८७॥ तानेवाह-

> दन्यक्खएण पंतो, इत्थि घाइज कीस ते दिन्नं। भदो हद्वपहद्वी, करेज अर्ज पि साहूणं ॥ १५८८ ॥

इह कस्यापि प्रान्तस्य मार्यो श्राद्धिका, ततस्तयाऽन्यान्यसाधूनीं याचमानानां प्रायोग्यद्रव्यं सर्वमपि प्रदत्तम् । ततस्तस्याः पतिर्भोजनार्थमुपविष्टः सन् त्रृते — कूरं मे परिवेपय । सा प्राह— साधूनां प्रदत्तः । स प्रतिब्रूयात्—पूपिलकास्तर्हि परिवेषय । सा प्राह—ता अपि प्रदत्ताः । एवं 10 सूप-दुग्ध-दिधममृतीन्यपि साधूनां वितीर्णानीति । इत्यं द्रव्यक्षयेण स प्रान्तः कुपितः सैन् 'अरेरे कुलपासने ! किं ते मुण्डास्तवोपपतयो भवन्ति येनैवं मदीयं गृहसर्वस्वं दत्त्वा तान् पोपयसि ? स्तां स्त्रियं 'घातयेत्' कुदृयेत्, 'कस्मात्' किमर्थं त्वया तेभ्यः सर्वमिप दत्तम् ! इति इलर्ग त्र पाठान्तरम्—''दबक्लएण छुद्धो'' ति 'छुव्धः' लोमामिम्तः, शेषं प्राग्वत् । गे गृहपतिः स[ं] श्राद्धिकया सर्वेसिन्निप दत्ते तथैव च कथिते हृष्टमहृष्टो भवति । हृष्टो 15 र परितोपवान् , प्रहृष्टस्तु – प्रहसितवदनः समुद्भृतरोगर्होगे हर्पाश्रृणि विमुश्चमान इति । र् 'अन्यदपि' अवगाहिमादिकं साघूनामशीय, कारयेदित्यर्थः । एतद्दोषपरिहरणार्थमेकं ंकं मुक्तवा रोपाः स्थापनाकुळानि न निर्विरोयुः । प्राघूर्णके चायाते सति प्राघुण्यं भच स्वभावानुमतैरेव भक्त-पानैः ॥ १५८८ ॥ तथा चात्र दृष्टान्तमाह---

जहें महिसे चारी, आसे गोणे य जे य जावसिया।

एएसिं पडिवक्खे, चत्तारि उ संजया होंति ॥ १५८९ ॥

₂₀ चतुर्घा प्राघूर्णक-साधव.

'जड्डः' हस्ती, महिषाश्ची प्रतीती, 'गोणः' वलीवर्दः, एतेपां ये 'यावसिकाः' यवसः-तत्या-योग्यमुद्ग-माषादिरूप आहारस्तेन तद्वहनेन चरन्तीति यावसिकास्ते अनुकूलां चारीमानयन्ति । एतेपां जड्डादीनां 'प्रतिपक्षे' प्रतिरूपः पक्षः प्रतिपक्षः-सदृशपक्ष इत्यर्थः, तत्र चत्वारः प्राघूर्णक-सयता भवन्ति । तद्यथा---जड्डसमानो महिपसमानोऽश्वसमानो गोसमानश्र्येति ॥ १५८९ ॥ 25

अथामीपामेव व्याख्यानमाह—

जड्डो जं वा तं वा, सुकुमालं महिसओ महुरमासो। गोणो सुगंधिदन्वं, इन्छइ एमेव साह वि ॥ १५९० ॥

'जड्डः' हस्ती, सः 'यद्वा तद्वा' कर्कश-कटुकादिकमप्याहारयति । यस्तु महिपः 'युकुमारं' वंशकरीलादिकमभिलपति । अश्वः 'मधुरं' मुद्ग-मापादिकमभिकाङ्कृति । 'गोः' वलीवर्दः सः 'सुग-३० निधद्रन्यम्' अर्जुनक-प्रनिथपर्णादिकमिच्छति । एवमेव साधवश्चत्वारः चतुर्विधं भक्तमिच्छन्ति—

१ च तस्य द्रव्यस्य न भा॰ ॥ २ °नां रिकारिकप्रयोजनेषु याच° मा॰ ॥ ३ सन् सां स्त्रियं त० डे॰ का॰ ॥ ४ व्हर्ष इति । तत॰ त॰ डे॰ का॰ ॥

तत्य पदमो जडुसमाणो पाहुणगसाह भणड—मम जं दोसीणं वा उण्हगं वा कंजियं वा छठमइ तं चेव आणेहि, नवरं उटरप्रं । एवं मणिए किं दोसीणं चेव आणेयवं ? न, विसेसेण सोहणं तस्म आणेयवं । विह्ओ पाहुणयसाह मणइ—परं मे नेहरहिया वि प्वित्या सुकु-माला होट । तह्ओ मणइ—महुरं नविरं मे होट । चटत्यो मणइ—अतं वा पाणं वा निप्पिडगंधं धमे आणेह । एवं ताणं मणंताणं जं जोगं तं सहुयकुलेहितो विसेसियं आणिज्ञह । तं च टिविएमु चेव सहुयकुलेसु लठमइ नाटिविएमु । पाहुने य कीरमाणे महंतो निज्ञरालामो साहु-कारो य पाविज्ञह । अतो कायवं तं जहाविसहं साहृहिं ति ॥ १५९० ॥

थाह यद्येवं तर्हि श्राद्धकुलेपु मा कोऽपि प्रवेशं कार्पीत् ? यदा प्रायूर्णकादिकार्यं समुसन्नं मित्रप्यति तदा प्रवेशं करिप्यामः, ततश्च बहुतरमुत्कृष्टं च लप्सामहे । स्रिराह—(प्रन्था-10 प्रम्-७५००)

एवं च पुणो ठविए, अप्पविसंते इमे मवे दोमा । वीसरण संजयाणं, विसुक्षगोणीइ आरामे ॥ १५९१ ॥

एवं च तावत् चमदनायां दोषा अमिहिताः । पुन शब्दो विदोषणार्थः । यदि पुनः स्थापना-कुलानि सर्वेषव स्थाप्यन्ते नतः "ठविए" ति सर्वेषेव स्थापितेषु तेप्वप्रविद्यतां साघृनामेते 15दोषा मवेषुः । तद्यथा—विसारणं संयनानां भवति, भिक्षा दातव्येति नियमामावात् ।

अत्र च विशुष्क्रया गवा आरामेण च दृष्टान्तः—

जहा—एगस्स वोद्धिज्ञाइयस्स गोणी घेणू। सा य पञ्चोस-पञ्चमे मुकुछवं मुकुछवं दुद्धस्स पयच्छइ। तस्स य दसिंह दिवसिंह संखडी भविस्सइ। ताह सो चितेइ—एसा गानी ताव वहुयं खीरं देइ, तया य दृष्ट्टं खीरं भविम्सइ, मम य तया अवस्सं कर्ज्ञं, तो इयाणि न दुहामि, 20 तया चेव एकसराए दुहिम्सामि, वरं मे ढम कुछया होतया। पत्ते य संम्वडिदिवसे महंतं कुंडयं गहाय गोणीट्हणहुयाए हुक्को जाव विमुक्का, जुलुओ वि नित्य दुद्धस्स । एवं संजया वि अणिष्टियंता तेसिं सहाणं पम्हुद्धा न चेव जाणिति—किं संजया अत्थि १ नवा १। ते वि संजया जिम्म दिवमे कर्ज्ञं तिम्म गया जाव न संति ताणि द्वाणि। तम्हा दोण्ह वा तिण्ह वा दिव-साणं अवस्सं गंतवं।।

शहवा आरामिट्रंडुतो, नहा—एगो आरामिओ।सो चितेह्—मम आरामे पुष्पाणं आदयं दिणे दिणे उद्देह, इंडमहदिवसे अ वह जणो पुष्पाण कायओ भविस्सह तो मा दिणे दिणे पुष्पां उचेमि, तिह्वसं वरं वहणि पुष्पाणि होताणि ति। पत्ते य इंडमहिद्वसे सो पिच्छियाओ वेतुं गओ जाव सो आरामो उष्फुहो, एगमित पुष्फं नित्य। एवं ते निह्वसं कज्जमुष्पत्रं तिह्वसं पित्रहा टचणाकुलेस । ताहे सद्दा मणंति—नुत्रमे इहं चिय अच्छंता न सुणह वेंछं, उग्जम्हं पए वत्ता वेरु । अष्पित्रसंतेसु य न कोइ इंसणं पिहवज्जह, न वा अणुव्रए, गिरुणिपाइमं वा नित्य॥

यत्रश्चेवमतः प्रवेष्टत्र्यं स्थापनाकुलेषु गीतार्थसद्घाटकेन ॥ १५९१ ॥

स्यापना-कृटेषु चान्तर्-मबझ्यं

गमनम

गोर्द्यन्त.

आराम-दृष्यन्त

स्थापना-

नहासिपा

तत्र गमने प्रेपणे वा

प्रायश्चित्तं

दोषाश्व

10

कुलेषु प्रवेशा-

स च कीद्दग्दोपैर्विरहिर्तः १ इत्यत आह---

अलसं घसिरं सुविरं, खमगं कोह-माण-माय-लोहिछं। कोऊहल पडिवद्धं, वेयावचं न कारिजा॥ १५९२॥

'अलसं' निरुधमम्, 'श्रसितारं' बहुभिक्षणम्, 'स्वप्तारं' खपनशीलम्, 'शीलाद्यर्थस्यरः'' (सिद्ध०८-२-१४५) इति प्राकृतलक्षणवलादुभयत्रापि तृन्प्रत्ययस्यरादेशः, क्षपकं प्रती-५ तम्, ''कोह-माण-माय-लोहिहं'' ति कोधवन्तं मानवन्तं मायावन्तं लोभवन्तम्, सर्वत्रापि भूम्नि मतुप्रत्ययः, यथा गोमानिति, ''कोऊहल'' ति मत्वर्थीयप्रत्ययलोपात् कुत्ह्हिनम्, 'प्रतिवद्धं' सूत्रार्थप्रहणसक्तम् । एतान् वैयावृत्त्यमाचार्यो न कारयेदिति समासार्थः ॥ १५९२॥

अथैनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतः प्रायश्चित्तमाह—

तिसु लहुओ तिसु लहुया, गुरुओ गुरुया य लहुग लहुगी य । पेसग-करिंतगाणं, आणाइ विराहणा चेव ॥ १५९३॥

अलसादीन् य आचार्यः स्वैयावृत्त्यार्थं प्रेषयति—व्यापारयतीत्यर्थः, यश्चेभिदोंपेर्दुप्टः स्वयं वैयावृत्त्यं करोति, तयोः प्रेषक-कुर्वतोः भायश्चित्तम् । तद्यथा—'त्रिपु' अलस-वहाशि-निद्रालुषु लघुको मासः । 'त्रिषु' क्षपक-कोपना-ऽभिमानिषु चत्वारो लघवः । मायावति गुरुको मासः । लोभवति चत्वारो गुरुकाः । कौतृहलवति चत्वारो लघुकाः । सूत्रार्थप्रतिवद्धे लघुमासः । आज्ञा-15 दयश्च दोषा विराधना चात्म-संयमविषया ॥१५९३॥ तत्रालस-स्वपनशीलयोनियोजने दोषानाह—

ता अच्छइ जा फिडिओ, सइकालो अलस-सोविरे दोसा।
गुरुमाई तेण विणा, विराहणुस्सक-ठवणादी ॥ १५९४ ॥

अलस निद्रालुश्च

अलसः खपनशीलश्च तावदुपविष्टः शयानो वा आस्ते यावत् सन्-विद्यमानः कालः सत्कालो भिक्षायाः 'स्फिटितः' अतिकान्तो भवति । यद्वा तावलस-निद्राल्च चिन्तयेताम्—20 'समापिततं ताविद्यमसाकमवश्यकरणीयं कर्म, अत एतदिष निर्वाहितं भवतु' इति कृत्वा अप्राप्ते एव भिक्षाकाले पर्यटेताम्, तंतो यद्वा तद्वा भक्त-पानं लमेते, न प्रायोग्यम्, 'तेन' प्रायोग्येण विना या 'गुर्वादीनाम्' आचार्य-वाल-वृद्ध-ग्लानादीनां विराधना तिल्पितं प्रायश्चित्तम् । यद्वाऽतिकान्तायां वेलायामायान्तं वैयावृत्त्यकरं मत्वा प्रायोग्यस्ते स्थापयेयुः ततः स्थापना-25 दोषः । आदिशब्दात् 'साधूनामसविभक्तं भक्तं कथं समुखे प्रक्षिप्यते ?' इति बुद्धा तेपामभु-क्षानानामन्तरायमित्यादयो दोषाः ॥ १५९४॥

अप्पत्ते वि अलंभो, हाणी ओसक्षणा य अइभद्दे । अणिहंडंतो य चिरं, न लहइ जं किंचि वाऽऽणेइ ॥ १५९५ ॥

१ °तो नियोक्तव्यः ?—अल्सं भा०। "केरिसो पुण तेष्ठ सदृक्लेष्ठ निज्जन्द १ तत्र सर्वधेव ताव एविधो नियोक्तव्यः" इति चूर्णी विशेषचूर्णी च॥ २ °पि अतिशायने मतुप्रत्ययः, यथा क्रपवती कन्येति, भा०॥ ३ अथवा ता॰ भा०॥ ४ तदा च पर्यटन्नसौ यद्वा तद्वा भक्तपानं लभते त० डे० का०॥ ५ °म्। अतिक्रान्तायां तु वेला॰ भा०॥ ६ °ग्यभक्त-पानस्यो॰ भा०॥

अथ 'यदंतत् कमीसाकं मध्ये ममापितं तद् निर्वाहितं भवतु' इति कृत्वा अपाप्ते काले भिक्षामदित तदा 'अलामः' न किमिप प्राप्यते ईति मावः । ततश्चाचार्यादानां 'हानिः' असंस्मरणं भवति । यस्तु 'अतिमहकः' अनीवधर्मश्रद्धावान् गृहपितः सः 'अवप्यप्कणं' विविधित-कालाहवाग् भक्तनिप्यादन कुर्यात् । यहा असावक्रमत्वाद् निद्राख्तवाद्वा चिरमहिण्डमानः सन् विन किमिप समने, 'यिकिश्विद्वा' पर्युपितं व इन्चणकादिकं वा आनयित, तेन भुक्तनाऽपथ्यतया गुवीदीनां न्यानत्वं भवति, तदः परिनाप-महादुःचादिका ग्लानागेपणा ॥ १५९५॥

अथ "घसिर" चि पर्द भावयति—

¤ निता

तिण्हामि अपणो ता, पजतं नो गुरूण विच्छामि । वेतुं च नेमि विच्छं, सीयल-आमक्क ओमाई ॥ १५९६ ॥

10 यो महोदरः स वैयाहर्य नियुक्ता मिक्षामटन् चिन्तयति—गृहामि तावदानम्नो योग्यं प्रयानं नता गुन्यणा हेताप्रहीप्यामि । यहा नेषां गुन्यणां योग्यं गृहीन्त्रा नन आसमोऽर्याय प्रहीप्य । इत्यं विचिन्त्य यदि प्रथमं गुन्यणां योग्यं गृहीन्त्रा पश्चादातमाथ गृहाति ततो यावना कालेनान्यनः पर्याप्तं पूर्वते तावता नन् पृतं गृहीतं शानकं स्थान्, तच गुन्यणामकान्कम्, ततः सव कानारोषणा । अथवा स्थापनाकृत्येषु प्रथमनः प्रवेदा तत्राद्यापि वेलाया अपापत्ताद्यव्यक्त- १० णाद्यो दोगाः । अथ प्रथममान्यहेतागृहाति ततो यावना नन् पर्याप्तं मवनि तावना स्थापनाकृत्येषु वेश्चितकमो सवन् । अथ वेलानिकममयाद् देशकाल एवं तेषु प्रविश्चित नन आसनोऽन्वमं सवन्, उद्दरपृर्णं न मवदिति मावः । तत्रश्चावनाहारतया तस्यवानगाहा-ऽऽगाहपरितापान्यया देशा होषाः ॥ १५९६ ॥ अथ अपक-कोषवनोद्धिमाह—

क्षपङ् कोबीच 20 परिनानिज्ञह् खमञ्जो, अह गिण्हह् अप्यणो इयग्हाणी । अनिदिन्ने कोहिन्हों, रुमह् कि ना तुमं देखि ॥ १५९७ ॥

यदि अपको गुरूणां हेतोः प्रायोग्यं गृहाति नात्मनन्ततः स एव परिनाप्यने, अथासनो गृहानि नत इनरपां—आचार्याणां द्यानिः—परिनापना । यस्तु कोयवान् सः 'अविर्ताणें' अउने मित रत्यिन । रुष्ट्यागारिणं मणिन—यदि सवान् न उदाति तिर्दं मा उत् किं सव-दीयं गृहं द्याद्यामानः प्रत्या प्रतिपन्ना ? इनि, किं वा त्वं द्रामि येन 'एवमहं द्रामि' इति १० गिविनो सविने हिन्देवेचनः आदं विपरिणमयनि ॥ १५९७॥ मानि-मायिनोहोपानाह—

मानी मायी च जगाणुइमदिने, थहो न य गच्छए पुणी नं च । माई महगमोई, पंतेण व अप्यणा छाए ॥ १५९८ ॥

यः मुख्यः नः 'ऊनं' तुच्छे दृत्ते "अणुहुं' ति अम्युत्थाने वा अञ्चते "अदिल्य" ति सर्वथव वा अद्ग्ते सित 'पुनः' स्यम्प्रद्रायं गृहं न गच्छिति, मणित च—आवकाणामित्रेषां च
३७को विदेशः १ यदि द्वितयेऽशि नावृतामम्युत्थानादिविनयप्रकियामन्तरेण भिक्षां प्रयच्छिति
नता नाहमस्य गृहं स्यः प्रविद्यामीति । तनः "चं चं' ति तद्वहं प्रवेशं विना प्रायोग्यस्यास्यमे यत् किष्टिदाचार्योदीनां परिनापनादिकं भवति तिविष्यत्रं प्रायिश्वत्तम् । यन्तु मार्या सः
रिहस्ययः । त॰ मा० ॥

'भद्रकभोजी' प्रायोग्यमुपाश्रयाद् वहिर्भुक्तवा प्रान्तमानयतीति भावः, यद्वा 'प्रान्तेन' वल्ल-चण-कादिना आत्मनो योग्यं स्निग्ध-मधुरद्रव्यं छादयति, छादयित्वा च गुरूणां दर्शयति ॥ १५९८॥ छुव्धस्य दोपानाह—

> ओभासइ खीराई, दिखंते वा न वारई छद्धो । जेऽणेगविसणदोसा, एगस्स वि ते उ छद्धस्स ॥ १५९९ ॥

₅ लोभी

यो छुट्धः स स्थापनाकुलेषु क्षीरादीन्यवभाषते । यद्वा श्रद्धातिरेकतस्तैर्दीयमानानि स्निम्ध-मधुराणि न वारयति । ततश्च येऽनेकेषु सङ्घाटकेषु स्थापनाकुलं प्रविश्वत्सु चमढणादयो दोषा वर्णितास्ते सर्वेऽप्येकस्यापि छुट्धस्य प्रविशतो द्रष्टच्याः ॥ १५९९ ॥

कुतूह्लिनः प्रतिबद्धस्य च दोपानाह---

नडमाई पिच्छंतो, ता अच्छइ जाव फिद्धई वेला । सुत्तत्थे पडिबद्धो, ओसक-ऽहिसकमाईया ॥ १६०० ॥

10 कुत्रहली

प्रतिवद्धश्च

यः कुतूहली स नटादीन् प्रेक्षमाणस्तावदास्ते यावद् वेला स्फिटति । यस्तु सूत्रेऽर्थे वा 'प्रतिवद्धः' आसक्तः स गुरूणां धर्मकथादिन्यमतया यदैवान्तरं लभते तदैवाप्राप्तकालेऽपि भिक्षार्थमवतरति, वेलातिकमं वा कृत्वा कालवेलादाववतरति, ततोऽवण्वण्कणा-ऽभिष्वण्कणादयो दोषाः ॥ १६०० ॥ यतश्चेवमतः किं कर्त्तन्यम् १ इत्याह—

एयदोसविमुकं, कडजोगिं नायसीलमायारं। गुरुमत्तिमं विणीयं, वेयावचं तु कारिजा ॥ १६०१॥ वैयाग्रत्य-करस्य गुणा

एभिः-अनन्तरोक्तेर्देषिर्विमुक्तं-वर्जितम्, किंविशिष्टम् ^१ इत्याह—'कृतयोगिनं' गीतार्थ 'ज्ञातशीला-ऽऽचारं' ज्ञातं-सम्यगवगतं शीलं-प्रियधर्मतादिरूपमाचारश्च—चक्रवालसामाचारीरूपो यस्य स तथा तम्, तथा गुरवः-आचार्यारतेषु भक्तिमन्तम्-आन्तरप्रतिवन्धोपेतम्, 'विनीतम्' 20 अभ्युत्थानादिवाद्यविनयवन्तम्, एवंविधं शिष्यं वैयादृत्त्यमाचार्यः कारयेत् ॥ १६०१ ॥

आह किमर्थं वैयावृत्त्यकरसेयन्तो गुणा मृग्यन्ते व उच्यते---

साहंति य पियधम्मा, एसणदोसे अभिग्गहिनसेसे । एवं तु विहिग्गहणे, दुन्वं वहुंति गीयत्था ॥ १६०२ ॥

प्रियधर्माण उपलक्षणत्वादपरैरप्यनन्तरोक्तगुणेर्युक्ता वैयावृत्त्यकराः "साहंति" ति कथयन्ति 25 'एपणादोषान्' म्रक्षित-निक्षिप्तादीन् । यथा—इत्थं म्रक्षितदोपो भवति, इत्थं तु निक्षिप्त इत्यादि । एतैश्च दोषेर्दुष्टं साधूनां न दीयते । 'अभिमहिवशेषांश्च' जिनकिएपक-स्थिविरकिएपकसम्बन्धिनः कथयन्ति । 'एवम्' उक्तेन विधिना स्थापनाकुलेषु महणे श्रद्धां वर्धयन्तो गीतार्थाः 'द्रव्यमिप' घृतादिकं वर्धयन्ति ॥ १६०२ ॥ इदमेव भावयति—

एसणदोसे व कए, अकए वा जइगुणे विकरिंथता। कहर्यति असदभावा, एसणदोसे गुणे चेव ॥ १६०३॥

'एपणादोषे' म्रक्षितादौ कृते वा अकृते वा 'यतिगुणान्' क्षान्ति-मार्दवादीन् 'विकत्थमानाः' विविधं श्लाघमानाः 'अशठमानाः' कैतववर्जिताः न भक्षणोपायनिमित्तमिति भावः एपणा दोपान्

वयाग्रत्त्य-करेण श्रादेभ्य

30 प्रपणदि-दोपाणा-मुभिगृही-तेपणादीना च ज्ञापना कथयन्ति । तथा गुणाः-साघृनां प्राशुकेषणीयमक्त-पानप्रदानप्रमवाः पापकर्मनिर्जगदयसाँश्च गीनाथीः कथयन्ति । यथा—

समणोवासगम्य णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फानुण्णं एमणिज्जेणं असण-पाण-न्वाह्म-साह्मणं पिंडलामेमाणस्स किं कजह ! गोयमा ! एगंतसो निज्ञरा कजह, नित्य य से उकेह पात्रकम्म कजह ति । (मगवर्ता छ० ८ उ० ६ पत्र २७२–१) ॥ १६०३॥

अथेत्थं न कथयेयुः ततः के दोषाः ? इत्याह्—

वालाई परिचना, अर्काहेनेऽणेसणाइग्रहणं वा । न य कहप्रवंघदोसा, अह य गुणा साहिया होति ॥ १६०४ ॥

तेषु श्राहकुलेषु जिनकियका मिक्षार्थमायानाः, तेरां परमाचादिकं लेपकृतमुपनीतम्, तेश्र 10 मगबिद्धः प्रतिपिद्धम्, तननानि श्राद्धकानि चिन्नयेयुः—एत एव प्रवानाः साधवः, इतरे तु क्रिय-मधुग्द्रव्यप्राहिणः सर्वेऽपि नामयाग्कमात्राः साध्वामामा एवेति । ततः श्रद्धामक्रमाञ्जि तानि स्यः प्रायोग्यद्वयं ने।पदीक्रयेयुः । एवमिमग्रहित्रदेशान् श्रक्कयप्रद्विगीतार्थेर्वालाद्यः परित्यक्ता मवन्ति । अवेपणादोषान् श्रुद्धमक्त-पानदानस्य च गुणान् न क्रययेयुः ततसानि श्राद्ध-कान्यनेपणां कृत्येः । तत्र यदि प्रतिपित्यने तदाऽपि वालाद्यः परित्यक्ताः, तेषां प्रायोग्यामावे विसंन्यणामावात् । अथ न प्रतिपित्यते तनोऽनेपणादिग्रहणं सवेतः, आदिश्रद्धः एपणादोषाणा-मेव न्यानोनक्रमेदम्बकः । श्राह गोचरप्रविद्यानां साधृनां क्रथापवन्यः कर्तुं न कत्यते, अमी च सायव इत्यमेपणादोषादीनां क्रयां प्रवप्नत्वः कर्यं न दोपमाजो भवन्ति ? इत्युच्यते—'न च नेवात्र कथापवन्यदेशेषा मवन्ति, यदि हि यक्त-पानले। अथ च प्रस्तित्रक्षेत्रस्ति मेवयुद्धेगाः, नच नान्ति, एपणाशुद्धिहेतोर्व तेषामित्यं कथानान् । अथ च प्रस्तुतेत्यं कथयद्विनेगीतार्थः 20 शुणाः चल्कृत्त्वाष्ठुपटम्म-गुन्मिक्तप्रस्तयः साविता मवन्ति ॥ १६०४ ॥

(अन्यायम-७६२०। मलयगिरिङ्गनुयन्यायम्-४६००। उभययन्यायम्-१२२२०।) क्यं पुनन्ते कथयन्ति ! इत्याह—

> टाणं गमणाऽऽगमणं, वावारं पिंडमोहिमुछोगं । नाणंताण वि तुःझं, वहुवक्खेवाण कहयामा ॥ १६०५ ॥

25 'सानं' नाम आन्त-प्रवचन-ग्रंथमापयातवर्जिता स्मागः । यत्र सितस्य गवा-अ्थ-महिपादेराहननादि न भवित ने आत्मापयातवर्जितः । यत्र तु निर्द्धमनायशुचिस्मानव्यतिरिक्त प्रदेशे स्थिनस्य
लेकः प्रवचनस्यवर्णे न प्र्यान् स प्रवचनोपयातविज्ञितः । यत्र पुनः प्रथिव्यादिकायानां विरायना
न भवित म संयमोपयातविज्ञितः । इंदृशे भ्यान सायुना दायकन वा स्थिता भिक्षा प्राह्या देया
विति ज्ञापयन्ति । 'गमनं' नाम दायकन भिक्षादानाय गृहमव्ये प्रविश्वना पद्कायानामुपमदिनमअञ्चिता गन्तव्यम् । एवम् 'आगमनमिप' भिक्षां गृहीता सायुस्तम्यसमागच्छता दायकनोपयुक्तनागन्तव्यम् । व्यापारः-कर्नन-कण्डन-पेषणादिकः, तं च सम्यग् ज्ञापयन्ति—ईदृशे व्यापारं
भिक्षा प्रदीतुं कल्पते, इंदृशे तु नेति । "पिंद्रसोहिमुन्होनं" नि पिण्डशुद्धेः 'दृष्ढोक्तं' लेखोदेशं

रे-३-६ तत् भाव ॥ २-३-३ व्यक्तितम् भाव ॥ ५ व्यादीनां का भाव ॥

5

25

कथयन्ति, 'इत्थ्रमाधाकर्मादयो दोषा उपजायन्ते, इत्थमेभिदेषिरदुष्टः पिण्डः साधूनां दीयमानः युद्धो बहुफलश्च भवति' इत्येवं पिण्डनिर्युक्तिं लेशतो ज्ञापयन्तीति भावः । तथा यद्यपि यूय-मिदं साधुधर्मस्ररूपमग्रेऽपि जानीथ तथापि युष्माकं बहुन्याक्षेपाणामविस्मरणार्थं कथयाम इति ॥ १६०५ ॥ अपि च-—

केसिंचि अभिग्गहिया, अणभिग्गहिएसणा उ केसिंचि । मा हु अवण्णं काहिह, सन्वे वि हु ते जिणाणाए ॥ १६०६ ॥

केषाञ्चित् साधूनामभिगृहीता एषणा, यथा जिनकिरपकानाम् । केषाञ्चित् त्वनभिगृहीता, यथा गच्छवासिनाम्, सप्तस्विप पिण्डेषणासु तेषां भक्त-पानस्य ग्रहणात् । एवं चापरापरां भक्त-पानम्रहणसामाचारीं दृष्ट्वा यूयं मा अवज्ञां करिष्यथ । कुतः ? इत्याह—'सर्वेऽपि ते' भग-वन्तो जिनकिरपकाः स्थितिरकिरपकाश्च जिनाज्ञायां वर्तन्ते, स्वस्वकरपिस्थितिपरिपालनात्, 10 अतो न केऽप्यवज्ञातुमर्हन्तीति भावः ॥ १६०६ ॥ किञ्च—

संविग्गभावियाणं, छद्धगदिद्वंतभावियाणं च । ग्रुत्तृण खेत्त-काले, भावं च कृहिंति सुद्धंछं ॥ १६०७॥

येषां श्राद्धानां पुरत एषणादोषाः कथ्यन्ते ते द्विधा—सिवसभाविता छुव्धकदृष्टान्तभावि-ताश्च । संविद्यः—उद्यतिहारिभिभीविताः सिवसभाविताः । ये तु पार्श्वस्थादिभिर्छ्वधकदृष्टान्तभाविताः । कथम् १ इति चेद् उच्यते—ते पार्श्वस्थाः श्राद्धानित्यं प्रज्ञापयन्ति—यथा कस्यापि हरिणस्य पृष्ठतो छुव्धको धावित, तस्य च हरिणस्य पृष्ठायनं श्रेयः, छ्व्धकस्थापि तत्पृष्ठतोऽनुधावनं श्रेयः, एवं साधोरप्यनेषणीयमहणतः पृष्ठायित्तमेव युज्यते, श्रावकस्थापि तत्पृष्ठतोऽनुधावनं श्रेयः, एवं साधोरप्यनेषणीयमहणतः पृष्ठायित्तमेव युज्यते, श्रावकस्थापि तन तेनोपायेन साधोरेषणीयमनेषणीयं वा दातुमेव युज्यते इति । इत्थं द्विविधानामपि श्राद्धानां पुरतः शुद्धं—द्वाचत्वारिश्वहोषरिहतं यदुव्छिमिवोव्छं स्तोकस्तोकग्रहणात् 'शुद्धो-20 व्छम्' उत्सर्गपदिमत्यर्थः तत् कथयन्ति । किं सर्वदेव १ न इत्याह—'मुक्तवा क्षेत्र-कालो भावं च' इति क्षेत्रं—कर्कशक्षेत्रमध्वानं वा कालं—दुर्भिक्षादिकं 'भावं' ग्लानत्वादिकं प्रतीत्य ते श्राद्धाः किञ्चदपवादमपि श्राद्धन्ते ॥ १६००॥ अपि च इदमपि ते श्राद्धा ज्ञापनीयाः—

संथरणम्मि असुद्धं, दोण्ह वि गिण्हंत-दिंतयाणऽहियं। आउरदिद्वंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥ १६०८॥

संस्तरणं नाम-प्राशुक्तमेषणीयं चाशनादि पर्याप्तं प्राप्यते न च किमिप ग्लानत्वं विद्यते तत्र 'अशुद्धम्' अप्राशुक्तमनेपणीयं च गृह्णतो ददतश्च द्वयोरिप 'अहितम्' अपथ्यम् , गृह्णतः सयमवाधाविधायित्वाद् ददतरतु भवान्तरे खल्पायुर्निवन्धनकर्मोपार्जनात् । 'तदेव' अशुद्धम् 'असंस्तरणे' अनिर्वाहे दीयमानं गृह्यमाणं च 'हितं' पथ्यं भवति । आह कथं तदेव कल्प्यं

तदेव चाकल्प्यं भवितुमर्हिति ² इति उच्यते—आतुरः-रोगी तस्य दृशान्तेनेदं मन्तव्यम् । 80

१ °वः । इदं च यूयं सकलमपि जानीथ भा० ॥ २ "ते दुविहा—सिवग्गभाविया वा लिंगत्थ-भाविया वा । छद्दगदिष्ट्रंनो लिंगत्थेहि" इति चूर्णी विशेषचूर्णी च ॥ ३ °प्यकल्पनीयग्र° भा० ॥ ४ साधोः कल्पनीयमकल्पनीयं वा भा० ॥

ស

यैया हि रोगिणः कामप्यवस्थामाश्रिन्याकै।पघाटिकमपर्थ्यं भवति, काञ्चित् पुनः समाश्रित्य तटेव पथ्यम् , एवमिहापि भावनीयम् ॥ १६०८ ॥

नदेवं भावितं ''माहंति य पिययम्मा, एमणदाँसं अभिगाहविसेसं'' (गा० १६०२) इति । अथ यदुक्तम् ''एवं तु विहिगाहणे'' (गा०१६०२) त्ति तत्र विधियहणं मावयति—

विधि-प्रहणम् संचद्यममंचद्यं, नाऊण असंचयं तु गिण्हंति । संचद्यं पुण कज, निर्द्यंष चेत्र संतरियं ॥ १६०९ ॥

प्रायोग्यहत्र्यं हिया—सञ्जयिकममञ्जयिकं च । 'सञ्जयिकं' घृत-गुह-मोदकादि, 'अमञ्ज-यिकं' तु हुग्य-दिन-शालि-म्पादि । तत्र यदमञ्जयिकं तन् स्थापनाकुलेषु प्रमृतं ज्ञात्वा गृहन्ति । सञ्जयिकं पुनर्ग्यन-प्रावृणेकादा महित कार्ये उत्पंत्त गृहन्ति । अथ श्राह्णानां महान् निर्वन्या 10मवित तत्तोऽग्ह्याना अपि गृहन्ति, परं 'मान्तिर्यं' न दिने दिने दिते भावः । एप सञ्जयिक-प्रहणस्यापवाद उक्तः ॥ १६०९ ॥ अथापवादपदस्याप्यपवादमाह—

अह्वण सहा-विभवे, कालं भावं च वाल-बृह्वाई। नाउ निगंतरगहणं, अछित्रमावे य ठायंति॥ १६१०॥

"अह्वण" ित असण्डमञ्ययं प्रकारान्तरद्योतनार्थम् । श्रावकाणां श्रद्धां च-डानर्श्चं तीवां १६ परिज्ञाय विभवं च विषुठं तदीयगृहेष्त्रवगम्य 'कालं' हिर्मिश्रादिकं 'भावं च' ग्छानत्वादिकं जान्या वाल-बृद्धादयो वा आप्यायिना भवन्त्विति ज्ञान्या निरन्तरग्रहणमाप कुर्वन्ति, सञ्चयिक-मिप दिने दिने गृहन्तीति भावः । यावच टायकन्य दानभावे। न व्यवच्छित्रते तावदिच्छिते सावे 'तिष्टन्ति' दीयमानं प्रतिषथयन्तीत्यर्थः, यथा तेषां भृयोऽपि श्रद्धा जायने ॥ १६१०॥

अथ स्थापनाकुरुषु भक्त-पानव्यहुण सामाचारीमभिविन्युगह—

स्थापना-इन्डेप्यो सन्तर्भ-श्रदृषे सामाचारी

द्व्यप्यमाण गणणा, सार्यि फांडिय तहेव अद्वा यः। संविन्ग एंगटाणे, अणगसाहमु पन्नग्म ॥ १६११ ॥

र यया हि रोगिणः कामण्यवस्थामाश्रित्य पथ्यमपथ्यं भवति, काञ्चित् पुनः समाश्रित्य अपथ्यमपि पथ्यमः एवमिहापि भावनीयम् । गामाव (?) विद्यादिकमापथ्यवयः
मात्रमण्युग्युःयमानमपथ्यवया महत्तां चित्तविद्यतिष्ठभृतिकां दुःखासिकां जनयति, तदेव
ग्राम्निपानिकादिरागांत्रगिवहर्णभृतस्य पुन्यस्य रसिभपगुपदेशनोपयुज्यमानं पथ्यरुपतया परिणमिति महत्तां च चेतनापाद्यप्रभृतिकां मुखासिकां सम्पाद्यति । उक्तं च—
"स्वतम्यापयं पथ्यं, नीरुजस्य किमापद्यं १।" एवं संस्तरणे सत्यगुज्यमगनादिकं विवादिवदपथ्यतया दायक-प्राहक्रयोग्नयोरिप महत्तामिह परत्र च दुःखपरम्परामुपजनयति,
तव्यव्यागं निर्मानमाद्रीयमानं वा परमामृत्ववन् परिणमित, तनश्च-क्रमणाजरामरस्थायं पर्यं, नीरुज्य द्विमान्याद्यनीनि ॥ १६०८ ॥ भा० । "श्रानुश्वद्वनंगं य्या—'त्राधिनस्थायं पर्यं, नीरुज्य द्विमान्यं १।' ज्या वा द्यीरं एएस्य अपन्य एएस्य पर्यं उद्यायो कानव्यो ।
विशेषचूर्णी वता स्थानिकामुन्यद्वे । अद्याचा द्वीरं एएस्य अपन्य एएस्य पर्यं उद्यायो कानव्यो ।
विशेषचूर्णी वता स्थादिकमितिनाद्वि द्व्यम्, 'श्रमः' मा० ॥ ३ थादिकं विनादि ।
तत्र मा० ॥ ४ एव द्वणा, अणे॰ ता० ॥

द्रव्यं -शाल्यादि तस्य प्रमाणं ज्ञातव्यम्, कियदत्र गृहे रसवत्यां शालि-मुद्गादिकं दिने दिने प्रविशंति ? । 'गणना' नाम कियन्ति घृतपलान्यत्र प्रविशन्ति ? यद्वा कियन्ति मानुषाण्यत्र जेमयन्ति ? । ''लारिय'' ति क्षारः - लवणं तेन संस्कृतानि 'क्षारितानि' लवणकरीरादीनि व्यक्ष-नानि तानि कियन्त्यत्र पच्यन्ते ? इति । ''फोडिय'' ति 'स्फोटितानि' मरिच-जीरकादिकटुमा-ण्डधूपितानि शालनकानि एतेपामपि तथेव प्रमाणं ज्ञातव्यम् । 'अद्धा' कालः स ज्ञातव्यः; 5 किमत्र प्रहरे वेला ? उत्त सार्द्धपहरे ? आहोश्चित् प्रहरद्धये ? इति । एतद् द्रव्यप्रमाणादिकं विज्ञाय 'संविधः' मोक्षामिलापी ''एगठाणे'' ति एकः सङ्घाटकस्तत्र प्रविशति । यदि पुनरनेके साधवः स्थापनाकुलेषु प्रविशन्ति ततः 'पञ्चद्या' आधाकर्मादयो अनिस्टान्ता उद्गमदोषा मवन्ति, अध्यवपूरकस्य मिश्रजात एवान्तर्मावात् । एप सङ्गहगाश्चासमासार्थः ॥ '१६११ ॥

अस्या एव भाष्यकृद् व्याख्यानमाह-

ر 10

असणाइदव्वमाणे, दसपरिमिय एगभत्तम्रव्वरइ । सी एगदिणं कप्पइ, निचं तु अज्झोयरो इहरा ॥ १६१२ ॥

अशनम्-श्रोदन-सुद्गादि, आदिश्रहणात् पानक-खादिम-खादिमपरिश्रहः, एतेषां द्रव्याणां परिमितानामपरिमितानां वा मानं-प्रमाणं ज्ञातव्यम् । यत्र परिमितमशनादि द्रव्यं प्रविश्रति तत्र दशानां मानुपाणां हेतोरुपिक्त्रियमाणे एकस्य-अपरस्य योग्यं भक्त-भक्तार्थसुद्गरति, सःच भक्तार्थं 15 एकस्य साधोः परिपूर्णाहारमात्रारूप एकं दिनं श्रहीतुं कल्पते । 'इतरथा' यदि द्वितीयादिषु दिवसेषु गृह्णन्ति तदा ''निचं तु" त्ति स साधुमिः प्रतिदिवसगृह्णमाणो भक्तार्थो नित्यजेमनमेव तैः श्राद्धैर्गण्यते, ततश्च तदर्थमध्यवपूरकः प्रक्षिप्येत ॥ १६१२ ॥

एवं तावत् परिमितमाश्रित्योक्तम् । अथापरिमितमधिकृत्याह—

अपरिमिए आरेण वि, दसण्हमुन्वरह एगभत्तहो । वंजण-समिइम-पिट्टे-वेसणमाईसु य तहेव ॥ १६१३ ॥

20

यत्र पुनरपरिमितं राध्यते तत्र दशानां मानुपाणाम् 'अर्वागिप' नवाष्टादिसत्वाकानामिष हेतो राद्धे एकस्य योग्यो मक्तार्थ उद्घरति, स च दिने दिने कल्पत इति । आह च चूर्णिकृत्— अपरिमिए पुण भत्ते दसण्ह आरेण वि एगस्स भत्तहो दिणे दिणे कप्पइ चेव ।

तथा व्यञ्जनानि—तीमन-विद्या-मर्जिकादीनि, "समितिम" ति समिता—कणिका तया निष्य-25 न्नाः समितिमाः—मण्डकाः पूपिलका वा, पिष्टम्—उण्डेरकादि सक्तुप्रसृति वा, वेसणं—मिरच-जीर-क-हिङ्गुप्रसृतिकं करुभाण्डम्, आदिप्रहणाद् लवण-शुण्ट्यादिपरिष्रहः। एतेपामिप परिमाणं तथेव द्रष्टव्यं यथाऽशनादीनाम् ॥ १६१२॥ एतावता "द्रव्यप्रमाणं गणना-क्षारित-स्फोटितानि" (गा० १६११) इति गाथादलं भावितम्। अथ "अद्धा य" (गा० १६११) ति पदं व्याचष्टे—

सतिकालद्धं नाउं, कुले कुले ताहि तत्थ पविसंति । ओसकणाइदोसा, अलंभें वालाइहाणी वा ॥ १६१४ ॥

30

१ °कानि कियन्मात्राण्यत्र संस्क्रियन्ते ? । "अद्ध" त्ति 'अद्धा' मा॰ ॥ २ °द्यं चिय ओयरो ता॰ ॥

सत्कालाद्धा-भिक्षायाः सम्बन्धी यो यत्र देशकालक्ष्मोऽद्धा तं ज्ञात्या कुले कुले तसिन् देश-काले तत्र प्रविश्वन्ति । अथ देशकालेऽतिकान्तेऽप्राप्ते वा प्रविश्वन्ति नतोऽवप्यप्कणादयो दोषाः । अथावप्यप्कणादिकं तानि श्राद्धकान्यशुद्धदानदे।पश्रवणव्युत्पत्रमनीनि न कुर्युः ततः प्रायोग्य-द्रव्यस्थालामे वालादीनां हानिभवदिति ॥ १६१४ ॥ ४ एवं यत्र क्षेत्रे एक एव गच्छो भवेत् इन्त्र स्थापनाकुलप्रवेदो सामाचारी भणिता । अथानेकगच्छविषयां नामेवाभिधित्युराह— >>

एंगो व होज गच्छो, दोनि व तिनि व ठवणा असंविग्गे । सोही गिलाणमाई, असई य दवाई एमेव ॥ १६१५ ॥

विविधितक्षेत्रे एको वा गच्छो भवद् हो वा त्रयो वा, तंत्रकं गच्छमाश्रित्य विधिरुक्तः । अथ द्यादीन् गच्छानिधक्तत्य विधिरिमधीयते—"ठवणा असंविग्गं" ति येषु असंविद्याः प्रवि10 शन्ति तेषां श्राद्वकुछानां स्थापना कर्त्तव्या, न तेषु प्रवेष्टव्यम् । अथ प्रविश्वन्ति ततः पञ्चव्योद्रमदोषानापद्यन्ते, "सोहि" ति तदोषनिष्पन्ना 'शोधिः' प्रायश्चित्तम् । यहा "सोहि" ति पदं
"गिलाणमाई" इत्युत्तरपदेन सह योज्यते, तनोऽयमर्थः—ग्छान-प्रावृणिकादीनामधीयासविद्यमावितप्त्रिष कुल्छ 'शोधिः' एषणाशुद्धिः नया शुद्धं मक्तं गृह्यते न कश्चिद् दोषः । "असई
इ द्वाइ एमेव" ति अन्यत्र 'अमित' अविद्यमाने ह्वादिक्रमिष 'एवमेव' असविद्यमावित15 कुल्पु अर्द्यात्व्यमिति हारगाथासमासार्थः ॥ १६१५ ॥ अथनामेव विवरीपुराह—

संविग्गमणुत्राए, अइंति अहवा कुले विरिचंति । अन्नाउंछं व सहु, एमेव य संजईवर्गे ॥ १६१६ ॥

ईह यमन् क्षेत्र प्रखुपेक्षितं तेषु पृवेस्थितेषु येऽन्ये साथवः समायान्ति ते साम्मोगिका असाम्मोगिका वा म्युः । तत्रामाम्मोगिकेषु सिवमेषु विधिमच्यते—सिवमेर्वामन्यसाधिमः 'अनु- 20 जाते' 'य्यं स्थापनाकुलेषु पिवज्ञत, वयमज्ञानाञ्छं गवेषियप्यामः' इत्यवमनुज्ञायां प्रवत्तायां ये आगन्तकाः सिवमान् स्थापनाकुलेषु "अइति" ति प्रविज्ञान्ति । वामन्व्यास्तु स्थापनाकुल्वर्जेषु गुरु वाल-युद्धादीनामात्मनश्च हेतोभक्त-पानमुत्पाद्यन्ति । अथ वाम्तव्या असहिष्णवस्ततो यावन्तो गच्छाम्नावद्धिमीगः स्थापनाकुलानि विरिक्चन्ति—आर्थाः ! एतावत्यु कुलेषु मवद्धिः प्रवेष्टव्यम् , एनावत्यु पुनर्मगमितिति । अथवा यद्यागन्तुकाः "सह्" इति 'सिह्ण्णवः' समर्थव्यतिस्विने 25 ज्ञातोच्छ गवेषयन्तः पर्यटन्ति । एवमेव च संयतीवर्गेऽपि द्रष्टत्यम् , ना अपि द्यादिगच्छिन् मद्यावे एवविवयमेव विवि कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १६१६॥

एवं तु अन्नसंमोद्शाण संभोद्शाण ने चेव । जाणित्ता निर्व्वंधं, वन्थव्वेणं स उ पमाणं ॥ १६१७ ॥

१ अप्रिंग एनिश्वहान्तर्गत पाठ सो० छ० प्रतिगत एव, अयं च प्रक्षित्रप्राय एव, अनन्तरगायाठीकाया-मेनदर्शतर्पणात् ॥ २ गाथेयं च्युणिकृता विशेषच्युणिकृता च पुरातनगाथालेन निर्देश ॥ ३ अरुप्ति द्रचा० ॥ ४ इह ये झ्यादयो गच्छाः [ते] परस्परं साम्मोगिका भा० ॥ ५० चा-यामिति भावः ये गा० ॥ ६० भगमिरित्येयं विभुक्तिति (विभज्ञन्तिति) भावः । अथ० भा० । "अप्रा मजात ठवेति—एवतिणई कुलेह तुन्मे प्रिमेनाथ, एवतिणृह अम्हे प्रतिस्मामो, एवं 'विग्वित' विभजनीत्ये अदित चुणै विशेषचुणी च ॥

एवं 'तुः' पुनरर्थे एप पुनर्विधरन्यसाम्मोगिकानामुक्तः, ये तु साम्मोगिकाः—परस्परमेक-सामाचारीकास्तेपामागन्तुकानामश्रीय त एव वाम्नव्याः स्थापनाकुलेम्यो मक्त-पानमानीय प्रय-च्छन्ति । अथ श्राद्धाः प्राघूर्णकमद्रका अतीव निर्वन्धं कुर्युः, यथा—प्रापूर्णकसङ्घाटकोऽप्य-समृह्हे स्थापनीयः, ततो निर्वन्धं ज्ञात्वा वास्तव्यसङ्घाटिकेन आगन्तुकसङ्घाटिकं गृहीत्वा तत्र गन्तव्यम् । यदि च तत्र प्रचुरं प्रायोग्यं प्राप्यते तत आगन्तुकसङ्घाटिकेन गत्रेपणा न कर्त्तव्या— 5 किमित्येतावत् प्रचुरं दीयते ? किन्तु 'स तु' स एव वास्तव्यसङ्घाटिकस्तत्र प्रमाणम्, यावन्मात्रं प्रहीतव्यं यहा कल्पनीयं तदेतत् सर्वमिष स एव जानातीति भावः ॥ १६१७॥

एप एकस्यां वसतौ स्थितानां विधिरुक्तः । अथ पृथ्यवसितव्यवस्थितानामाह—— असइ वसहीऍ वीसं, रायणिए वसिह भोयणाऽऽगम्म ।

असह अपरिणया वा, ताहे वीसुंऽसह वियरे ॥ १६१८ ॥

विस्तीर्णाया वसतेः 'असति' अभावे 'विष्वक्' पृथम् अन्यस्यां वसतौ स्थितानामागन्तुको वास्तव्यो वा यः 'रलाधिकः' आचार्यस्तस्य वसतावागम्यावमरलाधिकेन मोजनं कर्तव्यम् । अथै-किस्मिन् गच्छे द्वयोर्वा गच्छयोः 'असिहप्णवः' ग्लाना भवेयुः अपरिणता वा शैक्षाः परस्परं मिलिताः सन्तोऽसङ्क्ष्वं कुर्युः तदा ''वीग्रुं'' ति अपरिणतान् 'विष्वक्' पृथम् मोजयन्ति । ''सह्ववियरे'' ति अकारमश्चेषाद् असिहप्णूनां प्रथमालिकां 'वितरन्ति' प्रयच्छन्ति । ततोऽपरिणतान् । वसतौ स्थापयित्वा कृतप्रथमालिकान् असिहप्णून् गृहीत्वा सर्वेऽपि रलाधिकवसतौ गत्वा मण्डल्यां मुझते । अथवोत्तरार्द्धमन्यथा व्याख्यायते—''असह्'' इति यद्यवमरलाधिक आचार्यः स्वयमसिहप्णुन् क्रकोति रलाधिकाचार्यसिनिधौ गन्तुं न वा तावतीं वेलां प्रतिपालियतुं शक्तः 'अपरिणता वा' अगीतार्थास्तस्य शिष्यास्तेषां नास्ति कोऽपि सामाचार्या उपदेष्टा आलोचनाया वा प्रतीच्छकः ततो विष्वग्वसतौ द्वावप्याचार्यो समुद्दिगतः । ''सह् विअरे'' ति 'वा' अथवा यदि 20 रलाधिकः सहिष्णुस्ततः 'इतरस्य' अवमरलाधिकस्योपाश्रयं गत्वा समुद्दिशति ॥ १६१८॥

एवं तावद् द्वयोर्गच्छयोर्विधिरुक्तः । अथ त्रयो गच्छा भवेयुस्ततः को विधिः ? इत्याह—

तिण्हं एकेण समं, भत्तद्वं अप्पणी अवह्नं तु । पच्छा इयरेण समं, आगमण विरेगु सी चेव ॥ १६१९ ॥

यद्येक आचार्यो वास्तव्यो भवति ह्रो चागन्तुको तत इत्थं त्रयाणामाचार्याणां सम्भवे द्वयो- 25 रागन्तुकयोर्मध्याद् यो रत्नाधिकस्तस्य सम्बन्धी यो वैयावृत्त्यकरस्तेनैकेन समं वास्तव्याचार्यवैया- वृत्त्यकरः पर्यटन् प्रायूर्णकाचार्यस्य हेतोः 'भक्तार्थ' परिपूर्णाहारमात्रारूपम् 'आत्मनश्च' आत्मीया- चार्यार्थम् 'अपार्द्धम्' अर्द्धभ्वनात्रं श्राद्धकुलेभ्यो गृह्णाति । पश्चाद् 'इतरेण' आगन्तुकावमर्त्ना- धिकाचार्यसम्बन्धिना वैयावृत्त्यकृता समं पर्यटन् तथेव तद्योग्यं भक्तार्थमात्मनश्चार्द्धभ्रुवमात्रं गृह्णाति । ''आगमण विरेगो सो चेव'' ति यदि त्रि-चतुःप्रभृतीनामाचार्याणामागमनं भवति 30 ततः स एव 'विरेकः' विभजनम् । किसुक्तं भवति ²—तदीयरिप वैयावृत्त्यकरेः समं यथाक्रमं पर्यटता वास्तव्यसाधुनाऽऽत्मीयाचार्यार्थं तथा व्यादिभिर्मागैर्भक्तार्थं विभज्य भक्तं प्रहीतव्यं यथा सर्वन्तिमवेयावृत्त्यकरेण समं पर्यटन्नात्मगुरूणां भक्तार्थं परिपूर्यतीति ॥ १६१९ ॥

अय "ितलाणमाई असिन" (गा० १६१५) नि पदं विवृणोति— अतुरंतस्य उ जीगामईएँ इयरेिहँ माविए विमिछं । अन्नमहाणसुबक्षवड, जं वा सकी सयं संजे ॥ १६२०॥

''अन्यनी'' न्यानः नस्य उपन्यवणन्तादाचार्यस्यापि यद् योग्यं—प्रायोग्यं नस्य असति—अन्यने ध्रुनेर् नाम—अस्विद्यान्तर्यावितेषु श्राहकुन्यु प्रविच्य यान्मिन् महानम् ने असंविद्या अध्यवपूर-कादितेषदृष्टां भिक्षां गृहने तद् वर्जयिचा यदस्यान्मिन महानम् केवछं गृहार्थसेवोषम्कृतं नतो स्ञानाद्ययं गृह्यने, यद् वा मन्तं पृयगुपस्कृतं "सन्ती" स गृहस्यामी श्रावकः स्वयं सुदे ततो वा गृगते, अन्यदायाहा छुनोऽपि गृहाद् यन प्रहेणकादिकमायानं नद् गृह्यने ॥ १६२०॥

अथ "ववाह एमेव" (गा० १६१५) ति परं ज्यान्यानयति—

10 अमृतीए व दवस्म व, पिरिसिन्तिय-कंजि-गुलद्वाईणि । -अनिह्नियाँहँ गिण्डह, सञ्चालंगे विमिन्साई ॥ १६२१ ॥

यदि ग्लान्य गच्छन्य या योग्यं द्रवं-पानकं नविश्वमात्रितेषु कुच्यु न रुम्यने तदा द्रवस्य 'असि' अभावेऽनिवश्वमात्रिते व्हिन्य कुच्यु "परिसित्तिय" ति येनोष्णोदकेन दिविमाननानि निलेयन्ते नत् परिक्तिपानकन , काङ्गिक्य-आर्नाच्यु , गुळ्डवं नाम-यस्यां क्विङिकायां गुड १३ उत्काल्यते तन्यां यत् तम्यत्ते दा पानीयं तद् गुडोप्रलिप्तं द्ववं गुडद्वम् , आदिप्रहणात् विद्यापानकादिपरिषदः । एतानि पानकानि यदि ते आद्धकः 'आन्मार्थिनानि' प्रयममेवानमार्थे इतानि तदा रखनाव्यये गुझति । "म्बान्ये" ति यदि नवेशेव रखनस्य वा गच्छस्य वा योग्य-मेपणीयं पानकं न रुम्यते तदा "विमीसाइं" नि 'विनिद्याणि' अमित्रमानां आवकाणां चार्था-पाचित्तिकृतानि तान्यपि द्वितीयपदे गुझने ॥१६२१॥ अथ "अमई दृष्ठवादि" (गा० १६१५) १० इत्यत्र योज्यमादिख्याचन्य मण्डनामुपदर्श्यकाह—

याणहा व पविद्वा, विसुद्धमाहार छंदिओ गिण्हे । अद्वाणाह् अनंथरि, लह्डं एमेव जदसुद्धं ॥ १६२२ ॥

पानकार्थं वा प्रविष्टो यदि 'विद्युद्धेन' एपणीयेनाहारेण गृहपिना छन्यने—निमझ्येन नन्छ-न्तिनः सन् तमित्र गृहाित । नण 'अद्याणाह' नि अञ्चितिगानां सावृनां हेनोः आदिग्रद्धा-१० द्वसेत्रपो अधिवादिषु वा असन्तर्गे अनेविग्रमािवनकुरुषु 'एवसेव' रखनोक्तिविना शुद्धान्वपण 'यिनिचा' यत्रं कृत्वा तनो-यद् 'अशुद्धम' अनेपणीयं नद्यागमोक्तनीत्म ग्रुहन्ति ॥ १६२२॥ उक्तं स्पत्रिरक्षित्रमानविक्तस्य विद्यारहारम् । अयानुनेवार्हाकृत्य सामाचारीद्वारमभिवित्सुः

आगुक्तमेत्र (गा० १३७८ गा० १३८२-८३-८४ च) द्वाग्गायाचनुष्टयमाह्—

ध्यविर-इपिक-नां नामा-वायः ्हच्छा मिच्छा तहकार, आविष्मि निर्माहिया य आधुच्छा। यिडिपुच्छ छेड्ण निर्मेतणा य उत्तमंषया चेव ॥ १६२३ ॥ सुय-मंत्रपणुदसर्गे, आतंके वेयणा कित जणा य । थेडिछ दमहि किचिर, उचारे चेव पासवण ॥ १६२४ ॥

१ 'प्रयो सित 'प्रवेमचे' ग्डानोक्तिधिना यतित्वा-प्रथमं शुहं ततो यद्-म ॥

20

ओवासे तणफलए, सारक्खणयां य संठवणया य । पाहुडि अग्गी दीवे, ओहाण वसे कइ जणा य ॥ १६२५॥ भिक्खायरिया पाणग, लेवालेवे तहा अलेवे य । आयंविल पडिमाओ, गच्छिम उ मासकप्पो उ ॥ १६२६॥

आसामर्थः प्राग्वद् द्रष्टव्यः ॥ १६२३ ॥ १६२४ ॥ १६२५ ॥ १६२६ ॥ यस्तु विशेष-5 स्तमुपदिदर्शयिषुराह---

ओहेण दसविहं पि यः, सामायारिःन तेः परिहवंतिः। पवयणमास जहन्ने, सन्वसुयं चेव उक्तोसे ॥ १६२७॥

'ओघेंन' सामान्यतो दशविधामपि सामाचारीं न 'ते' स्थिवरकिएकाः परिहापयन्ति। आचार्यादिपुरुषविशेषापेक्षया तु या यस्येच्छाकारादिका युज्यते या च तथाकारादिकाः न युज्यते सा 10 तथा वक्तव्या । श्रुतद्वारमङ्गीकृत्य जघन्यतो। गच्छवासिनामष्टी प्रवचनमातरः श्रुतम् । उत्कर्षतः सर्वमेव श्रुतम् , चतुर्दशपूर्वाणीति हृदयम् ॥ १६२७॥

सन्वेसु वि संघयणसु होति धिइदुन्वला च विलया वा । आतंका उवसम्मा, भइया विसहति व न व त्ति ॥ १६२८ ॥

स्थितरकिल्पकाः 'सर्वेष्विप' षट्खिप सहननेषु भवन्तिः, धृत्याऽपि—मानसावष्टम्भलक्षणया 15 दुर्बला वा भवेयुर्विलेनी वा । 'आतङ्काः' रोगाः 'उपसर्गाः' दिस्यादयो यदि समुदीर्यन्ते तदा तान् विपहन्ते वा नं वेति 'भैक्ताः' विकल्पिताः, यदि ज्ञानादिपुष्टारुम्बनं भवित तदा चिकि-स्तादिविधानान्न सहन्ते, इत्रथा तु सम्यगदीनमनसः सहन्त इति भावः ॥ १६२८॥

द्विहं पि वेयणं ते, निकारणओ सहंति भइया वा ।

अमेमत्तः अपरिकम्मा, वसही वि पमञ्जणं मोत्तुं ॥ १६२९ ॥

'द्विविधामिप' आभ्युपगिमकीमोपक्रमिकी च वेदनां 'निष्कारणतः' कारणमन्तरेण सहन्ते 'भाज्या वा' असिह्णुंखे-तीर्थाव्यवच्छेदादिकारणवशान्न सहन्तेऽपीति भावः । तथा वसितरिप तेषाम् 'अममत्वा' भमेयमित्यभिष्वद्गरिहता, 'अपिरकर्मा' उपलेपनादिपरिकर्मवर्जिता, किं सर्वथेव व न इत्याह—प्रमार्जनामेकां मुत्तवा। कारणे तु सममत्वा सपिरकर्माऽपि भवति। तत्रा-परिणतचारिज्ञाणां शक्षादीनां ममेयमित्यभिष्वद्गविधानात् सममत्वा, सपिरकर्मा त्वपरिकर्माया 25 वसतेरलाभे द्रष्टव्या। १६२९॥ अथ कति जनाः स्थण्डिलं चेति द्वारद्वयस्य विशेषमाह—

तिगमाईया गच्छा, सहस्स वत्तीसई उसमसेणे । थंडिल्लं पि य पढमं, वयंति सेसे वि आगाढे ॥ १६३०॥

'त्रिकादयः' त्रि-चतुःप्रभृतिपुरुषपरिमाणा गच्छा भवेयुः । किमुक्तं भवति ?—एकस्मिन् गच्छे जघन्यतस्त्रयो जना भवन्ति, गच्छस्य साधुसमुदायरूपत्वात्, तस्य च त्रयाणामधस्ताद-३० भावादिति । तत ऊर्ष्द्वः ये चतुः-पञ्चप्रभृतिपुरुषसद्ध्याका गच्छास्ते मध्यमपरिमाणतः प्रतिपत्त-व्यास्तावद् यावदुत्कृष्टं परिमाणं न प्राप्तोति । किं पुनस्तत् १ इति चेद् अत आह—''सहस्स

१ 'माज्याः' विकल्पनीयाः । यदि भा० ॥ २ °त्वादिकारणयशतो न सह° भा० त० डे० ॥

Б

वर्तासई उसमसेणे" ति द्वात्रिंञत् सहमाण्येकसिन् गच्छे उन्कृष्टं साधृनां परिमाणम्, यथा श्रीऋषभम्यासिषथमगणधरस्य भगवत ऋषभसेनस्यति । तथा म्यण्डिलमपि 'प्रथमम्' अना-पानमसंलोकमेते गच्छवासिना बजन्ति । 'आगाढे तु' भावासर्वनादै। कारणे 'रोषाण्यपि' अना-पानमसलोकप्रमूर्तानि स्थण्डिलानि गच्छन्ति॥१६३०॥'कियचिग्म् १' इति द्वारं विरोपयनाह—

किचिर कालं वितिहह, न ठेति निकारणिम इह पुद्वा । अनं वा मरगंती, ठविति साहारणमलंमे ॥ १६३१ ॥

कियचिरं कालं य्यमस्यां यसना वत्स्यथं ? इति प्रष्टाः सन्ता निष्कारणं न तिष्टन्ति, किन्तु क्षेत्रान्तरं गच्छन्ति । अथ चिह्रिश्चादानि कारणानि ततस्त्रेत्र क्षेत्रेऽन्यां वसीतं मार्गयन्ति । अथ सम्यमाणाऽप्यन्या न रुभ्यतं तनः साधारणं वचनं स्थापयन्ति, यथा—निर्व्याधाते तावद् १०वयं माम यावदवतिष्ठामहे व्याधाने तु हीनाधिकम् ॥ १६३१ ॥

अथ लाववार्थ रोषद्वाराणि नुज्यवक्तव्यस्वादतिदिशनाह---

एमेव सेमएमु वि, केवह्या वसिहिह नि जा नयं। निकारण पडिसेहो, कारण जयणं तु कुव्वंति ॥ १६३२ ॥

'ण्वमेव' कियचिग्हाग्वन् 'रोपेप्विप' उचार-प्रश्रवणादिषु हारेषु कियन्तो वत्स्रथिति हारं १५ यावन्त्रयम् । किम् १ इत्याह—एतप्यपि निष्कारणे प्रतिपेवः, न वसन्तिति भावः, कारणे तु यननां ऋर्वन्नि । किमुक्त भवति 2-यद् तिष्टनामुचार-प्रश्रवणयोः परिष्ठापनमकाले फिलहका-भ्यन्तरने वा नानुजानन्ति नतस्त्रत्र न तिष्टन्ति । थयाधियादियिः कार्णेम्निष्टन्ति तत उचारं , प्रथवणं वा मात्रकपु व्युत्पृज्य विहः परिष्ठापयन्ति । एवमवकाजादिष्वपि द्रष्टव्यम् । नवरमव-कारो यत्र प्रदेशे उपवेशन-भाजनधावनाटि नानुजातं तत्र नापविशन्ति, कमढकादिषु च भाज-20 नानि धावन्ति । तृणफळकान्यांप यानि नानुज्ञातानि तानि न परिभुञ्जते । संरक्षणता नाम यत्र तिष्टनामगारिणो भणन्ति 'गवादिमिर्भज्यमानां वसतिमन्यद्वा समीपवर्त्ति गृहं संरक्षत' तत्राप्यिश-वादिमिः कारणिम्निष्टन्तो भणन्ति--यदि वयं तटानीं दृक्ष्यामस्तता रक्षिप्याम इति । संस्थाप-नता नाम यसँतः संस्कारकरणं तस्यामपि नियुक्ता भणन्ति—ययमकुग्रलाः संस्थापनाकर्मणि कर्तत्रे । सप्राभृतिकायामपि वसना कारणनः स्थिता दैशतः सर्वना वा क्रियमाणायां प्राभृति-25 कायां सर्कायसुपकरणं प्रयंत्रन नंरक्षन्ति, यावन् प्रामृतिका कियते तावद्कस्मिन् पार्श्व तिष्टन्ति। सर्वापायां सामिकायां वा वयने। कारण स्थिता आवश्यकं वहिः कुर्वन्ति । अववानं नाम यदि गृहस्थाः क्षेत्रादिषु गच्छन्ता भणन्नि---'असाकमपि गृहेषुपयोगौ दानव्यः, मा शुनक-सेनका-दयः प्रविञ्योपद्वं कार्षुः' इति, तत्रापि कारणे स्थिनाः स्वयमेवावधानं उटति, अनुपस्थापिनञै-क्षेत्रों द्रापयन्ति । यत्र च 'कित जना वल्यथ ?' इति प्रष्ट सित कारणनिसप्रद्धिः परिमाणनि-७० यम. कृतो यथा 'ण्नावद्धिः स्थानव्यं नाधिकः' नता यद्यन्ये पात्रृणेकाः समागच्छन्ति नदा तेषामवम्यापनाय भ्योऽप्यनुज्ञापनीयः सागारिकः, यद्यनुज्ञानाति तनः सुन्डरसेव, अथ नानुजा-

१ 'झन्यादिक किमपि कारणं व्याघातो चा प्रथम स्थण्डिले कोऽपि मनेत् ततः 'धिपा' मा॰ ॥ २ 'यमनुपस्थापितादिभिर्वा अवधानं ददति दापयन्ति न्ना। यत्र मा॰ ॥

नाति ततोऽन्यस्यां वसतौ स्थापनीयास्ते प्राघूर्णका इति ॥ १६३२ ॥ भिक्षाचर्यादीनामविश-ष्यमाणद्वाराणां विशेषमाह-

> नियताऽनियता भिक्खायरिया पाणऽन्न लेवऽलेवाडं । अंविलमणंविलं वा, पिडमा सन्त्रा वि अविरुद्धा ॥ १६३३ ॥

भिक्षाचर्या 'नियता' कदाचिदाभिग्रहिकी 'अनियता' कदाचिदनाभिग्रहिकी, असंस्र्धा-संस्- 5 प्टाचन्यतमैपणाभिग्रहवती तद्वर्जिता वेति भावः । पानमन्नं च लेपक्रतं वा भवेद अलेपक्रतं वा । द्राक्षा-चिश्चापानकादि तक-तीमनादिकं च लेपक्रतम्, सौवीरादिकं वल्ल-चणकादिकं चालेपक्ट-तम् । आचाम्रुमनाचाम्रुं वा द्वयमपि कुर्वन्ति । 'प्रतिमाश्च' मासिक्यादिका भद्रादिका वा सर्वा अप्यमीषामविरुद्धा इति ॥ १६३३ ॥

• उक्तं सामाचारीद्वारम् । अथ स्थितिद्वारमभिधित्सुद्वीरगाथाद्वयमाह—

10

20

खित्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए । कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिगहा य ॥ १६३४ ॥ पन्नावण मुंडावण, मणसाऽऽवन्ने उ नितथ पच्छित्तं । कारण पिंकम्मिम उ, भत्तं पंथी य भयणाए ॥ १६३५ ॥

क्षेत्रे १ काले २ चारित्रे ३ तीर्थे ४ पर्याये ५ आगमे ६ वेदे ७ कल्पे ८ लिङ्गे ९ लेक्यायां 15 १० ध्याने ११ गणनायां १२ एतेषु स्थितिर्वक्तन्या, अभित्रहाश्चामीपामभिधातन्याः १३ ॥ १६३४ ॥ एवं प्रत्राजना १४ मुण्डापना १५ मनसाऽऽपने त्वपराघे नास्ति प्रायश्चित्तं १६ कारणं १७ प्रतिकर्मणि च स्थितिः १८ भक्तं पन्थाश्च मजनया १९ इति गाथाद्वयसमुदा-यार्थः ॥ १६३५ ॥ अवयवार्थं तु प्रतिद्वारं विभणिपुराह—

> पन्नरसकम्मभूमिसु, खेत्तऽद्धोसिपणीइ तिसु होजा। तिसु दोसु य उस्सप्पे, चउरो पलिभाग साहरणे ॥ १६३६ ॥

क्षेत्रद्वारे जन्मतः सद्भावतश्च स्थविरकल्पिकाः 'पञ्चदशस्विप कर्मभूमिषु' भरतैरावत-विदेह-. पञ्चकरुक्षणास्त भवन्ति । संहरणतः पञ्चदशानां कर्मभूमीनां त्रिंशतामकर्मभूमीनामन्यतरस्यां भूमौ भवेयुः। 'अद्भा' कालस्तमङ्गीकृत्यावसर्पिण्यां जन्मतः सद्भावतश्च 'त्रिपु' तृतीय-चतुर्थ-पश्चमारकेषु भवेयुः । ''तिसु दोसु य उस्सप्पे'' त्ति उत्सर्पिण्या जन्मतः 'त्रिपु' द्वितीय-नृतीय-चतुर्थेप्वर- 25 केषु सद्भावतस्तु 'द्वयोः' तृतीय-चतुर्थारकयोभेवन्ति । नोअवसर्पिण्युत्सर्पिणीकाले जन्मतः सद्भावतश्च दुःषमसुषमाप्रतिभागे भवन्ति, सहरणतस्तु चत्वारोऽपि प्रतिभागा अमीपां विषयतया प्रतिपत्तच्याः, तद्यथा—सुषमसुषमाप्रतिभागः सुपमाप्रतिभागः सुपमदुःपमाप्रतिभागः दुःपम-सुषमाप्रतिभागश्चेति ॥ १६३६ ॥

> पढम-विइएसु पडिवर्जमाण इयरे उ सन्वचरणेसु । नियमा तित्थे जम्मऽह जहने कोडि उक्कोसे ॥ १६३७ ॥ पन्वजाएँ ग्रहुत्तो, जहनगुकोसिया उ देखणा।

30

आगमकरणे भइया, ठियकप्ये अद्विए वा वि ॥ १६३८ ॥

प्रतिषद्यमानका असी प्रथम वा-मामायिकाम्ये हिनीये वा-छेडोपम्यापनीयास्ये चारित्रे सबेयुः। 'इतरे नाम' पूर्वप्रतिपन्नाने नर्वेष्यपि चर्णेषु मर्वान्त, मामायिकादिषु यथास्यातपर्यन्तेष्विति भावः । तथा नियमाद्रमा तीर्थे भवन्ति नातीर्थे । पर्यायो द्विया—गृहिपर्यायः प्रवज्यापर्या-उथश्च । तैत्र गृहिपर्यायो जयन्यतो जन्मन आरम्याष्टी वर्याणि, उन्हर्यतः पृत्रेकोटी । प्रव्रज्या-पर्याया जवन्यनोऽन्तर्नुहूर्नम्, नदनन्तरं मग्णात् प्रतिषाताहा, दःकपेतस्तु देशोना पृविकोटी । आगमः—अपृवंश्चनाध्ययनं तस कर्णा 'भाज्याः' अभी कुर्वन्ति वा न वा तमिति भावः । कल्य-हारे—स्वितकरंगे वा असितकरंगे वा मंबेयु । वेदहारं खुज्ञानत्वाद् मायकृता न मावितम्। इत्यं तु द्रष्टत्यम---येदः की-पुं-नपुंसक्रमेदात त्रितिधोऽप्यमीपां प्रतिपत्तिकान्त्र सवेत्, पूर्व-10 प्रतिपत्रकानां न्वंबद्कृत्वमीत सवनीति ॥ १६३७ ॥ १६३८ ॥

भइया उ दव्वलिंगे, पडिवर्त्ता सुद्धलेय-घम्मेहि । पुट्यपडियमगा पुण, लेमा झाण ज अन्नयरे ॥ १६३९ ॥

प्रतिपद्यमानकाः पृत्रप्रतिपक्षकाश्च द्रव्यण्डिः 'मैक्ताः' विक्रिव्यताः, कदाचित तद् न मक्य-पीति भावः । माबलिङ्गं तु नियमान् मर्बदेव मर्बनि । नया प्रतिपनिः शुद्धलेख्या-वर्मव्यानयो-१८भेवेत् । क्रिसुक्तं मवि १--- प्रथमतः प्रतिपद्यमानत्राः शुद्धान्यव निमृषु लेव्यामु आज्ञाविच-यांडी च वर्मच्याने वर्चमानाः प्रतिपत्तच्याः । पृत्रंप्रतिपञ्चकाः पुनः पग्गां लेक्यानामन्यत्रस्यां लेक्यायामार्चार्वानां च चतुर्णी व्यानानामन्यत्रगीमन् व्याने भवेयुः॥ १६३९॥

अय नेट्या-व्यानयाः कः प्रतिविद्यापः १ उच्यते—िल्ट्यते—िल्ट्यते कर्मणा मह यया जीवः सा लेट्या-क्रुगादिद्रव्यमात्रित्र्यजनिना जीवस शुमाशुमरूपः परिणामविशेषः । उक्तञ्च-

विदेयः 29

. |-|-

व्यानदी-

क्ट्रयादिद्रव्यनाचित्र्यान्, परिणानी य आन्मनः । स्फटिकरेव नत्रायं, लेडवाछळः प्रवर्तने ॥

य च च्छे। वा स्थादचरो वा । ध्यानं पुनर्निश्चछ एवाशुमः शुमो वा श्रात्मनः परिणामः । र्तथा चाह—

झाणण होह लेसा, झाणंतरओ व होह अन्नयरी।

25

साब उट्टा

अन्सनमाओं उ दही, झाणं असुमी सुमी वा वि ॥ १६४० ॥ र्ट्या द्वितिषा—द्रव्यते मान्तश्च । तत्र द्रव्यकेस्याप्तपरिष्टाद् वस्यति । मावलेस्या स्वनन्त-रेक एव शुमाशुमन्यो जीवर्रारणामः । सा चैत्रंतिया शुमाशुमपरिणामस्या क्र्यणादीनामन्यतमा

१ "शिहरवर्षारणमां बहकेनं अह स्वयंगादं वासादं, स्टोंसेनं सावरेगा सुव्वकोद्या" दति विद्रोपसूर्णी ॥ २ व किसुकं सबति ?-पृषे त० है ॥ ३ भाज्याः विकल्पनीयाः, कदा मा०॥ ४ °वर्ति । छैम्याहारे घ्यानहारे च चिन्त्यमाने प्रतिपत्तिः सा॰ ॥ ५ अत एवाह सा॰ ॥ ६ छेर्या डिविया—हत्रवो मावत्र । तत्र हत्यछेम्यामुपरिष्टाद् वस्यित्। मावछेस्या त्वनन्त्ररोक एवात्मना मानसिकः परिणामः, स च मानसध्यानाद्नन्य इति कृत्वाऽसि-घीयते । 'व्यानन' आत्तादिना करणमृतेन 'छेदया' कृष्णादिका मत्रति, यदा याहन प्रदा-

"छेस" ति भावलेश्या ध्यानेन वा भवति ध्यानान्तरतो वा । ध्यानान्तरं नाम—अद्दबाध्यवसाय-ध्यानान्त-रूपा चिन्ता, यद्वा ध्यानस्य ध्यानस्य चान्तरिका ध्यानान्तरमुच्यते । ध्यानं पुनः 'दृढः' निश्च-रिका लोऽध्यवसायोऽशुमो वा शुमो वा मन्तव्यम् । स च निश्चलोऽध्यवसायो मानसो वाचिकः ध्यानम कायिकश्चेति त्रिधा द्रष्टव्यः । दृढश्चाध्यवसायोऽन्तर्भुहूर्त्तमात्रमेव कालं यावद् द्रष्टव्यः, परतो निरन्तरं दृढाध्यवसायस्य कर्तुमशक्यत्वात् । यश्चादृढोऽध्यवसायः स सर्वोऽपि चिन्तेत्यभिषीयते 5 चिन्ता ॥ १६४० ॥ आह यद्येवं तर्हि चिन्ता-ध्यानयोरन्यत्वमापन्नम् ? उच्यते—नायमेकान्तः किन्तु स्यादेकत्वं स्यादन्यत्वम् । कथं पुनः १ इति उच्यते-

> झाणं नियमा चिता, चिता भइया उ तीस ठाणेस । झाणे तदंतरम्मि उ, तिव्ववरीया व जा काइ ॥ १६४१ ॥

चिन्ताया ध्यानस्य

यद् मनःस्थैर्यरूपं ध्यानं तद् नियमात् चिन्ता । चिन्ता तु 'भैक्ता' विकल्पिता त्रिपु स्थानेपु । 10 च विशेषः तथाहि-कदाचिद् 'ध्याने' ध्यानविषया चिन्ता भवति यदा दृढाध्यवसायेन चिन्तयति । "तदंतरम्मि उ" तिं तस्य-ध्यानस्यान्तरं तदन्तरं तस्मिन् वा चिन्ता भवेत्, ध्यानान्तरिकाया-मित्यर्थः । 'तद्विपरीता वा' या काचिद्दे ध्याने ध्यानान्तरिकायां वा नावतरति किन्तु विपकीर्णा

स्तमप्रशस्तं वा ध्यानं भवति तदा ताद्दगेव प्रशस्ता अप्रशस्ता वा लेख्याऽपीति भावः। "झाणंतरतो व" त्ति ध्यानान्तरम्-अद्दबाध्यवसायरूपं चित्तं यद्वा ध्यानस्य ध्यानस्य चान्तरिका ध्यानान्तरमुच्यते, तत्र वा वर्त्तमानस्य पण्णां लेक्यानामन्यतरा लेक्या भवति। अथ ध्यानमिति कोऽर्थः? इत्याह—अध्यवसायः 'ददः' निश्चलोऽशुभो वा शुभो वा ध्यानिसति मन्तव्यम् । दृढश्चाध्यवसायोऽन्तर्भुहूर्त्तमात्रमेव कालं यावद् द्रष्टव्यः, प्रतो निरन्तरं दढाध्यवसायस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् । यश्चादढोऽध्यवसायः स सर्वोऽपि चिन्तेत्य-मिधीयते न तु ध्यानम् ॥ १६४० ॥ आह यद्येवं तर्हि चिन्ता-ध्यानयोरन्यत्वमुपपन्नम् ? उच्यते—नायमेकान्तः किन्तु स्यादेकत्वं स्यादन्यत्वम् । कथं पुनः १ इति उच्यते मा० ।

कृष्णादीनामन्यतरा लेक्या ध्यानेन वा भवेद् ध्यानान्तरतो वा। ध्यानान्तरं नाम अह-ढाध्यवसायरूपा चिन्ता, यद्वा ध्यानस्य ध्यानस्य चान्तरिका ध्यानान्तरमुच्यते । ध्यानं पुनः 'हढः' निश्चलोऽध्यवसायोऽशुभो वा शुभो वा मन्तव्यम् । हढश्चाध्यवसायोऽन्त-भुंहुर्त्तमात्रमेव कालं यावद् द्रप्टव्यः, परतो निरन्तरं हढाध्यवसायस्य कर्जुमशक्यत्वात् ॥ १६४० ॥ आह यद्येवं तर्हि चिन्ता-ध्यानयोरन्यत्वमापन्नम् ? उच्यते—नायमेकान्तः किन्तु स्यादेकत्वं स्यादन्यत्वम् । कथं पुनः ? इति उच्यते त० डे० का० । "रुश्या-ध्यानयोः क. प्रतिविशेष १ उच्यते—रुश्या द्विविधा—हव्यरुश्या भावरुश्या च । तत्र द्रव्यरुश्या-

सुपरिष्ठादः वक्ष्यति । भावलेश्या मनोयोगोपयोग । तस्या ध्यानादनन्यलज्ञापनार्थमिदसुच्यते—झाणेण० गाधा । यसाद् मानसध्यानादनन्यो मनोयोग अतः सिद्धं ध्यानेनेव छेश्या भवति । 'झाणंतरयो व' ति ध्यानादन्यदु ध्यानान्तरम्-अध्यानम् , अदृढाध्यवसाय इत्यर्थः । अथवा ध्यानस्य चान्तरिकाया वर्त्तमानस्य पण्णामन्यतमा लेखा प्रखेतच्या । ध्यानस्य पुनर्रुक्षणं दढोऽध्यवसाय आमुहूर्तात्, परतो निरन्तरं दटोऽध्य-वसायो न शक्यते कर्त्तुम् । अतः सत्यपि मनोयोगे चिन्तेत्युच्यते, न तु ध्यानम् ॥ आह एवं तिर्हे चिन्ता-ध्यानयोरन्यलमुपपम् १ उच्यते — नायमेकान्त , स्यादेकलम् स्यादन्यलम् । कथं पुन १ उच्यते" इति चुर्णी विशेषचूर्णी च ॥

१ 'भाज्या' विकल्पनीया त्रिष्ठ गा॰ ॥ २ °द् मनश्चेष्टा साऽपि चिन्ता । किमुक्तं भन् वति ?--या ध्याने भा०॥

चित्तं मार्शि चिन्ता प्रतिपत्तज्या । अतो यदा दृदाच्यवसायेन चिन्तयित तदा चिन्ता-ध्यानयोरेकत्वम्, अन्यदा पुनरत्यत्वम् ॥ १६७१ ॥ अय ध्यानस्यव मेदानाह—

घ्यानन्य भेडा कायादि निहिक्किं, चिनं तिच्य मउयं च मड्झं च । जह सीहम्म गतीत्री, मंदा य पुना दुया चेत्र ॥ १६४२ ॥

ठ तन् पुनर्ददाच्यवसायात्मकं चित्तं त्रिया—कायिकं वाचिकं मानिमकं च । कायिकं नाम यन् कायव्यापारेण व्याव्यापात्तरं परिहरसुपयुक्तो महकचारणिकां करोति, कृमेवद्या संकीनाहोपाह- िन्छिति । वाचिक तु 'मयेद्दर्जा निरवद्या भाषा मापितव्या, नेद्दर्जा मावद्या' इति विमर्शपुरस्मरं यद् मापने, यद्या विकथादिखुदानेन श्रुत्तरग्रवर्जनादिकसुपयुक्त करोति तद् वाचिकम् । मानसं स्वेकस्मिन् दस्तुनि चित्तसेकाप्रना । पुनर्रकंकं त्रिविधम्—तीत्रं मृदुकं च मध्यं च । तत्र तीत्रम्— 10 स्कटम्, मृदुकं च मन्त्रम्, मञ्च च—नातिर्नात्रं नातिसृदुक्तिन्ययं । यया मिद्रस्य गनय- मित्रसे मवन्ति । तद्यया—मन्त्रा च हुना च दुना चेव । तत्र मन्द्रा—विस्विन्ता, हुना—नाति- मन्द्रा नातिस्तिरिता, दुता च—अनिर्धात्रवर्णा ॥ १६४२ ॥

साद् ब्रुढिः केयं गुनर्ञ्यानान्नरिका श्रेटिन उच्येन—

घ्णनान्द्र-स्हि

15

अन्नतरझाणऽतीतो, विद्यं झाणं तु मो अमंपनो । झाणंतरम्मि वट्टह, विपहे व विद्वंचियमदंशो ॥ १६४३ ॥

वैन्यतरसाड्-इल्याचन्यतरवस्तुविषयाड् व्यानादर्तान -अतिक्रान्तो यः कश्चिदद्यापि हिर्तायं व्यानं न सम्प्राप्तोति न हिर्नायं व्यानमन्त्राप्तः सन् यड् व्यानान्तरे वर्तते सा व्यानान्तरिक्ता सवर्ताति दोतः । इयमत्र सावना-इल्याद्यानासन्यतमं व्यानवतो यदा चित्तस्यते 'सन्यिति वोषाणां व्यानव्यानां कतरड् व्यायामि !' इत्येवंविषो विमर्शे व्यानान्तरिकेत्युच्यते । दृष्टा- १९ विश्वेष्ट "विग्रहे व विल्वियमर्नाड" ति हिष्यं-मार्गहयस्थानम् , नतो यया कश्चिदेकेन पथा गच्छन पुग्नाड् 'हिप्यं नार्गहये दृष्टे मिन 'विक्विष्टतिक ' 'अनयोर्माग्योः कर्तरण वर्तामि ?' इति विमर्शाङ्ख्युद्धि सन्नपान्तरे वर्तने, ग्वमेषोऽपि व्यानान्तरे इति ॥१६४३॥

अय गुनागुनव्यानज्ञापनार्थमिद्रमाह—

द्रबदेशा

21_

वण्ण-स-गंघ-फामा, इड्डाऽणिड्डा विभासिया मुत्ते । अहिकिच द्व्वलमा, नाहि उ साहिजई भावो ॥ १६४४ ॥

'स्त्रे' प्रजापनादी कृत्यादीनां लेक्यानां यह वर्ण-गन्य-रस-पद्यां इष्टा अनिष्टाश्च 'विमा-पिना' विविधन्-अनेकेल्यमानविर्णिनाः । तत्र वर्णवर्णना यथा—

र आर्णवरं असं° टा॰ ॥ २ द्रव्य-ख्रेत्रादीनामन्यवरस्य वस्तुनो यद् स्यानम्-एकाय-चिन्वनन्छ्यणं तसाद्वीवः-अविकान्वः समापिवयस्तुवध्यान इति भावः स द्वितीयं ध्यानमसम्प्रावः सन् ध्यानान्वरिकायां ववंते । इय° मा॰ ॥ ३ केनसिदेकेन पथा गच्छवा पुरसाद् प्रामद्वयस्य द्वां पन्यानो दृष्टां वतः स विक्कित्र्वितमतिरुपजायते, विक्क-श्चिता-विमर्शेन मुक्किवा मतिरस्येति विक्कित्रिवमतिः, 'अनयोर्मागयोः कवरेण बजा-मि ?' इसेवं दोलायमानमिविरिस्यये ॥ १६४३ ॥ मा॰ ॥

30

कण्हलेसा णं भंते ! केरिसिया वण्णेणं पन्नता ? से जहानामए जीमृते इ वा अंजणे इ वा कज्जले इ वा गवले इ वा गवलवलए इ वा जंबूफले इ वा अहायरेट्टए इ वा परपुट्टे इ वा भमरे इ वा भमरावली इ वा गयकलमे इ वा किण्हकेसरे इ वा आगासिथगाले इ वा किण्हा-सोए इ वा किण्हकणवीरे इ वा किण्हवंधुजीवए इ वा भवे एयाळवे ? गोयमा! नो इण्ट्टे समट्टे, कण्हलेसा णं इत्तो अणिद्वतिरया चेव वण्णेणं पन्नता समणाउसो ! (प्रज्ञापनोपाङ्गे पदम् १७५ उद्देश: ४ पत्र ३६०-२) इत्यादि।

रसवर्णना यथा---

कण्हलेसा णं भंते ! केरिसिया आसाएणं पन्नता ² से जहानामए निवे इ वा निवरए इ वा निवछक्षी इ वा निवफाणिए इ वा कुडए इ वा कुडगफलए इ वा (प्रज्ञापनोपाङ्गे पदम् १७ उद्देशः ४ पत्र ३६४-१) इत्यादि ।

गन्धवर्णना यथा---

जह गोमडस्स गंघो, सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स । इत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥ (उत्त० अ० ३४ गा० १६) जह सुरभिकुसुमगंघो, सुगंधवासाण पिस्समाणाणं । इत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥ (उत्त० अ० ३४ गा० १७) 15

स्पर्शवर्णना यथा---

जह करगयस्स फासो, गोजिन्माए व सागपत्ताणं । एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥ (उत्त० अ० ३४ गा० १८) जह बूरस्स व फासो, नवणीयस्स व सिरीसकुद्धमाणं । इत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥ (उत्त० अ० ३४ गा० १९) 20

तदेतत् सर्वमिष द्रव्यलेश्या अधिकृत्य प्रतिपत्तव्यम् । द्रव्यलेश्या नाम—जीवस्य शुभाशुभप-रिणामरूपायां भावलेश्यायां परिणममानस्योपप्टम्भजनकानि कृष्णादीनि पुद्गलद्रव्याणि । 'ताभिश्य' द्रव्यलेश्याभिः 'भावः' शुभाशुभाध्यवसायरूपः साध्यते ॥ १६४४ ॥ इदमेव भावयति—

पत्तेयं पत्तेयं, वण्णाइगुणा जहोदिया सुत्ते ।

तारिसओ चिय भावो, लेस्साकाले वि लेस्सीणं ॥ १६४५ ॥

'प्रत्येकं प्रत्येकंं कृष्णादीनां मध्यादेकेकस्या द्रव्यलेक्याया वर्णादयो गुणाः 'यथा' यादगाः शुमा अशुमाश्च 'उदिताः' अभिहिताः 'सूत्रे' प्रज्ञापनादौ तादश एव शुमोऽशुमो वा 'भावः' परिणामो लेक्यिनमिप लेक्याकाले भवति । लेक्या विद्यते येपां ते लेक्यिनः, शिखादेराकृति-गणत्वाद् इन्प्रत्ययः, लेक्यावन्त इत्यर्थः, तेपामिति ॥ १६४५॥

अथैताभिर्भावलेश्याभिरुपचितस्य कर्मणः कथमुद्यो भवति ? इत्याह—

जं चिज्जए उ कम्मं, जं लेसं परिणयस्स तस्सुदओ । असुभो सुभो व गीतो, अपत्थ-पत्थऽन्न उदओ वा ॥ १६४६ ॥

१ °कं' एके° मो॰ है॰ विना ॥

"तं केन्" नि सम्ययं हिनीया, ट्रोड्यम्यंः—'यसां' क्रणादीनामन्यनमसां लेक्ययां परितत्य तीवस यह अध्यं ग्रमे वा 'क्रमे' हानावरणिद वीयने, क्रमेक्नीययं प्रयोगः, वयं—क्र्यमुपगच्छनीत्ययः, 'त्रमः' एवमग्रुमकात्या ग्रमकपन्या वा वद्धस्य क्रमेण दृद्य-क्रिकां प्राप्तसाग्रुमः शुनो वा यथानुकप प्रवादयः 'गीतः' मंजिक्तनतीर्थकरेः । दृष्टान्तमह—् ध्याक्रम्पण्यात्र दृद्य दृद्यं यथा अप्रयात्रं मुक्तवतो ज्ञरादिनेगद्वारेणापय्य प्रवादयो मविन, प्रयात्रं तु मुक्तवतः युवासिकादिद्वारेण प्रयः । एवं क्रमेपोऽपि प्रयन्ता-ध्यग्रन्तकेया-परिणापदृद्य विवादः गुमागुनो स्वनीति ॥ १६४६ ॥

इक्तं मदर्वं व्यान्नेव्याद्वाग्द्वयम् । अयः गणनाद्वागमादः—

पडिवद्धमाण मह्या, एगा च सहस्यना व उक्कोमा । कोडिसहस्मपृह्नं, जह्न-उक्कोमपडिवदा ॥ १६४७ ॥

स्विष्ठ्यस्य प्रतिप्रधानिकाः 'साज्याः' विविधिनकाले संबेधवी न वा । यदि संबेधनत एको हो वा त्रणे वा उन्कर्षतो यावत् सहस्र्यपन्त्रम् । पूर्व्यतिपत्ता जवस्यते।ऽपि कोधिमह-स्रायन्त्रम्, उन्कर्षनोऽपि कोधिमहस्र्ययन्त्रम् । नव्यं वयस्यपताहुन्त्र्यपदे विदेशाविकत्त्रम् ॥ १६७७॥ गतं गणनाहारम् । अयामिष्रह्यां व्याच्यायते—ने च चतुर्द्धां, त्र्यण— १० इत्यतः केवतः कालो सावद्धा । तत्र ह्व्यतन्त्रावदाह्—

इग्राहि-प्रदृः 10

तेवडमतेवर्ड वा, अमुगं दर्ज च अल घिच्छामि । अमुगेण च द्वेषं, अह द्वामिगाहो नाम ॥ १६४८ ॥

ंत्रकृतं दगारिप्रमृतिकम् 'अष्ठेपकृतं वा' नद्दिर्गनं वड-चग्रकादि 'अष्ठकं वा' निर्दिष्ट-नापकं मण्डक्रविद्रव्यपदं श्हीप्यामि, 'अष्टुकेन वा' दर्शे-कुन्नादिना दीयमानमहं ब्रह्मीत्ये, १९ 'अय' अयं 'द्रव्यास्त्रिहो नस' मिलाब्रह्णादिविषयः प्रतिज्ञाविकोग् हनि ॥ १६७८ ॥

क्त्रापिष्टइसाइ—

हेर्गान-स्ट्राः थह उ गोयरभूमी, एउगविक्खंममिनगहणं च । सन्गाम परम्गाम, एवह्य घम य खिनम्मि ॥ १६७९ ॥

१ सा गोमुझाकाएबाद् गोचए ट॰ रं॰ ऋं॰ ॥

शलमस्तसेव या वीथिका—पर्यटनमार्गः सा पतङ्गवीथिका, पतङ्गो हि गच्छन्नुत्छत्योत्छत्यानियतया गत्या गच्छित एवं गोचरम्मिरिप या पतङ्गोड्डयनाकारा सा पतङ्गवीथिकिति भावः १ । यस्यां तु साधुः क्षेत्रं पेटावत् चतुरसं विमज्य मध्यवर्तीनि च गृहाणि मुक्त्वा चतस्प्विण दिख्न सम्श्रेण्या मिक्षामटित सा पेटा ५ । अर्द्धपेटाऽप्येवमेव, नवरमर्द्धपेटासहशसंस्थानयोर्दिग्द्रयसम्बद्ध-योर्गृहश्रेण्योरत्र पर्यटिति ६ । तथा शम्बूकः—शङ्कः तद्वद् या वीथिः सा शम्बूका । सा द्वेशा— इ अभ्यन्तरशम्बूका विहःशम्बूका च । यस्यां क्षेत्रमध्यभागात् शङ्कवद् वृत्तया परिश्रमणभङ्गया मिक्षां गृह्जन् क्षेत्रविहर्भागान्छित सा अभ्यन्तरशम्बूका ७ । यस्यां तु क्षेत्रविहर्भागात् तथैव मिक्षामटन् मध्यभागमायाति सा विहःशम्बूका ८ ।

आह च स्त्रोपज्ञपश्चवस्तुकटीकायां श्रीहरिभद्रस्रिः--

अविभित्तरसंवुक्ता वाहिसबुक्ता य संखनाहिखेचोवमा । एगीए अंतो आढवइ वाहिस्तो 10 संनियट्टइ, इयरीए विवज्जओ ति (गा० २९९)।

तथा "ए छुगनिक्लं भिन्तगहणं च" ति ए छुकः—उदुम्बरस्तस्य त्रिष्कम्भः—आक्रमणं तन्मा-त्रेण मया ग्रहणं कर्त्तव्यमिति कस्याप्यभिग्रहो भवति, यथा भगवतः श्रीमन्महावीरसामिनः । तथा स्वप्रामे वा पर्त्रामे वा एतावन्ति गृहाणि मया प्रवेष्टव्यानीत्येषः 'क्षेत्रे' क्षेत्रविषयोऽभिग्रहः ॥ १६४९ ॥ काळाभिग्रहमाह—

> काले अभिग्गहो पुण, आई मज्झे तहेव अवसाणे । अप्पत्ते सद काले, आई विद्ञो अ चरिमम्मि ॥ १६५० ॥

कालाभि-प्रह.

'काले' कालविषयोऽभिग्रहः पुनरयम्—आढौ मध्ये तथैवावसाने भिक्षावेलायाः । एतदेव व्याचष्टे—अप्राप्ते भिक्षाकाले यत् पर्यटित सः 'आढौ' ईति आद्यभिक्षाकालविषयः प्रथमोऽभि-ग्रहः । यतु 'सैति' प्राप्ते भिक्षाकाले चरित स द्वितीयो मध्यभिक्षाकालविषयोऽभिग्रहः । यत् 20 पुनः 'चरिमे' अतिकान्ते भिक्षाकाले पर्यटित सोऽवसानविषयोऽभिग्रहः ॥ १६५० ॥ कालव्येऽपि गुण-दोषानाह—

> दितग-पिडच्छगाणं, हविज सुहुमं पि मा हु अचियत्तं । इअ अप्पत्ते अहए, पवत्तणं मा ततो मन्झे ॥ १६५१ ॥

'ददत्-प्रतीच्छकयोः' इति भिक्षादातुरगारिणो भिक्षाप्रतीच्छकस्य च वनीपकादेमी भृत् 25 सूक्ष्ममिष 'अचियत्तम्' अप्रीतिकं 'इति' असाद्धितोरप्राप्तेऽतीते च भिक्षाकालेऽटनं [न] श्रेय इति गम्यते । ''यवत्तणं मा ततो मज्झे'' ति अप्राप्तेऽतीते वा पर्यटतः प्रवर्तनं पुरःकर्म-पश्चात्कर्मादेमी भृत् 'ततः' एतेन हेतुना 'मध्ये' प्राप्ते भिक्षाकाले पर्यटति ॥१६५१॥ अथ मावाभिष्रहमाह—

उक्तिसत्तमाइचरगा, भावजुया खळ अभिग्गहा होंति । गायंतो व रुदंतो, जं देइ निसन्नमादी वा ॥ १६५२ ॥

भावाभि 3) प्रहः

१ °धुरिभग्रहिवरोपाद् प्रामादिक्षेत्रं पेटा भाग ॥ २ तद्वत् राह्मभूमिवद् या माग ॥ ३ "सलगिहिवत्तोवमा" इति पञ्चवस्तुकटीकायाम् ॥ ४ °इति मध भोग छे विना ॥ ५ यस्तु तर् दे कां ॥ ६ 'सति' विद्यमाने प्राप्ते माग ॥ ७ °ध्यविप तर् दे कां ॥

15

इल्लिमं-पाक्तिररात् पूर्वपेव दायंकनोद्धृतं तद् ये चरन्त-गवपयन्ति ते उल्लिष्ठचरकाः, आदिशब्दाद् निश्चित्रकरकाः सङ्गदिनका दृष्ट्यापिकाः पृष्टवापिका द्याद्या गृह्यन्ते । न एते गुण-गुणिनोः कथित्रदमेदाद् मावयुताः खल्वमित्रहा मर्वान्त, भावासित्रहा इति मावः । यहा गायन् यदि डास्यिन नदा मण अर्हानव्यम् , एवं स्दन् वा निषणगदिर्वा, आदिसङ्णाद्धियतः ६ सम्यस्तितृश्च यद् ददाति तृहिष्णे योऽसिष्रहः स सर्वोऽपि मात्रासिष्रह उच्यते ॥१६५२॥ तथा—

अंतिकण अहिनकण, परम्मुहाऽरुंकिएयरा वा वि ।

भावनयरेण जुओ, अह मात्रामिन्गही नाम ॥ १६५३ ॥

'अवप्रकृत्' अरमग्गं हुर्वन् 'अभिव्यक्रन्' सम्मुखमागच्छन् 'पगञ्चनः' प्रनीतः, अङ-ङ्कतः कटक[े]ल्युगदिभिः, 'इत्रेग वा' अन्त्रङ्कतः पुरुषो यदि दास्यति तदा सया प्राथमिति । 10 एतेयां भावानायन्यतरण मावन युनः 'अथ' अयं भावामिप्रहो नामेति । एते च द्रव्यादयश्चतुर्विवा अर्घ्यामग्रहानीर्धकरेरी यथायागमानीर्पत्वाद् मोह-मदापनयनपत्यख्ताच गच्छवासिनां तथा-विधम्बिष्णुरुष्पविद्रोपापेक्ष्या महत्याः कर्मनिर्जनया निवन्यनं मृतिपत्तव्या इति ॥ १६५३ ॥

थय प्रवाजना-मुण्डापनाद्वारं, भावयनि—

सचिनद्वियक्षयं, छिब्बह्मिव आयरंति थेरा उ । कारणको असह वा, उवएमं दिति अन्नन्य ॥ १६५४ ॥

प्रवाजना-सुग्डापनाम्यासपन्थ्यणतान् पड्वियाऽपि मिच्चत्र्व्यकस्या गृहीतः । तद्यथा— श्रवादना १ मुण्डापना २ शिक्षापना २ उपस्थापना २ यन्भुङ्गना ५ संवासना ६ चेति । तमेवं-विषं पद्विषम् मिचनद्रव्यक्रयमाचर्गन 'स्यविराः' गच्छवासिनः । ''कारणका'' ति तया-विष्यनामाञ्यतादिमिः कार्गः 'असिह्णावा वा' स्वयं वच-पात्रादिमिज्ञानादिमिश्च सिप्याणां १० महत्रोणप्रदे। कर्नुनसमयी उपदेशम् 'अन्यत्र' गच्छान्तरे 'ददिन' प्रयच्छन्ति, अमुक्त गच्छे संविमगीनाथी शाचार्थाः सन्ति तेषां समीपे मवता दीखा मनिपत्तव्येति ॥ १६५७ ॥ अय ''स्तमाऽप्रके नान्ति प्रायश्चित्रम्' (गा० १६३५) इति पदं व्यास्यानयनि—

जीवो पमायबहुछो, पहिनक्खे हुक्करं ठवेउं जे । केनियमिनं बोड्सिनि, पच्छितं दुग्गयरिणी वा ॥ १६५५ ॥

अयं 'त्रीवः' माणी 'ममाद्वहुकैः' अनादिमवास्यत्त्रमनाद्मावनामावितः, ततः 'प्रतिपक्षे' अप्रमादे साप्रीयनुं हुक्कं मनति, हुःग्वेन अप्रमादमावनायां साप्यत इत्यर्थः। ''वे' इति निपानः पर्पर्गं। अतो 'हर्गनऋगिक इव' दिखावमर्ण इव अतिप्रमृतं ऋणे अतिचपङ-चित्रपुरमञापरावद्यं यमादबहुळी जीवः पटे पटे समापद्यमानं कियनमात्रं यायश्चित्तं 'बक्यिति'

१ पते सर्वेऽपि मार्व मा॰ ॥ २ कारणतः तथा भा॰ ॥ ३ लः समावत प्याना मा॰।। ४ यतश्रेयमतः क्रियनमात्रमुखा प्रायश्चित्तं बङ्यति 'हुर्गतऋणिक इव' इरिङ्यार-निक १३ ?। यथा हि निरं व्यत्यादसी कियनमात्रमित ऋणे निर्वाहियतुमीदाः ? तथाऽय-मपि जीयः प्रमाद्वदुख्वया पदे पदे समापद्यमानं कियदिव प्रायक्षित्तं निर्वाहिषतुमीष्टे? इति ननमाऽऽपग्रमाप्यपराघस्य नास्ति प्रायिश्वतं स्वविरक्तिपकानाम् ॥१६५५॥ मा॰ ॥

बोढुं शक्ष्यति ? इति मनसाऽऽपन्नेऽप्यपराघे नास्ति तपःप्रायश्चित्तं स्थविरकल्पिकानाम् , आलो-चना-प्रतिक्रमणप्रायश्चित्ते तु तत्रापि भवत इति मन्तव्यम् ॥ १६५५ ॥

अथ "कारणे पडिकम्मिम्म य" (गा० १६३५) ति पदं व्याख्यायते—कारणम् अशिवा-**ऽवमौदर्यादिकं** तत्रोत्पन्ने द्वितीयपदमप्यासेवन्ते । तथा निष्कारणे निष्पतिकर्मशरीराः । कारणे तु ग्लानमाचार्य वादिनं धर्मकथिकं च प्रतीत्य पादधावन-मुखमार्जन-शरीरसम्वाधनादिकरणात् ह सप्रतिकर्माण इति । "भत्तं पंथो य भयणाए" ति भक्तं पन्थाश्च भजनया । किमुक्तं भवति ?—— उत्सर्गतस्तावत् तृतीयपौरुप्यां मिक्षाटनं विहारं च कुर्वन्ति, अपवादतस्तु तदानीं मिक्षाया अलाभे काले वाऽपूर्यमाणे दोषाखिप पौरुपीष्विति । गतं खितिद्वारम् । अथोपसंहरन्नाह-

गच्छिम्म उ एस विही, नायच्यो होइ आणुपुच्यीए। जं एत्थं नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥ १६५६ ॥

10

'गच्छे' गच्छवासिनां 'एषः' अनन्तरोक्तो विधिर्ज्ञातन्यः 'आनुपूर्व्या' परिपाट्या । यत् पुनरत्र 'नानात्वं' विशेषस्तदहं वक्ष्ये समासेन ॥ १६५६ ॥ एतदेव सविशेषमाह-

सामायारी पुणरवि, तेसि इमा होइ गच्छवासीणं। पिंडसेहो व जिणाणं, जं जुज्जइ वा तगं वीच्छं ॥ १६५७ ॥

गच्छवासि-ना सामा-चारी

सामाचारी पुनरपि तेषां गच्छवासिना मासकल्पेन विहरताम् 'एषा' वक्ष्यमाणा भवति । 15 'जिनानां' जिनकरिपकानामस्या एव सामाचार्याः प्रतिषेघो वा वक्तव्यः । 'यद् वा' प्रत्युपेक्षणा-दिकं तेषामि युज्यते तकमि वक्ष्ये ॥ १६५७ ॥ प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयन् द्वारगाथाद्वयमाह—

पिंडलेंहण निक्खमणे, पाहुडिया भिक्ख कप्पकरणे य। गच्छ सतिए अ कप्पे, अंविल भरिए य ऊसित्ते ॥ १६५८ ॥ परिहरणा अणुजाणे, पुरकम्मे खलु तहेव गेलने। गच्छपडिवद्धऽहालंदि उवरि दोसा य अववादे ॥ १६५९ ॥

20

प्रथमतः प्रत्युपेक्षणा वक्तव्या । ततो 'निष्क्रमणं' कति वारा उपाश्रयाद् निर्गन्तव्यमिति, प्राभृतिका सूक्ष्म-बादरमेदादृ द्विविघा, 'भिंक्षा' गोचरचर्या, 'कल्पकरणं च' भाजनस्य धावन-विधिलक्षणमित्येतानि वक्तव्यानि । "गच्छ सइए" ति शतिकाः-शतसङ्गपुरुपपरिमाणा ये गच्छास्तेषु प्रभूतेन पानकेन प्रयोजनं भवेत् , तच "कप्पे अंविरु" ति 'कल्प्य' कल्पनीयम् 25 'अन्छं च' सौवीरं ग्रहीतव्यम्, अनेन सम्बन्धेन सौवीरिणीसप्तकमिभेधानीयम्। ''भरिए य'' चि तस्याः सौवीरिण्याः सप्तविधं भरणं वाच्यम् । "ऊसिचि" चि उत्सेचनमुत्सिक्तं—सौवीरस्यो-हिम्बनमित्यर्थः तत्स्वरूपं च निरूपणीयम् ॥ १६५८ **॥**

"परिहरण" ति नोदकः प्रश्नयिष्यति —यदि साम्प्रतं शतिकेष्वपि गच्छेष्वित्थमाधाकर्मा-दयो दोषा उद्भवन्ति ततः पूर्वं सार्हस्रेषु गच्छेषु साधवः कथमाधाकर्मादीनां परिहरणं कृत-30 बन्तः ? इति । अत्राऽऽचार्यः प्रतिवक्ष्यति---'अनुयानं' रथयात्रा उपलक्षणत्वात् स्नात्रादेरपि परि-

१ 'क्षा' प्रतीता, 'क' भार ॥ २ 'घातव्यम् । "भरिए य" ति एकंकस्याः सी' भार ॥ ३ 'खर्थः, तदात्मार्थं साध्ययं वा करोतीति निक्र' भार ॥ '४ 'इस्निकेषु भार ॥ ः न• ६२

ग्रहः, ततो यथा सम्यति रथयात्राहा समवसरणे महत्रसङ्घ्याका अपि साधवो मिलिताः सन्तः आधाक्रमीहिकं परिहर्रान्त तथा पृत्रमपि परिहृतवन्त इत्यनेन सम्बन्धेनानुयानविषयो विधिवे-क्त्यः । ततः पुरःक्रमीखरूपं निरूपियनव्यम् । 'खलुः' वाक्यालङ्कार् । तथेव ग्लान्यविषयो विधिः यतिपादनीयः । गच्छप्रतिबद्धानां यथालन्दिकानां सामाचारी दर्श्वर्नाया । ततः 'उपिर' मासकल्याहर्ष्वे तिष्ठतां स्वविरक्तिकानां होषा अभिधातव्याः । ततः 'अपवादः' द्वितीयपद्ध-पदर्श्वर्नायमिति द्वाग्गाथाद्वयनमासार्थः ॥ १६५९ ॥

अय विस्तृगर्थे प्रतिपदं प्रचिकटियषुः "यथोहेशं निर्देशः" इति वचनप्रामाण्यात् प्रथमतः प्रस्तुपेक्षणाहारमियानुकाम इमां प्रतिहारगाथामाह—

प्रतिनेख-नाृहारम्

10

पहिलेहणा उ काले, अपडिलेह दोस छम्र वि काएमु । पडिगहनिक्लेवणया, पडिलेहणिया सपडिवक्ला ॥ १६६० ॥

यतिलेखना 'तुः' एवकारायों भिन्नक्रमश्च काल एव कर्तव्या नाकाले । "अपडिलेह" ित अपितलेखने प्रायश्चित्तम् । "होस" ित दोषाः—आरमहाचालेर्द्वष्टां प्रखुपेक्षणां कुर्वतः प्रायश्चि-, त्रम् । "हम् ति काएमु" ित पर्मु जीवनिकायेषु स्वयं प्रतिष्ठित उपिवर्वी प्रतिष्ठित इति । प्रतिप्रहस्य निक्षेपणं वर्षामु विघेयम् । प्रतिलेखना 'सप्रतिपक्षा' सापवादा मवतीति । एतानि विद्याराणि वक्तव्यानीति समासार्थः ॥ १६६० ॥ व्यासार्थं तु प्रतिद्वारमिषित्सुराह—

স্ত্রিউন্ত-নাথা ভাত

युक्तगए जिणाणं पडिलेहणियाएँ आहवणकालो । येराणऽणुग्गयम्मी, ओवहिणा सो तुलेयच्वो ॥ १६६१ ॥

सूर्यं उद्दते सित 'जिनानां' जिनकल्पिकानाम् ''एकप्रहणे तळातीयप्रहणम्' इति वचनाद-परपामपि गच्छनिगेनानां प्रतिलेखनाया आरम्मणकाला मन्तव्यः । 'स्वविराणां' स्वविरक्ट 20 ल्पिकानामनुद्रते सुर्ये प्रस्पुपेक्षणायाः प्रारम्भकालः । स चोषविना तोल्यितव्यः ॥

प्रामातिकः प्रतिलेखः नाकानः विष्यका सारेशाः

कथम् १ इति चेद् उच्यते—इह यागातिकप्रतिलेखनायां भृयांस आदेशाः सन्ति, अत-सत्त्रतिपादकः पञ्चवस्तुकवृत्त्युक्तो बृद्धसम्पदायो लिख्यते—

को पडिलेहणाकालो ? एगो मणड्—जर्यां वायसा वासंति तया पडिलेहिज्जङ, तो पट्ट-

"श्रष्ट् बेन्तए पुन, पटिन्हिनियार्ग आटबणकाओं ? । केरी मजीते जाये, कामा खल परहिता हीति ॥ अरुगोदयीम्न केमी, कररेहा जाव दीनितुं कीयें । एते तु अगावेसा, के पुण काले ? इसं सुनसु ॥ स्रुगाते जिलाने, पहिलेहिनियाएँ आटबमकालों । बेराणऽणुरणयम्मी, ओवियण सो तुलेतिकों ॥ अयहाद तिथिन कथा, संवारत पह उत्तरों चेव । इंडन एकारसमी, पेहितें जय स्रें उद्देति ॥" २ को मुद्दे भार ॥ ३ वा कुकुदो बासह तथा पडिलेहिजात । अन्नो मार ॥

^{? &}quot;अर्रावेशा—अन्य हुवते—जया वेलया वायसा लागच्छीत स प्रतिलेख निकासाः प्रारम्भकार । अन्य—इस्लेखाप्रवर्धनमिति । हावप्येती अनावेशी । तहा आवश्यर कर्त्तवः यथा दश्कि. स्थानैः प्रतिलेखित्यार उर्द्वलितः वर्द्वलितः प्रारम्भकारः प्रतिलेखित्यार । क्तरे पुनर्वशः १ पत्र अहाजानाई, तिलि दक्ष्मस्या कृषा, तेषि एको सोतिओ हो ऑण्यिया, स्थारओ उत्तरपद्दे । दंडओ वा एकारसमी ।" इति विदेशपद्मणीं । यहसूम्प्रो स्ववमोदशा —

वित्ता अज्झाइजाउ । अन्नो भणइ—अरुणे उद्विए । अवरो भणइ—जाहे पगासं जायं । अन्नो पुण—जाहे पिडस्सए परोप्परं पवड्यगा दीसंति । अन्ने भणंति—जाहे हत्थरेहाओ दीसंति । आयिरिया भणंति—एए सबे वि अणाएसा, अपिसद्धान्तत्वात्, जओ अंध्यारे पिडस्सए हत्थरेहाओ उद्विए वि सूरे न दीसित, वायसाइआएसेसु य अंधकारं ति पिडलेहणा न सुज्झइ, तम्हा इमो पिडलेहणाकालो—आवस्सए कए तिहिं थुईहि दिन्नियाहि जहा पिडलेहणाकालो अवदस्तए कए तिहिं थुईहि दिन्नियाहि जहा पिडलेहणाकालो अवद्सार वहा सामा अवद्सार कायवं, इमेहि य दसिह पिडलेहिएहि जहा सूरो उट्टेई—

मुहपुत्ती रयहरणं, दुन्नि निसिज्जा य चोलपट्टो य । संथारुत्तरपट्टो, तिन्नि य कप्पा मुणेयबा ॥ (२५५-५६-५७ गाथान्तः) जीवव्यद्वं पेहा, एसो कालो इमीइ ता नेओ । आवस्सगथुइअंते, दसपेहा उद्दए सूरो ॥ (पञ्चव० गा० २५८)

चूर्णिकृत् पुनराह—यथाऽऽवश्यके कृते एकद्वित्रिश्लोकस्तुतित्रये गृहीते एकादशिमः प्रति-लेखितैरादित्य उत्तिष्ठते स प्रारम्भकालः प्रतिलेखनिकायाः । कतरे पुनरेकादश १ पंच अहाजा-तानि, तिन्नि कप्पा, तेसिं एगो उन्निओ दो सुत्तिया, संथारपट्टओ उत्तरपट्टओ दंडओ एगार-समो ति ॥

गतं ''प्रतिलेखना [तु] काले'' इति द्वारम् । अथ प्रख्पेक्षणादोषद्वारं विवृणोति— लहुगा लहुगो पणगं, उक्कोसादुवहिअपडिलेहाए । दोसेहि उ पेहंते, लहुओ भिन्नो य पणगं च ॥ १६६२ ॥

15 सदोप-प्रत्युपेक्ष-णाया प्रा यथित्तम् -

10

उत्क्रप्टाद्युपधीनाममत्युपेक्षणे मायश्चितं लघुका लघुकः पञ्चकं चेति । उत्क्रप्टमुपिं न मत्यु-पेक्षते चत्वारो लघुकाः, मध्यमं न मत्युपेक्षते मासलघु, जधन्यं न मत्युपेक्षते पञ्चकम् । अथ आरमडा-सम्मर्दा-मोसलीप्रभृतिभिदोंपेर्दुष्टं मत्युपेक्षते तत उत्क्रप्टे मायलघु, मध्यमे भिन्नमासः, 20 जधन्ये रात्रिन्दिवपञ्चकम् ॥ १६६२ ॥

अथ "पद्सु कायेषु" (गा० १६६०) इति पदं व्याचष्टे---

काएसु अप्पणा वा, उवही व पइहिओऽत्थ चउभंगी। मीस सचित्त अणंतर-परंपरपइहिए चेव॥ १६६३॥

प्रत्युपेक्षमाणः पट्सु कायेप्वासना प्रतिष्ठित उपिर्धव तेषु प्रतिष्ठित इत्यत्र चतुर्मक्री । 25 तद्यथा—स्वयं कायेषु प्रतिष्ठितो नोपिषः १ उपिषः प्रतिष्ठितो न स्वयं २ स्वयमिप प्रतिष्ठित उपिषरिप प्रतिष्ठितः ३ स्वयमप्यप्रतिष्ठित उपिषरप्यप्रतिष्ठितः १ इति । एते च पट् काया मिश्रा वा भवेयुः सचित्ता वा। एतेषु साधुरुपिर्धवां अनन्तरं वा परम्परं वा प्रतिष्ठितो भवेत् । अत्र च प्रायिक्षित्त "छक्काय चउसु रुहुगा" (गा० ४६१ गा० ८७९ वा) इत्यादिगाथानु-सारेणावगन्तन्यम् । यस्तु द्वाभ्यामप्यप्रतिष्ठितः स शुद्ध इति ॥ १६६३ ॥ 30

अथ ढोपद्वारस्य वक्तव्यताशेषं प्रतिमहनिक्षेपणपदं च व्याख्यानयति —

आयरिए य परिन्ना, गिलाण सरिसखमए य चउगुरुगा।

ম্বিট্ৰ-

20

दादाः

- उड्ड अघर अंव उडुओ, बंघण घरण य वासासु ॥ १६६४ ॥

"श्रायिए" नि पर्धा-सप्तम्यार्थं प्रत्यमेदावाचांयस "परिन्न" ति मत्वर्थायप्रत्यकोषात् 'पिरहादतः' कृतमन्त्रप्रताच्यान्य "गिळाण सिरसन्त्रमण् य" ति ग्लानस रजनसद्द्यश्च यः क्षपकः—तिकृष्टनपन्ती तस्य. एनेषां चनुणीसुपिं यदि न प्रसुपेक्षते तदा चत्वारो गुरवः । क्ष्यच्यान् प्रायुणेक-स्विद्दन्तेष्ठाणानः जनोपनस्य च क्षपक्रसोपिवमप्रसुपेक्षमाणानां चतुर्व्यदः । "उहु" इत्यादि पश्चाद्वम् । यदा सर्वाण्यपि वन्त्याणि प्रसुपेक्षिनानि मवन्ति तदा यान्यतिरि-कानि याजनानि तानि प्रन्युपेक्ष्यन्ते । प्रतिप्रदं मात्रकं च यदि तदानीमेन प्रस्युपेक्षते तदा मान्त्रक्ष, असामाचारीनिष्यक्षनिति मावः । अतः स्त्रपेक्षतं कृत्वा चतुर्मानावरोपायां पारुत्यां प्रन्युपेक्ष्य हे अपि ऋतुवद्धे काले थार्गायं न निक्षप्तच्ये । अथ ऋतुवद्धे प्रतिप्रदं मात्रकं चा 10न थाग्यस्युपकरणं वा द्यान्कण न व्याति तदा मान्तव्य, अधि-स्तेन-दण्डिकक्षोमाद्यश्च और्यनियुक्तिप्रतिपादिता दोषाः । वर्षानु पुनरपर्वि न वद्याति प्रतिप्रदं मात्रकं च प्रस्पेक्ष्य निक्षपति । अथोपर्वि बन्नाति मानने वा धार्यित तदा मान्तव्य ।

विशेषचृषिकृता खला एकगायायाः स्याने गायाद्वयं जिखितम् । यथा—

गुरु पबक्खायाऽसह, गिलाण सरिसखमए य चउगुरुगा।

15 पाहणग मेह बाले, बुंह खमए अ चडलहुगा ॥

चडमागवयसाए, पहिनाई प्चुवेक्त न घरेइ।

उड्डब्रें मामलडुं, बासासु घरिति मासलहुं ॥

इदं च माचितार्थमेव ॥ १६६४ ॥ अय "प्रतिलेखनिका सप्रतिपशा" (गा० १६६०) इति पदं माक्यति—

होत पद शास्त्रीत—

असिवे ओमोयरिए, सागार मए व राय गेलके । नो निम्म नया जुलह, पहिवक्तो तं तहा नौए ॥ १६६५ ॥

'प्रतिपक्षा नाम' हिर्तायपदस्, तज्जेदस्—'अधिवे' अधिवगृहीतः सस्र शक्तोति प्रसुपेक्षि-तुम्, अवनादर्ये तु प्रन्युर एव मिलां हिण्डितुं पारव्यवन्तः अता नान्ति प्रसुपेक्षणायाः काङः, सागारिका वा प्रक्षमानो मा तं साग्सुणीयं द्राक्षीदिति इत्वा, 'भये वा' वोविक-स्तेनादिसम्ब-ध्वान्यिति सागपकरपाद्यामयात्र प्रसुणेक्षन्ते, राजा वा प्रन्यनीकन्तद्वयादहर्निश्चमव्यति वहन्तो न

प्रत्येष्ट्रेरन्, न्छानचे वा वर्तमान एकाकी तिष्टन् न प्रत्येषकते । एतेः कारणैर्न वा प्रत्येषक्षेत्, अनागनेष्ट्रीते वा क्रांके प्रत्येषक्षेत्र, त्वरमाणी वा आरमदादिमिद्रीपेर्द्धद्यां प्रत्येपक्षणां कुर्वीत, असमधीं वा गुर्वादीनामप्युपवि न प्रत्येषक्षेत्र; एवं यः 'यत्र' अधिवादी 'यदा' यसिन्नवसरे

'प्रतिपदः' अप्रत्युपेष्टणा-उद्गाच्यात्युपेष्ठणादिको युज्यते तं तथा तत्र योजयेदिति ॥ १६६५ ॥

2) अय पर्नु क्रेयपु प्रन्युपञ्चमाणस प्रायश्चित्तं मक्तीत्यर्थात् तत्र प्रत्युपेक्षणा न कर्तक्येति यहकं तद्यवहित—

१ इक्रनो "स्वताय मा पर्याव" इसकि १७५-७६-७३ गायाविक्रमोद्यनिर्धुकी साम्यक्तसः त्वम । पत्र १९८-१९९ ॥

तस-चीयरक्खणद्वा, काएसु वि होज कारणे पेहा। निदृहरणपुत्तनायं, तणू य थूरे य पुत्तिम्म ॥ १६६६॥ जह से हवेज सत्ती, उत्तारिजा तओ दुवग्गे वि। थूरो पुण तणुअतरं, अवलंबंतो वि बोलेइ ॥ १६६७॥

त्रसाश्च हीन्द्रियादयः वीजानि च नाल्यादीनि तेपामस्थिरसंहनिनां रक्षार्थ 'कायेप्विप' 5 पृथिव्यादिषु दृढसंहननिषु कारणतः प्रत्येपेक्षणा भवति, न च प्रायिश्चत्तम् । आह तेषु प्रति-ष्ठितः प्रत्येपेक्षणं कुर्वन् सङ्घटनादिवाधाविधानात् कथं न दोपभाग् भवति १ इति उच्यते —

नदीहरणोपलिश्वतं पुत्रज्ञातमंत्रं भवति । कथम् ? इत्याह—''तण् य थूरे य पुत्तिम्गं' ति यथा कश्चित् पुरुषः, तत्य द्वौ पुत्रौ, तयोरेकः तनुकः—क्रुशशरीरः, द्वितीयस्तु स्थूलः— अतीवपीवरगात्रः । स चान्यदा ताभ्यां सहितः कश्चिद् ग्रामं गच्छन्नपान्तराले एकामपार-गम्भीरां 10 नदीमवतीर्णवान् । स च नदीप्णतया सुखेनेव स्वयं तां तरीतु शक्तः, परं पुत्रावद्यापि तरण-(मन्थामम्—५०० । सर्वमन्थामम्—१२७२० ।)कलायामकोविदाविति कृत्वा तनुके स्थूले च पुत्रे उमयेऽपि तारियतुं प्राप्ते सित स किं करोति ? इत्याह—

यदि "से" तस्य पितुः 'शक्तः' सामर्थ्य भवेत् ततः "दुवग्गे वि" चि देशीवचनत्वाद् द्वावि पुत्रावुत्तारयेत्, नैकमप्युपेक्षेत । अथ नास्ति तस्य तथाविधं सामर्थ्यं ततो यस्तयोः क्रश-,15 शरीरस्तं तारयिति, रुषुभूतशरीरतया तस्य सुखेनेव तारणीयत्वात् । यस्तु 'स्थूरः' शरीरजङ्घः सः 'तनुकतरं' स्तोकमात्रमप्यवरुम्बमानो निजशरीरभारिकतयेवात्मानं तं च नन्द्यां वोरुयिति, अतस्तमुपेक्षेत । एप दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः—पितृस्थानीयः साधुः, पुत्रद्वयस्थानीयाः स्थिरा-ऽस्थि-रसंहिननः पृथिवीकायादयः, ततः साधुना प्रथमतो निर्विशेषं पद्यि कायाः स्थिरसंहिननोऽस्थि-रसंहिननश्च रक्षणीयाः । अथान्यतरेपां विराधनामन्तरेणाध्वगमनादिषु प्रत्युपेक्षणादीनां प्रवृत्ति-,20 रेव न घटामञ्चति ततः स्थिरसंहिननां पृथिव्यादीनां विराधनामभ्युपेत्याप्यस्थिरसहिननस्रसादयो रक्षणीया इति ॥ १६६६ ॥ १६६७ ॥ अस्थेवार्थस्य समर्थनाय द्वितीयं दृष्टान्तमाह—

अंगारखड्डपिडयं, दहूण सुयं सुयं विह्यमन्नं । पविलेत्ते नीणितो, किं पुत्ते नो कुणह् पायं ॥ १६६८ ॥

शङ्गारगर्त-पतितपुत्र-शातम्

यथा नाम कश्चित् पुरुपस्तस्य पुत्रद्वयम्, अन्यदा च रात्रो तद्वृहे प्रदीपनकं रुप्तम्, तद्व-25 यादेकः पुत्रः पर्लायमानः सहसेवाङ्गारभृतायां गर्तायां निपतितः, स च गृहपतिद्वितीयं पुत्र-मादाय गृहाद् निर्गतो यावत् पर्यति पुरतः स्वपुत्रमङ्गारगर्त्ताया पतितम्, ततश्च तं युतं तथामृतं दृष्ट्वा द्वितीयमन्यं युतं "पविरुत्ते नीणितो" ति पञ्चम्यर्थे सप्तमी प्रदीप्ताद् गृहात्रिप्ताशयम् निजसहजपारिणामिकमत्या विचार्य परिच्छेदकुश्चरुः सन् किमङ्गारगर्तायां निपतितपूर्वे पुत्रे पादं न करोति ? अपि तु करोत्येव, कृत्वा च तदुपरि पादं युत्वेनेव तां रुङ्कयतीति भावः 30 ॥ १६६८ ॥ अथ तदुपरि पादं न दद्यात् 'सपुत्रं कथं पादेनाकामामि ?' इति कृत्वा ततः को दोपः स्याद् ? इत्याह—

१°त्र वक्तव्यम् । क° भा॰॥

तं वा अणक्तमंतो, चयइ सुयं तं च अप्पगं चेव । निन्थिण्णो हु कदाई, तं पि हु तारिज जो पडिओ ॥ १६६९ ॥

वाश्रव्यः पातनायाम्, सा च कृतेव । 'तं' गर्चानिपतितं पुत्र पादेनानाकामन् स पिता त्यजित सुतं 'तं च' सहस्तगृहीतमात्मानं च, उभयोरप्यङ्गारगर्चापातेन विनाशसङ्कावात्। अपि इत्र स स्वयं निस्तीर्णः सन् कटाचित् तमपि पुत्रं तारयेद् यः पूर्व गर्चायां निपतित इति । एप द्वितीयो दृष्टान्तः । उपनययोजना तु प्रागुक्तोपनयानुसारेण कर्चव्येति ॥ १६६९ ॥

गतं प्रखुपेक्षणाद्वारम् । अथ निष्क्रमणद्वारमाह—

निष्कमण-हारम्

25

निरवेक्सो तह्याए, गच्छे निकारणम्मि तह चेव । बहुवक्खेवदसविहे, साविक्खे निग्गमो मह्ओ ॥ १६७० ॥

10 'निरपेक्षः' जिनकल्पिक-प्रतिमाप्रतिपन्नकादिगेच्छसत्कापेक्षारहितः स तृतीयस्यामेव पार-प्यामुपाश्रयाद् निर्गच्छति । 'गच्छे' गच्छवासिनोऽपि साधवो निप्कारणे तथव निर्गच्छन्ति, तृतीयस्यां पारुप्यामित्यर्थः । परं गच्छे यद् आचार्योपाच्यायादिविषयमेदाद् दशविषं वैयाद्वत्यं तेन यो बहुविषो ज्याक्षेपत्तेन सापेक्षे गच्छवासिनि निर्गमो भजनीयः, कदाचित् तृतीयस्यां कदाचित् प्रथम-द्वितीय-चतुर्थापु वा पारुपीप्विति ॥ १६७० ॥

15 अधैनामेव निर्मुक्तिगाथां त्र्यास्याति--

गहिए भिक्खे भोतुं, सोहिय आवास आलयमुवेइ । नहिं निग्गओ तिहं चिय, एमेव य खेत्तसंक्रमणे ॥ १६७१ ॥

निरपेक्षो मगवान् तृतीयपारुप्यामुपाश्रयान्निर्गत्य मिक्षामटित्वा गृहीते सित मेक्षे अनापाते असलोके च स्थाने मुक्तवा 'आवज्यकं च' संज्ञा-कायिकीलक्षणं शोधयित्वा यस्यामेव पोरुप्यां

20 निर्गतस्त्रामेव म्य 'आल्यम्' उपाश्रयसुँपति, तृतीयस्यामित्यर्थः । एवमेव च क्षेत्रसङ्गमणेऽपि द्रष्टव्यम् , क्षेत्रात् क्षेत्रान्तरगमनमपि तृतीयस्यां करातीति मावः । स्यविरकस्पिका अपि निष्कारणे तृतीयस्यामेव निर्गत्य मिक्षामिटित्वा प्रतिश्रये मसुद्दिस्य सज्ञामृर्मि गत्वा तस्यामेव प्रत्यागच्छन्ति । , क्षेत्रसङ्कमणमप्येवमेव । कारणतस्तु न कोऽपि प्रतिनियमः ॥ १६७१ ॥ तथा चाह —

अतरंत-त्राल-बुहु, त्रवस्ति-आएसमाइकजेसु ।

बहुसो वि होज विसणं, कुलाइकजेसु य विभासा ॥ १६७२ ॥ उचार-विहारादी, संभम-भय-चेइवंदणाईया । आयपरोमयहेडं, विणिग्गमा विणया गच्छे ॥ १६७३ ॥

अतरन्तः---लानस्य तथा वाल-बृद्धयोः तपितनः--क्षपकस्य आदेशस्य-प्राधृणेकस्य आदि-ग्रन्दावाचार्योपाच्याय-श्रेक्षका-ऽलव्यिमस्यसृतीना यानि कार्याणि--तस्यायोग्यमक्त-पानोपघादि-

30 ग्रहणत्रपणि तेषु 'ग्रहुगोऽपि' बहूनपि वारान् गृहपतिगृहेषु प्रवेशनं गच्छसाधूनां भवति । तथा कुलादिकार्येषु, आदिग्रहणाद् गण-सङ्घपरिग्रहः । कुलं-नागेन्द्र-चन्द्रादि, गणः-कुल्स-

१ "निरवेस्को तह्याए" चि परं मात्रयति—मा॰॥- २ तथा कुछं-नागेन्द्र-चन्द्रादि; आदिशब्दाद् गणः-कुछ° त॰ टे॰ हां॰॥

मुदायः, गणसमुदायः सङ्घः चतुर्वणेरूपो वा, तत्कार्येषु च विभाषा कर्तव्या । सी चेयम्---कुले गणे सहे वा आभाव्या-ऽनाभाव्यविषयः कोऽपि व्यवहारः समुपस्थितः तस्य यथावत् परिच्छेदनं कर्त्तन्यम् , प्रत्यनीको वा कोऽपि साधूनामुपिखतः तस्य शिक्षणं विधेयम् , चैत्य-द्रव्यं वा कश्चिद् निःशङ्कं मुण्णाति स शासितव्यो वर्तत इत्यादि ॥ १६७२ ॥ तथा---

उचारः—पुरीषं तस्य उपरुक्षणत्वात् प्रश्रवण-खेरादेश्च व्युत्सर्जनार्थं वहिर्गन्तव्यम् । छ विहारो नाम-वसतावस्वाध्यायिके समुत्यने सति स्वाध्यायनिमित्तमन्यत्र गमनम्, आदित्रहणात् पूर्वगृहीतपीठफलक-शय्या-सस्तारकप्रत्यर्पणप्रभृतिपरिग्रहः । सम्त्रमो नाम-उदका-ऽमि-हस्त्या-द्यागमनसमुत्थ आकस्मिकः सत्रासः, भयं तु-सामान्येन दुष्टस्तेनाद्युपद्रवपभवम्, चैत्यानि-जिनविम्बानि तेपां वन्दनम्, आदिशब्दादपूर्ववहुश्रुताचार्यवन्दनादिपरियहः । एवमादीनि यान्यात्मनः परेपामुभयस्य वा हेतोः कार्याणि तित्रिमित्तं गच्छे वहुगोऽपि प्रतिश्रयाद् विनि-10 र्गमाः 'वर्णिताः' प्रतिपादिता इति ॥ १६७३ ॥

गतं निष्क्रमणद्वारम् । अथ प्रामृतिकाद्वारं विभावियपुराह---

पाहुडिया वि यँ दुविहा, वायर सुहुमा य होइ नायन्वा । एकेका वि य एत्तो, पंचविहा होइ नायव्या ॥ १६७४ ॥

प्रामृतिका-द्वारम्

'प्राभृतिका' वसते श्ळादन-लेपनादिरूपा, सा द्विविधा—वादरा सूक्ष्मा च भवति ज्ञातन्या । 15 एकैकाऽपि चेत ऊर्द्ध पञ्चविधा भवति ज्ञातन्या ॥ १६७४ ॥

तत्र बादरां पञ्चविधामपि तावदाह—

विद्धंसण छायण लेवणे य, भूमीकम्मे पड्ड पाहुडिया। ओसकण अहिसकण, देसे सन्वे य नायन्वा ॥ १६७५॥

वादर-प्रामृतिका

'विध्वंसनं' वसतेर्भञ्जनम्। 'छादनं' दर्भादिभिराच्छादनम्। 'लेपनं' कुट्यानां कर्दमेन गोमयेन 20 च लेपप्रदानम् । 'भूमिकर्म' सम-विषमाया भूमेः परिकर्मणम् । ''पडुच'' त्ति 'प्रतीत्यकरणं' त्रिशारुं गृहं कर्त्वकामः सीधून् प्रतीत्य चतुःशालं करोति, आत्मीयं वा गृह साधूनां दत्त्वा आत्मार्थमपरं कारयतीत्यादि । एपा पञ्चविधाऽपि वादरप्रामृतिका प्रत्येकं द्विधा-अवप्वप्कणतोऽभिप्वप्क-णतश्च । अवप्वप्कणं नाम-विवक्षितविध्वंसनादिकारुस्य हासकरणम् , अवीकरणमित्यर्थः । अभिप्चप्कणं-तस्येव विवक्षितकालस्य सवर्द्धनम्, परतः करणमित्यर्थः । पुनरेकैके विध्वंसना- 26 दयो द्विघा देशतः सर्वतश्च ज्ञातन्याः ॥ १६७५ ॥ तत्र देशतः सर्वतो वा विध्वंसनमभिप्व-प्कणतो भाव्यते—केनचिद् गृहपतिना चिन्तितम्—यथेदं गृहं ज्येष्ठमासे भंक्त्वा ततोऽभिनवं करिप्याम इति । इतश्च ज्येष्ठमासे तत्र गृहे साधवो मासकल्पेन खिताः, ततोऽसौ चिन्तयति—

अच्छंतु ताव समणा, गएसु भंतूण पच्छ काहामी ।

१ सा चैपा—कु॰ त॰ हे॰ का॰ ॥ २ तथा—उद्यार-विहाराद्यं वहिर्गमनं भवति, उद्यारः-पुरीपम् उपलक्षणत्वात् प्रश्रवण-खेलादिकमपि गृहाते, तस्य परिष्ठापनं विघेयम्। विहारो मा॰ ॥ ३ हु ता॰ ॥ ४ साधुनिमित्तं चतुःशालं करोति, खार्थं वा पूर्व कारितं गृहं साधूनां भा॰॥

ओमासिए व संत, न एंति जा मंतुणं कुणिमो ॥ १६७६ ॥

इत्तनीं तावर् 'आसतां' तिष्ठन्तु अमणाः, गतेषु तेषु 'पश्चार्' आपादमासे मंक्त्वा करित्राम इति, एतद्रभिष्वक्रणम् । अयावत्रक्रणमाह—"ओमासिए व'' इत्यादि । अत्रप्रत्युपक्षेकरवमा-पिते प्रदर्त चोपाश्रये सिन स गृहपतिश्चिन्त्रयति—ज्यष्टमास तावदत्र साववः स्यास्यन्ति, अनो भ्यावन् त नामच्छन्ति तावद् वैद्याते माम संक्त्वा कुर्म इति, एनद्वत्रव्क्रणम् ॥ १६७६ ॥

मात्रितं विज्ञंसनपद्स् । अथ च्छादनादीन्यतिदिश्रनाह---

एनेन कमो नियमा, छड़े लेने य भृमिकम्मे य । तेसाल चाउसालं, पड्चकरणं जईनिस्सा ॥ १६७७ ॥

ण्य एवाभित्रकणतोऽवत्रकणतथ कमो नियमाद् मन्त्रव्यः । क १ इत्याह—'छर्जे' 10 छाउने 'छेने' छिन्यने मुमिकर्मणि च । तिष्ठन्तु ताबदिदानी अमणाः, पश्चाद् गतेषु सत्तु गृहं छाउपित्यामी छप्यामी मृनि वा परिकर्मयित्याम इति, एउड्मित्रकणम् । एनान्येव च्छाद-नादीनि यद्यनागतमेव करोति उद्याद्यत्रकणम् । अय प्रतीत्यकरणं मान्यते—''तेसार्ड' इत्यादि । त्रियार्ड गृहं कर्तुकामो यनीनां निश्रण तान् प्रनीत्यति मावः चतुःद्यार्ड यत् करोति उत् प्रतीत्यकरणमुच्यते ॥ १६७७ ॥ अथन—

¹⁵ पुत्रयरं दाऊण व, नईण अने करिति सहाए । काडमणा वा अने, ण्हाणाह्मु कालमार्येक ॥ १६७८ ॥

'प्रेगुहं' तार्थं प्रे कृतं यह गृहं तह यनीनां दत्ती नार्थन् 'अन्यहं' अभिनतं यहगा-रिणः क्षतिन तह वा प्रनीत्यकरणन् । अयवा केऽपि श्राहाः तार्थमन्यह गृहं ज्येष्टमासे क्र्तूम-नसः परं तत्र वैद्यान्तमासि चानादिकं नैनवेत्येषु भित्रता तद्वने चिन्तयिन—अनागतमेव गृहं 20 कुमी येन तत्र सापना विद्यानमासि चानादिषु मनायातानिष्टन्ति । एवं सायृत् प्रतीत्य काड-मक्ष्यक्रेयुः एतद्वानक्रणतः प्रनीत्यकरणस्क्रम् ॥ १६७८ ॥ अयागित्रक्रणतस्त्रदेवाह—

एमेव य ण्हाणाह्मु, सीयलकजङ्क कीह उस्संक । मंगल्खुई। मो पुण, गएमु तहियं वसिउकामा ॥ १६७९ ॥

'एत्मेव' अवज्यकगवन् कोऽपि आहः र्डातकाल गृहं क्र्युकामिश्रन्तयि— विशासमिषि

श्रम्तां रप्यात्रा यह मित्रिणति, तत्र च सायवः समापित्रियानि तज्ञ तदानीमेव कृतं नवगृहं

र्डाउं भवति, र्डाटले च तीमार् सायवः सुलमामित्र्यन्ते, खदः सानादिप्रत्यासत्त एव समये

क्रियामि इति सावन् प्रतीत्य कारादिष् र्डातलकार्णार्थं यत् कोऽस्ट्रत्वक्रते एतदमित्रक्रणतः

प्रतीत्यकरणम् । स पुनर्विक्रणमिश्रक्रमं वा महल्बुस्था करोति, यथा—पूर्वं सायवी

मद्रायं नवगृहं यदि परिमुद्धते तदः पवित्रं मक्तीति । गतेषु च तेषु तत्र नवगृहं स्वयमेव

श्वस्तुष्टाम इति ॥ १६७२ ॥ अर्थाव्य प्रायश्चितमाह—

मञ्जम्मि उ चउलहुया, देसम्भी वायराएँ लहुओं उ । सञ्चम्मि मासियं खहु, देसे मिन्नो य सुहुमाए ॥ १६८० ॥ ...

१° स्ता त्रारान्द्रः प्रकारान्तरतायाम् सा° ट॰ डे॰ ॥

वादरायां प्राभृतिकायामनन्तरोक्तायामेव सर्वतः करिप्यमाणायां कृतायां वा तिष्ठति चत्वारो लघवः । देशतः करिप्यमाणायां कृतायां वा तिष्ठतो मासलघु । सूक्ष्मायां प्राभृतिकायां वक्ष्य-माणायां सर्वतो विधास्यमानायां विहितायां वा तिष्ठति मासल्धु । देशतस्त्रस्यामेव भिन्नमासः ॥ १६८० ॥ सा पुनः सूक्ष्मप्रामृतिका पञ्चविधा । तामेवाह---

> संमञ्जण आवरिसण, उवलेवण सुहुम दीवए चेव। ओसकण अहिसकण, देसे सन्वे य नायन्वा ॥ १६८१ ॥

₅ स्ह्मप्रा-मृतिका

'सम्मार्जनं' वहुकरिकया प्रमार्जनम् , 'आवर्षणम्' उदकेन च्छटकप्रदानम् , 'उपलेपनं' छगणमृत्तिकया भूमिकाया लेपनम्, "सुहुमे" ति 'सूक्ष्माणि' समयभाषया पुष्पाण्युच्यन्ते, तथा च दश्वैकालिकनिर्यक्तौ पुष्पाणामेकार्थिकानि-

> पुष्फा य कुसुमा चेव, फ़ुरेहा य कुसुमा वि य । स्रमणा चेव सहमा य, सहमकाइया वि य ॥

10

तत्रश्च पुष्पाणां प्रकररचनेत्यर्थः । "दीवए चेव" ति दीपकप्रज्वालनम् । एतानि पूर्वमात्मार्थ कियमाणान्येव विद्यन्ते । नवरं साधून् प्रतीत्य देशतः सर्वतो वा यदवप्त्रप्कणमभिष्वप्कणं वा कियते सा सूक्ष्मप्रामृतिका ज्ञातन्या ॥ १६८१ ॥

अथास्या एवावष्वष्कणा-ऽभिष्वष्कणे भावयति-

15

जाव न मंडलिवेला, ताव पमजामी होड् ओसका। उद्वेत ताव पढिउं, उस्सकण एव सन्वत्थ ॥ १६८२ ॥

यावत् 'मण्डलीवेला' खाध्यायमण्डलीकालो नोपढोकते तावत् प्रमार्जयाम इत्येवं विचिन्त्यान नागतमेव यदि प्रमार्जयन्ति तदाऽवप्वप्कणं भवति । अथ साधवः स्वाध्यायं कुर्वाणास्तदानीं मण्डल्यामुपविष्टाः सन्ति ततश्चिन्तयन्ति—उत्तिष्टन्तु तावढमी पठित्वा ततः पश्चात् प्रमार्जिय-20 प्याम इति विचिन्त्य तथैव यदि कुर्वते तदौ उत्प्वप्कणं भवति । एवमवप्वप्कणमभिप्वप्कणं च 'सर्वत्र' आवर्षणोपलेपनादाविप भावनीयम् ॥ १६८२ ॥ सा पुनः सूक्ष्मप्राभृतिका द्विविधा—

छिन्नमछिना काले, पुणी य नियया य अनियया चेव । निद्दिहाऽनिद्दिहा, पाहुँडिया अह भंगा उ ॥ १६८३ ॥

'काले' कारुतिश्चना अच्छिन्ना वा, छिन्नकालिका अच्छिन्नकालिका चेत्यर्थः । यस्यामुप-25 लेपनादिकं छिन्न-प्रतिनियते मासादी काले कियते सा छिन्नकालिका । या त यदा तदा वा क्रियते सा अच्छित्रकालिका । पुनरेकैका द्विधा—नियता अनियता चैव । नियता नाम-या पूर्वाहाटावेव वेलायामवञ्यमेव वा क्रियते । तद्विपरीता अनियता । पुनरेकेका द्विविघा— निर्दिष्टा अनिर्दिष्टा च । तत्र यः प्राभृतिकाकारकः स निर्दिष्टः-इन्द्रदत्तादिनाम्नोपलक्षितः

१ दशवेकालिकनिर्युक्ती पुर्वकार्यकगावा इत्यहपा वर्तते-पुष्फाणि य कुसुमाणि य, फुछाणि तहेव होति पसवाणि। सुमणाणि य सुरुमाणि य, पुष्फाण य होति एगद्वा ॥ ३६ ॥ २ "फुला य पसवा वि य" इति पाठ स्यात्॥ ३ °दा अभिष्य° भा॰ विना ॥ गृ० ६३

5

20

25

तेन क्रियमाणा प्रामृतिका अपि निर्विष्टा । निर्दिप्पीना अनिर्दिष्टा । अत्र च त्रिमिः एरेर्छो भक्का मर्वन्ति, तद्यया—छित्रकालिका नियना निर्दिष्टा १ छित्रकालिका नियना अनिर्दिष्टा २ इत्यादि ॥ १६८३ ॥ अय च्छित्रकालिकां स्थान्यानयति—

मासे पक्ते दसरायए य पणए अ एगदिवसे य । वावाइमपाहुडिया, होइ पवाया निवाया य ॥ १६८४ ॥

या प्रामृतिका 'मास' माससान्ते 'एके' पङ्गसान्ते 'द्र्यगत्र' द्र्यानानहोरात्राणां पर्यन्ते 'पृष्ठकित्रं पृष्ठानित्रं दिने च्याचार्तं द्रिने द्रिने द्र्यर्थः, एवं प्रतिनियते काले या त्रियते सा छिक्षकालिका । या तु न ज्ञायने कस्मिन् द्रिवने विद्यायने सा अच्छित्रकालिकति । ज्यावातिनप्रामृतिका नाम—या मृत्रार्थपोर्ट्यावेन्ययां विद्यते । मनति । प्रवाता निनाता चेति । प्रवाता नाम—या श्रीन्मकाले अपगेह उपलेपनादिकरणेन वर्मे नार्य्यते । या तु श्रीतकाले पृर्वाहे उपलेपनकरणेन रात्रा ज्यागात्रेहा ज्ञायने सा निनाता मण्यते ॥१६८४॥

अथ करतां प्रामृतिकायां वस्तुं करते ! करतां वा न ! इति अत आह— पुट्यग्हे अवरण्हे, सर्मिम अणुग्गए व अत्यमिए ।

मन्द्रंतिए व वसर्हा, सेनं कालं पिडब्रुद्वा ॥ १६८५ ॥

प्वाहे अनुद्रते सूर्ये, अपराहे तु अनिनेन, 'मञ्जान्ने वा' मञ्जाहवेद्याम् अर्थनेत्या चित्रतेषु इत्ययेः, एतेषु कांद्रेषु यन्यां प्रासृतिका क्रियने सा वसतिग्तुकाना, स्त्रार्थव्यायानसावात् । 'सेनं कांद्रं' ति समन्यर्थे द्वितीया, 'कोरे' उद्गतसूर्यादे। कांद्रे यस्यां प्रासृतिका विश्वयते सा प्रतिक्रास्त्रा, न कर्यने तस्यां बन्तुन्, सूत्रार्थव्यायानमस्वात ॥ १६८५ ॥

प्रुरिनजाओं अमुगो, पाहुडियाकारओं उ निहिंहो । सेमा उ अनिहिंहा, पाहुडिया होह नायच्या ॥ १६८६ ॥

बद्धकः 'पुरस्वातः' पुरुषकारः प्रसृतिकाकारक इन्द्रद्यादिनाम्ना यसां तिर्दिष्टः सा निर्दिष्ट । शेरा तु सर्वाऽन्यनिर्दिष्टा प्रासृतिका स्वति हात्रव्या ॥ १६८६ ॥

अय प्रोंकमहाएकविषयं विविनाह—

चय निर्देश-अनिर्देश्यास्तिके सावयति—

काजण मानकर्ष, वयंति जा कीर्ग्ड उ मानस्स । सा चल निव्यायाया, नैवेटारेण निवाण ॥ १६८७ ॥

इह प्रथमे महे या मामसाने कियत इति इता च्छित्रजाछिका, तज्ञाञ्यसाह एवं विर्धा-यमानसाह नियता, अनुकर्तुकानेत च निर्देश । तसां इतायां प्रयमतः प्रविद्यानतो मामकार्य इत्य यदि अज्ञान । क्रयम् १ इत्यह—''तंत्रकारण नितानं' ति तसाः—प्रासृति-श्रकाकार्यक्रया वर्षा निर्वाच्छतां सा प्रासृतिका निर्व्याचना मन्त्रच्या, मृत्रार्थक्याचातामाज्ञत्, कर्यते तसां वस्तुनिति मानः । द्या द्वित्यावस्यो महाः व्याप्ति क्रयन्ति सक्यावाता इति इता तेषु न क्रयते ॥ १६८७ ॥ अय प्रवता निर्वाति च प्रदृष्यं मान्यति— अत्ररहें निष्ट कर्मो, प्रवाय मा लेग नासपह धरमं । पुन्वण्हे जा सिसिरे, निन्वाय निवाय सा रितं ॥ १६८८ ॥

श्रीप्मे अपराहे यदुपलेपनस्य करणं सा प्रवाता । कुतः ? इत्याह—येन सा रात्री 'नाशयति' व्यपनयति 'घर्मं' श्रीष्मर्त्वसम्भवं तापम् । या तु 'शिशिरे' शीतकाले पूर्वीह्वे उपलेपनकरणेन दिवसस्य चतुर्भिः पहरैः 'निवाता' शुष्का इत्यर्थः सा रात्रो निवाता भवति । एतयोः कारण-तोऽवस्थातुं कल्पत इति ॥ १६८८ ॥ अथ निर्च्याघातिमा भन्नयन्तरेणाह—

> पुन्वण्हें अपद्वविए, अवरण्हे उद्विएसु य पसत्था । मज्झण्ह निग्गएसु य, मंडलिसुत-पेहंऽवाघाया ॥ १६८९ ॥

या पूर्वीहे अप्रस्थापिते सति स्वाच्याये अपराहे पुनः समुद्दिश्योत्थितेषु सत्सु साधुषु मध्याहे तु मिक्षापर्यटनार्थं निर्गतेषु या प्राभृतिका कियते सा प्रशस्ता । कुतः ? इत्याह—"मंडैलि-सुय-पेह" त्ति येन श्रुतमण्डल्या उपकरणपेक्षणायाश्च "वाघाय" त्ति अकारप्रश्लेषाद् 'अव्या-10 घाता' न व्याघातविधायिनी, अत एषा प्रगस्ता ॥ १६८९ ॥ प्रस्तिता वादरा सूक्ष्मा च पञ्च-विधा प्राभृतिका, एवंविधया सहितायां वसतो न स्थातव्यम् । अथ नास्ति तथाविधा अप्रा-भृतिका वसतिः ततः कारणतः सप्राभृतिकायामपि तिष्ठतां यतनामाह-

> तं वेल सारविंती, पाहुडियाकारगं च पुच्छंति। मोत्तृण चरिम भंगं, जयंति एमेव सेसेसु ॥ १६९० ॥

15

यस्यां वेलायां प्राभृतिका कियते तां वेलामुपकरणं 'सारयन्ति' सङ्गोपयन्ति, अभिन्यासी चात्र द्वितीया, तां वेलामभिव्याप्येत्यर्थः । प्राभृतिकाकारकं च पुरुषं प्रच्छन्ति—कस्यां वेलायां भवान् सम्मार्जनादि करिप्यति ? इति । एवं 'चरमम्' अप्टमं भङ्ग मुत्तवा 'शेषेपु' सप्तस्वपि भक्नेषु 'यतन्ते' यतनां क्रवन्ति ॥ १६९० ॥

चरमे वि होइ जयणा, वसंति आउत्तउवहिणो निचं। 20 दक्खे य वसहिपाले, ठविंति थेरा पुणित्थीसु ॥ १६९१ ॥

'चरमेऽपि' अप्टमे भङ्गे 'अच्छिन्नकालिका अनियता अनिर्दिप्टा च' इत्येवंलक्षणे आगाढे कारणे तिष्ठता भवति यतना । कथम् १ इत्याह—नित्यमायुक्तोपधयो वसन्ति, उपधावायुक्ताः— सावधाना आयुक्तोपधयः, राजदन्तादेराकृतिगणत्वाद् व्यत्यासेन पूर्वापरिनपातः, मा गोमयादिना कोऽप्युपि गुण्डयेत् प्राभृतिकाकरणव्याजेनापहरेद्वेति सम्यगुपिविषयमवधानं टटतीत्यर्थः । 25 दश्गॅश्च वसतिपालान् स्थापयन्ति । यदि च ते प्राभृतिकाकारिणः पुरुपा न स्त्रियस्ततस्तरुणा वस-तिपालाः स्थापयितन्याः । "थेरा पुणित्यीसु" त्ति यदि स्नियसातो ये स्थविराः परिपाकपास-ब्रह्मचर्यास्ते वसतो स्थापनीया इति ॥ १६९१ ॥

गतं प्राभृतिकाद्वारम् । अथ मिक्षाद्वारमभिषित्युराह-

जिणकप्पिअभिग्गहिएसणाए पंचण्हमन्नतरियाए। गच्छे पुण सन्वाहिं, सावेक्स्रो जेण गच्छो उ ॥ १६९२ ॥

30 भिद्या-द्वारम्

१ "मंग्रहिमुत-पेह वापाए ति, मुत्तमउठीए अत्यमउठीए ममुहिमणमउठीए पटिनेइनियाकाठे य जा कीरति सा वाषाता ॥ एतामु जतण भणति—तं वेल॰ गाधा" इति चूणों विदेशपचूणों च ॥

15 '

जिनकिष्यका अभिगृहीतया 'पञ्चानाम्' उद्घृताठीनामन्यतरया एकया एपणया भक्तम् एकया पानकं गृहिन्त । 'गच्छे' गच्छवासिनः पुनः 'सर्वाभिगपि' असस्रष्टाटिभिरेपणाभिर्भक्त-पानं गृहिन्त । कुतः ? इत्याह—'सापेक्षः' वाल-वृद्धाद्यपेक्षायुक्तः 'येन' कारणेन 'गच्छः' गच्छ- वासिसाञ्चसमृह इति ॥ १६९२ ॥ आह् किमिति गच्छवासिनः सर्वाभिरप्येपणामिगृहिन्त ? ६किं तेपां निर्वरया न कार्यम् ? उच्यतं—

वाले ब्रह्ने सेहे, अगीयत्थे नाण-इंसणप्पेही । दुव्वलसंघयणम्मि य, गच्लि पद्नेसणा भणिया ॥ १६९३ ॥

्षष्टी-सप्तम्यार्थं प्रत्यमेदाद् बालस्य बृद्धस्य श्रेक्षस्यागीतार्थस्य 'ज्ञान-दर्शनप्रेक्षिणः' ज्ञाना-थिनो दर्शनप्रमावकशास्त्राश्चित्रियं 'दुर्बल्यंहननस्य च' अपमर्थशरीरस्यानुग्रहार्थं गच्छे 10 प्रकीणीं अप्रतिनियता एपणा भाणना भगबद्धिरिति ॥ १६९३ ॥

र्थंथतान्येव पटानि गाथाद्वयेन मावयति--

तिक्प्रहाए पीडा, उद्घाह निवाग्णिक्म निक्कियया। इय ज्वल-सिक्प्रगेसं, पञ्जोस मेञ्जो य एकतरं ॥ १६९४॥ सुचिरंण वि गीयत्यो, न होहिई न वि सुयस्स आभागी। पग्गहिएसणचारी, किमहीड घरंड वा अवला ॥ १६९५॥

श्रीमगृहीतंथवेषणया मक्त-पानग्रहण प्रतिज्ञात तथा चाळ्टचे स्तांक वा छट्चे मित वाल-वृद्ध-केश्वकाणां तीक्ष्णया—हर्राधमह्या श्रुधा उपल्रश्नणत्वात् तृषा चै महती पीडा भवति । उद्घाहो वा भवत्, सिह वाळादिरित्यं छोकपुरना तृथान्—एतं माधवा मां श्रुधा तृषा वा मारयन्तीति । तथा 'निवारण' विविधतामेकामेषणां विमुच्य अन्यामां प्रतिषेचं विधीयमानं सित वाळादयिश्चन्त-20 ब्रेग्रः—अहा ! निष्कृपताऽमीपाम्; ततः प्रहेषं गच्छेग्रः । 'मेदो वा एकतरं' जीवितस्य चारित्रस्य वा विनाग्रोऽमीपां भवदिति वाळ-बृद्धयुगले श्रेश्वकं वा नियज्ञ्यमाणे दोषा मन्तव्याः ॥१६९८॥

तथा अगीताथंः युचिरणापि कांछन गीताथां न मिन्यज्ञ्यमाण दापा मन्नव्याः ॥१६९०॥ तथा अगीताथंः युचिरणापि कांछन गीताथां न मिन्यप्रित, नापि 'श्रुनस्य' अचारादेः उपल्झणत्वाद् दर्शनप्रमावकग्रास्त्राणां वा आमागां । कीह्यः १ इत्याह्—'प्रगृहीतेपणाचारी' प्रगृहीता—अमित्रहवर्ता या एपणा तचारी—नत्पर्यटनग्रीछः, तथाविषयमक्त-पानोपप्टम्भामावादिति २६ मावः । यो वा 'अवलः' दुर्वछसंहननः स प्रणीताहाराह्यपप्टम्भामावं कि सूत्रमर्थं वा अवीता

घारयतां वा ? । अत एतपामनुब्रहार्थं गच्छ प्रकीर्णपणा हष्टा ॥ १६९५ ॥

थयासा एव विविममिधिलुईरिगाथामाह्—

भिश्वाया विश्विः पमाणें काले आवस्मण् य संघाडमें य उवगरणे । मत्तर्ग काउम्मरगां, जम्म य जोगां मपहित्रक्यों ॥ १६९६ ॥

्र प्रमाणं नाम—किन वारान् पिण्डपानार्थं गृहपतिकुलेषु प्रवेष्टव्यम् १ इति । "कालि" ति कसां वेखायां मिक्षार्थं निर्गनन्त्रयम १। "श्रावस्मरा" नि 'श्रावस्मर्यं' मंज्ञा-कायिकीलक्षणं तस्य ग्रोधनं २ च 'पीडा' परिनापलक्षणा भवति । उहाहो वा भवेत्, ते हि वालाद्यां नियक्यमाणा रित्यं भणेयुः—एते भाः ॥

कृत्वा निर्गन्तव्यम् । "संघाडगे" ति सङ्घाटकेन—साधुयुग्मेन निर्गन्तव्यं नैकािकना । "उवग-रिण" ति सर्वोपकरणमादाय भिक्षायामवतरणीयम् । "मत्तिग" ति मात्रक ब्रहीतव्यम् । "काउ-स्सग्गो" ति उपयोगनिमित्तं कायोत्सर्गः कर्त्तव्यः । "जस्स य जोगो" ति 'यस्य च' सिचत्तस्या-चित्तस्य वा 'योगः' सम्बन्धो भविष्यति लाभ इत्यर्थः तदप्यहं ब्रहीप्यामीित भिणत्वा निर्गन्त-व्यम् । "सपिडवक्लो" ति एप प्रमाणादिको द्वारकलापः 'सप्रतिपक्षः' सापवादो वक्तव्य इति इद्यरगाथासमासार्थः ॥ १६९६ ॥ अथ विस्तरार्थमभिषित्यः प्रमाणद्वारं भावयति—

दोनि अणुनायाओ, तह्या आवज्ज मासियं लहुयं। गुरुगो उ चउत्थीए, चाउम्मासो पुरेकम्मे ॥ १६९७॥

प्रमाण-द्वारम्

चतुर्थमिक्तकस्य द्वौ वारौ गोचरचर्यामिटितुमनुज्ञातौ । अथ तृतीयं वारमटित तत आपद्यते मासिकं रुधुकम् । अथ चतुर्थं वारं पर्यटित तदा गुरुको मासः । स्त्रीत्वं सर्वत्र प्राकृतत्वात् । 10 अथ तृतीयादीन् वारान् मिक्षार्थ प्रविभित्त ततो गृहिणः पुरःकर्म कुर्वन्ति तत्र चत्वारो मासा रुघव इति । ऐपा निर्युक्तिगाथा ॥ १६९७ ॥ अथनामेव भाष्यकृद् विवृणोति—

सइमेव उ निग्गमणं, चउत्थभत्तिस्स दोनि वि अलद्धे । सच्वे गोयरकाला, विगिद्ध छट्टऽद्वमे वि-तिहिं ॥ १६९८ ॥

'सक्टदेव' एकवारमेव नित्यमक्तिकस्य भक्ताय वा पानाय वा निर्गमनं कल्पते । चतुर्थम-15 क्तिकस्याप्युत्सर्गतः सक्टदेव भिक्षामिटतु कल्पते । अथ तदानीं पर्यटताऽपि तेन परिपूर्णो भक्तार्थो न रुव्धः ततोऽरुव्धे सित तस्य द्वाविप गोचरकारावनुज्ञातो ।

्य उक्तिञ्च दशाश्चतस्कन्धे—कप्पइ चउत्थमित्तयस्स एगं गोयरकालं गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्लिमित्तए वा पविसित्तए वा । से य नो सथिरिज्ञा एवं से कप्पइ दुचं पि गाहावइकुलं (अध्य० ८ पत्र ६०) इत्यादि । ⊳

यस्तु 'विक्रप्टभक्तिकः' दशम-द्वादशमादिक्षपकरतस्य सर्वेऽपि गोचरकालाः कल्पन्ते । ''छट्ठऽट्टमे वि-तिहि'' ति पप्टभक्तिकस्य द्वयोर्गोचरकालयोरप्टमभक्तिकस्य तु त्रिषु गोचरकालेषु मिक्षामिटतुं कल्पत इति ॥ १६९८ ॥

स्यान्मतिः किमर्थं पष्टादिभक्तिकानां द्यादिगोचरकाळानामनुज्ञा ² उच्यते— संखुना जेणंता, दुगाइ छट्ठादिणं तु तो कालो । भुत्तणुभुत्ते अ वलं, जायइ न य सीयलं होइ ॥ १६९९ ॥

25

'सक्षुण्णानि' सङ्कुचितानि 'येन' कारणेन पष्टादितपमा 'अग्राणि' प्रतीतानि, ततः पष्टादि-भक्तिकानां 'द्विकादिकः' गोचरद्वयादिकः कालोऽनुज्ञातः । अपि च प्रथममेकवारं भुक्तस्तो द्वितीयादिक वारमनुभुक्तो भुक्तानुभुक्तस्य व्यादीन् वारान् भुक्तवत इत्यर्थः 'वरुं' भृयोऽपि पष्टादिकरणे सामर्थ्यमुपजायते । न चेत्यं तद् भक्त शीतल भवति. सद्यो गृहीतत्वात् । यदि 30 द्येकमेव वारं पर्यटता यद् गृहीतं तन्मध्यात् किञ्चित् समुद्दिश्य द्वितीयादिवारसमुद्देशनार्थ शेषं

१ एषा पुरातना गाथा मा॰। "होण्णि॰ गाथा पुरातना" ःति न्यूणी विदेशपर्यूणी न ॥ २ ९० एतजिद्धान्तर्गत. पाठ॰ मो॰ हे॰ पुराक्योरेन विदेश ॥ ३ °कमेकवार मा॰ निना ॥

5

स्थापयेन तडा तद् भवत्येव शीतलम् । तच तस्य तपःक्षामदेहस्याकारकमिति कृत्या खादयो गोचरकाला अनुज्ञाता इति ॥१६९९॥ अत्र परः प्राह्—यद्यसी पष्टादिमक्तिको यावन्ति मक्तानि च्छिनति तावन्येकनेव दिवसेन पृरयति ततः को नाम गुणनन्य भक्तच्छेदनेन १ उच्यते—

बहुदंबिया यत्ता, एगदिगणे तु वह वि भुनेका।

तृह् वि य चाग-तिनिक्छा-एगन्ग-पमात्रणाईया ॥ १७०० ॥

बहुदेविमक्ति मक्तानि यद्यप्यमायकदिनंनेय नुयञ्दंशयकारार्थतान् पष्टादिमिक्तको भुर्जात नयापि मक्तच्छेदने न्याग-निर्निष्ठकाञ्य-यमावनादयो गुणा भविन । त्यागो नाम—द्यादान् दिवसान् यावन् सर्वयय मक्तार्थपरिद्याः, निर्निष्ठा—स्रुपापरीपद्स्याविमदन्य , ऐकाञ्यं नु स्वार्थ-पगवर्ननादो चिक्तसान-यापयुक्तना, प्रभावना नाम—अहा ! अमी यां शासनं विजयत यवद्यान-10पित्त हिन्, आदिशञ्यादन्यपामि तपःक्रमेणि अद्याजनन्य , गृहिणां वा नद्र्श्यनान् प्रवाया-प्रतिपिति । अतः पष्टादिमिक्तकस्य द्यादिगोचग्काणानुज्ञानम् । नित्यमिक्तकस्तु यदि हिनीयं वारं मिक्षार्थमवत्तरि मानल्यु, नृतीयवारं मासगुरु, चनुर्थ चनुर्ल्यु, पद्यमं चनुर्गुरु, पष्टं पद्रञ्च, सप्तमं पहुरु, अष्टमं छेदः, नवमं मृत्यम्, द्याममनवस्यान्यम्, एकादशं वारं पाराधिकस् ॥ १७०० ॥ चनुर्थमिककादीनामनिद्शमह—

नह एस एत्य बुईा, आअरमाणम्य दसहि सपदं च । सेरामु वि नं जुजह, तत्य विवर्द्धा उ मोहीए ॥ १७०१ ॥

यथा हिनीयादिवारं निद्यासवनरतः 'एपा' लघुमासादास्य प्रायश्चित्तस्य बृद्धिर्भणिता 'दश-भिश्च' दशस्यांकः स्थानः 'सपदं' पागिष्ठकं नित्यमिककस्योक्तमः, तथा 'शेषेन्वित' चनुर्थ-भिन्कतिदृषु 'यन' तृतीयवारादिकं प्रायश्चितस्थानं युज्यते 'तत्र' तदारस्य 'शोषेः' प्रायश्चित्तस्य 29 विष्टिद्धः कर्नव्या । नश्या—चनुर्थमिककस्तृतीयं वारं निश्चामवतरित नासञ्च, चनुर्थ नाम-गुरु, पञ्चमं चनुर्छेषु, पष्टं चनुगुरु, सममं षड्रुषु, अष्टमं पद्धुरु, नवमं छेदः, दशमं मूल्म्, एकादशमनवस्थात्यम्, ह्यदशं वारं पर्यदनः पागिष्ठक्त् । एवं पष्टमिककस्यापि ह्यदशं वारम-वन्तरः पागिष्ठिकत् । यदाह चृणिकृत्य—

छद्दर्भात्रयम्म वि बारमेहिं पाबह सपयं नि ।

²⁵ अष्टममिकिक्न्य तु चनुर्थवागडाग्म्य त्रयोदशं वारं यावत् पर्यटते। छबुमासादिकं पाराश्चि-कान्तमिति ॥ १७०१ ॥

गतं प्रमाणहान्म । अथ काण्हारम् — कसिन् कांच मिळार्थं निर्मन्त्र्यम् ! उच्यतं — यः अपको चांचो वृद्धो चा पर्युपितेन प्रथमाण्डिकां कर्त्युक्तामः स स्वर्योग्धरीं कृत्या निर्मच्छति । अथ नावतीं वेद्यां न प्रतिपाणियतुं छमः तताऽद्धेपान्त्र्यां निर्मच्छति । यद्यतिप्रमाते पर्यटित तदा ४० मास्तरम् , सदक्त्र्यानकृताश्च दोषा यद्यिन । तत्र साधुरतिप्रमात एव कल्यापि गृहं गत्या मिळां याचित्रमान् , स च गृहपतिर्भद्रकः सुमामविग्निकामुत्थापयेत् तत्रम्नसामुख्यितायामविकरणं प्रवित्तं यदेन् । यस्तु प्रान्ता सवित्तं स व्यान् — किन्धन्यता वर्त्तमं यदेन्यनिप्रमाते पर्यटित ! सुमगिवकं वा प्रष्टुं ममायानाः ! इति । यहा कोऽपि प्रामान्तरं प्रस्तिः प्रथमसेव तं साधुं हञ्चा

द्याख्टा-रम् 15

अपज्ञकुनं मन्यमानः प्रद्वेषं यायात् , प्रद्विष्टश्चाहननादि कुर्यात् । अथैतद्दोपभयादितिकान्तायां वेलायामटित तदाऽपि मासलघु, "अकाले चरसी भिक्खू" (ढग० अ० ५ ड० २ गा० ५) इत्यादिगाथोक्ताश्च दोपाः । एवसुष्णस्यापि भक्तस्याप्राप्ते अतिकान्ते वा एत एव दोषा मन्तव्याः॥

गतं कारुद्वारम् । अथावस्यकद्वारम्—यद्यावस्यकम[वि]शोध्य निर्गच्छति तटा मासरुद्यु, आज्ञादयश्च दोपा विराधना च प्रवचनादीनाम् । तद्यथा—भिक्षामटतः संज्ञा समागच्छेत् ततो 5 द्वारम् यद्युद्राहितपात्रकः पानकं वा विना व्युत्सृजति तदा प्रवचनविराधना—अहो ! अशुचयोऽमी । अथैतद्दोपभयात्र व्युत्सृजति तत आत्मविराधना । अथ प्रतिश्रयमागत्य पानकं गृहीत्वा सज्ञाममी त्रजति ततो देश-काले स्फिटिते सित भिक्षामलभमान एपणां पेरयेत् , ततः सयमविराधना । यत एवमत आवश्यकं गोधयित्वा निर्गन्तव्यम् ॥

गतमावश्यकद्वारम् । अथ सङ्घाटकद्वारं भाष्यकृदेव व्याख्यानयति-

10 सद्घाटक-

द्वारम्

25

आवश्यक-

एगाणियस्स दोसा, साणे इत्थी तहेव पिडणीए। भिक्खविसोहि महन्त्रय, तम्हा सनिइज्जए गमणं ॥ १७०२ ॥

यद्येकाकी पर्यटित तदा मासल्य । एते च दोपाः—स एकाकी यदि भिक्षां शोधयित तदा पृष्ठतः श्वानः समागत्य तं दशेत् । अथ श्वानमवलोकते तत एपणां न रक्षति । तमेकािकनं दृष्ट्रा काचित् प्रोपितभर्तृका विधवा वा स्त्री वहिः प्रचारमरुभमाना द्वारं पिधाय तं गृहीयात्। ¹⁵ प्रत्यनीको वा तमेकाकिनं दृष्ट्वा प्रान्तापनादि कुर्यात् । 'भिक्षाविशोधिः' इति एकाकी यदि त्रिपु गृहेपु भिक्षां दीयमाना गृहाति तत एपणायामशुद्धिभेवति । अथैकत्रेव गृहे गृहाति तत इतरयोर्दायकयोः प्रद्वेपो भवेत् । द्वयोस्तु निर्गतयोरेक एकत्र भिक्षामाददान एवोपयोगं ददाति, द्वितीयस्त शेपगृहद्वयादानीयमानं भिक्षाद्वयमपि सम्यगुपयुद्धे । महात्रतानि वा एकाकी विरा-घयेत् । तथाहि—एकाकी निःगद्भत्वाढण्कायमप्यापिचेत् १ कुण्टल-विण्टलादि वा प्रयुद्धीत 20 २ हिरण्यादिकं वा विक्षिप्तं गुरुकर्मतया स्तेनयेत् ३ अविरतिकां वा रूपवर्ती दृष्टा समुदीर्ण-मोहतया प्रतिसेवेत ४ भैक्षेण वा समं पतित सुवर्णादि गृहीयाद् ५ इति । यत एते दीपास्त-सात् सद्वितीयेन गमनं कर्त्तव्यम्, सद्घाटकेनेत्यर्थः ॥ १७०२ ॥

स पुनरेकाकी के कारणे:सङ्घाटिकं न गृहाति व इति उच्यते—

गारविए काहीए, माइछे अलस छद्ध निद्धम्मे। दुछह अत्ताहिद्विय, अमणुने या असंवाडो ॥ १७०३ ॥

'गोरविको नाम' 'रुव्यिसम्पन्नोऽहम्' इत्येवं गर्वोपेतः । अत्र चेय भावना—सङ्घाटके यो रलाधिकः सोऽलिव्यमान् अवमरलाधिकस्तु लिव्यसम्पन्न ततोऽसावप्रणीम्य भिधामुत्यावयित, प्रतिश्रयमागतयोश्च तयो रलाधिको मण्डलीस्वविरेण भण्यते—'ज्येष्ठार्य ! मुख प्रतिग्रहम्' ततोऽवमरताधिकः सलिव्धगवितिश्चिन्तयेत्—'मया सलिव्धमामर्थ्येनेद भक्त-पानमुत्यादितम्, 30 इढानीमस्य रताधिक प्रभुरभृद् येनास्य पार्थे प्रतिग्रहो याच्यते इति कपायितः सन्नेजािकत्वं प्रतिपद्यते । "काहीए" ति कथाभिधारतीति 'काथिकः' कथाकथनेकनिष्ठः, स गोचरं प्रविष्टः

१ °दि पिट्टनं फु° मा॰ ॥

कथाः कथयन् हिनीयेन साघुना गुर्वादिमिर्वा वार्यमाणोऽपि नोपरमते तत एकाकी भवति । 'मायात्रान्' मद्रकं सद्रकं सुक्तवा द्येषमानयवेककाकी जायते । 'अल्सः' चिरगोचरचर्यात्रमणमग्नः सन्नेकाकी पर्यटित । 'लुच्यन्तु' दिव-दुग्यादिका विकृतीरवसाध्यमाणः पृथगवाटित । 'निर्दर्भा पुनः' अनेपणीयं जिच्छुरेकत्वं प्रतिपद्यते । "दुछ्ह" ति दुर्छमभेक्षे काले एकत्वमुपमम्पद्यते । 5 'अत्ताहिद्विय'' ति आत्मार्थिक —आत्मलियकः सः 'खलियमामर्थ्येनेवोत्पादितमहं गृहामि' इत्येकाकी मवति । 'अमनोज्ञी नाम' सर्वेपामप्यनिष्टः कलहकारकत्वाद् असावप्येकाकी पर्यट-तीति । एतैः कारणैः 'असङ्घाटः' सङ्घाटको न भवति ॥ १७०३ ॥

अधेतेपामेकाकित्वप्रत्यं प्रायश्चित्तमाह-

लहुया य दोसु गुरुओ, अ तद्अए चलगुरू य पंचमए। सेसाण मासलहुओ, नं वा आवर्ड्ड जन्य ॥ १७०४ ॥

'ह्योः' गारविक-काथिकयोश्यन्वारा छवव । 'तृतीयकस्य' मायावतो गुरुको मासः। 'पञ्च-मस्य' हुच्यस्य चत्नारो तुरवः । 'दोषाणाम्' अलम-निर्धर्मादीनां मासलघु । 'यद् वा' संयम-विराधनादिकं यत्रापद्यते तित्रिप्पन्नं नत्र प्रायश्चित्तम् ॥ १७०४ ॥

टपकरण-द्वारम्

1ΰ

गतं सङ्घाटकद्वारम् । अथोपकरणद्वारम् — सर्वमप्युपकरणमादाय भिक्षायामटितव्यम् । यदि 15 सर्वोपकरणं न गृहाति तदा मासल्खु, उपियनिप्यन्नं वा । तथा तेषां मिक्षामिटतुं गतानां स प्रतिथयसापित उपिरिधिकायेन द्वात, दण्डिकक्षोमो माल्यस्त्रनक्षोमो वा तेषां मिक्षामटतां महमा समापतित इति कृत्वा तत एवं त पटायिताः, ततो यहुपिं विना तृणग्रहणादि कुर्युः त्रियतं प्रायश्चित्तमिति ॥

मात्रश्च-द्वारम

गत्तमुपकरणद्वारम् । अथ मात्रकद्वारं व्याख्यायते—मात्रकमगृहीत्वा निर्गच्छति मासल्छु । 20 थाचार्यादीनां प्रायोग्यं मात्रकं विना कुत्र गृहानु ? । यदि न गृहाति तदा यत् ते अनागाद-मागाइं वा परिवाप्यन्ते तन्निप्यसम् । अथ ते अन्त-प्रान्तं ममुद्दिशेयुः ततो ग्छान्यादयो दोषाः । दुर्छमद्रव्यस वा ष्टुतांद्रसिद्वस लामा जातः, यदि मात्रकं नास्तीति कृत्वा तन्न गृहाति तदा मासळ्घु । मसक्तमक्त-पानं वा मात्रकं विना क शोवयनु ? । यदि मात्रक्रममविष्यत् ततस्तत्र शोषयित्वा परिष्ठापयेत् प्रतियद्दं प्रक्षिपद्वा । यन एवमतः कर्तव्यं मात्रक्यहणम् ॥

द्वारम

गर्न मात्रकड़ारम् । अय कायोत्सर्गडारम्—कायोत्सर्गमङ्खा त्रजति मासङ्खु । दोषाश्चात्र— कश्चिद् योगप्रतिपद्मसम्य निह्वसमाचान्छम्, म चोपयोगकायोत्सर्गमकृत्वा गतो द्धाः करम्बं गृहीत्वा मनायातः, पश्चार्रपरः साद्यमिस्तस्याचान्छं सारितम्, ततः स यदि तं समुहिशति तदा योगिवगवना, अत्र परिष्टापयित ततः संयमिवरायना, ततः कायोत्सर्गं ऋत्वा निर्गच्छेन् । तत्र च कायोन्मर्गे चिन्तयेत्—यया अद्य किं में आचान्छम् ? उत निर्विकृतिकम् ? उताहो अमक्ता-

व्य योग- ³⁶र्थम् १ आहे।श्चिदेकाशनकम् १ ईति । इत्यमुपयोगं दस्ता प्रत्याख्यानानुगुणमेवाहारं गृहाति ॥ गनं कायोत्मर्गद्वारम्। अय यस च योग इति द्वारम्—यस-वस्न-पात्र-दोक्षादेर्योगः—सम्बन्धो हारम्

१ इति त्रिद्यपचृणितो लिखितम्। इत्य॰ मा॰ ॥

भनिष्यति तदिष महीष्यामीति यदि न भणति तदाऽपि मासल्घु । वस्र-पात्रादिकं च महीतुं न कल्पते ॥

अथ सप्रतिपक्ष इति द्वारम्—एप द्वारकलापः सप्रतिपक्षः—सापवादो मन्तव्यः । तद्यथा—आचार्याद्यथे वहन्षि वारान् प्रविशेत् ।

सप्रति-पक्ष-द्वारम्

मथ्म-द्वितीयपरीपहपीडितो यद्यप्यतिप्रभातं तदाऽपि निर्गच्छेत्, यत्र च मानुपाणि विद्यु- द्वानि तत्र गत्वा धर्मलाभयेत्, ग्लान-प्राचूर्णकादीनां हेतोरतिकान्तेऽपि निर्गच्छेत्।

्अनामोगतो ग्लानादिपु वा कार्येषु व्याप्टतः सन्नावश्यकमप्य[वि]शोध्य निर्गच्छेत् । निर्गतश्च संज्ञ्या वाध्यमानो यदि प्रतिश्रयः प्रत्यासन्नस्ततो निवर्तते । अथ दूरे ततो यदि कालो न पूर्यते तदा तयोरेकः पात्रकाणि धारयति इतरः संज्ञां व्युत्स्जिति । अथ सागारिकास्तत्र पश्यन्ति ततः समनोज्ञानां प्रतिश्रयं गत्वा व्युत्स्जिति । तदभावे अमनोज्ञानां सिवमानाम् । तेपामलामे पार्थ-10 स्थादीनाम् । तेपामप्यभावे सास्त्रपिकाणाम् । तदसन्त्वे सिद्धपुत्रकाणाम् । तेपामप्राप्तो श्रावकाणां वैद्यस्य वा गृहे । एतेपामभावे राजमार्गे गृहद्वयमध्यभागे वा गृहस्थसत्के वा अवग्रहे कायिकीवर्ज व्युत्स्जिति । ततो यद्यसौ गृहपतिस्तां संज्ञां त्याजयित तदा राजकुले व्यवहारो लभ्यते । यथा—

त्रैयः शल्या महाराज !, अस्मिन् देहे प्रतिष्ठिताः । वायु-मूत्र-पुरीपाणां, प्राप्तं वेगं न धारयेत् ॥

15

तथा सङ्घार्टकं विनाऽपि निर्गच्छेत्। कथम् ? इति चेद् उच्यते—यदि दुर्भिक्षे चिरमप्यरित्ता पर्याप्तं रूम्यते ततो द्वावेव पर्यरतां न पुनरेकाकी। अथ द्वयोरप्येकेव भिक्षा रूम्यते न
च कारुः पूर्यते तत एकोऽपि पर्यरेत् । यदि सर्वेऽपि खम्गूडत्वादात्मरुव्धिका भवन्ति तदा
प्रतिपेद्धत्याः। अथ कोऽपि प्रयथमां मातृस्थानिवरिहत आत्मरुव्धिकतं प्रतिपद्यते ततः सोऽनुज्ञातव्यः। यः पुनरमनोज्ञः स अन्यान्यैः साधुभिः समं सयोज्य प्रेप्यते । यदि सर्वेऽपि 20
नेच्छन्ति ततः परित्यजनीयोऽसो । अथ स एवेकः करुहकरणरुक्षणस्तस्य दोपः अपरे निर्होमत्वादयो वहवो गुणा एपणागुद्धौ चातीव दृदता ततो न परित्यक्तव्य इति । यत्र धान-गवादयो दुष्टा भवन्ति तद्गृहं यद्यनाभोगतः प्रविष्टस्ततः कुड्य-कर्टनिश्रया तिष्ठति, दण्डकेन वा तान्
वारयति । यदि काचिद्दित्रिका तमुपसर्गयेत् ततो धर्मकथा कर्त्तव्या । तया यद्यप्रगाम्यित
ततः सुन्दरम् , नो चेदिभिधातव्यम्—एतानि वतानि गुरुसमीपे स्थापयित्वा समागच्छामीति । 25
यदि प्रत्यनीकगृहमनाभोगतः प्रविष्टस्ततो महता शब्देन तथा बोठं करोति यथा भृयाँहोको
मिरुति । त्रयाणां गृहाणां मध्ये स्थितः सञ्जपयोगं कृत्वा भिक्षां गृहीयात् । पञ्चानामि महावतानामितकमं महता प्रयक्तेन परिहरेत् ।

सर्वोपकरणमपि स्तेन-प्रत्यनीकाधुपद्रवभयाद् वृद्धत्वादधुनोत्थितग्लानत्वाहा न गृहीयात् । इयत् पुनरवश्यमेव प्रहीतन्यम्—पात्रभाण्डकं चोलपट्टको रजोहरणं मुखवस्त्रिका चेति । 30 मात्रकमप्यनाभोगादिना न गृहीयात् ।

१ "तिष्णि सता महाराय!, थिस्न देहे पद्दिया । वायु-मुत्त-पुरियाणं, पत्त वेगं न भारए ॥ ६२३ ॥" इति ओधनिर्युक्ति भोकगमोऽगं भोव ॥ २ व्टकेन वि॰ गा० ॥

कल्पकर-

10

णहारम्

शलेप-

कृतानि

कायोत्सर्गादीन्यपि ग्लानादिकार्येषु त्वरमाणो न कुर्यादिति ॥ उक्तं सप्रतिपक्षद्वारम् । तदुक्तो च गतं भिक्षाद्वारम् । अथ कल्पकरणद्वारमभिषित्युराह—

माणस्स कप्पकरणे, अलेवडे नित्थ किंचि कायव्वं । तम्हा लेवकडस्स उ, कायव्वा मग्गणा होइ ॥ १७०५ ॥

भाजनस्य करुपकरणे चिन्त्यमाने यदलेपकृतं द्रव्यं तद् यत्र प्रक्षिप्तं तस्य भाजनस्य न किञ्चित् कर्त्तव्यम्, करुपो न विधेय इत्यर्थः । लेपकृतभाजनस्य त्ववश्यं करुपो दातव्य इत्यतो लेपकृतस्य मार्गणा कर्त्तव्या, कीदृशं लेपकृतम् ² अलेपकृतं वा ² इति चिन्तनीयमित्यर्थः ॥ १७०५ ॥

तत्रालेपकृतानि तावदाह---

कंजिसण-चाउलोदे, संसद्घा-ऽऽयाम-कद्वमूलरसे । कंजियकदिए लोणे, कुद्वा पिझा य नित्तुप्पा ॥ १७०६ ॥ कंजिय-उदगविलेवी, ओदण कुम्मास सत्तुए पिद्वे । मंडग समिउस्सिन्ने, कंजियपत्ते अलेवकडे ॥ १७०७ ॥

काञ्चिकम्-आरनालम्, उप्णोदकम्-उद्वृत्तत्रिदण्डम्, "चाउलोदगं" तन्दुल्धावनम्, संसृष्टं नाम-गोरसससृष्टे भाजने प्रक्षिप्तं सद् यदुदकं गोरसरसेन परिणामितम्, 'आयामम्' अवश्रावणम्, 16 "कृष्टमूलरसे" ति काष्टमूलं-चणक-चवलदिकं द्विदलं तदीयेन रसेन यत् परिणामितं तत् काष्टमूलरसं नाम पानकम्, तथा यत् काञ्जिककथितम्, "लोणि" ति सलवणम्, या च "कृष्टा" चिम्चनिका, 'पेया च' प्रतीता 'निस्तुप्पा' अचोप्पडा अवग्वारिता वा ॥ १७०६ ॥ तथा—विलेपिका द्विविधा—एका काञ्जिकविलेपिका, द्वितीया उदक्विलेपिका । 'ओदनः' तन्दुलादि भक्तम्, 'कृष्टमापाः' उडदा राजमापा वा, 'सक्तवः' अष्टयवक्षोदरूपाः, 'पिष्टं' 20 मुद्गादिचूर्णम्, 'मण्डकाः' कणिक्वामयाः, 'सितं' अष्टकः, 'उत्त्वन्नम्' उण्डेरकादि, 'काञ्जिकपत्रं' काञ्जिकेन वाप्पितं अरणिकादिशाकम् । एतानि काञ्जिकादीन्यलेपकृतानि मन्तन्यानि ॥ १७०७ ॥ अथ लेपकृतानि निरूपयति—

लेपकु-तानि विगई विगइअवयवा, अविगइपिंडरसएहिँ जं मीसं । गुल-दहि-तेछावयवे, विगडम्मि य सेसएसुं च ॥ १७०८॥

विकृतिस्पैः पिण्डरसेः—सर्जूरादिभिर्मिश्रं एतत् सर्वमिष लेपकृतिमिति प्रक्रमः । अत्र च गुड-दिध-तैलानां येऽवयवाः यद्य 'विकेटे' मद्येऽवयवः 'शेपेषु च' घृतादिषु येऽवयवास्ते केचिद् विकृतयः केचिचाविकृतयः प्रतिपत्तव्याः ॥१७०८॥ अथैनामेव निर्युक्तिगाथां विवृणोति—

१ कंजिय उण्होद्ग चाउलोद्प संस° ता०। चूर्णिकृता विशेपचूर्णिकृता चायमेव पाठ आहतोऽित ॥ २ °कटस्य' मद्यस्यावयदः "सेसपसुं च" त्ति 'शेपेषु' घृतादिषु च येऽंव भा०॥ ३ अथ विकृतीनामेव सावयदः निरवयवत्वद्वापनार्थं ते वा अवयदाः के विकृतयः १ के वा न विकृतयः १ द्रस्याशङ्कापनोदार्थं च गाथात्रयमाह—दिह भा०। "तेपा च के विकृतयः १ के वा न १ हित शापनार्थमिदमुच्यते—दिध" इति चूर्णो विशेषचूर्णो च॥

5

25

30

दिहअवयवो उ मंथू, विगई तकं न होइ विगई उ । खीरं तु निरावयवं, नवणीओगाहिमा चेव ॥ १७०९ ॥ घयघद्दो पुण विगई, वीसंदण मो य केइ इच्छंति । तेल्ल-गुलाण अविगई, समालिय-खंडमाईणि ॥ १७१० ॥ महुणो मयणमविगई, खोलो मजस्स पोग्गले पिउडं । रसओ पुण तदवयवो, सो पुण नियमा भवे विगई ॥ १७११ ॥

द्धाः सम्बन्धी यो मन्यु इति नाम्ना प्रसिद्धोऽनयवः स विकृतिः । यतु तक तद् दृष्यव-यवरूपमपि विकृतिर्न भवति । 'क्षीरं तु' दुग्धं पुनः 'निरवयवम्' अवयवरिहतम्, नवनीतं— प्रक्षणम् अवगाहिमं—पकालम् एते अपि निरवयवे, एतद्विपयाणामवयवानां पृथगन्यविह्यमाण-त्वादिति ॥ १७०९ ॥

'घृतघट्टः पुनः' घृतस्य सम्बन्धी यः किट्टो महियाङ्जकमित्यर्थः स विकृतिर्व्यविद्वयते । विस्पन्दनं नाम—अर्द्धनिर्दग्धघृतमध्यक्षिप्ततन्दुलनिष्पन्नम् । उक्तञ्च पश्चवस्तुकटीकायाम्— वीसदणं अद्धनिद्दृष्ट्वयमज्झळूढतंदुलनिष्फन्नं (गा० ३७९) ति ।

"मो" इति पादपूरणे । चशब्दोऽपिशब्दार्थे । विस्पन्दनमपि केचिद् विकृतिमिच्छन्ति न पुनर्वयम् । यदाह चूर्णिकृत्—

अम्हाणं पुण वीसदणं अविगइ ति ।

तैल-गुल्योर्यथाकमं यानि सुकुमारिका-लण्डादीनि तानि 'अविकृतिः' विकृतिर्न भनती-त्यर्थः । सुकुमारिका—तैलिकेट्टविशेषः, लण्डः—प्रतीतः, आदिशन्दात् शर्करा-मत्त्यण्डिकादिपरि-प्रहः ॥ १७१० ॥

'मधुनः' माक्षिकादिमेदमिन्नस्यावयेवो यद् मदनं तदिविकृतिः । मद्यस्य यः 'खोलः' किष्ट-20 विशेषः सोऽपि न विकृतिः । पुद्गलस्य यत् 'पिटकम्' उज्झम् अस्यि वा तद्य्यविकृतिः । 'रैसकः पुनः' [वसा मेदश्च] यस्तस्य—पुद्गलस्यावयवः स पुनर्नियमाद् भवेद् विकृतिः ॥ १७१९ ॥

अश्व पिण्डरसपदं व्याख्यानयति---

अंवंवाड-कविट्ठे, मुदीया माउलिंग कयले य । सञ्जूर-नालिएरे, कोले चिंचा य वोधन्ता ॥ १७१२ ॥

आम्रं आम्रातकं किपत्यं 'मुद्रिका' द्राक्षा 'मातुलिक्नं' वीजपूरकं ''कयलं'' कदलीफलं 'सर्जूरं नालिकेरम्' उभयमि सुप्रसिद्धं 'कोलः' वदरचूर्ण 'निञ्चा' अम्लिका चगन्द्रादन्यान्यप्येवं-विधानि पिण्डरसद्द्व्याणि वोद्धव्यानि। एतानि च विकृतयो न भवन्ति॥१७१२॥ यत आह—

खज्रर-मुद्या-दाडिमाण पीलुच्लु-चिचमाईणं।

पिंडरस न विगईओ, नियमा पुण होंति लेवाडा ॥ १७१३ ॥

१ "अम्हं विस्तदणं निन्वीनियं" इति पाठोऽसातानीपस्यचूर्णिप्रतिषु द्रयते ॥ २ "ययक्रपं य"मा॰॥
३ "रसवी बसा नेदो य विगई" इति चूर्णां विदेशपचूर्णो च ॥ ४ धाः पिण्डरसा झातच्याः।
एते चाबिकृतयः परं लेपकृतद्व्याणि मन्तव्याः॥ १७१२॥ मा॰॥

नर्जूर-दुन्ज्ञि-द्राहिमानां पालु-इक्षु-चिडादीनां च मम्बन्धिनी या पिण्डरहे। तो 'अविकृती' विकृती न मद्याः, नियमान् पुनर्जेपकृती मद्या ईति ॥ १७१३ ॥

उक्ति केरहतानि । केरहतैः मंद्रदस्य माननस्य करूः कर्तायः । यदि पुननस्य माननस्य करः कर्तायः । यदि पुननस्य माननस्य करः कर्तियः । यदि पुननस्य माननस्य करः कर्तियः । यदि पुननस्य माननस्य करः कर्तियः । यदि पुननस्य करः । यदि पुननस्य विद्यानस्य व

कृड्सिन्डनंकानी, मिसिणीपुक्खरपराससरिसो ना । सामान भुवण सुक्खावणा य सुहमेरिसे होति ॥ १७१४ ॥

यण हुट्टिमनर्छ निष्ठोणनर्द्रश्चरितं सर्वतः सम्मेत्र मन्ति एतं पात्रक्रख लेपोऽपि हुट्टिमन्छ्यद्वाशः सर्वतः सम एव कर्तव्यः । तथा विसिर्ना-पश्चिनी तस्या यन् पुन्तर्छ-विसीर्ण १०एछाछं-पत्रं तत्र पतितं लर्छ यथा नावतिष्ठते एतं यत्र सङ्मिस्वयाण्ययवा लगा व्यति न स्थिति कुर्विति स विसिर्नामुक्तव्यक्षश्चमदृष्ठः । इंद्रक्ते लेपे पात्रक्त्य समास-भावन-द्योगणाः स्वतमव कर्तु अन्त्रस्ते । सन् इति—प्रयक्ष प्रवचनोक्तेन विविद्या आङ् इति—पर्याद्या पात्रक्रवेपस्वर्णने कृत्य यद् असनं-सिक्याण्यवयवानामपनयनं स समासः, संवेतनक्त्य इत्यर्थः । धावनं-क्रस्य व्यवस्तुत्वम् । श्रीप्रगं-उद्यापन्य । अपस्थायं सुप्त ईद्रशे पात्रे स्वति—

15 एगो साह रहतमुळे मसुद्दिस् । तेन साहुणा दिमालेगो कथो, न पुण उनिरमाहरों विज्ञह्यों दिहों । तेन सो साह दर्गितियों दिहों । ताहें सो आंअरिता गामनहगर्यों । क्लिनेन सिंहें गामिकेगने । तेन सुन माहुणा में खोबरतों दिहों । ताहें सो भगने दनदनस्स आउनों ससुद्दिस्ट नहा मंजिद्द नहा नज्ज्द थोंगे दिन पर्न । पच्छा सो मगने सुद्देगितियाए सहं विहेटण पर्देगों अच्छह । ते आगया विच्छेति साहुं उनमंतं । कओ एह १ कतो विक्ले १० विद्देश । तथों भगद्—न तान हिन्हामि, कि वेद्या नाया १ । ते अन्नसन्त सहं पछोहीन । वाहे विज्ञह्यों भगद्—मए विहों, पछोप्ह से मायने ति । विच्छामों मायने । तेणे दाह्ये । ताहे ते दहुण मनेनि—हुनं मि पाने महणों नि ॥

यष्ट्रपेतार्थं मायङ्गताह—

25

आउत्तो सो मर्गर्त, चोक्खं सुद्धं च तं क्यं पत्तं। निर्म्ताल-निव्वयाणं, पत्तस्य य दायणा मणिया ॥ १७१५ ॥ ओमामित्रो उ मन्त्रो, पत्तो साह वसं च कित्तं च। पच्छाद्या य दोसा, वण्यो य पमावित्रो नहियं॥ १७१६॥

य मगगन् तं जिन्नतीयं ब्हादबतरनं ह्या 'अहुक्तः' प्रवचनमहिन्यरहणाय प्रयवसी वसूत्र । तैननेन संब्ह्नाक्रयकरणेन चोक्तं शुचिकं च इतं तत् पात्रक्रम् । तनश्च निःझीछ-अनिवेतातां च नेतां आमेयकातां पात्रकस्य 'दर्शना' 'निरीहक्वमिदं यदि मवदामेतद्दर्शने कानुक-

[?] इति । एतः पिण्डरस्पद्रव्येयंद् सिशं तद्पि लेपकृतमेव ॥ १७१३ ॥ म॰ ॥ २ तत्र व तेन चोम्बं संदेखनाकराकरणेन शुचिकं च कर्यप्रदानेन कृतं तत् पायकम् । तत्र व 'निःशाल-निवतानां' त्रस्चर्या-ऽहिंसादिबहिष्कृतानां यिग्जातीयानां पायकस्य ना॰ ॥ '

मस्ति' इत्येवंरुक्षणा भणिता ॥ १७१५ ॥

पात्रे च दर्शिते तैः 'मरुकः' धिग्जातीयोऽपञ्राजितः । यथा—धिर्ग् भवन्तमसद्दोषोद्धोपण-कारिणं गुणिपु मत्सरिणमिति । साधुश्च प्राप्तः 'यगश्चै' मिथ्यादृष्टिमानमर्दनपराक्रमसमुत्थं 'कीर्चिं न' शुचिसमाचाररूपसुकृतप्रभवाम् । प्रच्छादिताश्च दोपाः पानकेन विना तुम्बकेषु वा भोजनकरणसमुत्थाः । वर्णश्च प्रभावितः प्रवचनस्य तत्रावसरे तेन भगवता । एप गुणः शोभन-5 लेपलिप्तस्य पात्रस्येति ॥ १७१६ ॥

अथ येषु द्रव्येषु कल्पकरणमवश्यं कर्त्तव्यं तानि दर्शयति-

लेवाड विगइ गोरस, कढिए पिंडरस जहन्न उच्मजी। एएसिं कायव्वं, अकरणें गुरुगा य आणाई ॥ १७१७ ॥

एतानि द्रव्याणि लेपकृतानि । तद्यथा—'विकृतयः' द्धि-दुग्धादिकाः, 'गोरस' तकादि, 10 'कथितं' तीमनादि, 'पिण्डरसाः' खर्जूरादयो यावज्ञधन्यतः "उन्भिज्ञ" ति कोद्रवजाउरुकम्। 'एतेपां' लेपकृतानां कल्पकरणं कर्त्तव्यम् । यदि न करोति तदा चत्वारो गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च संयमादिविषया ॥ १७१७ ॥ तामेव भावयति---

संचयपसंगदोसा, निसिभत्तं लेवकुच्छणमगंधं। दन्त्रविणासुद्वादी, अवण्ण संसज्जणाऽऽहारे ॥ १७१८ ॥

15

लेपकृतपात्रकस्य करूपेऽिकयमाणे यः सञ्चयः—सूक्ष्मसिक्थाचवयवपरिवासनरूपस्तस्य प्रस-क्रेन दोषा एते भवेयुः---^४निशिभक्तं प्रतिसेवितं भवति । लेपस्य च[ं]कोथनं-पृतिभवनम् । ततश्च 'अगन्धं' नञः कुत्सार्थत्वाटतीवदुर्गन्धि भाजनं भवति । तादृशे च भाजने गृहीतस्य द्रव्यस्य-ओदनादेविनाशो भवति । तसिन् भुझानस्य च विरसगन्धाघाणत ऊद्धीटीनि भवन्ति । ऊर्द्ध-वमनम्, आदिशब्दादरोचक-मान्चादिपरिग्रहः । 'अवर्णश्च' प्रवचनस्योडाहो भैवति । 20 तथाहि — लोको भिक्षां ददानो दुर्गन्धि भाजनं दृष्टा गर्हते — ईदृशा एवते अशुचयः पापोपहता इति । ''ससज्जणाऽऽहारे'' त्ति दुर्गन्धिनाऽऽहारे पनक-कुन्थुपभृतयः प्राणिनः संसनेयुः॥१०१८॥

यत एवमतः-

लेबकडे कायव्वं, परवयणे तिकि वार गंतव्वं। एवं अप्पा य परो, य पवयणं होंति चत्ताई ॥ १७१९ ॥

१ 'श्च' प्रत्यनीकमान' भा॰ ॥ २ च' 'अहो ! अयं महातमा शुचिसमाचारः' इत्येवं खकृतसंगरितप्रभवाम्। प्रच्छादिताश्च दोपास्तुम्बकेषु भोज भार ॥ ३ °काः, गोरसेन फियतं-राई यत् पेयादिद्रव्यम्, यहा गोरसमेव-तकादिकं यत् फियतम्, ये च 'पिण्ड-रसाः' मुद्रिकादयो यावज्ञधन्यतः "उन्मेज्ज" ति 'उद्रेधा' कोद्रवजाउलकं यास्तुल-प्रभृतिशाकभिजेका या । 'एतेपां' भाव । ''हेवगउनिगर्व गाहा ॥ हेवाज विगरंभी गोरगो प कटियओ, पिंउरसी सुदियाई, जहमाओ देवाडी 'वन्मजी' वियओ सुरप्वियमेगर्ट । एएपि देवाउाण कप्नी कायव्यो । न फरेह 👯, आणाई विराहणा" इति विदोपचूर्णिः॥ ४ निशि-रात्री भक्तं मा॰ ॥ ५ भवेत भा०॥

5

15

लेपकृतमानने कर्तव्यं कल्पकरणम् । अत्र पर'-प्रेरकमृत्य वचने त्रीन् वारान् कल्पप्रायो-म्यपानकप्रह्णार्थे गृहपतिगृहे गन्तव्यमिति । सुरिराह—एवंक्रियमाणे आत्मा च परश्च प्रव-चनं च मयन्ति परित्यक्तानीति निर्मुक्तिगाथासमासार्थः॥१७१९॥ अथेनामेव विवरीपुराह—

गोउल विस्त्रसंखिहि, अलंभें साधारणं च सच्चेमि । गहियं संती य तर्हि, तक्कुच्छुरसादि छग्गद्वा ॥ १७२० ॥

गच्छे सायवः मुबह्बो भन्नेयुः, तथ्य भिक्षां हिण्डमानेगोंकुले दुन्व-द्रव्यादीनि यासुर्येण उच्यानि, 'विरूपाया वा' अनेकंपध्य-मोज्यप्रकारायां सह्व्यासुक्रप्टमशनादिह्न्यं रुम्येत, तथ्य साधुभिः 'अलामे' अन्यत्र तथाविषस्य दुर्लमह्न्यस्यामध्यामा मर्नेयां साधारणसुपप्टम्मका-रकमिद्रमिति मत्वा सर्वाष्यिप भक्तमाजनानि भृत्वा पानकप्रतिष्रहेन्यपि गृहीतम् । तनः प्रति-10श्रयमागता यावत् पानकेन विना न शक्यते मसुद्युम्, आहारस्य गच्छे विल्यानात्, तनः किं कर्तव्यम् १ हत्याह्—यन्ति च तत्र तकेश्रुरसादीनि, आदिशक्ताद् दुग्धादीनि च, तान्य-पानताले आपिनेत् । किमर्थम् १ हत्याह्—"लग्नह" चि लगनं लग्नम्, भावे कप्रत्ययः, आहारस्य गच्छे विल्यानस्तृत्यं वा तद्येम्, तद् मा भृदित्यर्थः ॥ १७२०॥ आह यद्यवं तिर्हि पानकामावे ससुद्देशनानन्तरं कथं माजनानि कल्ययितव्यानि १ इत्युच्यते—

मंडलितकी खमए, गुरुमाणेणं व आणयंति दवं। अपरीमोगऽतिरित्ते, लहुओऽणाजीविमाणे य ॥ १७२१ ॥

यः क्ष्यकः ''मण्डलितकी'' मण्डल्युपजीवकत्तस्य माजनेन गुरूणां माजनेन वा 'द्रवं' पानक-मानयन्ति । अथापरिमोम्बेषु भाजनेषु 'अतिरिक्तं वा' नन्दीमाजने मण्डल्यनुपर्जाविक्षपक-माजने वा द्रवमानयन्ति तदा लघुको मासः ॥ १७२१ ॥

20 खय ''परवचने त्रीन् वारान् गन्तत्र्यम्'' (गा० १७१९)इति परं व्याप्यानयति— मणद् लह् एस दोसो, तो आह्मकप्पमाण संलिहिछं। असिस नगं दाउं, तो गच्छह् विह्य-तह्याणं॥ १७२२॥

'र्मणिति' परः यस्यित—यदेषः 'दोषः' मायश्चितापित्रखणान्तोऽहं विधि भणामि—प्रतिमहं सिष्टिप्य तत एकाकी गृहपितिगृहे प्रविज्य 'खादिमकस्प्रमानं' यावनीं सबैसाधिमरादिमः कस्यः 25 कियते तावन्मात्रं द्रषं गृहीत्वाऽन्येषां माधूनां 'तन' पानकं दस्त्रा ततः स्वयं प्रयमकस्यं करोतु । इत्या च ततो गच्छिति द्वितीय-तृतीययोः कस्पयोः । इद्मुक्तं भविति—द्वितीयकस्पकरणार्थं

१ 'ति गाया' सा॰ ॥ २ 'कप्रका' सा॰ ॥ ३ छस्यते त॰ दे॰ ॥ ४ ग्रेत्ययेः, त° सा॰ ॥ ५ 'स्याप्ति सा॰ मो॰ ने॰ ॥ ६ 'सगिति॰ गाया ॥ 'पगे' ति चोदगो सो मणित—जित एस पच्छित्तां हो रूपं विधि सणानि—यहिमाई एछिद्रिता एगागी प्रयमकत्यरूपार्थं पविस्ता तित्यमेतं दवं गेण्टतु रूपा पदमरूपं छाटं वितियं वारा वितियरूपार्थं पितिसत्ता तित्यमेतं दां गहाय आगंतु इत्यरूपं काउं वितियरूपं च दारं तित्यं वारं पितिसत्ता सत्तिएगं तित्यकृपो ईस्ति तं घेतुं आगंतुं तित्यकृपं वार पच्छा स्वित्य सेसार्थं क्यां प्रवित्ता स्वित्यकृपो ईस्ति तं घेतुं आगंतुं तित्यकृपं वार पच्छा स्वित्य सेसार्थं क्यां वार प्रवित्य सेसार्थं सेसार्थं क्यां हिंदे स्वार्थं सेसार्थं क्यां प्रवित्य स्वार्थं क्यां स्वार्थं क्यां सेसार्थं सार्थं सार्थं सेसार्थं सीस्याप्ति सेसार्थं सेसार्थं सीस्याप्ति सेसार्थं सीस्याप्ति सीस्य

द्वितीयं वारं तत्र गृहे प्रविश्व तावन्मात्रं द्रवं गृहीत्वां प्राम्बदन्यसाध्नां दत्त्वा द्वितीयकर्णं करोतु, ततः तृतीयं वारं भृयः प्रविश्य तावन्मात्रं गृहीत्वा तथेव तृतीयं कर्णं कृत्वा यावन्मान्त्रेण शोपभाजनानि घाव्यन्ते सञ्चाभूमीपानकं च भवति तावन्मात्रं गृहीत्वा समायातु ॥१७२२॥

आचार्यः प्राह—एवंकुर्वता आत्मा च परश्च प्रवचनं च परित्यक्तानि भवन्ति । तत्रात्मा कथं त्यक्तो भवति ? इत्युच्यते—

संदंसणेण बहुसो, संलाव-ऽणुराग-केलि आउभया। देती णु फंजियं णुं, जइस्स इट्ठो ति य भणंति॥ १७२३॥

तस्येकािकनो भ्यो भ्यस्तद्वृहं प्रविशतो याऽसो कािकदात्री अविरतिका तस्याः सम्बन्धिना वहुणः सन्दर्शनेन संलापा-ऽनुराग-केिष्रभृतय आत्मोभयसमुत्था दोषा भवेयुः । संलापः—सद्भया, अनुरागः—परस्परमात्यन्तिकी प्रीतिः, केिलः—परिहासः । तथा यद्येष प्रवितकः पुनः पुनरेति 10 याित च तत् किमस्य 'ददती' पानकदाियका इष्टा ? उत कािक्षकम् ? इत्येवमगारिणसामुद्दिस्य भणन्ति । नुशव्द उभयन्नािप वितर्के ॥१७२३॥ प्रवचनं यथा परित्यक्तं भवति तथा दर्शमिति—

आयपरोभयदोसा, चउत्थ-तेणहसंकणा णीए । दोचं णु चारिओ णुं, करेह आयह गहणाई ॥ १७२४ ॥

'आत्मपरोभयदोपाः' आत्मनः—स्वस्मात् परस्याः—काञ्जिकदायिकायास्तदुभयसाच्च एते दोपा । भवेयुः । तद्यथा—चतुर्थे—चतुर्थाश्रवद्वारिविपया स्तैन्यार्थिविपया च शङ्का तस्याः सत्कैर्निजकैः क्रियते । यथा—'नुः' इति वितर्के, किमेप प्रविजतकः कस्याप्युद्धामकस्य मेथुनदौत्यं करोति यदेवमायाति याति च श यद्वा चारिको भूत्वा चौराणां हेरिकतां कर्ज्जमित्यमायाति श यद्वा आत्मार्थमेवायमित्थं करोति ? स्वयमेव मेथुनार्थी हर्जुकामो वेत्यर्थः । इत्यं शङ्कमानास्त्रे तस्य साधोर्भहणा-ऽऽकर्पणादीनि कुर्युः । ततः प्रवचनं परित्यक्तं भवति ।। १०२४ ॥

परः कथं परित्यक्तो भवति ? इत्युच्यते---

गिण्हंति सिन्सियाओ, छिदं जाउग सवत्तिणीओ अ। सुत्तत्थे परिहाणी, निग्गमणे सोहिन्नद्वी य॥ १७२५॥

गृहिन्त 'छिद्रं' दूपणं काञ्जिकदायिकायाः, काः १ इत्याह—'सिज्जिकाः' सहवासिन्यः, प्रातिवेश्मिकस्त्रिय इत्यर्थः, "जाउग'' ति 'यातरः' ज्येष्ठ-देवरजायाः 'सपल्यः' प्रतीताः, यथा—25 यदेप संयतो भृयो भृयः समायाति तद् नूनमस्या अयमुद्धामक इति । ततो यटा तया सहासम्भट- मुपजायते तदा तत् प्राग्विकल्पितं दूपणं साक्षात् तत्यतेः पुरत उद्गिरन्ति । तथा यूत्रार्थविषया परिहाणिः पुनः पुनर्गच्छतो भवति । "निग्गमणे सोहिचुद्वी य'' ति त्रीन् चनुरो या वारान् निर्गमने शोधिगृद्धिश्च तथेव द्रष्टन्या यथा भिक्षाद्वारे प्रागुक्तम् (गाथा १६९७)। यत एते दोषा अतो नेकाकिना भूयो भृयो गन्तन्यम् ॥ १७२५॥ कथं पुनस्तर्हि गन्तन्यम् ! इत्याह—30

संघाडएण एगो, खमए निइयपय बुहुमाइण्णे । पुन्युद्धि(दि)एण करणं, तस्स व असई य उस्सिने ॥ १७२६ ॥

१ °त्वा प्रतिश्रयमागम्य द्विती° गा॰ ॥ २ तथा गृ भा॰ ॥

्रसङ्घारकेन भावितकुलेषु प्रविश्य पानकं ग्रहीतन्यम् । द्वितीयपदे एकोऽपि (प्रन्याप्रम् १०००। सत्रेग्नन्याप्रम् १३२२०।) यः क्षत्रको वृद्धो वा अग्रङ्गनीयः स आकीर्णेषु भावित- कुलेषु पानकं गृहाति । तच् पानकं यत् पूर्वनेव सौवीरिण्या टहुतं-पृथक् स्वापितं तेन कल्य- करणं कर्तव्यम् । 'त्रस्य वा' पूर्वोहृतस्य 'असति' अभावे उत्सेचनम्रत्तिकं तद्पि कारापणीयन् । वृष्या पुरातनगाथा ॥ १७२६ ॥ अथनामेव भाष्यकृत् विवृणोति—

मानितक्कलेस घोवित्त भायणे आणयंति सेसहा । ...तिब्निहकुलाण असई, अपरीभोगादिस जयंति ॥ १७२७ ॥

मावितेकुळानि नाम-येषु पूर्वोक्ताः शक्कादयो दोषा न स्युत्तेषु गत्वा गृहस्यमानने नण्डल्य-प्रजीविक्षपक्तमानने गुरमानने वा द्रवं गृहीत्वा त्वकीयमाननानि घात्वा दोषाणां माननानां 10 घावनार्थ - संज्ञान्तिगतानानाचमनार्थ चापरमि पानकमानयन्ति । तिद्वधानां मावितकुळानाम् 'क्सति' अमावे अपरिमोन्यादिषु यतन्ते, अपरिमोन्यानि नाम-अव्यापार्यनाणमाननानि तेषु, आदिग्रहणाद् नण्डल्यनुपर्जाविन, अपकृत्य माननेषु नन्दीमानने वा, द्रवं गृहीत्वा संस्रष्टमाननानां कृत्यं कुर्वन्ति । तञ्च पानकं पूर्वोत्सिक्तनेव गृहन्ति ॥ १७२७ ॥

ृन्तु यदि सौवीरिणीमुद्दत्य दीयनानं गृहन्ति ततः को दोषः सात् ? उच्यते—

अअचंतिम्म नही, पाणाणं तेण पुत्रवरिसत्तं । असती बुस्सिचणिए, जं पेक्लइ ना असंसत्तं ॥ १७२८ ॥

"श्रोयचंविन्न" वि प्राञ्चतत्वात् पुंस्त्रनिर्देशः, सौदीरिण्यात् 'उद्वर्त्यमानायान्' उत्साख्य-मानायां ये तत्र सौदीरगन्थेन कंसारिकाद्यः प्रागजानीया जायाताः सन्ति तेषां वाषा मदित, तेन कारणेन पूर्वोस्तिकं प्रदीवव्यन् । जय नान्ति पूर्वोस्तिकं वदन्तसासित उस्सिबनिक्या उस्सि-१० श्वाप्य यदनया गृहन्ति । जय नास्युत्सिबनिकां वदो यत् पार्त्व प्राणिनिरसंसकं प्रेन्नन्ते तेनोद्दर्स्य गृहिमाननं प्रतिद्यरिकं यादित्वा तत्र द्वतं गृहीत्वा माननानि केल्ययन्ति ॥१७२८॥ आह च—

गिहिसंति माण पेहिय, कयकप्पा सेसगं दवं घेतुं । घोञण-पियणस्सद्वा, अह घोतं गिण्हए अत्रं ॥ १७२९ ॥

गृहिसकं भावनं प्रत्येपस्य यदि निर्वीवं मवति तदा तत्र द्रवं गृहीता 'कृतक्त्या.' अत्वकीयमाजनानि कत्र्ययिता शेषं द्रवमन्त्रेयां माजनानां घावनार्थ सक्तोत्तरकारं च णनार्थम् उपलक्ष्यनतात् संदास्निगमनार्थं च गृहीता सनायान्ति । अथ तत्र त्योक्तमेव द्रवं स्टबं ततो यावता पर्यातं मवति तावदन्यद्रपरेषु गृहेषु गृहन्ति ॥ १७२९ ॥

१ चूणों विशेषचूणों व नेरं एएडनगय सेन लिईस ॥ २ विक्रलेषु गत्या गृहस्यमाजने हुने गृहीत्वा सकी ना०। "निविद्ध गावा ॥ मान्दिक्ट गान-सेनिगमानिया सावण स्वानहण वा, लेखि वा कोगवड़ो पान्य, तेस संबाहगों गेतुं तिहत्यमानिस इतं धेतुं कर्न करोडि मायनसं। सिबहु ति सेसमान्य केमावानं केमावानं वीवन्त्र स्वानिमानगृह र करोपि दवं गेन्हित ।" इति चूणों विशेषस्पूणों व ॥ २ भ-यानि स्वापार्यमाणानि भा मा० ॥ ४ थां वधो भ मा० मो० है। ५ पार्थेन प्रा ना० ॥

अंध "एगो लमए विइयपय बुहुमाइन्ने" (गा० १७२६) ति पदं व्याख्यानयति
जा भुंजइ ता वेला, फिट्टइ तो खमग थेरओ वाऽऽणे ।
तरुणो व नायसीलो, नीयछग-भावियादीसु ॥ १७३० ॥

"जा भुंजइ" ति प्राकृतत्यादेकवचनेन निर्देशः, यावद् वा साधवो मुझते तावत् पानकस्य वेला "फिइति" व्यतिकामित तर्तः 'क्षपकः' उपवासिकः 'स्विरो वा' वृद्धोऽयद्भनीय इति व् कृत्वा कल्पकरणार्थमेकाक्यि "आणे" ति पानकमानयेत् । तरुणो वा यः 'ज्ञातशीलः' दृढ-धर्मा निर्विकारश्च स एकाक्यिप निजर्कानां—मातृ-पितृपक्षीयस्वजनाना कुलेषु भावितकुलेषु वा आदिशव्दादन्येष्विप तथाविधकुलेषु प्रविश्य पानकं गृहीयात् ॥ १७३०॥

अथात्रेव कल्पकरणद्वारे विध्यन्तरं विभणिपुद्वीरगाथामाह-

विईयपय मीय गुरुगा, ठाण निसीयण तुयद्ध धरणं वा । गोव्वरपुंछण ठवणा, घीवण छट्ठे य दन्वाई ॥ १७३१ ॥ 10

'द्वितीयपदे' अपवादाख्ये साधवो त्रजिकां गता मवेयुः, तत्र च पानक न रुव्धमिति कृत्वा यदि पात्र 'मोकेन' प्रश्रवणेनाऽऽचमन्ति ततश्चत्वारो गुरवः । शिष्यः प्राह—यदि मोकेनाऽऽचमने दोपासतो रात्रो स्थानं निपदनं त्वग्वर्तनं वा कुर्वन् सस्प्रपात्रकस्य धारणं करोतु । स्वरि-राह—एवंकुर्वतः संयमा-ऽऽत्मिवराधना भवति, ततो गोवरेण—गोमयेन पात्रकस्य प्रोज्छन—15 घर्पणं कृत्वा स्थापनं कर्त्तव्यम् । ततो द्वितीयदिवसे यदि द्रवं ग्रहीतव्यं तटा 'धावनं' कत्पत्रय-प्रदानं कर्त्तव्यम् । अथ भक्तं ग्रहीतव्यं ततो न कल्पत्रयं दातव्यम् । "छट्टे य दबाइं" ति शिष्यः प्राह—यद्यधोते पात्रे भक्तं गृद्यते ततो ननु तत्र यान्यवयवद्यव्यणि पर्युपितानि सन्ति तेः पष्ट-व्यत्मितिचरितं स्यादिति निर्युक्तिगाथामङ्गेपार्थः ॥ १७३१ ॥ विस्तरार्थं तु विभणिपुराह—वहगा अद्याणे वा. दव असर्डए विलंबि यरे वा ।

वइगा अद्धाणे वा, दव असईए विलंवि यरे वा । जइ मोएणं धोवइ, सेहऽनह भिक्ख गंधाई ॥ १७३२ ॥

व्रजिका—गोकुलं तस्यां कारणे गतानामध्यिन वा बहमानाना 'द्रवस्य' पानकस्य 'अमित' अप्राप्तो 'विलिम्बिन वा' अस्ति तप्राये सूर्ये यदि पानकं नाम्नि ततः अथं कल्पः करणीयः '। अत्र नोदकः स्वच्छन्द्रमत्या प्रतिवचनमाह—मोकेन तदाना पात्रमाचमनीयम् । आचांर्यः प्राह—एवं ते स्वच्छन्द्रप्रस्पणां कुर्वतो यथाच्छन्द्रत्यात् चत्वारो गुरवः प्रायिश्वतम् । यध्य १५ मोकेन पात्रकमाचामित तस्यापि चतुर्गुरवः। कुत्त ' द्रत्याह—यदि मोकेन धावित तदा येक्षा-णाम् अन्यथाभावः—विपरिणमनं भवेत् , विपरिणताध्य प्रतिगमनादीनि कुर्यु । द्वितीये च दिवसे भिक्षार्थ पात्रके प्रसारिते मति कायित्रयाः कृषितो गन्य समायाति ततो लोकः प्रयननावर्णवादं कुर्यात्—अहो ! अमीभिरिक्षकापालिका अपि निर्जिता यदेवं पात्रक प्रश्रवणनाच-

१ -४ > एतिवान्तर्गतमनतरण ना॰ पुनके ए। यसंते ॥ २ °तो यः 'क्ष' भा० ॥ ३ °द्रो भुक्तोत्थितोऽदा' भा० ॥ ४ °काः-मातृ पितृपक्षप्रतियद्धाः सम्यन्धिनम्नेपां फुले भा० ॥ ५ "विश्वपद० गाहा पुरातना" इति विदेषच्चूणां ॥ ६ °ति द्वारगाथा भा० ॥ ७ °चार्य आह त० ३० ॥

नन्तीति । सादिग्रहणेन श्रान्नामां निपरिणानो मनतीत्मदिपरिग्रहः ॥ १७३२ ॥ स्थ मृयः परः प्राह—

भणइ तइ एस दोसो, तो ठाण निसियण तुअह धरणं ना । भण्णइ तं तु न् जुझह, दु दोस पादे अ हाणी य ॥ १७३३ ॥

म्याति परः—यदि 'प्षः' शैक्षितिरानादिको दोष उनमयदे वदो ना नोकेन ऽऽचानतु परं गृहीतेनैव पत्रकेप सक्छनी रात्रि "ठान" वि स्द्रुंसिविद्याहर वया यदि न सकोति स्मात्तं वतः "निस्यन" वि नियमः पत्रकं घर्यतः नयानि यदि न सकोति वतस्वन्धनं दुर्वापः—तियम्निपत्रः सन् घारयतः । मृरिराह—मण्यते कत्रोवरन्—हे नोदक ! तत् तु न युज्यते यद् मण्या प्रोक्तन् । हृदः ? इत्यह—"दु दोस्" वि हो दोगवत्र मण्य , वय्या—10सासिरायना संयमिरायना च । वत्रोद्धीस्वतसोपविष्टस वा नित्रम मेरितस्य मृत्तो निष्वतः हिरोन्हत्त-पदायुग्यने आत्निवर्यनः पतितः सन् प्रमां क्यानानस्यतः विरावये-दिति संयमिरायना । "गदे स हानि" वि दृ वा पत्रं पतितं सद् मञ्चेत वतो या पत्र-केप विना परिहािस्तिक्तकां प्राव्येत्वन् ॥ १७३३ ॥ यत्र एने दोण अतोऽयं विकि——निद्यनित्रं निद्यं, गोव्यरपुद्धं ठिविति पेहित्ता ।

तइ य द्वं घेचव्वं. विद्यदिये घोइउं निय्हे ॥ १७३४ ॥

हेन्द्रदं कियं वा मदेव कियं वा मदेव । यदि नित्यं तदो गोयरेन-गोमयेन 'पुट्टं" प्रोक्टितं सुद्धं पत्रकं हता निरवयवीमृतं सन् प्रसुपेक्ष्य रात्रे स्वान्यन्तिः न धारयन्तीति मानः । स्वयन्तियं तदाः संनेतनक्त्येन सुपंदीदं हता स्वान्यते न पुनः कर्ययेन पृत्यते । यदि च द्वितीये दिवसे द्रवं प्रद्येतक्यं तदाः 'यादिकः' दि कर्यायेका गृह्यते, स्वयं मक्तं तत्तेऽवातेऽपि 20गृहते न कश्चित् दोरः ॥ १७२१ ॥ स्वयं परः प्रह्—

> जइ ओर्गो अयोए. विष्यइ तो अवयवेहिं निसिमत्तं । तिनि च न होंनि कष्मा, ता घोवस जाव निग्गंघं ॥ १७३५ ॥ तम्हा गुव्वरपुट्टं. संलीटं चेव घोविउं हिंडे । इहरा में निसिमत्तं, ओअविजं चेव गुरुनाई। ॥ १७३६ ॥

25 बड़हाते पत्रे हितीयेड्हित क्रोहतो गृहते ततो नतु तत्र मूहन क्रववः सन्नि वेवां पत्रम्मृतीयेऽव्यहित क्रव्यते, तेब्राव्यवेद्यवास्तितेः सिर्ह्मित्र्यं मस्तं तत्र गृहते तत् सुझान्यात् नातः निर्ह्मित्रं मणीति । यह सुमानिर्हेन्द्रत्य त्रवः क्रव्याः शुद्धिम्प्यत्य निर्हिद्यात् व्यास्तः निर्ह्मित् मणीतः निर्ह्मित् निर्मा निर्मा क्रव्यात् । तत्रोऽहिनिर्णं अवस्थिनिर्णं निर्मा केष्टिम् कर्मित्या क्रव्यास्ति । तत्रोऽहिनिर्णं अवस्थिनिर्णं निर्मा केष्टिस्ति कर्मित्या कर्मित्य कर्मित्य कर्मित्या कर्मित्य कर्मित्य कर्मित्य कर्मित्या कर्मित्य कर

गृहीतमपरमि भक्तम् ''ओअवियं'' उच्छिष्टं भवति, तच्च 'गुर्वाटीनाम्' आचार्योपाध्यायप्रमृतीनां दीयमानं महतीमाञातनामुपजनयति ॥ १७३५॥ १७३६॥ इत्यं परेणोक्तं सति स्रिराह—

भण्णद्द न अण्णगंधा, हणंति छद्वं जहेव उग्गारा ।

तिनि य कप्पा नियमा, जइ वि य गंधो जहा स्रोए ॥ १७३७ ॥

मण्यतेऽत्र प्रतिवचनम्—अन्नस्य—भक्तस्य गन्धाः 'पष्ठं' रात्रिविरमणवतं न प्रान्ति, यथेवो-क द्वारा रात्रो समागच्छन्तोऽपि न पष्टवतमुपप्रनित । तथा पात्रके यद्यपि गन्धः समागच्छिति तथापि नियमात् त्रय एव कल्पा टातव्या नाधिका न वा हीनाः, तथा भगवद्गिरुक्तत्वात् । यथा छोकेऽपि प्रतिनियता भाजनगोधनाय मृतिकालेषा भवन्ति ॥ १७३७॥ तथाहि——

वारिखलाणं वारस, मद्दीया छ च वाणपत्थाणं।

मा एत्तिए भणाही, पिडमा भणिया पत्रयणिम्म ॥ १७३८ ॥

वारिखलः-परित्राजकास्तेपा द्वाद्रंग मृत्तिकालेपा भाजनशोधनका भवन्ति । पट् च मृति-कालेपाः 'वानप्रस्थाना' तापसाना शोचसाधकाः सज्ञायन्ते । एव लोकेऽपि स्वस्तसमयप्रतिपा-दितानि प्रतिनियतान्येव शोचानि दृष्टानि, अतो हे नोटक ! एतावतः कल्पान् 'मा भण' मा त्रृहि, तावद् धोतव्यं यावद् निर्गन्धीभवतीत्यप्रतिनियतानित्यर्थः । तथा 'प्रतिमा' इति मोक-प्रतिमा साऽपि प्रवचने भणिता, तस्यां हि मोकमपि पीत्वा साधुः शुचिरेव भवति ॥ १७३८॥ १५ एतदेव भावयति—

> पिह सोयाई लोए, अम्हं पि अलेवगं अगंधं च । मोएण वि आयमणं, दिद्वं तह मोयपिडमाए ॥ १७३९ ॥

यथा होके 'प्रथग्' विभिन्नानि शोचानि दृष्टानि तथाऽसाकमि त्रिभिः करुपेः पद्वेरहे-पक्तमगन्धं च पात्रकं भवतीति । एवं गोचविधिर्भगविद्धिर्देष्ट इति । तथा मोकेनाप्याचमनं 20 मोकप्रतिमाया दृष्टमेव ॥ १७३९ ॥ परः प्राह—

> जह निद्धवमगंधं, पंडिकुद्धं तं कहं नु जिणकप्पे । तेसि चेव अवयवा, रुक्तासि जिणा न कुव्वंति ॥ १७४० ॥

यदि निर्लंपमगन्धं च शोचं दृष्ट ततः कथ 'नुः' इति वितर्के 'तद्' निर्लंपनं जिनकरेपे प्रतिपन्ने सित 'प्रतिकृष्ट' प्रतिपिद्धम् दे, ''तेसिं चेव अवयव'' ति अनिर्लेपिते 'तेपां' जिनक-25 रिपकाना सन्त्येव सृक्ष्माः पुरीपादेर्वयवाः यरमीपा शुचित्व न भवति । सृरिगह—रूक्षाशिनः 'जिना ' जिनकर्त्पिका भगवन्तस्ततोऽभिन्नवर्षम्कतया न सन्ति सृक्ष्मा अप्यवयवा अमीपास्, सदभावाच दूरापास्तप्रसरनेपा पुरीपगन्य इति हेतोर्न कुर्वन्ति निर्लंपनम् ॥ १७४० ॥

आह् यद्यभित्रवर्चम्कतया जिनकल्पिकाः शै।च न कुर्वन्ति तर्हि ये स्वविरकल्पिका अप्य-भिन्नोचारारेतपामपि संज्ञामुल्यज्य किकारणमवस्य शै।चकरणमुक्तम् ' उच्यते--- 30

थंडिछाण अनियमा, अभाविए इदि जुगलमुद्रुयरे । सन्झाए पंडिणीए, न ते जिणे जं अणुष्पेहे ॥ १७४१ ॥

20

स्विरकृष्टिपकाः प्रथमस्विण्डलामांव द्वितीयतृतीयचतुर्थान्यपि स्विण्डलानि गच्छिन्त । तत्र च यदि न निर्लेपयन्ति नत आपातसंलोकसमुत्या अवर्णवादादयो दोपा मवयुरिति स्विण्डलान्तामनियमादवञ्यन्तया शांचं कुर्वन्ति । अभावितो नाम—अपरिणतिज्ञनयचनस्वस् निर्लेपनामांवे मा मृद् विपरिणाम इति । "इष्ट्रि" ति 'ऋद्धिमान्' राजार्दानामन्यतमः प्रवज्ञितः स प्रायेण श्वांचकरणमावित इति तद्रथम् । तथा 'युगलं' वाल-बृद्धद्वयं तत् प्रायेण मित्रवर्चस्कं मविति । 'उद्धुयरो नाम' यः ममुद्दिशन् सज्ञा वा खुत्खुजन् चपलनया हम्नार्शन्यपि लेपयिति । "सज्झाये" ति अनिर्लेपितं स्वविरकृष्टिपकानां साध्यायो न वत्तते वाचा कर्त्तुम् । "पिडणीए" ति प्रथम-स्विण्डलामां द्वितीयादिस्विण्डलगतस्य शांचकरणमदृष्ट्वा प्रत्यनीक उद्घाहं कुर्यान् । "न ते जिणे" ति जिनकृष्यिके न 'एने' स्विण्डलानियमादयो दोषा भवन्ति, "जं अणुप्पेहें" ति 10यचामां साध्यायं मनसेवानुपेक्षते न वाचा परिवर्तयिति तन न निर्लेपयिति । स्वविरकृष्टिपकानां तु मनसा साध्यायकरणे प्रमृतेनापि कालेन न सृत्रार्था परिजिता भवत इति ॥ १७४१ ॥

एमेव अप्पलेवं, सामासेउं जिणा न घोवंति । तं पि य न निरावयवं, अहार्टिड्ए उ सुन्दंति ॥ १७४२ ॥

ग्वमैव 'अर्थलेपम्' अर्थशब्दस्यामाववाचकत्वाद्रेलपकृतं भाजनं 'समस्य' सम्यक् सिल्स्य 15 जिनकरियकाः 'न धावन्ति' न कर्ष प्रयच्छन्ति । तच्च भाजनं यद्यपि न निर्वेवयवं सञ्जायते तथापि 'यथास्थित्यव' यथास्वकरुपानुपालनादेव शुध्यन्ति, स्थितिरियं तेषां यदेवमेव शुचयो भवन्तीति ॥ १७१२ ॥ यदप्युक्तं भवता प्राक् "अक्रुतकरुपे भाजने गृहीतं भक्तमुच्लिष्टं भवति" (गा० १७३६) तद्रपि परिफल्विनि द्वीयति—

मनंतो संसर्ह, जं इच्छिन श्रावणं दिण विदए।

20 इत्य वि सुणसु अपंडिय !, जहा तयं निच्छए तुच्छं ॥ १७४३ ॥ सच्छं मन्यमानो यद् हितीये दिने 'धावनं' करुपकरणिमच्छिस अत्राप्यर्थे 'शृणु' निश्चमय हे अपण्डित ! यथा 'तक्रत्' त्वदीयं वचनं 'निश्चये' परमार्थतः 'तुच्छम्' असारम् ॥ १७४३ ॥ तदेवाह—

सच्चं पि य संपद्दं, निध्य असंसद्विएछयं किंचि । सच्चं पि य लेवकडं, पाणगजाए कहं सोही ॥ १७४४ ॥

यदि गन्यमात्रेणेव त्वदुक्तया नीत्या मक्तसुच्छिष्टं भवति ततः सर्वेमप्यत्र नगति 'संस्रष्टम्' उच्छिष्टमेव विद्यते नाम्ति किञ्चिदप्यसस्र्ष्टम् । एवं 'मर्वेमिप' भक्तं पानकं च लेपकृतसुच्छिष्टं भवति अतः पानकवातेन कथं शुद्धिर्भविष्यति ! ॥ १७४४ ॥ एतदेव भावयति—

खीं वच्छच्छिहं, उद्गं पि य मच्छ-कच्छमुच्छिहं। चंदो राहुच्छिहो, पुण्काणि य महुअरगणहिं॥ १७४५॥ रंबंनीओ बोहिति वंजण सल-गुले य तकारी।

[्] १ 'निरचयर्च' सर्वेयच व्यपगतिनिःश्चेषाचयर्च तथा° मा॰॥ २ 'न्ति, कल्पस्तेषामयं यदे° मा॰॥

3)

संसद्वम्हा य दवं, पियंति जङ्गो कहं मुन्त्रे ॥ १७४६ ॥ क्षीरं 'वत्सोच्छिष्टं' वत्सेन खमातुः स्तन्यमापिवता संस्रष्टम् । तथा उदकमपि मत्स्य-कच्छ-पोच्छिष्टम् । चन्द्रो राह्चिछष्टः । पुप्पाणि च मधुकरगणैरुच्छिष्टानि ॥ १७४५ ॥

तथा अविरतिका राष्नुवन्त्य. 'व्यञ्जनानि' ग्राहनकानि वोष्ट्यन्ति 'कि निप्पन्नानि ? न वा ' इति परिज्ञानार्थम् । खल-गुलावि 'तत्कारिणः' तस्य—खलादे. कारिणश्चाकिकादयो ६ वोष्टयन्ति । 'संस्रष्टसुखाश्च' उच्छिष्टेन सुखेन यतयो यद् द्रवमापिवन्ति तद्दिष सस्प्रम् । तेन च संस्रप्टेन यस्य भाजनस्य कल्पः कियते तत् कथं गुध्यति ? इति । यत एवमतो न गन्धमात्रे-णेव भक्तसुच्छिष्टं भवतीति स्थितम् ॥ १७४६ ॥

अथ कल्पकरणे वितथसामाचारीनिप्पन्न मायश्चित्तमाह—

एकिकम्मि उ ठाणे, वितह करितस्स मासियं लहुअं। तिगमासिय तिगपणगा, य होंति कप्पं कुणइ जत्थ ॥ १७४७॥

एकेकसिन् स्थाने वितथां सामाचारीं कुर्वाणस्य मासिकं छघुकम् । तद्यथा—असंलीढे पात्रके प्रथम करुपं करोति १ संलिख्य वा प्रथमं करूपं कृत्वा तं नापिवति २ द्वितीयं करूपं पात्रकेऽप्रक्षिप्य विहिर्निगेच्छति ३ एतेषु त्रिप्वपि स्थानेषु मासलघु । तथा त्रीणि मासिकानि त्रीणि पञ्चकानि च मवन्ति यत्र करूपं करोति । तद्यथा—न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति १ न 15 प्रस्युपेक्षते प्रमार्जयति २ प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति ३ एतेषु त्रिषु भद्रेषु प्रत्येकं तपःकालविदो-पितं मासलघु । चतुर्थभिते प्रस्युपेक्षते प्रमार्जयति च, नवरं दु प्रत्युपेक्षितं कुर्पार्जितं करोति १ दुप्प्रस्युपेक्षितं सुप्रमार्जितं र नुप्रत्युपेक्षितं दुप्प्रमार्जितं करोति ३ एतेषु त्रिषु तपःकालविद्योपितानि पञ्च रात्रिन्दिवानि । सुप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितमिति चतुर्थो भन्नः शुद्ध इति ॥१०४०॥

गतं कल्पकरणद्वारम् । अथ ''गच्छसङ्ग् अ कप्पे अविरुभरिए अ ऊसिचे'' (गा० 20 १६५८) चि द्वारमभिधित्युः प्रथमतः सम्बन्धमाह—

> भुत्ते भुंजंतिम्म य, जम्हा नियमा द्वस्स उवओगो । समहियतरो पयत्तो, कायच्यो पाणए तम्हा ॥ १७४८ ॥

'भुक्ते' भोजनानन्तरं पानार्थं सज्ञाभूमिगमनार्थं च भुज्ञानाना च उत्तृहरुगरहाणार्थं यन्नादृ नियमादृ 'द्रवस्य' पानकस्योपयोगो भवति 'तसादृ' भक्तप्रहणप्रयनात् समिधकतरः प्रयतः 25 पानकप्रहणे कर्त्तव्य इति, अतस्तद्वहणविधिरुच्यते ॥ १७४८ ॥

इह शतिकेषु सहतेषु वा गच्छेषु प्रमृतेन पानकेन कार्य भवति, तच कन्यनीयमेव प्रही-तव्यम्, अतस्तद्विधिप्रतिबद्धद्वारसङ्घारिकामिमा गाथानाह—

पाणगजाइणियाए, आहाकम्मस्स होइ उप्पत्ती । पृती य मीसजाए, कडे य भरिए य ऊसिन ॥ १७४९ ॥

१ 'ते तद्षि संस्प्रम्। एवं सर्वमण्युच्छिष्टमेच, जतः कथं यतयः शुर्चयुः? इति। यत भा॰॥

पानकस्य याच्ञायामाधाकर्मण उत्पत्तिर्मवति सा वक्तव्यौ । ततः "पूइ" ति पृतिका "मीस" ति स्वगृह्यतिमिश्रा स्वगृह्पापण्डिमिश्रा स्वगृह्यावद्धिकिमिश्रा च "कडे य" ति आधाकृता क्रीतकृता आत्मार्थकृता च अम्छिनी वक्तव्या । "मिरिए य" ति भरणं मिरितमिष्ठिनीनामिभवात-व्यम् । "असित्ति" ति उत्सेचनमुत्सिकं तद् वक्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः ॥ १७४९ ॥ अथ विस्तरार्थमाह—

अन्नन द्वोभासण, संदंसा पुन नेइ घरसामी । कछं ठवेहि अनं, महछ सोनीरिणि गेहे ॥ १७५० ॥

कोऽपि मद्रको गृहपतिरन्यान्यान् सङ्घाटकान् द्रयस्यावमापणं कुर्वाणान् दृष्ट्वा तेषां च मध्ये केपाञ्चित् सङ्घाटकाना 'सन्देशं' सुरुक्तलनं—'गृहीतमग्रेतने सङ्घाटकः पानकन्, नास्तीदानीं 10 मवद्योग्यम्' इति कियमाणं निरीक्त्य "पुण्णे''ति पुण्वार्थं गृहस्वामिनीं त्रवीति—धर्मप्रिये! मा कञ्चनापि साद्यं नद्रमं निविमिव गृहाङ्गणमायातं प्रतिपेषयेः, कि मवत्या टानधर्मकथायामयं श्लोको नाकाणित ², यथा—

दातुरुत्रतिचत्त्व, गुणयुक्तस्य चार्थिनः । दुर्रुमः खल्ल संयोग , युत्रीज-क्षेत्रयोरित ॥

15 ततः सा तृयात्—नास्त्येतावतां नाघृना योग्यं काञ्जिकत् । ततोऽसौ गृहपतिर्तृयात्— करुये स्थापयान्यां महतीं 'सौबीरिणीम्' अन्दिनीं गेह येन सर्वेपामिप योग्यं पानकं पूर्यते ॥ १७५० ॥ एतचाकण्यं वक्तव्यम्—

मा काहिसि पडिसिङो, जड़ वृया कुणस दाणमनेसि । ने बुद्दिहिनवजी, न यानि निचं अहिवडंति ॥ १७५१ ॥

20 न कल्पते एवं निर्धायमानं प्रहीतुनतो मा कापी. । यद्येवं प्रतिपिद्धः स गृह्त्वामी बृयात्— 'प्रिये ! कुर्यास्त्वं तावदपरां सावीरिणाम्, यद्यप न प्रहीप्यति ततोऽन्येषां साधूनां पानकदानं करिप्यते' ततो वक्तव्यम्—तेऽपि साधव 'टिह्प्टिविवर्जिनः' साथिमिकमुद्दिस्य कृतं वर्जयितुं शीछं येषां ते तथा, नापि च नित्य पानकार्थमिमपतिन्त, अनियतिमक्षारनशीलस्वादेषाम् ॥ १७५१ ॥ इत्यमुक्ते यद्यसा गृह्त्वामी बृयात्—

अम्ह नि होहिइ कर्ज, घिच्छंति वह य अन्नपासंदा। पत्तयं पिंडसेहो, साहारे होइ जयणा उ॥ १७५२॥

असाक्रमिप मिनिष्यित कार्य काञ्जिकेन, प्रहीप्यन्ति च नहवोऽन्येऽपि युष्मद्यतिरिक्ताः पाप-ण्डिन इति । तत्र साघारणे यतना कर्त्तच्या, यथा—असाकं तानन्न करूपते । "पत्तेयं पिड-सेहो" ति अय गृहपतिर्भणति—अन्येऽपि निर्यन्थाः पानकार्थमायास्यन्ति तेभ्यो दास्यते ।

१ °व्या इति । ततः पृतिकं मिश्रतातं 'कृतं च' श्राधाकृत-क्रीतकृता-ऽऽत्मार्थकृतमेद्-मित्रं वक्तव्यम् । "मिरि' भाष्ण २ च कांश्चित् "संदेसं चि सन्देशो विसर्तनं मुस्कल-नमिति पर्यायवचनत्वाद् 'गृहीं भाष्ण ३ °ति विसर्वमानान् निरीं भाष्ण ४ °पयार्थ-सुकृतोपार्जननिमित्तं गृह् भाष्ण

इत्यं प्रत्येकं निर्मन्थानेवाश्रित्याभिषीयमाने प्रतिपेधः कार्यः 'न कल्यते साधृतामित्यं विषीयमान् नम्' ॥ १७५२ ॥ एव प्रतिपिद्धेऽपि कोऽपि सप्त सोवीरिणीः स्वापयेत्, ताध्येताः—

आहाकम्मिय सघर रपासंडमीसए ३ जाव ४ कीय ५ पृई ६ अत्तक डे७ । एके किम्म य सत्त उ, कए य काराविए चेव ॥ १७५३॥

गप्त गाँची-रिप्यः तः रेरवाध

'आधाकर्मिका' साध्नामेवार्थाय कारिता १ 'स्वगृह्यतिमिश्रा' गृहस्य नाधृनां चार्याय ६ निर्मापिता २ 'स्वगृह्पापण्डमिश्रा' गृहस्य पापण्डिनां चार्याय कारिता ३ 'यावद्धिकमिश्रा तु' यावन्तः केचनागारिणः पापण्डिनश्चागमिप्यन्ति तान् स्वगृहं चोह्दिय कृता ४ 'कीतकृता' साध्वर्थ मृल्येन गृहीता ५ 'पृतिकर्मिका' आधाकर्मिकपुधादिना प्रितच्छिटा ६ 'आत्मार्थ-कृता' स्वगृहार्थमेव स्थापिता ७ । एतासां सप्तानां सोवीरिणीनामेककस्या सप्त सप्त भरणानि भवन्ति । सप्त च सप्तिभन्ताडिता एकोनपञ्चायद् भवति । एपा च प्रत्येक कृते कारापिते च 10 सम्भवति । ततो द्वाभ्यां गुण्यते जाता मेदानामष्टानवितरिति ॥ १७५३ ॥

अथ सप्त भरणानि दर्शयति-

कम्म घरे पासंडे, जावंतिय कीय-पृइ-अत्तकडे । भरणं सत्तविकप्पं, एकेकीए उ रसिणीए ॥ १७५४ ॥

आधाकर्मिकं १ खगृह्यतिमिश्रं २ खगृह्पापण्डिमिश्रं २ यावदर्थिकमिश्रं ४ क्रीतकृतं ५ 15 पृतिकिम्मिकम् ६ आत्गार्थकृतं चेति ७ 'सप्तविकल्प' सप्तप्रकारं भरणमेकेकस्यां 'रसिन्यां' सौवीरिण्यां भवति ॥ १७५४ ॥ अथ कि सप्तेवाम्लिन्यो भवन्ति नाधिकाः ² इत्युच्यते—

सत्त ति नवरि नेम्मं, उग्गमदोसा हवंति अने वि । संजोगा कायव्वा, सत्तिहि भरणेहि रसिणीणं ॥ १७५५ ॥

सप्तिति यदुक्त तद् 'नवरं' केवलं ''नेम्म'' चिद्रम्—उपलक्षण द्रष्टव्यम्, तेन 'उद्गमडोपाः' 20 अहिकावयः 'अन्येऽपि' यथासम्भवगत्र गन्तव्याः येः प्रक्षिप्तम्यधिका अप्यिग्लन्यो भवन्ति । अत्र च 'सयोगाः' भक्तकाः कर्चव्याः सप्तिभिर्गोः सप्तानामेव रिस्नीनाम् । तत्राथा—जाधा-किर्मिका सौवीरिणी भरणमपि तस्यामाधाकर्मिकम् १ आधाकर्मिका मौवीरिणी भरणं स्वगृत्यिति-मिश्रम् २ एवं मौवीरिणी सेव भरण तु पापण्टिमिश्र ३ यावद्धिकामिश्र १ कीतकृतं ५ पृति-किर्मिकम् ६ आत्मार्थकृतम् ७ । एव स्वगृह्यितिमिश्रादिप्यपि मौवीरिणीपु प्रत्येकं नप्त सप्त १० भरणानि योजनीयानि ॥ १०५५ ॥ तेत्रश्च कियन्तो भक्तका उचिष्टन्तं ' द्वाह्—

जावडया रसिणीओ, तावडया चेव होंति भरणा वि । अउणापन्नं भेया, सयग्गमो यावि णयव्वा ॥ १७५६ ॥

'यावत्यः' यावत्सात्ताका रसिन्यः 'तावन्त्यव' तावन्तत्ताकान्येव भवन्ति भरणानि । नतथ यदा सप्ताम्लिन्यः सप्त च भरणानि गृणन्ते तदा एकोनपद्मायद् 'भेदाः' भत्तका भवन्ति । 50 अथान्यानप्युद्धमदोषान् प्रक्षिप्य बहुतराः गैदिंगिण्यो बहुतगणि च भरणानि विवश्यन्ते ततः

१ अप्र जिद्देश्यक्षिकता "रात्मित —जहा अविशिक्षे मणाह रि परेण अस्य शिवं भरतं वि न ! इत्युच्चते" इत्यवतीर्व "सम्ले पर पार्चे ३०" इति गाया १०६४ व्यार्गाताऽन्ति ॥

'बराज्यः' चतुपद्धगरिज्ञिष्टा अते नेत्र मन्द्रव्याः ॥ १७५६ ॥ अयावाक्रमिकसर्ज मावयी—

> मृत्रमत्वं तु त्रीया, नहिं छम्मासा न ऋषण् जाव । तिसि दिवा केहियण्, चाउल्डद्ग् नहाउऽयामे ॥ १७५७ ॥

५ 'मृत्यस्यं नाम' मञ्जूकाणमन्त्रियां गतिकार्याम क्रिक्त मंग्रिशे यत् महिष्याने तकान महिल्यामे । अवत्रक यद्याय मञ्जूकामि क्रिक्त द्वा मकासन् याका अवसने पत्तत्तु अवसे । अय तका रिक्तिणः सकारात् तवाकाक्षरिकाम्पर्वितं तत्तत्तिकामित्रा (चाउतोन दर्ग क्रिक्ता द्वा (अप्यामम् अवस्या यत् तक हिष्याने तत् त्रीत् विनात् न अवसने प्रतिकर्मकात्, तत कर्तुं अवसने ॥ १७५० ॥ अय कर्ग्युम्याद्वित्रमणान्यतिविद्या हम्मान्यात् विद्यान । १०५० ॥ अय कर्ग्युम्याद्वित्रमणान्यतिविद्या हम्मान्यात् विद्यान ।

एमेव सवर-पामंडमीन जाव कीय-पृद्-अनकंड । क्रय कीयकंड ठिवए, नहेव वन्याहर्ण नहेण ॥ १७५८ ॥

'एतमेत्र' आयार्कानेकसरादत् सगृहतिकं गारहतिकं याद्रवर्धिक्षित्रं कीत्रहतं सृतिकर्त आसार्वहतं च मरणं मनाव्यतः । दक्षविदिश्यमय्यतिदेशमाह—''क्य'' ह्यादि पक्षार्वम् । 'हते' संबर्शयं नियादिते 'कीत्रहते' सुर्व्यत गृहीते 'स्यानित' मास्त्रये निक्षिते 'तर्येद' पान-15कृत्व क्वादीनां यहणं मार्गीयम् । एत्ड पक्षार्वहत्त्तम्त्र मार्गियम् ॥ १७५८ ॥

पानकमुत्सिक्तं तत्र रुघुमासः । "कम्ममजीवे वि मुणिभरणे" ति यदजीवमपि-प्राशुकमपि मुनीनां हेतोर्भरणं कियते तद्प्याधाकर्म मन्तव्यं परं विशोधिकोटिः ॥ १७५९ ॥ अथाधाकर्मादिमदेप्वारोपणामाह—

तिनेव य चउगुरुगा, दो लहुगा गुरुग अंतिमो मुद्धो । एमेव य भरणे वी, एकेकीए उ रसिणीए ॥ १७६० ॥

अधाकमणि लगृहमिश्रे पापण्डमिश्रे च प्रत्येकं चतुर्गुरुकमिति त्रयश्चतुर्गुरवो गवन्ति । 'द्वयोः' यावद्धिक-कीतकृतयोश्चतुर्रुघवः । मक्तपानपृतिके गुरुमासः । उपकरणपृतिके रुषु-माम इत्यनुक्तमि दृश्यम् । 'अन्तिमः' आत्मार्थकृतरुक्षणो भेदः गुद्धः । एवमेकक्त्यां रिस-न्यामुक्तम् । भरणेऽप्येककिसिन्नेवमेव मन्तव्यम् ॥ १७६० ॥ अधासामेवान्तिनीनां मध्ये का विशोधिकोटिः १ का वा अविशोधिकोटिः १ इत्यादिचिन्तां चिकीपुराह—

संजयकडे य देसे, अप्फासुग फासुगे य भरिए थ । अत्तकडे वि य ठविए, लहुगो आणाइणो चेव ॥ १७६१॥

संयतानेव केवलानाश्रित्य कृतं 'सयतकृतम्' आधाकमं। "देसि" ति 'देशतः' एकदेशेन सयतादीनाश्रित्य कृतं देशकृतम्, सगृहमिश्रादिकमित्यर्थः। अप्राशुकेन प्राशुकेन वा संयतार्थं यद् मरणं तद्प्याधाकमं। "अत्तकडे वि य ठविए" ति आत्मार्थकृतायामिक्त्यां वदात्मार्थं। भरणं तदिप यदि श्रमणार्थमुत्तिच्य विहः स्थापयित तदा स्थापनादोप इति कृत्वा न प्रहीत-च्यम्। यदि गृहाति तदा रुषुको मास आज्ञादयश्च दोपाः। एपा निर्युक्तिगाथा॥ १०६१॥ अथैनामेव व्याख्यानयति—

देसकडा मज्झपढ़ा, आढ़िपढ़ं अंतिमं च पत्तेयं । उग्गमकोडी व भवे, विसोहिकोडी व जो देसो ॥ १७६२ ॥

यानि 'मध्यपदानि' सगृहमिश्र-पापण्डमिश्र-यावद्धिकमिश्र-क्रीतकृत-पृतिकमंग्य्यणानि तानि देशकृतान्युच्यन्ते, देशतः सगृहार्थं देशतस्तु साध्वाद्ययमपीपा कियमाणत्वात् । यत् पुनः 'आदिपदम्' आधाकर्म 'अन्तिमपदं च' आत्मार्थकृतं तद् द्वितयमपि 'प्रत्येकं' एकपञ्चिप-यम्, केवल्मेव साधुपक्षं सगृहपक्षं चोद्दिश्य प्रमृतत्वात् । अत्र च यः 'देशः' देशकृतः त्वगृ-हमिश्रादिको दोपः स उद्गमकोटिवा भवेत्, अविशोधिकोटिरित्यर्थः, विशोधिकोटिवा । तत्र १४ सगृहमिश्रं पापण्डमिश्रं च नियमादविशोधिकोटी, पृतिकर्म यावद्धिकमिश्रं क्रीतकृतं चेति

एवं चेव ॥ इज्ञणि एतेमि अतिर्हाणं का समामकोदी ! का विमोधिरोदी ? एतं भगाति—मजतकाँ न देने ॰ गागा ॥" इति चूर्णो विदेशपचूर्णो च ।

भा॰ पुरुषे चूर्णो न "तिषेव न चडगुरगा॰" इत्येषा १७६० तमी गामा "ममने पर पार्टरे॰" १७६४ गामानन्तरे व्याख्याताऽन्ति । रागता पत्र ५२० टिप्पणी १ । जिडोपचूर्णी पुनरितं गामा "जं जीवजुर्ये भरणे॰" १७६३ गामानन्तरं व्याख्याता रहाते ॥

१ एतश्चिपाठान्तरे रावतो पत्र ५२० टिप्पर्या १ मणे ॥ २ एषा पुरातना गाधा भा॰ गं॰ १ "सजनवट य॰ गता पुरातना" इति विशेषचूर्णिस्तः॥

त्रीणि विद्योविकोटयः, आवाक्तरिकं युनेन्क्रान्ननाविद्योधिकोटिः, आत्मार्थकृतं तु निग्वयः संवति ॥ १७६२ ॥

जं जीवज्ञयं भरणं, नदफासुं फासुयं तु नदमावा । नं पि य हु होह कम्मं, न केवलं जीववाएण ॥ १७६३ ॥

इत् श्रीवयुनं गित्र तर्दिर्वा जमित्र मरणं नद्यागुरुम् । 'नद्रमवान्' गित्र तिर्द्वा नाम-बाद् यद् भरणं नन प्रागुरुम् । नद्या च निर्वावं भरणं 'हु' निश्चिनं संयत्वार्थं कियमाणमावा-कर्म भवति, न केवलं 'जीवणनेन' गित्र कारिगी जद्यानेन नियत्विमिति ॥ १७६३ ॥ अथोतिमक्तप्रदं भावपति—

र्शे पुरु-पुरुमार्थः सम्रोत घर पासंड, जार्वनिय अन्तर्णा य मृन्णं । छड्डो नन्यि विक्रपो, उन्मिचणमा जयहाए ॥ १७६४ ॥

काजिकस मैथिरिजीनो यह निकाहनं नद् उन्मिक्त । तच पड्या—अमगार्थ माव्-नामयीयेन्यकः १ न्यगृह्यनिर्मिश्रं २ पार्याग्डमिश्रं ३ यावद्धिकमिश्रं १ आत्मार्थक्रनम् ५ । एनान पड्य मेटान मुक्तवा अपरः पष्टो विक्रण्ये नानि यदर्थमुन्मेचनं सवेन् । अत्र चान्मार्थे यद् गृहिभिक्तिमकं तदेव श्रद्यां क्रयांने न देविहामीति ॥ १७६४ ॥

15 उक्त आहारविषयो विधिः । अधीर्याविषयं तमेवाह—

नन पाद्यं नियं पि य, बन्यं एकेक्कपस्य अद्वाए । पार्टाव्यम्नं निक्वेरियं च जं जन्य वा कमद् ॥ १७६५ ॥

वस्रमेनेक्स्याश्रीय तर्न णायनं विततं च वक्तव्यम् । त्रयशा—संयत्तार्थं तर्न नंयतार्थं पायितं मंयतार्थंमय च विततं १ गंयतार्थं ततं गंयतार्थं णायतमात्मार्थं विततं १ गंयतार्थं ततमात्मार्थं थापायतं गंयतार्थं विततं १ गंयतार्थं ततमात्मार्थं थापातं गंयतार्थं विततं १ गंयतार्थं ततमात्मार्थं पायतं गंयतार्थं विततं १ गंयतार्थं ततमात्मार्थं पायतं चलार्गं चलार्गं मक्ता लग्यतं, जाता अर्थं। मक्ताः । अत्र चाप्टमा मक्तः गृद्धः, त्रयापापप्यान्तार्थं कृत्वात् । एवं चर्गद्दानश्च-पारण्डितश्च-यावत्रार्थक्तिष्ठेष्णितं द्रष्टव्यम् , सर्वत्रापि चष्टमा मक्तः गृद्धः, गेप्रास्तु गर्वेऽप्यशुद्धा इति । पायनश्चित्रं तिर्कार्यं चैवनेय वक्तव्यम् । तण्या—मथ्यत्रार्थमुद्धिकं नंयतार्थं चोर्काणं १ गंयतार्थमुद्धिकामात्मार्थमुक्तिणं १ आत्मार्थमुद्धिकं गंयतार्थमुक्तिणं १ आत्मार्थमुद्धिकं गंयतार्थमुक्तिणं १ आत्मार्थमुद्धकम् आत्मार्थमेव चोन्कार्यम् १ । अत्र चनुर्थे। मक्तः

१ एतक्ष्मानरं था॰ एतांक्र—अथ "लेण अमुद्धा रक्षिणी भरणं छुमयं य तत्य जाइऽस्त यण" (गा० १४५१) जि यद्तिदेशेन प्रायक्षित्रमुक्तं नदेव व्यक्तीक्रयेसाह—रूज्यतः विगय "तिषेत्र व व्यव्याणा॰" ईत १००० गाण नद्दत्तिव यनते । ग्रीनवेत्रम्—

त्रयश्चतुर्गुरतः विषु श्राद्यम्यानेषु मन्तव्याः, नत्रया—श्रायाकमेति स्वगृहसिश्च पापः एडमिश्च त्र । 'इयोः' यावद्धित्र-कीनकृत्योश्चतुर्वव्यः । सक्तपानपृतिकमेति गुदको सासः । उपकरणपृतिकमेति तु रुपुको सास इन्यमुक्तमिष इष्ट्यस् । 'श्रन्तिसः' श्रारमाः श्रेष्ठनन्त्रश्यो सदः 'शुद्धः' निरवतः । एतदः नौर्वारिणीरिश्चित्रनौक्तम् । एत्रमेव च एक-क्ष्मां नितन्त्रां यानि सत्र सत्र श्रायक्षिक्तं सिक्तिस्थां नितन्त्रां यानि सत्र सत्र श्रायक्षिक्तं सिक्तिस्थां नित्रप्रेततेत् प्रायक्षिक्तं सन्त-व्यम् ॥ उक्त श्राद्दारिपयो त्रिधः । श्रयोपश्चित्रपर्यं नसेत्राह—तत्र पार्यं । गाया ॥

शुद्धः, शेषास्त्रयोऽप्यशुद्धाः । 'यद् वा' क्रीनकृत-स्वापितादिकं यत्र वक्ष पात्रे वा 'क्रमते' अवतरित तत् तत्र सम्यगुपयुज्य योजनीयम् । अत्र च तननं वितननं चाविशोधिकोटिः पायन विशोधिकोटिरित्याचार्यस्य मैतम् । परस्तु त्रवीति—पायनमविशोधिकोटिः, कन्टादिर्जावो-पवातनिप्पत्रत्नात्; तनन वितननं च विशोधिकोटिः, जीवोपघातस्याद्दयमानत्वादिति । अत्र स्रिगह—नासाकं जीवोपधातेनेवाधाकमं किन्तु श्रमणार्थं वस्तादेर्यत् पर्यायान्तर्नयनं तदप्या- । धाकमं मन्तव्यम् ॥ १७६५ ॥ अपि च—

अत्तिहियतंत्र्हिं, समणद्द ततो अ पाइय चुतो अ । किं सो न होइ कम्मं, फाय्एण विपक्तिओ जो उ ॥ १७६६ ॥ जह पञ्जणं तु कम्मं, इतरमकम्मं स कप्पऊ घोओ । अह घोओ वि न कप्पद्द, तणणं विणणं च तो कम्मं ॥ १७६७ ॥

अत्मार्थिताः—सार्थ निष्पादिता ये तन्तवर्गनः श्रमणार्थ यः पटः ततः पायितो व्यतश्च सः 'प्राशुकेनापि' सार्थमचित्तीकृतेन खलिकाद्रव्यसम्भारेण पायितः सन् किमाधाकर्म न भवति ? त्वदुक्तनीत्या भवतीति भावः ॥ १७६६ ॥

ततो यदि जीवोपयातिनिष्पन्नन्वात् पायनमाधाकर्म 'इतरत्' तननं वितनन न 'अकर्म' न आधाकर्मेति तिर्हि स पटो धातः सन् कल्पतां मवतः, अपनीतपायिनकालेपन्त्रान । अथ 15 व्रवीधाः 'धातोऽष्यतो न कल्पते' ततलननं वितननं चार्थादाधाकर्म समृत्तिमिति सिद्ध नः समीहितम् ॥ १७६७॥ गतं ''गच्छमह्ण् अ कप्पं अविलगरिण् अ ङिमित्ते'' (गा० १६५८) इति द्वारम् । अथ ''परिहरणा अणुजाणे'' (गा० १६५९) ति द्वारं व्याच्यानयित—

चोअग जिणकालम्म, किह परिहरणा जहेव अणुजाण । अइगमणम्मि य पुच्छा, निकारण कारणे लहुगा ॥ १७६८॥

नोदकः प्रश्नयति—यदि शतिकेष्यपि गच्छेपु साम्प्रतिमत्थमाधाकर्मादयो दोपा जायन्ते तिहि जिनः—तीर्थकरस्तस्य काले माहमेषु गच्छेषु माध्यः कथमाधाकर्मादीनां परिहरणं कृत-वन्तः ? इति । स्रिराह्—यंथव 'अनुयाने' रथयात्रायां साम्प्रतगिप परिहर्गन्त तथा पूर्वगिप परिहत्वन्तः । "अतिगमणिम य पुच्छ" ि शिष्य पुच्छिति—पिमनुयाने 'अतिगमनं' प्रवेशनं कर्त्तव्यम् ? उन न ? इति । आचार्यः प्राह्—"निकारण कारणे लहुग" ि निष्कारणे १५ यदि गच्छिति तदा चत्यारो लघयः, कारणे यदि न गच्छित तदाऽपि चत्वारो लघयः ॥१७६८॥

अंथेतदेव भावयति-

१ "जिनामं जगमवोद्या, विद्यारित विमोदियोगी" राजी चूर्णो विद्यापन्यूणी न विद्या

२ यदि संयतार्थं जीवोषघातनिष्यत्रत्वात् पायनम्बिशोधिकौटिरिष्यते नहिं झासा-धिताः-स्वार्थं निष्पादिता चे नन्त्वर्तः श्रमणार्थं यः पटः नतः पायितां व्यृतद्यः, पर्धं पायितः १ प्रत्याः—'प्राद्यवेन' निर्जीवेन गिल्याष्ट्रव्यनम्बर्धेण पायितः, स्व देव आधाकमें न भवति १ भवन्वेवेति भावः ॥ १७१९ ॥ नवा यदि पायनमेष गुदान्तर्भेषपात्यर्थं गर्व आधाकमें 'रत्रत्'

ण्हाणा-ऽणुजाणमाइसु, जर्तति जह संपर्य समोसरिया । सतसो सहस्ससो त्रा, तह जिणकाले विसोहिंसु ॥ १७६९ ॥

'न्नानं' इह वर्षान्तः प्रतिनियतदिवसमात्री भगवत्प्रतिमायाः स्नात्रपत्रिविशोषः, अनुयानं—रथ-यात्रां, आदिश्वन्द्रात्ं कुल-गण-सङ्घकार्यपरिग्रहः, तेषु स्नाना-ऽनुयानादिषु सङ्घमीलकेषु साम्प्रतमपि क्रंशत्याः' शतसङ्गाः 'सहव्याः' सहव्यसङ्गाः साथवः समवद्यताः सन्तो यथा 'यतन्ते' आधा-कर्मादिरोषशोधनायां प्रयत्नं कुत्रते तथा जिनकालेऽपि ते भगवन्तः 'शोधितवन्तः' एपणा-शृद्धिं कृतवन्त इत्यर्थः ॥ १७६९ ॥ भृयोऽपि परः प्राह—ननु च 'सर इव सागरः, खद्योत इव प्रद्योतनः, मृग इव मृगेन्द्रः' इत्यादिवदेतंयुगीनसमवसरणसत्क्रमेषणाशुद्ध्यपमानं तीर्थकर-कालभाविनीमेषणाशुद्धिमुपमानुमिषीयमानं हीनत्वात्र समीर्चीनम्, अँत आह—

पचक्खेण परोक्खं, साहिज्जइ नेव एस हीणुवमा । जं पुरिसज्जि तहए, वोच्छिन्नो सिद्धिमग्गो उ ॥ १७७० ॥

र्ट्ट 'प्रत्यक्षेण' उपमानवस्तुना 'परोक्षम्' उपमेयं वस्तु साक्षादनुपरुभ्यमानमि साध्यते इति शास्त्र रुपेक 'व स्थितिः । तथाहि— खुर-ककुद-रुप्त्र रू-सास्त्राचवयवोपरुक्षितमध्यक्षवीक्षितं गवादि वस्तु दृष्टान्ततयोपदर्श्य गवयादिकं परोक्षमि प्रतीतिपथमारोप्यते । एवमत्रापि प्रत्यक्ष15 वीक्ष्यमाणेन साम्प्रतकारीनसमवसरणसत्केनेपणाशोधनेन परोक्षमि तीर्थकरकारुमाविसमवसरणसाधृनामेपणाशोधनं साध्यते ईति "नेव एस हीणुवम" ति न चेयं सर इव सागर इत्यादिवद् हीनोपमा, तीर्थकरकारुऽपि हि सहस्रसत्त्र्या एव साधव एकत्र क्षेत्रे समवसरिनत स्म,
ग्रावन्तश्च ते साम्प्रतमिप स्नाना-ऽनुयानादौ पर्वणि समवसरन्त उपरुभ्यन्ते शोधयन्तश्चिषणाम्,
ततोऽनुमीयते तीर्थकरकारुऽप्येवमेव दोषान् शोधितवन्त इति । अपि च श्रीमन्महावीर-

^{? °}त्रा, तदादिपु कार्येषु साम्प्रत° त॰ हे॰ कां॰॥ २ °त् कल्याणकप्रभृतिपर्वपरिष्रहः ना॰॥ ३ °पपरिहरणे प्र° ना॰॥ ४ आह हीनत्वाद्युक्तेयमुपमा, तथाहि—यथा 'चन्द्र-मुखी दारिकेयम्' इत्यादो चन्द्रादिकमुपमानं कलद्वादिदृपिततया हीनत्वाद्युल्यमानम-वगम्यते, प्रवमदंयु॰ ना॰॥ ५ अत्रोच्यते ना॰॥

ध्यकं-चक्षुपा वीक्ष्यमाणं यद् वस्तु तेन 'परोक्षं' साक्षाद्रजुपलभ्यमानमपि 'साध्यते' समर्थ्यते प्रतीतिपथमुपनीयते इति यावत् । तथाहि—यथा खुर-ककुद-लाकृलाध्यययोपलक्षितं प्रत्यक्षद्दष्टं गवादि वस्तु दृष्टान्ततयोपदर्श्यं गवयादिकं परो-क्षमपि साध्यते। एवमत्रापि प्रत्यक्षवीक्ष्यमाणेन साम्प्रतकालीनसमयसरणसक्तेनेपणा-शोधनेन परोक्षमपि तीर्थकरकालमाविसमयसरणसाधृनामेपणाशोधनं प्रतीतिपथमा-रोप्यते इति नेवयं हीनोपमा, सद्दस्तक्ष्यानां साधृनामेदंयुगीनेऽपि समवसरणे सम्भवात्। श्रापे च श्रीमन्मद्वावीरस्त्रामी वर्त्तमानतीर्थस्य प्रवर्त्तकः प्रथमं पुरुपयुगमभवत्, ततस्तदन्तेवासी श्रीस्थमंस्त्रामी द्वितीयम्, तिष्ठिनेयः श्रीजम्बूसामी द्वितीयम्, प्रतानि त्रीणि पुरुपयुगानि यावदनगाराणां निर्वाणपद्वीगमनमभवत्, द्वतीये च पुरुपयुगे निर्वृते सित सिहिमागां व्यवच्छितः, तत ऊर्वः नाजुवृत्त इति भावः। इह च सिद्धिमागः स्रप्रकश्रीण-केवलोत्पत्तिप्रभृतिकः परिगृह्यते, न पुनर्वाने ना०॥ ७ च व्यवस्तितः, तनोऽत्रापि प्रत्यक्ष त० दे० वा०॥ ८ इति नेवयं हीनोपमा। अपि च श्रीमन्मद्वा° वा०॥

स्वामी १ श्रीमुधर्मस्वामी २ जम्बृस्वामी ३ चेति त्रीणि पुरपयुगानि यावदनगानणां निर्वाणपदवीगमनमभवत् । तृतीये च पुरुपयुगे निर्वृते सित 'सिद्धिमार्ग ' क्षपक्रश्रेणि-केदलो- त्पत्त्यादिरूपो व्यवच्छित्रः. न पुनर्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपः शान्त्रपरिभाषितः, तत्येदानीमप्यनुव- र्जमानत्वात् । ततश्च यदि तेपां साध्नामुद्रमादिद्योपशोधनं नाभविष्यत् ततन्ते सिद्धिमार्गमिष नासादिषप्यन् । अतो निश्चीयते—तेऽपि भगवन्त द्रथमेविषणाशुद्धि कृतवन्त द्रित ॥१७७०॥ ऽ

अथानुयानविषयो विधिरुच्यते---

आणाइणो य दोसा, विराहणा होइ संजमा-ऽऽयाए। एवं ता वचंते, दोसा पत्ते अणेगविहा ॥ १७७१॥

धनुपान-गमने गिधिः

10

निष्कारणे अनुयान गच्छत आज्ञादयश्च दोपाः. विराधना च सयमा-Ssत्मनोर्भवति । एवं तावद् व्रजतो मार्ग दोपाः । तत्र प्राप्ताना पुनरनेकविधा दोपाः ॥ १७७१ ॥

तत्र सयमा-ऽऽत्मविराधनां भावयति-

महिमाउस्सुयभृए, रीयादी न विसोहए। तत्थ आया य काया य, न मुत्तं नेव पेहणा॥ १७७२॥

महिमा नाम-भगवत्मतिमायाः पुष्पारोपणादिपृजात्मकः सातिगय उत्सवस्तस्या दर्शनार्धमु-स्तुकभृत ईर्यादिसमितीनं विशोधयति, आदिशब्दादेपणादिपरिम्रहः । 'तत्र न' ईर्यादीनामशोधने १३ आत्मा च कायाश्च विराध्यन्ते । आत्मविराधना कण्टक-स्याण्याद्युपघातेन, सयमविराधना पण्गां कायानामुपमदीदिना । तथा त्वरमाणत्वादेव न सृत्रं गुणयति, उपन्धणत्वादर्थं च नानुप्रेधते, नेव प्रतिलेखनां वख-पात्रादेः करोति, अकालेऽविधिना वा करोति ॥ १०७२ ॥ एयमेते मार्गे गच्छतां दोपा अभिहिताः । अथ तत्र प्राप्ताना ये दोपान्नानभिधित्युद्धारगाथामाह—

चेइय आहाकम्मं, उग्गमदोसा य सेह इत्थीओ । नाडग संफामण तंतु खुट्ट निद्धम्मकङ्मा य ॥ १७७३ ॥

20

चेत्यानां खन्दपं प्रथमतो वक्तव्यम् , तत आधार्र्म, तन उद्दमदोपाः, ततः शैक्षाणा पार्ध-स्थेषु गमनम् , ततः सीदर्शनसमुत्था दोषाः . ततो नाटकायरोकनप्रभवाः, ततः सम्पर्शनन-मुत्थाः, तदनन्तरं तन्तवः—कोलिकजारं तिद्वपया . तदनु ''गुरु'' ति पार्धम्मादिक्षुद्धप्रदर्शन-समुत्थाः, ततो निर्धर्मणां—लिक्किनां यानि कार्याणि तदुत्थिताध्य दोषा यक्तव्या उति द्वारगाथा-२२ समासार्थः ॥ १७७३ ॥ अथेनामेच विवरीषु प्रथमतश्चेत्यत्वरूपं स्यार्ग्याति—

माहम्मियाण अद्वा, चडिव्यहे लिंगओ जह इन्दंबी । मंगल-सासय-भत्तीह जं कयं तत्थ आदेसो ॥ १७७४ ॥

ने उद्यास्

चैतानि चतुर्विधानि, तद्यया—सार्धार्मकचत्यानि गक्ररचैत्यानि शाधतंत्रेत्यानि रक्तिनै-त्यानि चेति । तत्र नार्धार्मकाणामधीय यत् कृतं तत् सार्धार्मकचन्यम् । गाधनिकधात्र हिमा— sə

र्णो गृहाते, न पुन् मो॰ है॰॥ २ तदनन्तर निधेमंकार्यप्रमयाध्य दोपा मा॰॥ ३ प्रयानयति रो॰॥ ४ चित्यं चतुर्विषम्, तत्त्रधा—साधर्मिकचित्यं महत्त्र्वत्यं शाध्यतः चेत्यं भक्तिचेत्यं चेति मा॰ ॥॥

लिह्नमः प्रयचनदश्च । तंत्रह लिङ्गता गृणने, स च यथा खुदुम्बा, खुद्म्बा नाम-प्रमृतपरिचार-करोक्षपायुना रनोहरण-मृत्योतिकादिलिङ्कपानी वारचक्रप्रतिच्छन्दैः । तथा मथुरापुर्या गृहेषु कृतेषु मङ्गपनिमिनं यद् निवेद्यने तद् मङ्गलेचयन । सुग्लेकादी निव्यम्बाधि आधार्तच्यम । यत् भन्या मनुत्याः पृज्ञा-चन्द्रनायार्थं कृतं कारिनीमत्यार्थः तद् मन्तिचयम् । 'तेन च' मनित-ध्यापेन 'आदेखाः' अधिकारः, अनुयानादिमहोत्मदस्य तंत्रव मन्मवादिनि । गृपा नियुक्तिगाया ॥ १७५२ ॥ अधिनामेव विभाविष्यः सायभिक्तेयम्यं नावदाह—

व्यक्तामय विभावायकुः जानानक्यय वाद्यव्यक्तम्म । वार्त्तराम्य पृत्ता, पडिमं कार्या य चेद्यदर्गम्म ।

नन्थ य थकी अहेसी, साहम्पियचेह्यं नं तु ॥ १७०५ ॥

इत् उद्यवस्येक् योगासङ्क्षेत्र "याग्नार्ते अस्यतेण वाग्ने" (नि० गा० १६०६ पत्र ७०९) १९ इत्यत्र प्रदेशे प्रतिर्गाद्वर्णानो यो याग्नाक इति नाम्ना महिनः, तस्य पुत्रः स्वरिति मिनिः भगपूरित्तया चैत्यगृदं व्यर्णया तत्र ग्वोहरण-मुख्यक्तिः अतिमहस्यागिति रितु प्रतिमाम-स्वापयत्, तत्र च 'स्वर्ण' सत्रशासा तेन प्रतिना आर्तान, तदेवत सापरिक्रेंच्यम्। अस्य चै नाप्रसिक्रेंच्यम्॥ वृत्तमस्याकं वृत्तमस्याकं व्यपने ॥ १७०५ ॥ अस्य मङ्ग्वंचयमहः—

अग्हेतपहडूाए, महुगनयरीएँ मंगलाई तु । गेहेसु चर्चग्सु य, छचउईनामअद्वेसु ॥ १७७६ ॥

मथुरानरायों गृहे इते महर्णनिमनमुनन्द्रेषु प्रयममहत्प्रतिमाः यतिष्ठाप्यन्ते, अन्यथा तद् गृहं पर्नात, तानि सङ्ग्वेन्यानि । तानि च तन्यां नगयां नोहेषु चन्वरेषु च मवन्ति । न केवछं तन्यानेव किन्तु तन्युरीयनिवद्धा ये पण्णवित्यक्षणका यामाद्धांनेष्यि गयन्ति । इहेन्न्रा-पथानां प्राप्त्य प्रापार्द्ध इति गंजा । आह च चूर्णिकृत्—

20 गामदेसु नि देसमिति, छन्नडईगामेसु नि मित्रये होह, उत्तराबहाणं एसा भणिह नि ॥ १७७६॥ ग्राथनंबस्य-मिन्चयानि दर्शयनि—

निह्याई मुख्लाए, मिचक्याई नु मग्हमाईहिं।

निम्मा-र्गनम्मकयाई, जिंहे आएमा चयमु निम्मं ॥ १७५७ ॥

ंनियानि' शाधर्वज्यानि 'युग्योके' महनरनि-व्यन्तर-व्योतिष्य-वैयानिकदेवानां मवन-१९ नगर-विमानेषु, उपण्डाग्याद् नेर्धायप-वैताह्यादिकृद-नर्नाधर-रुचकवर्णाद्यादि भवन्नीनि । तथा भन्त्या भरनादिभियोनि कारितानि अर्भन्त्रपर्यस्याद् भक्तिह्नतानि । अत्र च "जिहि" आएमां' ति येन भक्तिचयेन 'आदेशः' महन्त्र तद् हिया—निश्चाह्नतमिश्चाह्ननं च । निश्चाहनं नाम-गच्छयनिषद्धम्, अनिश्चाहनं-निह्नपर्गनम् महुसाधारणिन्ययंः । 'चययु निम्मं' नि यद् निश्चाहनं तन् 'त्यन' परिद्रः । अनिश्चाहनं तु क्यने ॥ १००० ॥

४० गर्द चेण्डारम्,। अथायाक्रमंडारनार्—

सरगढ-च्याम

याप्रविद्यः

-अपम

राज्य 15

शकाः भेत्रं योज्यः ग्रंच

१ १ दरः, तत् साधरिक्षकैत्यम् । तथा सः ॥ २ एवा पुगतना गाथा भाः हाः ॥ ६ २० ६० विनाज्यतः—त्रायीय २० ५० हाः । स बारतकतुल्यम्य विह्नसाधर्मिक-स्यार्थाय भाः ॥

50

जीवं उद्दिस्य कर्ड, कम्मं सो वि य जया उ साहम्मी। सो वि य तहए भंगे, लिंगादीणं न सेसेमु॥ १७७८॥

जीवमुहिन्य यन् पर्कायितराधनया कृतं सोऽपि च यदि जीव. 'नार्यानंक.' नमान्धमी भवति 'मोऽपि च' सार्थामंक. 'लिङ्गाटीना' 'लिङ्गनः मार्थामंको न प्रयचननः' इत्याटीना चतुर्णा भङ्गानां 'तृतीये भङ्गे' 'लिङ्गतः प्रयचनतोऽपि' इत्येवंस्क्षणे यदि वर्चते न द्रोपेषु तदेतदायाकमं अ मन्तन्त्र्यम् ॥ १७७८ ॥ अथ तीर्थकरप्रतिमार्थ यनिर्विचेतं तन् कि साधृना कन्यते न दा ! इत्याश्वद्यानिरामार्थमाह—

संबद्दमेह-पुण्का, सन्थनिमित्तं कया जर जर्रणं। न हु लब्भा पिडिसिद्धं, किं पुण पिडमहमारद्धं॥ १७७९॥

श्रासा—तीर्थकरलस्य निमित्तं यानि देवैः सर्वत्तकमेय-पुष्पाणि समवसरणम्मे। कृतानि 10 तानि यतीनां यदि प्रतिपेद्धं न रुम्यानि, तेपा नत्रावैस्यातुं यदि करूनते इति भाव . निर्हे कि पुनः 'प्रतिमार्थम्' अजीवानां प्रतिमानां देतोरारव्यम् १. तत् मुनरा न प्रतिपयमर्हतीत्यिभिप्रायः ॥ १७७९ ॥ आह यदि तीर्थकरार्थं सर्वत्तकमेष-पुष्पाणि कृतानि निर्हे तन्य भगवतन्तानि प्रतिसेवमानस्य कथं न दोषो भवति ? इति उच्यते—

तित्थयरनाम-गोयस्स रायद्वा अवि य दाणि माभव्या । धम्मं कहेद्द सत्था, पृयं वा सेवई तं तु ॥ १७८० ॥

तीर्थकरनाम-गोत्रस्य कर्मणः क्षयार्थ 'शान्ता' भगवान् धर्म कथयति, 'पृजां न' महिमां तामनन्तरोक्तां सवर्षकवातप्रभृतिकामानेवते । भगवता हि तीर्थकरनाम-गोत्रं कर्मावद्यपेटनी-यम्, विपाकोटयाविकायामवर्ताणित्वान् । तम्य च चेटनेऽयमेवापायः—यदग्नान्या धर्मदेश-नाकरणं सदेव-मनुजा-ऽयुग्लोकविर्वितायाध्य पृजाया उपजीवनम् ।

तं च कत् वेडज्जह, अगिलाए धम्मदेसणाईहि। (आवर् नि० गा० १८३-७४३) तथा—

उटए जस्म मुग-ऽमुर-नरवद्गनिवर्रहिं पृहञी लोए ।

तं तित्थयरं नामं, तम्म विवागो उ फेविलणो ॥ (वृत्कमंबि० गा० १२९) इति वचनप्रामाण्यात् । 'अपि च' इत्यभ्युचये । ''वाणि'' ति निपानो वाक्यास्त्रारे । ''गानण'' १९ ति स्रो भाव स्वभाव , यथा—''आपो इयाध्यस्त्रो वायु '' इत्यादिः नस्य भागः मामास्यं तमात् । तस्य हि भगवत स्वभावोऽय यत तथायमेक्यावियान पूजायाध्यानेपनन ॥१७८०॥

रदंगव स्पष्टतरमाह— रतीणकमाओं अरिहा, कयकियों अपि य नीयमणुयनी । पिंडसेबंती वि अञ्जो, अदोयवं होइ नृं पूर्व ॥ १७८१ ॥

क्षीणाः-महत्रमुपगताः क्यायाः-जीपादयो यस्य स क्षीणज्यायः, एदंविधोऽर्तन् ना प्रा

१ प्यतिष्टमानानां न प्रतिपेधः कर्तु शक्यते इति सायः, १० । २ इति । तथा अपि भार ॥

प्रतिसेवमानोऽपि न दोपवान् । इयमत्र भावना—यो हि रागादिमान् प्जामुपजीवेन् सात्मन्युत्कर्ष मन्यते स टोपभाग् भवति, भगवतस्तु क्षीणकपायस्य प्जामुपजीवतोऽपि नास्ति सात्मन्युत्कर्पगन्योऽपि, अतो दूरापालप्रसरा तस्य सदोपतेति । तथा ४ कृतानि—समापितानि कृत्यानि
येन सः ▷ 'कृतकृत्यः' केवलज्ञानलामान्निष्ठितार्थः । ततः कृतकृत्यत्वादेवार्सा पृजामासेवते न च
कृदोपमापद्यते । अपि च जीतम्—'उपजीवनीया सुरा-ऽसुरिवरिचना पृजा' इत्यवंलक्षणं कल्पमनुधर्तयितु शीलमस्यासा जीतानुवर्ती, गाथायां मकारोऽलाक्षणिकः ॥ १०८१ ॥ आह मवत्वेवं
परं तीर्थकरस्य तत्यतिमाया वा निमित्त यत् कृतं तत् केन कारणेन यतीनां कल्पते ? उच्यते—

साहम्मिओ न सत्था, तस्स कयं तेण कप्पह जईणं।

र्ज पुण पहिमाण कर्य, तस्स कहा का अजीवत्ता ॥ १७८२ ॥

10 'शासा' तीर्थकरः स सार्थामको लिङ्गतः प्रवचनतोऽपि न भवति । तथाहि—लिङ्गतः सार्थामकः स उच्यते यो रजोहरणादिलिङ्गधारी भवति, तच्च लिङ्गमस्य भगवतो नास्ति तथा-कल्पत्वात्, अतो न लिङ्गतः सार्थामकः । प्रवचनतोऽपि सार्थामकः मोऽभिधीयते यश्चतुर्वण-सङ्घाम्यन्तरवर्ती भवति, ०० ''प्वयणसघेगयरे'' इति वचनात्; ▶ भगवाँश्च तत्प्रवचेकतया न तदम्यन्तरवर्ती किन्तु चतुर्वणस्यापि सङ्घस्याधिपतिः, ततो न प्रवचनतोऽपि सार्थामक इति । विञ्ञतः 'तस्य' तीर्थकरस्याथीय कृतं यतीनां कल्पते । यत् पुनः प्रतिमानामथीय कृतं तस्य 'का कथा ?' का वार्ता ? यत्रा तत् कल्पते । कृतः ? इत्याह—अजीवत्वात्, जीवमुह्इय हि यन् कृतं तद्यधाकमे भवति, ''जीवं उह्निस कड'' (गा० १७७८) इति प्रागेवोक्तत्वात्, तच्च जीवत्वमेव प्रतिमानां नास्तीति ॥ १७८२ ॥ अथ वसतिविषयमाधाकमे दर्शयति—

ठाइमठाई ओसरण मंडवा संजयह देसे वा । पेढी भृमीकम्मे, निसेवतो अणुमई दोसा ॥ १७८३ ॥

''श्रीसरणे'' समवसरण वहवः संयता समागिमप्यन्तीति युद्धा श्रावका धर्मश्रद्धया वहन् मण्डपान् कुर्युः । ते च द्विधा—स्थायिनोऽस्थायिनश्च । ये समवसरणपर्यणि व्यतीते सित नोत्की-स्थन्ते ते स्थायिनः, ये पुनरुक्तिन्यन्ते तेऽस्थायिनः । पुनर्केक द्विविधाः—सयतार्थकृता देशकृता वा । ये व्याधाकिर्मकास्त संयतार्थकृताः, ये तु साधनामात्मनश्चार्थाय कृतास्ते देश-25कृताः । एतेषु तिष्ठतां तिन्नप्यत्रं प्रायश्चित्तम् । तथा 'पीठिका नाम' उपवेशनादिस्थानिवशेषाः, 'भृमिकम्मे' ति 'भृमिकमें विषमाया भृमेः समीकरणम्, उपलक्षणं चृदम्, तेन सम्मार्जनो-पेलपनादिपरिग्रदः । एतान्यपि पीठिकादीनि सयतार्थकृतानि देशकृतानि वा भवेषुः । एतानि मण्डपादीनि सदोपानि निपेश्यमाणस्यानुमतिदोषा भवन्ति, एतेषु कियमाणेषु या पण्णां जीवनिकायानां विराधना सा अनुमोदिता भवतीति भावः ॥ १७८३ ॥

३० गतमायाकर्महारम् । अथोद्गमदोप-देक्षद्वारद्वयमाह——

ठवियग-संछोमादी, दुसोहया होति उग्गमे दोसा।

१ °वति स् स्वात्मन्युत्कर्षं मन्यमानस्तत्प्रत्ययं कर्मवन्धमासाद्यन् दोप° भा० ॥ २ ぺ ৮ एतदन्तर्गत. पाठ. त॰ डे॰ का॰ नास्ति ॥ ३ ぺ ৮ एतदन्तर्गतः पाठः त॰ डे॰ विना न ॥

15

43

वंदिर्जिते दहुं, इयरे सेहा तहिं गच्छे ॥ १७८४ ॥

'वहवः संयताः समायाता ' इति ऋत्वा धर्मश्रद्धावान् लोकः संयतार्थ स्त्रापित—भक्त-पानादे स्थापना कुर्यान् 'गृहमागतानामक्षेपेणव दान्यामः' इति ऋत्वा, "सङ्घोभ' ति यानि गृहाणि साधुमिरनेपणीयदानेऽश्रद्धनीयानि तेषु शाल्योदन-तन्दुल्यावनादिकं भक्त-पानं मोदका-ऽश्रीकः वर्तिप्रभृतीनि वा खाद्यकविधानानि निक्षिपेषुः 'माधृनामागनानां दात्त्व्यानि' इति, आदिश्वद्यान् किकीत्रकृत-प्रामृतिकादिपरिष्रहः । एते उद्गमदोपालत्र 'दु शोध्याः' दुप्परिहार्या भवन्ति । तथा 'इतरान्' पार्श्वस्थादीन् बहुजनेन बन्द्यमानान् पृज्यमानांश्च दृष्ट्वा शेक्षाः 'तत्र' पार्थस्थादीन् गच्छेषुः ॥ १७८४ ॥ सी-नाटकहारद्वयमाह—

इत्थी विडिन्ययाओ, भुत्ता-ऽभुत्ताण दहु दोसा छ । एमेत्र नाडह्झा, सविन्ममा निचय-पगीया ॥ १७८५ ॥

मीः 'विकृषिताः' वस-विलेपनादिभिरलद्भता दृष्ट्वा भुक्ता-ऽमुक्तानां 'द्रोपाः' म्मृति-कागुक-प्रभवा भवन्ति । एवमेव 'नाटकीयाः' नाट्ययोपितः 'मविग्रमा' मविलासा नित्ति-गीनयोः प्रमृता विलोक्य श्रुत्वा च भुक्ता-ऽभुक्तममुत्था दोपा विज्ञेयाः ॥ १७८५ ॥ सम्पर्शनद्वारमाए—

थी-पुरिसाण उ फासे, गुरुगा लहुगा मई य संघड्टे । आया-संजमदोसा, ओभावण-पच्छकम्मादी ॥ १७८६ ॥

समवसरणे पुष्पारोपणादिकालुकेन मृयांमः नी-पुरुपाः समायान्ति तेपां सम्मदेन स्पर्शां भवति । ततः स्रीणा स्पर्शे चत्वारो गुरवः, पुरुपाणां स्पर्शे चत्वारो लग्न । स्मृतिध महुटे मुक्तमोगिना भवति, चश्न्वादमुक्तमोगिनां कौतुक्रम् । आत्म-स्प्यमिद्याधनादोपाध्य भवन्ति—आत्मिदिराधना सम्मदे सित ह्रत-पाद्यपुष्पातः, स्प्यमिद्यगधना सम्मदे पृथित्र्या प्रतिष्ठिनाः पद्काया नावलोक्यन्ते न च परिहर्तु अत्रयन्ते । "ओभावण-पच्छक्तमाद्यः" ति साधुना नोऽपि द्रि शांचवादां पुरुषः स्पृष्टः स स्वायात्, नं स्मान्तं निर्दाद्यापरः प्रच्छिति—किर्मयं साधि देवि, स्पृष्टः स स्वायात्, नं स्पन्तं निर्दाद्यापरः प्रच्छिति—किर्मयं साधि देवि, स्पृष्टः स्वतं, एवं परन्पर्या साधृनां जुगुष्योपज्ञायते, यया—अते ! मिलना एते, एवमपन्नाजना पश्चात्कर्मं च भवति, आदिश्वन्द्याद् लमहाद्ययो होपाः ॥ १०८६ ॥

अथ तन्तुद्वारगाह—

ख्या कोलिगजालग, कोन्थलकारीय उचिर गेहे य । माडितमसाटिन, लहुगा गुरुगा अभत्तीए ॥ १७८७ ॥

असम्मार्थमाणे चत्ये भगवत्यतिमाया उपरिष्ठावेनानि भनेषु — 'छना नाग' कोलिकाट-फानि, 'कोलिकजालकानि तु' जालकाकायः कोलिकानां लालननुसन्तानाः, केल्यन-फारी-अमरी तत्याः सम्बन्धि गृत्युपि भवेन् । येगतानि वनादीनि द्राह्यिन नदा चलासे लघव । अथ न बाटयित तनो भगवता भक्तिः कृता न भवति, तत्या नामनया चलारो देश गुरुका ॥ १७८७ ॥ पथ क्षुकृतस्यं निर्दर्भवार्यस्य चल्यास्यान्

पद्वार् इयरम्पुडे, दहुं जोगुंटिया नहिं गच्छे । उकुट्टपर-धणाईपवहारा चेप लिंगीणं ॥ १७८८ ॥

छिदंतस्स अणुमई, अमिरुंत अछिद्ओ प उक्खिवणा । छिदाणि य पेहंती, नेव य कजेमु साहिज्ञं ॥ १७८९ ॥

इतरे-पार्श्वस्थान्तेषां ये क्षुळ्का घृष्टाः, आदिमहणात् "महा तुष्पोद्वा पंटुरपडपाउरणा" (अनुम्यो० पत्र २६) इत्यादि, तानित्यम्मतान् हृष्ट्वा सिवमञ्जुळ्काः 'अवगुण्डिताः' मछदिग्वदेहाः परि
हम्माः सन्तः 'तत्र' तेषां छिद्धिनामन्तिके गच्छेयुः । तेषां च तत्र मिछितानां परस्परमुत्कृष्टगृह
धनादिविषयाः 'व्यवहाराः' विवादा उपहाकन्ते, ते च व्यवहारच्छेदनाय तत्र संविद्यानाकारयन्ति,

ततो यदि तेषां व्यवहारिहेछ्यते तदा भवति परिस्फुटस्तेषां गृह-धनादिकं दृदतः साधोरनुम
तिदोषः । उपल्क्षणमिदम्, तेन येषां तद् गृह-धनादिकं न दीयते तेषामप्रीतिक-प्रहेषगमना
दयो दोषाः । अथ छिद्धिनामेतह्रोषमयात् प्रथमत एव न मिछन्ति न वा व्यवहारपरिच्छेदं

10क्क्वन्ति ततः 'उत्खेषणा' उद्घाटना साधूनां भवति, सङ्घाद् वाद्यीकरणमित्यर्थः । 'छिद्राणि च'

दृष्णानि ते कपायिताः सन्तः साधूनां प्रथन्ते । नेव च ते 'कार्यपु' राजद्विष्ट-ग्छानत्वादिषु

'साहाय्यं' तिन्नस्तरणक्षममुपष्टम्मं छुवेते । यत एते दोषा अतो निष्कारणे न प्रवेष्टन्यमनुयान
गिति स्थितम् । कारणेषु तु समुत्यन्तपु प्रवेष्टन्यम् । यदि न प्रविज्ञति तदा चत्वारो लघवः

॥ १७८८ ॥ १७८९ ॥ कानि पुनस्तानि ? इत्युच्यते—

चेद्यपृया रायानिमंतणं सन्नि वाद खमगै कही । संकिय पत्त पभावण, पवित्ति कजाद्दॅ उड्डाहो ॥ १७९० ॥

थनुयानं गच्छता चैत्यप्जा स्विरीकृता भवति । राजा वा कश्चिदनुयानमहोत्सवकारकः सम्प्रतिनरेन्द्रादिवन् तस्य निमन्नणं भवति । 'संज्ञी' श्रावकः स जिनप्रतिमायाः प्रतिष्ठापना चिकीपिति । तथा वादी अपको धर्मकर्या च तत्र प्रभावनार्थं गच्छति । शक्कितयोश्च मृत्रार्थ- 20 योग्जत्र निर्णयं करोति । पात्र वा तत्राच्यवच्छित्तिकारकं प्राप्तोति । प्रभावना वा राजप्रश्रजिता- दिमित्तत्रगतम्वति । प्रमृतिश्चाचार्यादीनां कुञ्चलवार्चारुपा तत्र प्राप्यते । कार्याणि च कुछा- दिविषयाणि साधविष्यन्ते । उड्डाहश्च तत्रगतेर्तिवारविष्यत इति । एतः कारणेर्गन्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः ॥१७९०॥ अथ विस्तरार्थं विमणिपुश्चत्यप्जा-राजनिमन्नणद्वारे विवृणोति—

सढाद्वही रन्नो, प्याऍ थिरत्तणं पभावणया।

²⁵ पंडिघातो य अणत्थे, अत्था य कया हवह तित्थे ॥ १७९१ ॥

कोऽपि राजा रथयात्रामहोत्सवं कारयितुमनास्तित्रमत्रणे गच्छद्भिस्तस्य राज् श्रद्धावृद्धिः कृता भवति । चेत्यपूजायां स्थिरत्वं प्रमावना च तीर्थस्य सम्पादिता मवति । यच जनप्रवचनप्रसर्नाकाः श्रासनावर्णवाद-महिमोपघातादिकमनर्थं कुर्वन्ति तस्य प्रतिघातः कृतो भवति । तीर्थं च 'आस्या' सपक्ष-परपक्षयोराटरबुद्धिस्त्पादिता भवतीति ॥ १७९१ ॥

30 अथ संजिद्धारं वादिद्वारं चाह—

एमेव य सन्नीण वि, जिणाण पडिमासु पढमपद्धवणे । मा परवाई विग्यं, करिज वाई अओ विसइ ॥ १७९२ ॥

१ °ग धम्मकही मा॰ ता॰॥

संज्ञिनः-श्रावकाः केचिद् जिनानां प्रतिमानु प्रथमतः "पृहुचणे" ति प्रतिष्ठापनं कर्तुकामानेपा-मपि 'एसमेय' राज इव श्रद्धावृद्धादिकं कृतं भवति । तथा मा परवादी प्रम्तुतोत्सवस्य विभ कार्पीट् अतो वादी प्रविद्यति ॥ १७९२ ॥ परवादिनिग्रहे च क्रियमाने गुणानुपदर्शयति—

नवधम्माण थिरत्तं, पभावणा साराणे य वहमाणी।

अभिगच्छंति य विदुसा, अविग्व प्या य सेयाए ॥ १७९३ ॥ 'नवधर्मणाम्' अभिनवश्रावकाणां 'स्तिरत्वं' स्विरीकरणम् । शासनस्य च प्रभावना भवति. यथा-अहो ! प्रतपति पारमेश्वरं प्रवचनं यत्रदृशा वादलिशसम्पत्रा इति । वर्गानश्चान्येपामपि शासने भवति । तथा त वादिनं 'अभिगच्छन्ति' अभ्यायान्ति 'विद्वास.' सन्द्रयान्तद्वान्मिता-कें।तुकाकृष्टिचताः, तेषां च सर्वविरत्यादिपतिपत्त्या गर्होहागो भवति । परवादिना च निगृही-तेन 'अविमं' निःमत्यृहं पूजा कृता सती स्वपक्ष-परपक्षयोरित परत्र च श्रेयसे भवति ॥१७९.३॥ १०

अथ क्षपकद्वारमाह---

आयाविति तवस्ती, ओभावणया परप्पवार्ट्णं । जड़ एरिसा वि महिमं, उविति कारिति सद्या य ॥ १७९४ ॥

तत्र 'तपस्तिनः' पष्टा-इप्टमादिक्षपका आतापयन्ति । तत्रश्च 'अपभावना' सापवं 'परप्रवा-दिनां' परतीर्थिकानां भवति, तेषां मध्ये ईस्थानां तपिसनामभावात् । श्राद्वाध चिन्तयन्ति — 15 यदि तावदीद्दशा अपि भगवन्तोऽसाभिः कियमाणा 'महिमा' चैत्यपूजां द्रष्टुमायान्ति, तत रत उर्कु विशेषत एव तस्यां यतं विधास्याम इति प्रवर्दमानश्रद्धाका महिमां कुर्वन्ति कारयन्ति च ॥ १७९४ ॥ अथ कथिकद्वारमाह—

> आय-परममुत्तारो, तित्थविवट्टी य होट् कहयंते । अन्नोनामिगमेण य, प्या थिरया य बहमाणो ॥ १७९५ ॥

क्षीराश्रवादिरुव्यिसम्पत्न आक्षेपणी-विक्षेपणी-सर्वेजनी-निर्वेटनीभेटात् चतुर्विया धर्मक्यां कथयन् धर्मकथीत्युच्यते । तस्तिन् धर्म कथयति जात्मनः परम्य च समारमागरान् ममुतारः-निस्तरण भवति । तीर्धविवृद्धिश्च भवति, प्रभृतलोकस्य प्रवज्याप्रतिपत्तः । तथा देशनागरेण पृजाफलगुपवर्ण्य 'अन्यान्याभिगमेन' अन्यान्यश्रापकवोधनेन पृजाया शिरना बहुगानध (गन्भामम्-१५०० । सर्वग्रन्थागम्---१३७२० ।) कृती भवति ॥ १७९५ ॥

अथ शक्तित-पात्रहारे व्यात्याति—

निस्तंकियं च काहिइ, उभए जं संकियं गुयहराहि । अञ्बोच्छित्तिकरं वा, लिभिहि पत्तं दुपवन्याजी ॥ १७९६ ॥

'उभये' सुन्ने अर्थ च यत् तस्य शक्षितं तत् ना शुनयरेभ्यः पार्थाति शक्षित परि-प्यति । अध्यत्रचिष्ठिकारकं या पात्रं द्विपशार् लप्पति । ही पश्ची नगाएनी द्विपशम्, मृत्य-: १ पद्मः संयतपद्मधीन्वर्धः ॥ १७९६ ॥ अय मज्ञवनातारमार्-

जाइ-तुल-रूच-भण-यलमंपना रिप्टमंननिक्यंना । जयणाजना य जर्र, नमेन निर्म प्रभावित ॥ १७८७ ॥

जाति:-मातृकः पक्षः, कुलं-पेतृकः पक्षः, रूपम्-आकृतिः, धनं-गणिम-घरिम-मेत्र-पारि-च्छेद्यमेटाचतुर्द्धा तटतिप्रमृतं गृह्स्यावस्यायामानीत्, वरं-सहस्रयोधिप्रमृतीनामिव मातिशयं शारीर वीर्यम्, ग्नैजीत्यादिमिर्गुणः सम्पन्ना ये च 'ऋद्विमन्निन्कान्ता' राजपत्रजितादयो ये च 'यतनायुक्ताः' यथोक्तसंयमयोगकिता यतयम्न 'समैत्य' तत्रागत्य तीर्थ प्रमावयन्ति ॥१७९७॥ अपि च-

जी जेण गुणेणऽहिओ, जेण विणा वा न सिज्यए जं तु । सो नेण तम्मि कज, सच्चत्यामं न हावेद् ॥ १७९८ ॥

'यः' आचार्यादिः 'येन' प्रावचनिकत्वादिना गुणेन 'अधिकः' मातिशयः 'येन वा' विद्या-मिद्धादिना विना यत् प्रवचनप्रत्यनीकिशक्षणादिक कार्यं न मिध्यति मः 'तेन' गुणेन तिस्मन् 10 कार्य 'मर्बस्थाम' सकलमाप बीर्यं न हापयति किन्तु सर्वया शक्तया तत्र रुगित्वा प्रवचनं प्रभावयतीति भावः । उक्तञ्च-

> प्रावचनी घर्मकथी, वाटी निमित्तिकलपसी च। जिनवचनजश्च कविः, प्रदचनमुद्धावयन्त्यते ॥

11 3096 11

प्रवृत्तिद्वारमाह—

15

माहम्मि-वायगाणं, खेम-सिवाणं च लव्यिह पवित्ति ।

गन्छिहिति जहिं ताई, होहिंति न वा वि पुच्छइ वा ॥ १७९९ ॥

नत्रान्येपां मार्थार्मकाणां चिरदेशान्तरगतानां शाचकानां वा—आचार्याणा तत्र प्राप्तः प्रवृत्ति लप्सते । तथा क्षेम-परचकायुपस्यामावः गिवं-च्यन्तरकृतीपद्रवामाव तयो , उपलक्षणत्वात् युमिब-टुर्मिबाद्यानां चागामिसंवत्मरमाविनां प्रवृत्तिं तत्र नेमित्तिकमावृनां मकावाद् रूप्यते । 20 यदि वा यत्र देशे न्ययं गमिप्यति तत्र तानि क्षेमार्टानि भनिष्यन्ति न वा ? इति सार्थार्मका-र्वान् एच्छति ॥ १७९९ ॥ कार्योद्वाहद्वाग्द्वयमाह—

> कुलमादीकजाई, साहिम्सं लिंगिणो च सासिस्सं । जे लोगविरुद्धाई, करेंति लोगुत्तगई च ॥ १८०० ॥

कुलाडीनि-लुक-गण-सङ्घसत्कानि कार्याणि तत्र गतः साघियव्यामि । लिङ्गिनश्च तत्र गनः ²⁵ 'ग्रासिप्यामि' हिनोपटेगदानादिना गिक्षयिप्यामि, ये लिहिनो लोकविरुद्धानि लोकोत्तरवि-रुद्धानि च प्रवचनोङ्खाह्कारीणि कार्याणि कुर्वन्ताति ॥ १८०० ॥

आह ययेतानि कारणानि भवन्ति तनः किं कर्तेत्र्यम् १ इत्याह— एएहिं कारणहिं, पुत्रं पडिलेहिऊण अहगमणं।

अद्वाणनिग्गयादी, लग्गा मुद्धा नहा खमओ ॥ १८०१ ॥

'गृतः' चैत्यप्जादिनिः कारणरनुयानं प्रवेष्टव्यमिति निश्चित्य पृवं प्रत्युपेश्य तनोऽतिगमनं कार्यम् । अयाव्यनिर्गताः—ते अञ्चानमतिलद्ध्य सहसेव तत्र प्राप्ताः, आदिग्रब्दादपूर्वोत्सवादिव-क्ष्यमाणकारणपरिप्रहः, एवंविषः कारणरप्रत्युपेक्षितेऽपि क्षेत्रे गनाः सन्तो यथोक्तां यतनां कुर्याणा अपि यदि 'ल्याः' अशुद्धमक्तादिग्रहणदोषमापन्नान्तथापि शुद्धाः । यथा 'क्षपकः' पिण्ड-

j

निर्युक्तीं मितपादितचरित शुद्धं गवेपयन्निप निगृदवात्मकारया तथाविषधादिकया च्छिति सन्नाधाक्रमण्यिप गृहीते शुद्धः, जगटपरिणामत्वादिति निर्युक्तिगाथात्ममार्थः॥ १८०१॥ अर्थनामेव विष्णोति—

नाऊण य अइगमणं, गीए पेसिंति पेहिउं कजे । उवसय भिक्यायरिया, वाहिं उच्भामगादीया ॥ १८०२ ॥ सब्भाविक इयरे वि य, जाणंती मंडवाइणो गीया । सेहादीण य थेरा, वंदणजुत्तिं वहिं कहए ॥ १८०३ ॥

चैत्यपूजादिके कार्ये समुत्पन्नेऽनुयानक्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुं गीतार्थान् भेपयिन । तनी जात्वा सम्यक् क्षेत्रस्तरूपमितगमनं कर्चयम् । कि पुनस्तत्र प्रत्युपेक्ष्यम् १ दत्याह—मेलमागे उपाधयः. 'विहः' वाह्यप्रामेषु च उद्धामकार्या भिक्षाचर्या, आदिश्वयान् तत्या गन्छतागपान्तराहे निधा-१० मम्यानं मौलप्रामे च भिक्षा-विचारम्भिप्रभृतिकं प्रत्युपेक्ष्यम् । तथा सदाविज्ञानिज्ञत्तिः मण्डपादीन् गीतार्था जानन्ति, यथा—अमी सदावत न्वार्थ गण्डपा कृताः अभी नु नय-तार्थ परं केतवप्रयोगेणास्मानित्य प्रत्याययन्ति, आदिष्रहणान् पीठिक्रादिपरिष्रः । उपाति प्रत्युपेक्षिते स्त्यः सवाल-वृद्धगच्छसित्वा अनुयानक्षेत्र प्रविद्यान्तिः । स्वित्राध्य विहित्र पर्य-मानाः शैक्षादीनां 'वन्दन्त्युक्तिं' पार्थस्थादिवन्दन्तिविधं कथ्यवन्ति, मा भृदन्यया तहन्त्रने तेषा । विपरिणाम इति ॥ १८०२ ॥ १८०३ ॥ ध्रथं चत्यवन्दनविधिमात्—

निस्सकडमनिस्से वा, वि चेडए सन्वहिं थुई तिनि । वेलं च चेड्याणि य, नाउं एकिकिया वा वि ॥ १८०४ ॥

'निश्राकृते' गच्छमतियहें 'अनिश्राकृते वा' निष्ठपरीते चेत्वे सर्वत्र तिस स्तुनयो धीयस्ते । अथ मित्रचेत्यं स्तुतित्रये धीयमाने वेलाया अतिक्रमो भयति, भूयासि वा ना चयानि, ननो १० वेलां चत्यानि वा ज्ञात्वा मित्रचेत्यमेकेका स्तुतिर्दानस्येति ॥ १८०४ ॥

अथ समनसरणविषय विधिमाह—

निस्सकडे ठाइ गुरू, कड्वयसिहएयरा वए वर्नाहं। जत्थ पुण अनिस्सकडं, पृरिति तिहं समीयरणं॥ १८०५॥

निश्राहते चैत्य 'गुरु.' आचार्य. कतिष्य परिणतमाधुनि नहिनधैत्यमिनमान्नोषनार्य व्य तिष्ठति, 'इतरे' शैक्षादयने 'मा पार्धसादीन् भूयना हो हैन पृत्यमानान् दृष्ट्वा तत्र गमन कार्षु' इति कृत्वा गुरुभिरनुज्ञाता वमिन प्रनेषु । यत्र पुन क्षेत्रे अनिश्राहन नेन्य नतानार्या समवसरण पृत्यन्ति, सभामापूर्व धर्मकथा कुर्वन्तीत्यर्थ ॥ १८०५ ॥

जाह कि सविभानत्र धर्मकेशा कार्यो ! आहोश्वित्तनविभागि ! उच्यते — संविग्गेहि च कहणा, टचनेहिं अपन्तओं न ओवनमा ।

ह "मारियपारणगद्धान" ह्यार २०६-१०-११ मासी तथा अताः २ पर्धारिय मान्या-नाऊण मोन हेन रिमा॥ ३ विद्याणीयम् १ इति चेद् यतः साह—[मीनप्रामे] उपापनी

भिश्लावर्षा च 'बद्दिः' वाहामामेषु उद्घामकाः वा भेना

पव्यक्षाभिष्रहा वि य, तेसु वण सेहमादी वा ॥ १८०६ ॥

भित्रिमें र उद्यतिहारियः कथना घमेन्य क्लंब्या । युनः १ इत्यह—इतेर-अमंबि-मान्ते अमेकशयां कियमाणायां श्रेष्ट्रगाम्य प्रयो महित, नैने यथा व्यक्तित्त्वण कारिए इति । न च नेपाम 'उपग्रमः' सम्यन्ध्येनादिप्रतिपत्तिमेदित । येऽपि च प्रवन्यामिनुन्नाः श्रेष्ठाद्रणे । श्रिष्ठा श्रिष्ठा विक्राह्रने चेष्ठे यदि तदानीमगंबिमा न महिन ततः को विविः १ त्याह—

पृत्ति समासरणं, अन्नासद् निम्पचेदण्यं पि । इदम होगनिकृद्धं, सद्वासंगा च सङ्घाणं ॥ १८०७ ॥

'अन्येषान' अनंतिमानानमित निआहते प्रति चेत्येषु समदसर्ग पृग्यन्ति । इत्या 'लोकत १०विक्दं' को प्रायदातो भवति—अहो ! अमी मर्त्याग्यो यदेवमन्यदीयं चेन्यम् इति छत्त्वा नाग्रेषिद्यं चर्षक्यां स्वृतितः । अद्यागदश्च आद्यानां स्वृति, तेषामन्ययंगस्ययंयमानानामित तत्र चर्षक्याया अकृत्यात ॥ १८०७ ॥ अय मिक्षाचर्ययां यत्तामाह—

> पृथ्यपिदेहीई समे, हिंडेनी नन्थ ने पमाणं नु । सामाविअसिक्साओं, विदंतऽपृथ्या च ठविचादी ॥ १८०८ ॥

एवंप्रविद्या नाम-पूर्व ये क्षेत्रप्रस्थेष्यणार्थ प्रहिनानः समं निक्षां हिण्डाने । तत्र च मिक्षा-मटनां न एव प्रमाणनः, नागन्त्रंतनत्र श्रुहा-श्रुहगवेषणा व्यन्त्र्यः । ने च पृत्रप्रविद्या इदं विद्यानि—यदेताः 'स्वामाधिकाभिक्षाः' स्वाशीनप्यादिताः, एतास्तु 'अपृत्रीः' संयनार्थः स्वापित-निक्षितादयः ॥ १८०८ ॥ स्वासङ्कर-नाटक्षद्श्येनयोयेननामाहः—

> वेंद्रण इंति निंति व, जुब मज्बे थेर इन्थिशी नेणं। टेति न य नाडण्सुं, अह टेति न पेह गगादी॥ १८०९॥

स्रीयद्भुरे इन्देरायानि निर्गच्छिन च । ये च युगतने मध्ये क्रियने । यतः स्थिनेत णर्थेन 'स्परिगः' इद्धा मर्थान, मा भ्रम सुक्त-मुक्तयमुख्य दौषा इति । यत्र नाटकानि निर्गञ्यने तत्र न निष्टिन । अथ सारणवित्यनि ननः ''न पेर्' नि नर्तक्यादिस्पाणि न पेर्ने । एर्स देष्टिगोक्गगतेषु च तेषु रागादीस सुक्तिन, तस्यश्च द्राग् दृष्टि निवर्नयित १८०९ ॥ तन्तुवास्तिषु विधिमार्-

र्नानेह मैप्यकरण, इयरे चौयेनि नेनुमादीसु । अमिजोयेनि मित्रिसिसु, अणिच्छि फेडेनऽदीमेना ॥ १८१० ॥

'हनें' अर्गविक्षा देवरुविका इत्यर्थः नान् नन्तुवारु-हतायुटकादितु सन्यु ते साववा नादर्यान् । यथा—'शंक्यन' परिक्रमेयन महाक्राव्यक्तानीय सहक्राव्यक्तानि देवरुव्यानि'। मङ्गी १८नाम-विक्रमाव्यव्यव्यक्तः, तस्य च यदि पर्व्यक्तहान्नकं सवित तना कोक सर्वोर्धन नं पृजयित, एवं यदि युवपिर देवरुव्यानि सूर्यो सूर्यः सम्मार्जनादिना सम्यगुन्वाव्यत नतो सुवान् होको स्वतां पृज्ञ-यक्तां द्वर्यात् । अय ते देवरुव्यकाः सर्वान्ताः—वैच्यत्रनिवद्वगृहै-क्षेत्रादिष्ट्विताः १ भित्राक्तिं प्रयति ?—यथानामकक्षित्रमङ्कः चित्र' सारु ॥ २ १ इह्हकादिन्नु' सारु ॥ भोगिनस्ततसान् 'अभियोजयन्ति' गाडं निर्भन्तयन्ति, यथा—एकं तावद् देवकुलानां एछि-मुपजीवथ द्वितीयमेतेपां सम्मार्जनीदिगारामपि न कुरुथ । इत्यमुक्ता जिप यदि तन्तुज्ञालाडी-न्यपनेतुं नेच्छन्ति ततोऽदृश्यमानाः स्वयमेव 'स्ंकृटयन्ति' अपनयन्तीत्वर्थ ॥ १८१० ॥

क्षुहकविपरिणामसम्भवे यतनामाह—

उज्जलवेसे खुड़े, कारित उच्चट्टणाइचोक्से थ । न य मुर्चतऽसहाए, दिति मणुने य आहारे ॥ १८११ ॥

शुरुकान् 'उज्ज्वरुवेपान्' पाण्डुरपट-चोरुपट्टधारिण उद्वर्तन-प्रज्ञारुनादिना च चोजान्-शुचिशरीरान् कुर्वन्ति । न च ते शुरुकाः 'असत्याः' एकाकिनो मुच्यन्ते । वृपभाध तेपा 'मनोज्ञान्' सिम्ब-मधुरानाहारानानीय टटति, उरश्रद्दष्टान्तेन च प्रज्ञापयन्ति ॥ १८१२ ॥

तमेवाह-

10

5

आतुरचिण्णाइं एयाइं, जाइं चरद नंदिओ । सुकत्तणेहि जावेहि, एयं दीहाउरुक्यणं ॥ १८१२ ॥

True.

जहा एगो ऊरणगो पाहुणयनिमित्तं पोसिज्ञइ । सो य पीणियनरीरो हिन्दारक्यंगमधी क्यकत्रच्छओ सुहंसुहेणं अभिरमइ । कुमारगा वि य तं नाणाविदेहि की जिन्नेनित की नान्निति । त च एवं छािळजमाणं टहुण वच्छगो माऊण नेहेण गोविय टोल्एण य नपणुक्तपा । उक्रमिव खीरं न पिवइ रोसेणं । ताण पुच्छिओ—वच्छ ! कि न धावि । तेण गणियं—अम्मो ! एस नंदियगो दृष्टेहि जवसजोगानणेटि अलंकारिवसेनिहि य अलकारिजो पुन व परिपाळिज्ञ अह तु मंद्रभगो सुकाणि तणाणि कयाद छमािम नाणि वि न पञ्चनगािक एवा पाणियं पि, न य म कोइ छाछइ । ताण भन्नइ—पुन ! आडरचिन्ना एवा , जन्न आडरो मिरिकामो ज मगाइ पत्यं वा अपत्यं वा तं हिज्ज्ञ एवमेगो वि नदिय नो पोलिज्य । जन्म सारिज्ञिहिद्र तथा पिच्छिहिसि । अन्नया सो वच्छगो त नदियग पाणुजण्यु धागण्यु बिह्जिमाण दृष्टुं तिसिओ वि माऊण थन्न नाभिज्यह भण्णं । ताण भक्ता—कि पुन ! भयमिओ सि नेटेण पणुयं पि मं न पियसि । तेण भक्ता—कर्नो मे भक्तानित्रा । राणु से वराओ नंदियओ अज्ञ पाहुणण्हि आगण्हि भागणि मन अग्नानो विजिन्नयनी हो । विलिन्नयनी हो स्वान्त्रयो विम्तरं रसतो मारिओ, तक्षमया क्रो मे पाडिन्छा ! ताण भन्ना—राणु पुन्य ! नया अविन्तरं रसतो मारिओ, तक्षमया क्रो मे पाडिन्छा ! । ताण भन्ना—राणु पुन्य ! नया अविन्तरं रसतो मारिओ, तक्षमया क्रो मे पाडिन्छा ! । ताण भन्ना—राणु पुन्य ! नया अविन्तरं ते किह्यं "आडरचिन्नाइ एयाइ" ति. एम तेनि विवागो अणुपनो । ॥

अधाधरार्थः—आतुरः—चिकित्माया जविषयमृतो सेगी, तस्य यथा मर्नुजामनः पर गा-पत्र्य वा दीयते एवनयमपि निक्तिते यानि मनोज्ञानारजातानि तस्ति कारिः 'शपुर्गार्जाति, जतो वस्त ! शुक्ततृषे. 'यापय' सदारीरं निर्याण्यः यत एतद् दीर्घापुणे नद्याग । एउपेनेऽ-पानंविशक्षत्रका यद् मनोज्ञातानदिभिरपञ्चान्ते तद् मन्तिरपोपज्ञद् प्रधन्तम् ॥ १८१६ ॥ ३३

अथ निर्दर्गकार्येषु यतनामाह—

न मिलंति लिंगिकले, अन्होंति व मेलिया उदार्गाणा ।

र 'नादिना सर्वधेय सा^{*} गा॰ ॥

30

विति य निर्व्वधरिम, करेगु निर्व्व खु में दंई ॥ १८१३ ॥

यत्र लिदिनामानुष्टगृह-धनाटिकार्याण्युपदाकन्त तत्र प्रथमत एव न मिलन्ति । अथ तेर्वला-मोटिकया मील्यन्ते नता मेलिना अप्युटास्ना आसते । अथ ने वर्वारन्—कुरुतान्मदीयस्य व्यवहारस्य परिच्छेदम् । तत एवं निर्वन्य नः क्रियमाण नाधवो झवते—यद्यसाकं पार्थाद् व्यवहारपरिच्छेदं कार्यिप्यय तत दमयेपामपि भवनां 'तीवं दण्डम्' आगमोक्तप्रायिद्यिच-लक्षणं 'कुमैः' करिष्याम इति ॥ १८१३ ॥

"अद्वाणिनगयादी" (गा० १८०१) इति पदं ज्याग्चानयति—

अद्वाणिनग्गयादी, थाणुप्याद्यमहं च मोऊण । गेलच-मन्यवसगा, महाणदी नत्तिया चा वि ॥ १८१४ ॥

> समणुनाऽसइ अने, वि पुच्छिउं दाणमाइ विजिति । दच्चाई पहुंचा, जह लग्गंती तह वि सुद्धा ॥ १८१५ ॥

यदि 'समनोजाः' साम्मोगिकाः पृत्रेषिष्टाः सन्ति तत्त्वः सह भिल्लामरन्ति । अथ न 20 मन्ति समनोज्ञान्ततः 'अन्यानपि' अन्यसाम्मोगिकानपि पृष्ट्वा दानश्राहकुलानि वर्जयन्ति, तप्ता- धाकमोदिद्रोषसम्मवान् । रोपपु क्रुरेषु पर्यरन्तः ''द्व्वार्टा पेर्ह्न'' ति द्व्यतः क्षेत्रतः कालनो भावनश्च ग्रुह्वमन्त्रेषयन्त्रो यद्यपि कर्माप स्वापनादिकं दोषं 'लगन्ति' प्राप्नुवन्ति तथापि ग्रुद्धाः, श्रुपक्रवद्श्यर्यारणामनया श्रुतज्ञानोषयोगप्रवृत्त्वादिति ॥ १८१५ ॥

गतं 'परिहरणा अनुयाने' इति डारम् । अय पुरःकर्मडाग्माह—

पुरकम्मस्मि य पुच्छा, किं कस्साऽऽरोत्रणा य परिहरणा । एएसिं तु पयाणं, पत्तयपस्त्रणं वोच्छं ॥ १८१६ ॥

पुरःक्रमंणि प्रच्छा कर्चच्या । तद्यथा—िकं पुरःक्रमं ? कस्य वा पुरःक्रमं ? का वा पुरःक्र-मेण्यारोपणा ? क्रयं पुरःक्रमणः परिहर्णं क्रियते ? एतेषां चतुर्णामपि पदानां पत्यक्रमहं श्रद-पणां वक्ष्ये ॥ १८१६ ॥ तत्र किमिनि द्वारस्य प्रक्ष्यणां चिकापुः प्रयमुख्यापयलाह—

नह जं पुरतो कीग्द, एवं उद्घाण-गमणमादीणि । दोंति पुरकम्मं ते, एमेव य पुत्रकम्मे वि ॥ १८१७॥

परः प्राह—यदि सार्वाभिक्षार्थिनो गृहाङ्गणमागतस्य यन् 'पुरनः' अप्रनः क्रियते तत्

२ "बागुपार्य गाम अउन्ना मही अतिहिमही वा" इति चूर्णी निरायचूर्णी च ॥

पुरःकर्मेति व्यवहियते, एवं 'ते' तव यानि दायकस्योत्यान-गननाटीनि कर्नाणि मार्भारमन्ति क्रियमाणानि तानि सर्वाण्यपि पुरःकर्म भवति । अथ पृत्रीर्थवाचकः पुर राव्य हदाधिक्रियते तत आह—एवमेव च पृत्रिकर्मण्यपि द्रष्टव्यम् । कि.मुक्तं भवति ?—'पुर —गाधीगगमनात् पृत्यं कर्म पुरःकर्म' इत्यास्यामपि व्युत्येत्तं यान्युत्थानाटीनि पृत्वं कृतानि तानि पुरःकर्म प्रामुनन्ति ॥ १८१७ ॥ यदि नामेवं ततः का नो हानिः ' इति चेद् उच्यते—

एवं फासुमफासं, न विजए न वि य काइ गोही ने । हंदि ह वहणि पुरतो, कीरंति कयाणि पुन्तं च ॥ १८१८ ॥

'एवं' द्विधाऽपि समासे कियमाणे प्राञ्चकमप्राञ्चं वा 'न विधते' न ज्ञायते. सर्नन्या अप्यु-ध्यान-गमनादिचेष्टायाः पुरःकर्मत्वप्राप्तेः । अज्ञायमाने च प्राञ्चका-ऽप्राञ्चकविभागं शोधिनिष काचिन्नास्ति 'ते' तवाभिप्रायेण, तस्याध्याभावे चारित्रस्याप्यभाव इति भाषः । 'एन्नि' इत्यु-10 पप्रदर्शने । 'हुः' इत्यामग्रणे । नत्रध्यवम्—हे आचार्याः! चार्नि पुरतः कियन्ते बहुनि च दायकेन पूर्वं कृतानि तानि सर्वाण्यपि पुरःकर्म प्रामुवन्ति ॥ १८१८ ॥

अत्र सुरिः मतिवचनमाह—

कामं खल पुरसदो, पचक्ख-परोक्खतो दृहा होइ । तह वि य न पुरेकम्मं, पुरकम्मं चोदग ! इमं तु ॥ १८१९ ॥

'कामम्' अनुमत खें छुराञ्डोऽवधारणे अनुगतमेवान्याक यन् पुरःशब्दः प्रन्यक्ष-परोक्षयोर्द्विषा भवति—यदा 'पुरः-अत्रतः कर्म पुरःकर्म' इति द्युत्पित्तगश्रीयते तदा प्रन्यज्ञार्धवाचकः पुरः-शब्दः, यदा तु 'पुरः-पूर्वं कर्म पुरःकर्म' तदा परोधार्थवाचकः । एवं पुरःशब्दस्य प्रत्यस्याने-क्षार्थवाचकतया यथप्युत्थानादीनि पुरःकर्म प्राप्नवन्ति तथापि नानि पुर कर्म न भवति. किन्तु पुरःकर्म हे नोदक! 'इदं' वक्ष्यमाणं भवति ॥ १८१९ ॥ तद्ववार्— 20

हत्थं वा मत्तं वा, पुट्चि सीतोदण्ण जं धीवे । समणद्वाण् दाया, पुरकम्मं तं विजाणाहि ॥ १८२० ॥

हस्तं वा मात्रकं वा 'प्वें' भिक्षादानात् प्रथम 'श्रीनेष्टिकन' स्थिए जोरन यद् दाना धर-णार्षे 'धावति' प्रक्षालयति तत् पुरःकर्म विज्ञानीहि न शेषस्यान-समनादिशम्, नथासमय-परिभाषया रूढत्वात् ॥ १८२०॥ यत क्रिमिति हारम् । अय क्येति हारम्य प्रत्यपानार—23

'मुह्दू' मित्रन्, 'प्रेप्यः' दानी-दासादि, 'बन्युः' माता-मगिन्यादि ॥ १८२१ ॥ थ्य पुरःक्रमेणः सन्मवमाह-

द्यए प्रमाणपुरिसे, जाए पंतीएँ नाण मोन्गणं। मी पुरिसो ते बडबं, तं दृष्यं अन्नों अनं वा ॥ १८२२ ॥

सङ्ख्यां पश्चिपरिवेषणे निष्ठकः कोऽपि 'द्रमकः' कमेक्रे , एतेन यसुमन्दिष्टप्रहणस् ; 'प्रमाणपुरुषो वा' देयद्रव्यसामां, अनेन च प्रमुप्रहणन् ; ततश्च दाता प्रमुवी प्रमुसन्दिष्टा वा यस्यां पञ्चा पुरःक्रमं इतवान् वा मुनवा यद्यन्यां पद्धि महामति तदा यदि परिणतद्यस्तनः कल्पते । अत्र चाष्टा मङ्गा मवन्ति—न पुरुरतां पद्धिमन्यां वा पर्छि तद् द्रव्यमन्यद् द्रव्यं वा इत्यनेन चलारी मङ्गाः सुचिताः, एवमन्यः पुरुष इत्यनेनापि चलारी मङ्गाः मुच्यन्ते, एवमेत 10 यष्टो यज्ञाः ॥ १८२२ ॥ एनामग्रप्यक्तं न्यष्टयनि—

सो तं नाए १ अन्नाएँ विद्अओं २ अन्न नीएँ २ दो वडने ४ । एमेव य अन्नेण वि, मंगा राखु होंति, चत्तारि ॥ १८२३ ॥

स पुरुषन्तर् द्रव्यं तस्यां पद्माविति प्रथमः ? । स पुरुषन्तर् द्रव्यमन्यस्यां पद्माविति हिनीयः २ । सं पुरुषोऽन्यद् द्रव्यं तस्यां पद्धाविति तृनीयः ३ । सं पुरुषोऽन्यद् द्रव्यमन्यस्यां 15 पञ्चाविति चतुर्थः ८, अत्र च 'हे अति' द्रव्य-पञ्ची अन्ये इति । एवमव चान्यपुरुपपटेनापि चलारे महा मर्वान्त । तद्यया—अन्यः पुरुषन्तद् द्रव्यं तस्यां पद्रो ५ अन्यः पुरुषन्तद् द्रव्यमन्यसा पद्यो ६ अन्यः पुनर्योऽन्यद् द्रव्यं तसां पद्यो ७ अन्यः पुनर्योऽन्यद् द्रव्यमन्यसां पक्काँ ८ ॥ १८२३ ॥ एनेपां मञ्चाद् येषु यथा क्रव्यते तदेनद् दर्शवनि-

कैंप्यह ममेमु नह मचमिम तह्यिमा छिनेतावारे। अत्तद्धियम्मि दोसं, सब्बत्य य भयमु कर्-मने ॥ १८२४ ॥

'समेषु' हिनीय-चनुर्य-यहा-अहमेषु महेषु ब्रह्मतुं ऋत्यंत । तथाहि-हिनीये तावदन्यसां पङ्को सङ्कान्तत्वेन तद् द्रव्यर्नाप वस्यमाणनीत्या चतुर्थे तु द्रव्यान्नरत्वेनान्यसां पद्नो दीयमान-त्वन च पष्ट तु प्रस्यान्तरेपापरस्यां पद्दी तद् द्रव्यं दीयत इति हेनोः अष्टमे तु तिस्रणामपि पुरुन-त्रक्य-पद्मीनामन्यन्वेन परिस्कुटमेव क्रक्यन इति । तथा सप्तमेऽपि मङ्गे कल्यत एव, पुरु १५यान्त्रेरपान्यद्रव्यस द्रायमानत्नान् । तृतीये तु च्छित्रच्यापारं सति करूरने, यः साधुडानार्थं हस्त-मात्रक्रप्रक्षाचनव्यापारः इतः म यदा व्यापारान्तरेण च्छित्रो मवति तदा तैनेव पुरुषेणान्यद् द्रव्यं वस्यां पद्यो दीयमानं कल्पत इति मावः । 'हयाः' प्रथम-पृत्रमयोर्थादः तद् द्रव्यं तेनात्मार्थितं भवति ततः कल्यते नान्यया । 'सर्वत्र च' अष्टलिंग महेषु कर-मात्रके 'मल' विकल्पय, यदि इस्तो वा मात्रकं वा सन्तित्रसुदकाई वा न मवति ततः क्रव्यते अन्यया तु नेत्यवं अभ्यत्तना क्लेब्येन्ययः ॥ १८२४ ॥ अय किमर्थं पुरःकमं क्रोति १ इत्याह—

अञ्चिमण चिक्कणे वा, कृरं घृविउं प्रणा पुणा दंह ।

१ °दः 'प्रमाणपुरुषो या' देयद्रव्यखामी यस्यां पङ्गी मा॰ छा॰॥ २ नेयं गाया विद्येष-चूर्णी दक्षते ॥

20

आयमिर्फणं पुच्चं, दह्ज जहणं परमयाए ॥ १८२५ ॥

परिवेषणं कुर्वतो यद्यत्यणिश्चकणो वा क्रान्नन एकत्र हन्नदाह्मयादपरः हने विल्म-नात् कुण्डकादिस्यितेनोदकेन स दाता पुन पुनः 'शैला' हन्नमाद्रांकृत्य 'ददाति' परिवेण्यती-त्यर्थः, साधोरप्यागतस्य तथेव यदि भिक्षां ददाति तदा पुरःकर्ग भवति । यदि वा प्वेम् 'आचम्य' हन्ने मात्रकं वा प्रक्षाल्य प्रयमन एव यतीनां दद्यात् ततोऽन्येम्यः परिवेपयेत् नदाऽि । पुरःकर्म भवति ॥ १८२५॥

ण्वं पुरःकर्मणि कृते यद् यत्र कल्पते तदेतर्द् निर्युक्तिगाथया दर्शयति— दाऊण अन्नद्द्यं, कोई दिखा पुणो वि तं चेव । अत्तद्धिय-संकामियगहणं गीयत्थसंविग्गे ॥ १८२६ ॥

तद् अनेपणाकृतं द्रव्यं मुत्तया अन्यसान्यद् द्रव्यं 'दत्त्वा' परिवेष्य क्रिशत् 'तदेव' अने-10 पणाकृतं द्रव्यं पुनरिष तस्यामन्यस्यां वा पद्गी नाधृनां द्यात् . एवं क्रितव्यापारे आन्मार्थितं सत् कल्पते । अथवा "सकागिय" ति नदनेपणाकृतं द्रव्य म दाता अन्यन्तं परिवेषयेत् न यदि दद्यात् तत एवं सक्रामित मन् कल्पते । एत्य द्रह्ण गीतार्थम्यानुज्ञानमः, यनो गीनार्थ-स्तद् द्रव्यमित्यं गृहानोऽपि सविद्यो भवति ॥ १८२६ ॥ एनदेवान्त्यपंद भाष्यकारो भावपति—

गीयत्थग्गहणेणं, अत्तिहियमाद निष्हई गीनो । संविग्गन्गहणेणं, तं गिण्हंनो वि संविग्गो ॥ १८२७ ॥

गीतार्थप्रहणेन कृतेनेतद् ज्ञापितं यद् आत्मानितम्, पादिशब्दात् मद्रागिनं च तद् आगम-प्रमाणतो गीतार्थ एव गृहाति नागीतार्थः । सविद्यप्रहणेन तु 'तद्' जालार्थितादि गृहानोऽपि गीतार्थः संविद्यो भवति नासविद्य द्ख्क भवति ॥ १८२७ ॥

इत्थं पुनः पुरतः कृतमापं न पुर. रुमं भवतीनि दर्शयति--

पुरतो वि हु जं धोयं, अचहाए न तं पुरेकम्मं । तं उद्दुहुं मसिणिदुमं व सुक्ते निहुं गरणं ॥ १८२८ ॥

तुष्टे वि नमारंभे, सुंह गहणेष एक पटिनेही । अन्नन्थ छुद्र नामिय, अन्हें होड सिष्पं नु ॥ १८२९ ॥

20

30

तापितं तत्रात्मार्थिते क्षिप्रमपि ग्रहणं कर्त्तेत्र्यम् ॥ १८२९ ॥ गतं कस्येति द्वारम् । अथारोपणाद्वारमाह—

> चाउम्मासुक्रोसे, मासिय मज्बे य पंचग जहने। पुरक्रम्मे उदउद्धे, ससिणिद्धाऽऽरोवणा भणिया ॥ १८३० ॥

उद्कसमारमें पुर कर्मोत्कृष्टमपरायपदम्, उद्कार्द्धं मध्यमम्, सिक्षग्वं जयन्यम् । उद्कृष्टे चत्वारो मासा लघवः, मव्यमे लघुमासिकम्, जघन्ये पञ्चरात्रिन्दिवानि । एवं पुरःकर्मोदकाई-सिकाचेषु यथाक्रममारोपणा भणिता ॥ १८३० ॥ अथ परिहरणाद्वारमाह—

परिहरणा वि य दुविहा, विहि-अविहीए अ होह नायच्या । पहिमिछुगस्स सच्चं, विद्यस्स य तिम्म गच्छिम्म ॥ १८३१ ॥

तदृयस्य जानजीनं, चउथस्य य तं न कप्पए दृन्तं ।

तद्दिवस एगगहण, नियट्टगहणे य सत्तमए ॥ १८३२ ॥

परिहरणाऽपि च द्वितिया—विधिपरिहरणा अविधिपरिहरणा च भवति ज्ञातव्या । अवि-धिपरिहरणा सप्तिविधा—तत्र प्रथमस्य नोदकस्य सर्वमिष द्रव्यजातं सगच्छे प्रगच्छे च याव-जीवमकल्पनीयम् १, द्वितीयस्य तु तसिन्नेव गच्छे यावज्ञीवम् २, तृतीयस्य यावज्ञीवं तस्यै-16 वैकस्य साबोः सूर्वमिष् द्रव्यजातम् २, चतुर्थस्य तु तद् द्रव्यमेकं यावजीवम् ४, पञ्चमस्य त्तु तिह्वसं सर्वद्रव्याणि ५, पष्टस्य तु तस्यैवकद्रव्यस्य वहणं न करपते ६, सप्तमस्य निवृत्तः सन् स एव साबुः परिणतेन हस्तेन ब्रहणं करोतीत्यमिष्रायः ७ ॥ १८३१ ॥ १८३२ ॥

अर्थेतेषामेव परामिषायेण व्यास्यानमाह—

पदमो जावजीवं, सन्वेसि संजयाण सन्वाणि ।

द्व्याणि निवारेई, वीओ पुण तम्मि गच्छिम्म ॥ १८३३ ॥

प्रथमो नोदको यसिन् गृहे पुर कर्म कृतं तत्र यावदसौ पुरःकर्मकारी दाता यद्धै च तत् पुरःकर्म कृतं ते। यावद् जीवतस्तावत् सगच्छ-परगच्छसत्कानां सर्वेषां संयतानां सर्वाणि द्रव्याणि निवारयति । द्वितीयः पुनस्तस्मिन् गच्छे सर्वेपामपि साघूनां यात्रज्ञीवं सर्वेद्रव्याणि निवारयति ॥ १८३३ ॥

तह्यो जावजीवं, तस्सेवेगस्स सव्यद्व्याहं । 25 वार्ड चडत्थो पुण, तस्सवेगस्स तं दृष्वं ॥ १८३४ ॥

वृतीयो त्रवीति—यदर्थं पुर कर्म इतं तत्यवकत्य यावजीवं सर्वद्रव्याणि न कल्पन्ते । चतुर्थम्तु तदेवैकं द्रत्यं तस्यैवैकस्य यावज्ञीवं वार्यति ॥ १८३८ ॥

सन्त्राणि पंचमो तहिणं तु तस्सेव छहों तं दन्वं।

मत्तमओं नियहंतो, गिण्हइ तं परिणयकरिमा ॥ १८३५ ॥

पञ्चमो त्रवीति—तदेवैकं दिनं सर्वाणि द्रव्याणि तदीयगृहे न कल्पन्ते । पष्टो वृते—तदेवैकं द्रव्यं तस्य गृहे तिह्नं मा गृह्यतान् । सप्तम प्राह--'परिणतकरे' परिणताप्काये सित हस्ते भिक्षामिटत्वा निवर्त्तमानम्त्रेत्रेव गृहे स एव साधु सर्वद्रव्याणि गृहातु न कश्चिद् दोषः ॥१८३५॥

इत्यं परेरुके सति खरिराह—

एगस्स पुरेकम्मं, वत्तं सन्वे वि तत्थ वारिति । दन्वस्स य दुछभना, परिचत्तों गिलाणओ तेहिं ॥ १८३६ ॥

'एकस्य' साधोरथीय पुर कर्म यत्र 'वृत्तं' मजान नत्र ये सर्वेषागेत्रन्य वा मर्बव्रन्याचि उपलक्षणत्वादेकमपि द्रव्यं यावज्ञीव निह्नं वा वाग्यन्ति तर्व्वव्यन्य स्नानप्राचीन्यनान्यत्र ६ दुर्लभतया ग्लानः परित्यक्तो मन्तव्यः ॥ १८३६ ॥ एनदेव मिबदोपगाह—

जेसि एसुवएसो, आयरिया तेहि ऊ परिचत्ता । समगा पाहुणगा वि य, सुन्वत्तमजाणगा ने उ ॥ १८३७ ॥

'येपां' यथाच्छन्दवादिनां 'एपः' सर्वद्रव्यमहणादिमतिपेषत्त उपदेशन्तराचार्याः धपकाः माघूणेकाश्च परित्यक्ता द्रष्टव्याः, तत्मायोग्यस्य गृतादिद्रव्यन्यान्यत्र दुर्लभन्दान् । ने च 'सुत्यक्त' १० परिस्फुटम् 'अज्ञाः' मूर्साः, अतस्त्रवेदित्वात् । स्वच्छन्द्रमक्ष्पणानिष्यतं चागीपां चतुर्गुरु प्रायिधणम् ॥ १८३७ ॥ तत्र ये सर्वानिष साधून् परिहारं कारयन्ति ते स्वान्त्यागनमभ्ये विधिमातुः—

अद्धाणनिग्गयाई, उच्भामग खमग अक्सरे ग्क्सि । मग्गण कहण परंपर, सुच्चत्तमजाणगा ते वि ॥ १८३८ ॥

यत्र गृहे पुर कर्म कृतं तत्राम्बनिर्गनादय 'उद्धामका या' बहिर्मामे भिशारनक्षीत्राः 'शक्त-16 मन्तो मा प्रविक्षन्' इति कृत्वा क्षपकस्तत्र स्थाप्यते । अथ नाम्नि क्षपकम्तनः युक्ताद्यवस्याणि किस्वन्ते, यथा—अत्र पुर कर्म कृतम् । न कनापि भिशा आदाति । अथ तायस्याणि किमितुं न जानीतस्ततो रेखा कर्त्तव्या । अथ कृताऽपि ना केनापि भव्येत नतोऽपरेणं नापना मार्गणं कृता मिलिताना कथनीयम्—असुन्मिन गृहे पुरःकर्म कृतम् । तेऽपि परम्यस्य मर्यन्यम् जाष्यन्ति । इत्यं ये तुवते मुक्यक्त तेऽप्यज्ञा मन्तव्या ॥ १८२८ ॥ वर्षेतरेय भावसनि— २०

उन्भामग-ऽणुन्भामग-नगन्छ-परगन्छजाणणहाए। अच्छइ तहियं खमओ, तस्पऽमइ स एव संघाटो॥ १८३९॥ जह एगस्म वि दोमा, अक्यर न उ नाहें नव्यतो रिक्या। जह फुमण संकदोना, हिउंना चेव माहंति॥ १८४०॥

उद्घामकाणां-चायमामे भिद्यादन विधायापयीमे तो व भिन्नमहत्ताम् अनुस्तानकाणा-भी किः भामे भिक्षापरिस्तमणदीलानां स्वयन्त्रीयानां परमण्डीयानाः च मर्थेषा आपनार्थे र पण्नात्र मृते निषण्यानिष्ठति । स च यो यः सद्घादमनजागण्डाति तरा तस्य स्थ्यति— भग पुर कर्म कृतं वर्तते । अथ नान्ति धपकः परमक या तरा तिहिः तने यद्भे एर एमे कृत स स्व महादकत्त्रत्र तिष्ठति ॥ १८३९ ॥

7,

25

ततः साधुजनसाद्वेतिकी रेखा करणीया । यदि तस्याः 'स्यर्शना' पादोपयातेन सर्वना तिष्ठपया आग्रद्वादोषा सत्रेष्ठः, बहुवचनिन्देशादन्याऽषि रेखां करातीत्याद्याश्रद्धापरिष्रदः, ततन्त्रावेव साधु सिक्षासदन्तावणरेषां नाधृनां कथ्यतः, तेऽषि हिण्डमाना एव परस्यस्या सर्वसाधृनां कथ-यन्ति । इत्यं येषां परिदरणिविधिने सुत्र्यक्तमज्ञा मन्तव्याः ॥ १८४० ॥ उपसंदरकाद्द---

एसा अविद्यी मणिया, मनविद्या एछ इमा विद्यी होह । नन्थाई चिन्मदुण, अनिद्वियमाइ गीयस्म ॥ १८४१ ॥

ण्या अविधिपरिहरणा समिविया भणिता । 'ह्यं तु' वक्ष्यमाणा विधिपरिहरणा सविति । सा चाष्टविया । 'तेत्र' अष्टानां सङ्गानां सव्याद् यदायं पदं यच चरमन्–अन्तिमं अकारद्वयं तेषु त्रिषु भेदेषु आन्मायितं आदिशक्टान् सङ्गामिनं च सनि गीतार्थस्य यहणं भवति । एतच 10यथास्त्रानं भाविष्ययंत ॥ १८४१ ॥ के पुनन्तेऽष्टां मेदाः १ उच्यन्ते—

एसस्स वीयसहणे १, पमजणा तत्य होह २ कव्यही ३।

वारण लित्यामणिजा ४, गंनृणं ५ कम्म ६ हृन्य ७ उष्कांमे ८ ॥ १८४२ ॥

"ण्याम्नं" ति विमक्तित्रस्यादेकेन पुर.कर्मणि क्रुने येदि हिनीयो ददाति तदा तस्य हिनीयस हमाद् यहणे विधिवेक्तव्यः १ । तथा "पमज्ञण" ति व्यग्तार्याभिषायण "तस्य" भित्ति 'तत्र' हिनीयद्भि दायके 'प्रमज्ञना' प्रमक्षदोषो भवनीति वक्तव्यम् २ । "कप्पिष्टि" ति 'क्रस्यस्थिकाः' तम्यान्त्रसः केलिप्रियनया अमीक्ष्णं पुरःकमे यथा क्रुवेन्ति तथा निक्षणीयम् ३ । "वारण लिल्यासणिको" ति यदि मायुः 'त्रं मा देहि एपा दास्यति' इत्यविधिना पुरःकर्मकारिणीं वारयित तदा लिल्नायनिक इति तया यथा गण्यते तथा वक्तव्यम् १ । "गंतृणं" ति 'गत्वा प्रतिनिक्रवायान्य दासामि' इति बुद्धा यदि दाना इन्त्रगृष्ट्यात्या मिक्षया तिष्ठति तदा न कर्यते 'श्वित्वायान्य दासामि' हति बुद्धा यदि दाना इन्त्रगृष्ट्यात्या मिक्षया तिष्ठति तदा न कर्यते 'श्विद्यायम् ५ । "कन्मे" ति इत्यमावमेदिमिकं पुरःकर्म यथा मद्यति तथा दर्शनीयम् ६ । "इत्थ" ति तत्र पुरःकर्मणि कि इसे ल्यादाः १ उन मात्रके १ इत्यादि चिन्तर्नायम् ७ । "उप्योने" ति लत्यार्शने—लन्दनं तद् बस्तिययं वक्तव्यम् इति हारगाथासमानार्थः ॥१८७२॥ अथ विस्तरार्थमिषिष्रर्जुगह्—

एंगेण समारहे, अञ्ची प्रण जी तर्हि सर्य देह । जयऽजाणगा भवंती, परिहरियम्बं पयनेण ॥ १८५३ ॥

'ग्फ़िन' दायकेन पुरःकर्माण समारव्ये साधुना मितिपिद्ध तद् द्रव्यं यद्यन्यः खयमेव कश्चिद् दद्यति तदा ते साधवा चिद्द 'अजाः' अर्गातार्था अगीतार्थीमश्रा वा मवन्ति ततः परिहर्तव्यं मयनन ॥ १८९२ ॥ इत्मेर्व व्यतिरेकणाह—

र तत्र यहार्य मो० है॰ हिना॥ २ यदान्यो ददाति तदा किं करपते? न चा? इति चक्तव्यं त्रिधियंक्तव्यः । तृतीयोऽपि दाता यदि पुरःकमं करोति तदा तत्र 'प्रसत्तना' प्रसद्भदोषो सर्वात तां च 'करपस्थिकाः' तहणित्रयः क्षुवेन्ति । "चारण मा०॥ ३ 'ति गण्यते ४। "गें मो० है० हिना॥ ४ 'ते ५। 'क' मो० है० दिना॥ ५ 'कमें मयति ६। "द्दे मो० है० हिना॥ ६ 'तमुः प्रथमतः एकेन इति हारं विद्युणोत्ति मा०॥ ७ 'द्रा यदि मो० है० हिना॥ ८ 'य स्पष्टतरमाद्द मा०॥

25

છ

दाकारयित तदा इत्ययम्, यया—ग्ला मां खर्काक्र्येन्दिः अतो न प्रतिनिवर्षितव्यम् । अत एवाह्—यदि ताः कन्यर्णत् पुरःक्षमं क्षुवींग्न् दतः प्रयम-दिनीये तरुग्या सक्तवा देश-सिनाकान्तिः प्रतिनिवर्षमान अत्रयने चतुर्ववृक्षमः ॥ १८४८ ॥

झड वाग्यलिकवार्यान*रहा*नं व्यावेष्ट—

 गुरुकम्मिम क्रयम्मी, जह मन्णह मा नुमं हमा देउ । मंकापदं व होजा, लिलनामणिजो य मुळ्यनं ॥ १८४९ ॥

पुरःक्रमीन क्टने यह मायुना दावी मन्यने 'मा दास्त्रम इयं ददातु' तदः सा चिन्द-यति—अई विस्ता बढ़ा दा अतो नास्ने यनिमामि, इयं नु युन्ता योवनमिन्दा प्रतिमा-सने । छद्वार्यं वा तसाक्षेत्रीम भवेन्—िक्षमेष एत्या सह घटितो यदेवमस्याः पार्थाद् 10 मिलां यदीतुमिन्छति । । यदि दा वृद्यात—मणन् युव्यन्तं छिल्ताछनिको छद्यते यदेवं दथा-मिल्हितां परिविध्यामिकाद्वीन । ८ अति इयं ददातु मा न्यमिति न बन्तव्यम् १० ॥१८४९॥ अय गर्वितिहारं व्याष्ट्यानयनि—

> गंन्ण पहिनियनो, मो वा अन्नो व मे तयं देह । अनम्म व दिनिहिंह, परिहरियन्त्रं पयनेणं ॥ १८५० ॥

१६ कृतपुरःक्रमी दायको मिट्टा ददादः माद्युना प्रतिषिद्धिन्त्रयति—'यँद्रम सायुग्यां गृह-एडी गन्त्र प्रतिदिवृतः उपायासित तदा दान्यामि' द्यित तद् द्रव्यं म वा अन्यो वा दायकः ''से' तस सायोदिदाति तदा न कर्यन । अथ यदेष न गृहाति तदः 'अन्यस' सायोदीन्यने इति सङ्ख्यापि ततनेतारि परिवृत्तेव्यं तद् मन्तं प्रयोदन । एषा निर्युक्तिनाया ॥ १८५० ॥ अन्या एवं मायकाने व्यान्यतमह—

प्रुक्स्मिम्म ऋयम्मी, पहिसिद्धा तह मणिल अझम्म । दाई नि पहिनियत्ते, तम्म व अञ्चस्म व न कृष्ये ॥ १८५१ ॥

पुरक्तमंत्र इते प्रतिषिद्धो वायको यदि मगत्—अन्यमं मावव दासामीनि । तदः प्रति-निवृत्तस वस वा अन्यस वा न कस्यने ॥ १८५१ ॥ तथा—

मिक्तवयरम्भऽनम्भ व, पुत्र्वं दाउगा तह दण तस्त । सा दाया तं वेलं, परिहरियव्या पयत्तेणं ॥ १८५२ ॥

पुरःक्तीन क्षेत्र पूर्वमन्यस्य मिलाचास्य मिलां दत्ता पश्चाविकत्रव्यातारः 'तस्य' साबी-पिलां द्यात्, स दाता तसां वेलायां प्रयेतन परिकृतेव्य इति ॥ १८५२ ॥ अस्तेवाये क्रिबिहिरोगयुक्तमाह—

अवस्त व दाहामी, अणास्त व मंजयस्त न वि कये। अनिहिए व चरनाहणं च दाहं ति तो कथे॥ १८५३॥

खन्में वा सावव दास मीति याँद सहस्म्यति तदा अन्यस्मापि संयतस नैव क्स्पेते ।

१८४ एत्हर्नितः गरः मा॰ २० दे० रामि॥ २९या पुरातना गा९ मा॰ छाँ। "भंदा परिनेत्रते। एस पुरातना" द्वी विशेषचूर्णी ॥ ३९व व्या॰ म॰ छाँ।

20

पत्ती अभिगया तम्हा ते वंभवज्ञा उविद्या । मो तीण मीओ कुरुखेत्तं पविद्वे । सा वंभवज्ञा कुरुखेत्तम्म पासओ ममह । सो वि तओ तद्भया न नीति । इंदेण विणा सुन्नं इंद्रहाणं । नतो मेंब देवा इंदं मनामाणा जाणिज्या कुरुखेत्तं उविद्वया भणंति—एहि, सणाहं कुरु देव-छोगं । मो भणइ—मम इओ निगाच्छंतम्म वंभवज्ञा छ्याइ । तओ सा देविहें वंभवज्ञा ध्वउहा विह्या—एको विभागो इत्याणं रिउकाले छिओ, विद्ञो उद्गे काइयं निसिरंतस्स, नह्यो वंभणम्म सुगपणि, चड्यो गुरुपत्तीए अभिगमे । मा वंभवज्ञा एएस छिया । इंदो वि देवछोगं गओ । एवं नुष्मं पि पुरक्रमक्षे कम्मवंघदोसो ब्रबहत्यावद् वेगछो भवति ॥ १८५६ ॥ पर एवाइ—

संपत्तीह वि असर्ता, कम्मं संपत्तिओ वि य अकम्मं । एवं खु युरेकम्मं, ठवणामित्तं तु चोएह ॥ १८५७ ॥

यदि सन्याप्तावसन्यामिति द्वितीयभैद्धे साथोः पुरःकर्म सवित, सन्याप्तावित च प्रथमभैद्धे यदि 'अकर्म' पुरःकर्म न सवित, तनः एवं 'खः' अवधारण इत्यमेव सदीयमनिस प्रतिष्ठितं यदेनन् पुरःकर्म तन् स्थापनामात्रमेव, तुझब्दस्थवकारार्थस्थान् प्रस्पणामात्रमेवदिमिति 'नोदयित' प्रस्पति ॥ १८५७ ॥ अत्रोच्यते—यन् तावदुक्तम्—"गृवं पुरःकर्मकृतः कर्मवन्यस्तदस्य एव विष्ठित'' (गा० १८५६) तत्र तिष्ठतु नाम, न काचिद्रसाकं अतिरुपजायते, तथा चात्र स्वदक्तमेव दृष्टान्तमन्द्रासामिः सामिमतमर्थं सार्ययतुमिद्रमुच्यते—

ईदंण बंमबज्जा, कया उ मीओ अ तीएँ नासंतो । तो कुरुखेन पविद्वो, सा वि बहि पडिच्छए तं तु ॥ १८५८ ॥ निगाय प्रणो वि गिण्हे, कुरुखेनं एव संजमो अम्हं । जोहें ततों नीह जीवो, घेप्यह तो कम्मबंघेणं ॥ १८५९ ॥

इन्द्रेण बद्धह्या इता, ततो भीतः सन् तस्या नद्धन् कुरुश्चेत्रं प्रविष्टः । साऽपि बद्धह्या 'तम्' इन्द्रं विहः प्रतीक्षते । यद्यसे कुरुश्चेत्राक्षिगच्छिति तने निर्गतं तिमन्दं पुनर्पि बद्धह्या गृहानि । एवमन्याक्रमपि संयमः कुरुश्चेत्रम् , कर्मवन्यस्तु बद्धह्यासद्धः , ततो यदा संयमकुरुश्चेत्राद् द्वितीय-नृतीयमङ्गयोर्ग्युमाच्यवसायपरिणतो जीवो निर्गच्छिति ततो गृह्यतेऽसी कर्मवन्येन
²⁵बद्धह्याक्रन्येन, अनिर्गतस्तुं प्रयम-चतुर्थमङ्गयोर्न गृह्यते ॥ १८५८ ॥ १८५९ ॥ यद्योक्तम्—

"सापनामात्रं पुरःक्रमं" (१८५७) तद्राप न सक्तच्छत, छतः ! इति चेद् उच्यते—

ने ने दोसाययणा, ते ते सुत्ते जिणेहिं पहिनुद्धा । ते खद्ध अणायरंता, सुद्धो इहरा उ महयच्चो ॥ १८६० ॥

यानि यानि दाषाणां-याणानिपाठादांनामायतनानि स्थानानि पुरःक्रमप्रसृतीनि तानि तानि 30सुत्र 'जिनेः' सगबद्धिः 'प्रतिकृष्टानि' निषिद्धानि । अतः 'तानि खलु' दोषायतनानि अना-चरन् माष्टुः शुद्धा मन्तव्यः । 'इतस्या तु' समाचरन् 'मक्तव्यः' विकल्पयितव्यः ॥ १८६० ॥

१ °संह एउमेच पुरः भा०॥ २ न कड़ाचिड् भा० विना॥ ३ °स्नु न गृहाते, प्रथम-चतुर्यमहर्यारित्यंशः॥१८५८॥ मा०॥

परः माद---

का भयणा जह कारणि, जयणाएँ अकल्प किंचि पटिसेवे। नो सुद्धो इहरा पुण, न सुद्धाए दल्पओ सेवं॥ १८६१॥

का पुनः 'भारता '' तिवासना ! । महिराहः—फार्की यतनया पुरःफार्भादि क्रिजिटकरूथं यदि प्रतिमेतिन ततः शुद्धः । 'इत्तरमा पुनः' अयननमा उपनी पा सेयमानी न शुध्यति । ॥ १८६१ ॥ अथ पुरःफार्भारती कारजापुपरशैयति—

> समणुद्रापरिनंकी. अनि य प्रतंनं गिहीण वारिता । गिर्ण्हान असदमाना, मुनिसुहं एतियं समणा ॥ १८६२ ॥

मैन्द्रश नाम-पुरः उ मंगृतं गृहनामण्यापियानान्यतिमानादिशक्ति नदीपमीताः पुरः-णर्गं परितर्गनः । अति न यदि पुरः गाँगृता निभां ग्रहीत्यागनतो गृहिणां भूय पुर कर्म-10 णर्गे मनत्रो भाति अवतं 'वाय्यनः' वकालोनार्थान् प्रतिपेशयन्तोऽग्रहशापाः मन्तः श्रमणाः स्विमृद्रभेषणीयं गृहन्ति ॥ १८६२ ॥ अस्मानाताः विग्रणीति—

किं उपपानी हन्थे, मने दर्वे उदाहु उदगम्मि ।

निधि वि ठाणा सुदा, उटमिम अंगेराणा भणिया ॥ १८६३ ॥

शिष्य प्रथमि—पुर रर्गात हुने हि एने 'उपपात ' अनेपणीयता ' उन मात्रके ! 15 आगेक्षिद्र हुन्ये ! उत्राती एजंड ! । सृहिगह—रमानगत्रकः प्रत्याण बीण्यपि स्थानानि 'शुद्रानि' नेतान्यनेपर्शायानि । हिन्यूक्टेंडनेपर्णायता भणिता ॥ १८६३ ॥ अत्रेवीपप्रायमाट—

जम्हा तु इत्थ-मनिहि कप्पनी नेहि चेन नं इच्नं ।

अनिद्धिय परिभुनं, परिपान तम्हा दगमणिति ॥ १८६४ ॥

यमान नाम्मानेव तम-मारामस्या नदेर द्वस्यमात्मार्थन मन परिभुक्तद्रोप वा परिणतेऽ-20 ष्मापे कल्यने, नमादुरमनेवानेपणीयं न तम-मात्रफ-प्रत्याणीनि ॥ १८६४ ॥

एनगरानादितिपयो निधिरक । सम्प्रति निर्युक्तिसाथया यसविषयं नमेवार-

किं उवधानी धोए, रत्ते चीक्से मुहम्मि व कयस्मि । अत्तिहिय-मंकामियगहणं गीयन्थसंविग्ने ॥ १८६५ ॥

'भीतं' मिलनं मन् प्रधालितम्, 'रक्त' भागुमभृतिभिद्देन्थे रक्तीरुतम्, 'नोक्य' रजकपाधी-१६ दर्नाबोज्यलं फारितम्, 'शुनिकम्' अशुच्यादिनोपलिसं मत् पवित्रीरुतम्, एतानि साध्यर्थं बस्ने कृतानि भवयु । ततथ शिष्यः पृच्छति—िक भीते उपयातः! उत रक्ते र उताहो नोक्यो ! आहोथित् शुनीरुते !। अतापि तदेव निर्वचनम्, नतेपा चतुर्णामेकतरसिलप्युप-पातः, किन्तूदक एव । यत एतदपि साधुना प्रतिपिद्ध मद्द यद्यात्मार्थितं सङ्कामितं वा अन्यसे

१ कारण पुरःक्रमादिकमासेवमानः शुध्यति । निष्कारणे अयतनया वा सेवमानो भा॰॥ २ समनुक्षां परिश्वद्भितुं शीलमेयां ते समनुक्षापरिशक्षिनः, 'मा भृदस्माकं पुरःकर्म- कृतं गृहतामनुमतिदोषः' इत्याशद्भा परिष्ठरन्तीति भावः । तथा यदि पुरःकर्म भा॰॥ ३ °ति यस्त्र मो॰ ३० विना ॥

या प्रशास्यति । तत्रे द्वितीयादिषु संगेषु भद्रेषु पद्मान्वर्गसम्भवात कल्पते, प्रथमादिषु तु भोरपु महस्मभवात् पराप्ये अरीत्निति । यदि नितेष्विष यदु 'जिल्पेहनं' सक्त-मण्डकादि यदा 'सन्के' सङ्गिण्डकादि तयोनिम्बद्देगयोरिष सत्या परचते ॥ १८६९ ॥

देशः म्पनहं पुरक्तिसम् । १८३ स्थलाहाः शिवास्तिपुराट—

मरगामे मउत्रयण, मरगामे परउनस्मए चैव । चेत्तंतो अन्नगामे, चेत्तविह गगन्छ परगन्छे ॥ १८७० ॥ मोजण क गिलाणं, उम्मम्मं गन्छ पडिनहं वा वि । मन्माओ या मन्मं, संकमर्ट जाणमार्रणि ॥ १८७१ ॥

रलान्य-द्वारम

रामाने सोपापने निष्टना भु हर् , यथा-अनुका राज रति, रामाने वा परेपां-माधृनासुपा-भये युनोऽपि प्रयोजनाज्ञयादेन. नता 'लेपान्न ' क्षेत्रभ्यन्तरे अन्यमामे भिक्षार्वर्या गतेन, यदि 10 या क्षेत्रकिर्ज्यभनि पभि दा गीमानेन एतेषु सानेषु सगर्चेत्र या परगर्नेत्र या ग्लानः श्रुती भेरेन, श्रम च म्यानं स. 'उन्मर्भम्' सटनीमाभिनं पत्नान 'प्रतिपत्न वा' थेन पना आया-तरागेव पत्थानं गर्द्धाः भागीहाः विविधितायाज्यमार्गं मद्भागति स प्राप्नोति आजादीनि वेषपञ्चनिः, धाञ्चित्रज्ञान्तरस्य नित्यात्त-निराधनापस्त्रितः । एतंतुर्वाणस्य चारा यद् ग्हानोऽ-प्रतिज्ञागरितः परि गापनादिकः प्रफोर्ति तिनिपनं प्रायधित्वम् ॥ १८७० ॥ १८७१ ॥ 15

त्न एन्स-

मोऊण उ. निलाणं, पंथे गामे य भिनखयेलाए। जह तुरियं नागच्छा, लगाइ गरुए म चडमारो ॥ १८७२ ॥

शुना रठान पि या गराठन आमे या मिलेष्टो भिछोयां वा पर्यटन् यदि 'त्वरितं' तत्वाणा-ढेव नागच्छति ता 'रुगति' प्रामोति स चत्रो गानान् गुरुकान् ॥१८७२॥ यत एवमतः— 20

> जह भगर-मह्यरिगणा, नित्रतंती वृत्रुमियम्मि च्यवणे । हेय होड निपह्अन्यं, गेलके कडयवजटेणं ॥ १८७३ ॥

यथा अनर-मधु रर्शगणाः 'कृतृमिते' सुकृरिते 'चृत्यने' सहकारवनसण्डे मकरन्दपानलोल-पत्रया निपतन्ति 'रति' अर्मुनेव प्रकारेण भगपदाज्ञागनुवर्धमानेन कर्मनिर्वरालागलिप्सया म्यान्ये मसुत्रते 'फंनदर्नांदन' मायाविष्रसुक्तेन त्यरितं 'निपतितव्यम्' आगन्तव्यं भवति । एवं- 25 कुर्वता सार्थाभग्रवास्मन्य कृत भवति, आरमा च निर्वसहारे निर्योजितो सवति ॥ १८७३ ॥

नम्य च म्लानन्तस्य प्रतिच्छानिमां द्वारगाथागाट्-

सुद्धे सङ्घी इच्छकारं, असत्त मुहिय ओमाण लुद्धे य । अणुअत्तणा गिलाण, चालण संकामणा तत्तो ॥ १८७४ ॥

प्रथमतः शुद्ध रति हारं वक्तत्यम् । तत 'श्रद्धी' श्रद्धावानिति द्वारम्, तत इच्छाकार-30 द्रारम्, तदनन्तरमशक्तद्रारम्, तत मुलितहारम्, तटनु अपगानद्वारम्, ततोऽपि छञ्घद्वारम्,

१ उत्तं पुरः भा े े िशा। २ व्यांगते भा । ३ मो हे का विनाडन्यन-

10

20

ततोऽनुवर्तना ग्टानस्य उपलक्षणत्वाद् वैद्यस्य च वक्तत्र्या, तत्रश्वालना सङ्कामणा च ग्टानस्यामि-धातन्त्रेति द्वारगाथासमुदायार्थः ॥ १८७४ ॥ खथावयवार्थं प्रतिद्वारं प्रचिकटियेषुः "ययोद्देशं निर्देशः" इति वचनात् प्रथमतः ग्रद्धद्वारं भावयति—

सोजग ऊ गिलाणं, जो उवयारेण आगओ सुद्धो । जो उ उवेहं कुजा, लग्गह गुरुए सवित्यारे ॥ १८७५ ॥

श्रुत्वा ग्छानं 'यः' साधुः 'उपचारेण' वस्यमाणलक्षणेन ग्छानसमीपमागतः सः 'श्रुद्धः' न प्रायिश्चत्तमाक् । यस्तूपेक्षां कुर्यात् सः 'छगति' प्राप्तोति चतुरो गुरुकान् 'सविस्तरान्' ग्छाना-रोपणासयुक्तान् ॥ १८७५ ॥ उपचारपदं व्याचेष्टे—

उवचरह को णऽतिन्नो, अहवा उवचारमित्तगं एह । उवचरह व कजरथी, पच्छित्तं वा विसोहेह ॥ १८७६ ॥

यत्र ग्छानो वर्तते तत्र गत्ना पृच्छिति—"को णऽतिलो" त्ति द्वितीयार्थे प्रथमा, 'नुः' इति प्रश्ने, युप्माकं मध्ये 'श्रितलं' ग्छानं 'क उपचरित ?' कः प्रतिजागिर्त ?; यद्वा धातृनामनेकार्थ-त्वाद् 'उपचरित' पृच्छिति—को नु युप्माकं मध्ये "श्रितणो ?" ग्छानो येनाहं तं प्रतिजागिर्म ?। श्रयवा 'उपचारमात्रं' छोकोपचारमेव केवरुमनुवर्त्तियतुं ग्छानसमीपम् 'एति' आगच्छिति। ध्यदि वा कार्यार्थी सन्नुपचरित । किमुक्तं भवित ?—कार्यं किमिप ज्ञान-दर्शनादिकं तत्स-मीपादीहमानः प्रतिजागिर्त । 'प्रायश्चित्तं वा मे मिवप्यति यदि न गिमप्यामि' इति विचिन्त्या-गत्य च प्रायश्चित्तं विद्योषयति । एप सर्वोऽप्युपचारो द्रष्टव्यः ॥ १८७६ ॥

अथ श्रद्धावानिति द्वारमाह—

सोठण ऊ गिलाणं, तृरंतो आगओ द्वद्वस्स । संदिसह किं करेमी, कम्मि व अहे निउज्जामि ॥ १८७७ ॥ पडिचरिहामि गिलाणं, गेलने वावडाण वा काहं । नित्थाणुसञ्जणा रास्तु, मत्ती य कया हवह एवं ॥ १८७८ ॥

'खानं प्रतिनाप्रदहं महतीं निनेरामासाद्यिप्यामि' इत्यंनेत्रियया धर्मश्रद्धया युक्तः श्रद्धावानुच्यते । स च श्रुत्वा ग्छानं 'त्वरमाणः' श्रवणानन्तरं द्रोषकार्याणि विद्याय पन्थानं प्रतिपन्नः १५ सन् "द्वरवस्स" ति द्रुतं द्रुतं गच्छन् अगिति ग्छानसमीपमागतस्ततो ग्छानप्रतिचारकानाचा- यीन् वा गत्वा मणिति—सन्दिशत मगवन्तः ! किं करोम्यहं ? किस्मिन् वा 'खर्थे' ग्छानसम्बन्धिनि प्रयोजने शुन्मामिरहं नियोज्ये ?, अहं तावदनेनामिप्रायेणायातः, यथा—प्रतिनागिरिप्यामि ग्छानं ग्छानवयाद्वस्ये वा व्याप्रता य साधवस्तेषां मक्त-पानप्रदान-विश्रामणादिना वैया- यस्यं करिप्यामि । एवंकुर्वता तीर्थस्यानुसज्ञना—श्रनुवर्त्तना कृता मवति, मिक्तश्र मगवतां अतिर्थकतां कृता भवति, "ते गिछाणं पिडयरहं से ममं णाणेणं दंसणेणं चिरतेणं पिडवज्ञहं" (मगवतीस्त्र द्रा० पत्र) इत्यादिमगवदाज्ञाऽऽराधनात् । इत्यं तेनोक्ते यदि ते स्वयमेव ग्छानवयाद्वस्यं कर्ते प्रमवन्ति ततो त्रुवते—आर्थ ! त्रजतु यथास्थानं मवान्, वयं ग्छानस्य

१°षुः प्रय°त॰ दे॰ दां॰॥ २°माणेन ग्टा॰ त॰ दे॰ दां॰॥

सकतमपि वैयाग्रस्यं मृत्तीणाः मा हिन ॥ १८७० ॥ १८७८ ॥ अथ ते न भगवन्ति यदि याडमा रे विभगुणोपेनी वर्धते—

भंजोगदिद्वपादी, नेणुगलद्वा व द्व्वसंजीगा।

मत्यं च नेणऽघीयं, चेडो चा मी पुरा जामि ॥ १८७९ ॥

संयोगाः-वीपपद्र वर्गातनप्रयोगालिहासो तष्टः पाठः-निक्तिलामानात्रस्वविद्येगो येन स सयोगर्ष्टणंडः, आर्थनार् गाभागानिन्यचयः, गढि वा तेन इच्यतंयोगाः कुनोऽपि नातिशयः त्रानविशेषादुपरक्या.. 'हेगर्ल वा' चरक-सुश्रुतादिक सक्लगपि तेनार्यातम्, वेद्यो वा सः 'पुग' पूर्व गृताक्षम असीन्, नना न विसानिय ॥ १८७९ ॥

अत्यि य में योगपाही, गेलचनिगिन्छणाएँ मी हुमली। सीने वापारेचा, नेपिच्छं नेण कायव्यं ॥ १८८० ॥

यदि 'तम्य' जागन्तुणस्य गर्नेः योगमाहिनः मन्ति, म च सय स्ट्रान्यचिकित्सायां कुशलः, तनः शिष्यान् मुत्रार्थपीरुपीप्रशानाः। त्यापार्यं नायं तेन ग्लानस्य 'विकित्सार्थां कर्त्त-न्यम् । उपन्याणिवस्, तेन एच-गण-नत्प्रयोजनेषु शुरकार्यप्रपणे वस-पात्राणुलावने वा यो यत्र योग्यन तथ त्यापार्य गर्भप्रयोजन नाम त्यापाय चितित्याकर्म करीव्यम् ॥ १८८० ॥

मुजार्थपीरुपी जापारचे निभिनार--

15

10

क्षाञ्जं वा गन्छह, सीसेण व वायण्हि वा वाण् । नन्यऽजन्य च काले, सोहिएँ मन्युद्मिह हर्दे ॥ १८८१ ॥

मुत्रार्थपौर्ट्यो। यस्ता म्यानमा मभीप गन्छति, गला न निकला करोति । अथ दूरे म्नानम्म प्रतिक्षयनानः स्त्रपीरभी दत्त्वा अर्धपीरभी शिष्टोण दापयति । अय दवीयान् स भितिभयसतो है अपि पोर्क्यो शिष्टोण वापयति । अधारमीय शिष्टो वाचना दातुमशक्तरतो २० येषां वात्रकानाम्-आचार्याणां म म्यानन्तः मृत्रमर्थ या राशिष्यान् वात्त्यति । अथ तेपामपि नानि वाननापराने राकिनतो यदि तेऽनागाउयोगपाहिननदा तेपा योगो निक्षिप्यते । (मन्याप्रम्-२०००। गर्यप्रन्याप्रम्-१४२२०) धनागादयोगवाहिनन्ततोऽयं विधिः— "तत्थऽत्रत्यं व" इत्यादि । यत्र देत्रे म म्यानमत्रान्यत वा देत्रे सितामी आगादयोगवाहिन आचार्येण वक्तज्याः, नधा-आर्याः! फाल शोधयत । ततर्नर्यथावत् फालमहणं कृत्वा यावतो ३३ दिवसान् कालः शोभिनलावता दिवमानागुदेशनकालान् गर्वानप्याचार्यो ग्लाने 'हुष्टे' प्रगुणी-म्ते सित एकदिवसेनेवोदिशति. यावन्ति पुनर्दिनानि कालप्रहणे प्रमाद कृतो गृखगाणे वा कारो न शुद्धः तेपामुदेशनकारा न उदिस्यन्ते ॥ १८८१ ॥

तत्र क्षेत्रे संसरणाभावेऽन्यत्र गच्छता विधिमाह—

निग्गमणे चडमंगो, अद्धा सन्वे वि निंति दोण्हं पि । भिक्ख-बसहीह् अमती, तम्साशुमए ठविजा उ ॥ १८८२ ॥

30

तनः क्षेत्राद् निर्गमने चतुर्गत्री भवति । गाथाया पुंस्वनिर्देगः पाकृतत्वात् । वास्तव्याः

१ गामेर्थ सूर्णी विदेशयनूर्णी न "अस्य ग०" गायानन्तरं वर्तते ॥ २ ग्लानचि॰ मो॰ ले॰ विना ॥

सत्तरित नागन्तुकाः १ आगन्तुकाः संत्तरित न वास्तव्याः २ न वास्तव्या न चागन्तुकाः सत्तरित ३ वास्तव्या अध्यागन्तुका अपि संत्तरित १ । तत्र यत्र ह्येऽपि सत्तरित तत्र विविः मागेबोक्तः । यत्र तु न सत्तरित तत्रायं विविः—प्रथममत्त्र आगन्तुकानां द्वितीयमङ्गे वास्तव्यानामढें वा यावन्तो वा न सत्तरित तावन्तो निर्गच्छित्ति, तृतीयमङ्गे द्वयोरिप वर्गयोरिद्धाः उसवें या ग्लानं नप्रतिचरकं मुक्तवा निर्गच्छित्ति । एवं मिक्षाया वसतेश्च 'असित' अभाव निर्गमनं इष्टव्यम् । के पुनम्तत्र ग्लानसिव्यो स्थापनीयाः इत्याह—'तस्य' ग्लानस्य ये 'अनुमताः' अभिप्रेतान्तान् प्रतिचरकान् ग्लानस्य समीपं स्थापयेत् ॥ १८८२ ॥

गतं श्रद्धांबानिति द्वारम् । अथेच्छाकारद्वारमाह—

अभिणतों कोइ न इच्छइ, पत्ते थेरेहिँ होउवालंमी । दिट्टंतों महिट्टीए, सवित्थरारोवणं कुझा ॥ १८८३ ॥ बृहसो पुच्छिजंता, इच्छाकारं न ते मम करिति । पंडिग्रंडणा य दुक्खं, दुक्खं च सलाहिडं अप्या ॥ १८८४ ॥

कोऽपि सार्वुवैयाद्वस्यकुश्वालः, परमन्येन 'खमणितः' 'खार्य ! एहि इच्छाकारेण ग्लानस्य वैयाद्वस्यं कुरु' इत्यनुक्तः सन् नेच्छित वैयाद्वस्यं कर्तुम्, स च श्रुत्वाऽपि ग्छानं न तस्य समीपं १३ गतः । कुल-गण-सङ्घस्यविराश्च ये कारणमृताः पुरुषाः 'कुत्र सामाचार्यः सीदिन्तः ? कुत्र चोत्स-पितः ? इति प्रतिचरणाय गच्छान्तरेषु पर्यटिन्तं ते तत्र प्राप्ताः, तश्च स पृष्टः—आर्य ! उत्पर्पन्ति ते ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि ? सिन्ति वा किचित् प्रत्यासत्त्रपरिसरं साधवो ग्छानो वा कुत्रापि भवना श्रुतः ! इति । स प्राह—इतः प्रत्यासत्त्र एव प्रामे सिन्ति साधवः, तेषां चास्त्येको ग्छान इति । तत्रन्तन्त्रस्थोपाछम्मः प्रवतः—यदि तेषां ग्लानो वर्तते ततस्त्वं तस्य प्रतिचरणाय २० कि न गतः ? । स प्राह—'वहुगः' मृयो भृयः पृच्छ्यमाना आपि ते साधवः कद्रापि ममेच्छा-कार्र न कुर्यन्ति, अन्यच अहमनम्याधितन्तत्र गतः, तश्च प्रतिम्रण्डितः—निषिद्धः, यथा—पूण मवता वयाद्वस्यकरेणेति, एवं प्रतिमुण्डन्या महद् मानसं दुःसमुत्पद्यते, 'याद्दशं चाहं ग्लानस्य वियाद्वस्यं करोपि इंद्रशमन्यः कोऽपि न वेत्ति' एवमात्मानं श्लाधितुं 'दुःखं' दुष्करं भवति, अतः कथमनम्याधितन्तत्र गच्छामि ? इति ।

25 ततः सर्विरसस्य पुरतो महद्विको गजा तस्य दृष्टान्तः कृतः। यथा—

एगो राया किचयपुत्रिमाए मरुयाणं ठाणं ठेह । एगो मरुगो चोह्सविज्ञाठाणपारगो मोह्-याण मणिश्रो—तुमं मबमरुगाहिवो, यच रायसमीवं, उत्तमं ते दाणं दाहिह ति । सो मरुश्रों मणाह्—एगं ताव रायिकविस गिण्हामि, विद्यं अणिमंतिश्रो गच्छामि, जह से पिति-पिताम-हम्म अणुगहेण पत्रोश्रणं तो मं आगंतु तत्य नेहिह, इह ठियस्स वा मे ठाहिइ । मोह्याए. 30 मणिश्रो—तम्म अत्यि वह मनुगा तुन्त्र सरिच्छा अणुगाहकारिणो, जह अप्यणो तद्दविणण कर्ज्ञं तो गच्छ । जहां सो मरुश्रो अञ्मर्यणं मन्गंतो इहरोह्याणं कामभोगाणं अणामार्गा जाश्रो, एवं तुमं पि अञ्मर्यणं मन्गंतो निज्ञराह्यस्स अणामार्गी मविस्सिस ॥

१ °म्। ये च 'तस्य' ग्छानस्य 'अनु' मो॰ हे॰ विना ॥ २ परिगुंडणा ता॰ ॥

र्संद्रेंद्वों मित्रता, 'अवस्थम्' अमिन्द्रियं वयमित तत्र गनाः 'म तरामः' म निर्वेद्यानः स्थान-प्रतिचारणार्थमागनामां क्रियनां या ते वास्तव्या विश्रामणादि प्रावृणेककमं करिप्यन्ति ? यतः ते 'तेनव' स्थानेने 'तेषु' कार्षेषु 'अद्काः' आकृठीम्ताः ॥ १८८८ ॥ तथा—

अमामिर्गत तत्र गर्नेनियमाद् 'अवमानन् अवमन् 'उद्गमदोषाश्च' आवाकर्म-मिश्रजात-ध्रमुत्त्यः आदिश्रव्यादेषणादोषाश्च मित्रप्यन्ति । एवं तत्र तेषां मणतां चलागे मामा गुरुका मंत्रयुः ॥ १८८९ ॥ अथ खुब्यहारमाह——

> अम्हे में निजर्द्धा, अच्छह तुच्मे वर्ष से काहामा । अन्यि य अमाविया ण, ने वि य णाहिंनि काऊण ॥ १८९० ॥

मामकर्यासितः सावृतिः श्रतम्, यथा—श्रवकत्र श्रामे ग्छानः मञ्जातोऽितः । तच क्षेत्रं
10 वस्रति-यानक-गोरमादिशिः सेवैगित गुणैक्येतम्, ततम् लामाभिमृतचेतसिश्चन्यमि—'ग्छानपियमन्तरेण न श्रव्यते क्षेत्रमितं प्रगियतम्, अतो गच्छामा वयम्' इति चिन्तयित्वा तत्र गत्वा
मणिति—वयं 'निजराधिनः' ग्यात्वेयाष्ट्रन्यकरणेन कर्मश्चयमिक्यमाणा इहायानाः सः, अतो
यूर्यं निष्ठय वयं 'मिं' तस्य ग्छानस्य वैयावृत्यं करिय्यामः मन्ति चास्माकममाविताः श्रेशासेटित चास्मान् वैयावृत्यं कुर्यतो हृद्य हास्मितः ॥ १८९०॥

मर्न गिठाणलक्ष्मेण मंद्रिया पाहुण नि उक्कोसं । क्षेत्रं मर्गाता चमहिंती, तेसि चारोवणा चउहा ॥ १८९१ ॥

एवं ग्छानसम्बन्धि यह् छड्यं—िमधं तैन नत्र नंस्तिनाः मन्तः प्रावृणेका इति इत्वा छोकाह् 'उद्धष्टं' क्रिय-मयुग्द्रव्यं छमन्ते, अथ न न्वयं छोकः प्रयच्छति ततः 'मार्गयन्तः' 'प्रावृणेका वयम्' इति मिरेप्रायमायमाणानन् येत्रं चमदयन्तिः चमदिने च येत्रे ग्छानप्रायोग्यं न छम्यते १०तन्तेत्रातियं चनुर्वियः अनेपप्रा कर्नव्या । तद्यथा—्द्रव्यनः क्षेत्रतः कालते। मावत्रश्च ॥१८९१॥

तत्र द्रव्यननावग्रह—

फासुरामफासुरो वा, अचिन चिने परिनऽणीते य । असिणेह-निणेहकए, अणहान-ऽऽहार छहु-गुक्ता ॥ १८९२ ॥

अत्रोहेदन दोरेग रजनप्रायोग्यनज्ञममाना यदि प्राशुक्रमवसायन्ते परिवासयन्ति वा तत्रश्र-धःस्त्रारो त्रष्टुकाः । अथाप्राशुक्रमदमायन्ते परिवासयन्ति वा तत्रश्रस्त्रारो गुरुकाः । इह च प्राशुक्रमेनपणीयम् । ८ औह च निर्शायचृणिकृत्—

इह फाछुगं एस्रिजि ति । ▷ अचित्र अवनाञ्चमाणे पीरवासमाने वा चतुर्छेष्ठ । सचित्रे चतुर्ग्छ । एवं परीत्ते चतुर्छेष्ठ । अनने चतुर्गुरु । अकेहे चतुर्छेष्ठ । सकेहे चतुर्गुरु । अनाहारे चतुर्छेष्ठ । आहारे चतुर्गुरु १८९२ ।। टक्तं इव्यनियनं प्रायक्षितम् । अय क्षेत्रनिप्यतमाह—

खढ्रस्यऽन्मंतरतो, चाउम्मासा ह्वंति उग्वाता । बह्या य अणुरवाया, द्व्यारुंमे पसळणया ॥ १८९३ ॥

१ °न सुष्टु-अतीय अद्याः-अफ़्लिफ़ताः मा०॥ २ % १० एतःन्तर्गतः पादः मा० नान्ति॥

स्वात्तीः चेगा क्षेत्रं केरवदा कार्यक्ष-

आगाद्दगितानायां चतुर्गुरः । दुःकादुःखे पड्कादुः । मुच्छान्त्व्वे पड्गुरः । क्ष्व्व्यूपाणे च्छेदः । क्ष्व्य्यूच्यूषे मृनम् । सनव्द्ते अनदस्याय्यम् । आलगते णगद्विकम् ॥ १८९७ ॥ एवं नावदाद्दानिषयमुक्तम् । अयोगिविषयमभित्रीयते—

अंनो बहि न लब्सइ, मंबारग महय मुच्छ किच्छ कालगए।

चनारि छ च लहु-गुरु, छेदो मूलं नह दुगं च ॥ १८९८ ॥

अनिचयदिते क्षेत्रेड्ना बहिर्वा मंत्राको न छन्यते ठता ग्छानसानागादणरिजापनादिषु चतुर्ककुकादिकं तथेव जायश्चित्तं दृष्ट्यम् ॥ १८९८ ॥

अत्र परितारनापदं समुद्धातपदं च गायायां साद्यादोक्तन् अतो मा मृद् मुखमतित्रिनेय-दर्गस व्यामोह इति कृत्वा माद्यात् तदनिव्यनार्यमिमां गायामाह—

पिनाव महादुक्ते, मुख्छामुच्छे य किच्छपाणगर्ते । किच्छुस्मासे य तहा, ममुवाए चेव कालगर्ते ॥ १८९९ ॥ गतार्था ॥ १८९९ ॥ उक्तं बुब्बहारम् । अथानुवर्तनाहारमाह—

अनुवर्दनाः द्यास अणुयत्तपा निलाणे, द्व्यहा खलु तहेव विज्ञहा । असतीह असओ वा, आणेडं दोहि वी कुजा ॥ १९०० ॥

१६ ग्डानप्रायोग्यं यद् मन्त्र-यानादिकं द्रव्यं म एकार्यः—ययोजनं द्रव्यार्थस्तस्याद्रणद्भिरकीनसातु-वर्तना कर्तव्या । "तहेव विज्ञहे"नि तथेव वैद्यसार्यस्याद्यद्भिरकीनम्यानुवर्तना विषेया । यदि स्वयाने द्रव्य-वैद्ययोग्सावस्ततोऽम्ययामाद्रि द्रव्य-वैद्यावानीय द्वाभ्यानप्यनुवर्तनां क्रयीन् ॥ १९०० ॥ अध्नतेव गायां व्याविस्त्रासुराह—

जार्यने उ अपत्यं, मर्णनि जायामाँ ने न स्टमइ ण ।

🕫 विणियहणा अकाले, जा वेल न वेति उ न देमी ॥ १९०१ ॥

म्हानी यद्यप्रयं द्रस्यं याचने तत. सावते भगन्ति—तयं याचामः पैरं कि क्रमेहे ! तत् भवतानिषेतं भ्योम्यः पर्यद्विर्तात न लम्यतं "या" असामिः इत्यं भणद्विर्न्छानोऽनुवर्तितो भवति । यहा ग्लानसायतः पत्रकायहराद्य प्रतिष्ठयाद्विर्गन्यापान्तगलप्रयाद् 'विनिवर्तनां' प्रत्यापननं कुर्वन्ति, तस पुरत्वेश्वत्यं द्रवते—वयं गता स्वभून परं न ल्ल्यम् ; अकाले वा ६० गना याचने येन न लम्यते । सकाले च याचनानं ग्लानं द्रवते—यावद् वेला नवति तावत् प्रनीक्षतः, ततो वयनानीय दासान इति, न पुनद्ववते—न द्रवो वयनिति ॥ १९०१ ॥

अय क्षेत्रनी ग्डानसादुवर्तनामाह—

वन्येत्र अन्नगामे, द्वत्यंतर्श्ययंत नयणाए । अनंयरणमणमादा, छन्नं कडनोगि गीयत्ये ॥ १९०२ ॥

४० प्रथमतस्त्रेत्र आमे ग्लानगयोग्यमन्त्रियणंयम् । तत्र यदि न लम्यते तदाऽन्यत्रामेऽित । ल्यासन्यत्रामा दूरतस्त्रतः "हुत्यंदर" ति 'अन्तरा' अगन्तराच्यामे लिखा हिर्ताये दिने व्यानयन्ति । ल्येक्सप्यसंनग्यं सन्ति ततः "संयर्ते ज्यागए" ति अकारमळेनादसंत्ररतो

न्यानरताशीय 'यत्नया' प्राक्षपिताप्या गृणित । यथ म्यानार्थ व्यापृताना प्रतिचरकाणामसत्त-रणं तनः "एसणमाट" छि एएणाजेभेषु आदिष्यव्याद् उद्गमादिरोषेषु च प्राक्षपिर्दाण्या यति-तत्यम् । अथ प्रतिदिवन म्यानप्रायोग्य न व्ययते नतः 'छपाम्' अप्रकृदं कृतयोगी गीतार्थी या तत्यायोग्य ज्ञाय परिवासयित । ज्ञा याकार्यन्यते मृत्युचारणाऽसमर्थः कृतयोगी । यस्तु चोज्युनार्थे शुन्या प्रतुचारियुनीयाः स गीतार्थ उच्यते । एष हारगाथासमासार्थः । ॥ १९०२ ॥ यथेनामेव विवरीपुर्याः—

> पडिलेह पोरुसीओ, वि अकाउं मग्गणा उ मग्गामे । सिनंतो तिवनं, अमह विणासे य तत्थ वसे ॥ १९०३॥

निष्यानः सम्भावनायाम । सदि मुक्त द्रवां ततः प्रत्येषणां सुत्रार्थपोरूषीं च कृत्वा स्त्रामेद्रन्यभाषितस्य गानेणा फर्जरमा। जैनन न न्यते ततोऽर्थपार्र्णा एपियत्वा, यथवमाप 10 न न स्पते ततः स्वर्षेत्रणां परिवाप्योत्पादनीयम् । अभ तथापि न न्यते दुर्लमं वा तद् द्रव्यं ततः प्रत्येषणा हे अपि च प्रार्थने अपृत्या स्वर्षायेद्रन्यभाषित गार्गयन्ति । अथ लक्षा- मेद्रन्यभाषित न न्यत्यते ततः 'क्षेत्रान्तं ' यक्षेत्रायोद्रत्यभाषित गार्गयन्ति । अथ लक्षेत्रे । अपितं न न्यत्यते ततः पर्वेद्राद्रप्याप्याप्याप्रित्यमा त्येव द्रष्ट्रप्या । अय तत्राप्यनय-भाषितं न न्यत्यते ततः वर्षेत्राद्रपि निवयनगानेनन्त्रम् । अथ क्षेत्रत्रिर्विर्वनो यतो प्रामादेरा-नीयते तद् न प्रत्यापत किन्तु द्रव्यं न तदिवनगानेनन्त्रम् । अथ क्षेत्रत्रिर्विर्वनो यतो प्रामादेरा-नीयते तद् न प्रत्यापत किन्तु द्रव्यं न तदिवनं गत्वा ततः प्रत्यायातु द्रव्यं अपरादेष्टि गत्वा तत्र रात्री यसेत् , उपित्वा च सूर्योद्यवेद्याया मृद्यीत्या द्वितीये दिने तत्रानयन्ति । अथ द्वीयन्तरं तत् क्षेत्रमधिनाधि द्रव्यं च प्रदीत्त्रम् ततोऽपान्तरात्यामे रजन्यानुपिताः सूर्योदये २० तन नत्वा तद् द्रत्यं मृदीत्वा भूयः समागच्छितः ॥ १९०३ ॥ एतदेवाह—

सित्तवहिया व आणे, वियोहिकोडिं वतिच्छितो काढे । पड्दिवसमलव्भंते, कम्मं समद्दच्छिओ ठवए ॥ १९०४ ॥

क्षेत्रचिह्नची गत्वा प्रथममनवभाषितं ननोऽत्रगापित पूर्व तिह्नवसे ततो हितीयेऽपि दिवसेऽनन्त-रोक्तया नीत्वा वथायोगमानयेत् । एप विधिरेपणीयविषयो भणित । अथपणीयेन नासो ग्लानः १५ सम्तरित तेतः मक्रोद्ययोजनक्षेत्रस्मान्तः स्त्रप्राम-पग्नामयोः पद्मकपरिहाण्या तहमासो क्षेत्रबिहरिष पद्मकपरिहाण्या तिह्नवसं ग्लानप्रायोग्यसुत्पादयन्ति । एवं यदा प्रायश्चित्तानुलोम्येन कीतकृता-ऽभ्याएतादिका विद्योगिकोटी व्यतिकान्तो भवति तदा "काहि" ति ग्लानयोग्यमोपधादिकमन्येन स्त्रयं वा यतनया काथयेत् । एव प्रतिदिवसमलभ्यमाने यदा आधाकमीपि समितकान्तो भवति, तदिष प्रतिदिवस न प्राप्यत इत्यर्थः, ततो विद्यद्वमिवशुद्ध वा ग्लानपायोग्य द्वव्यसुत्पाद्य १०

१ ततः क्षेत्रान्तः क्षेत्रयहिर्या पञ्चकपरिहाण्या यदा भीतराता-5भ्याहतादिकां भाव काव ॥ २ °कोटीमति भोव केव विना ॥ ३ °कान्तः, तद ° भोव केव विना ॥ - -

15

20

स्यापयेर्द् । ये तु ग्छानस्य प्रतिचरकान्ते यदि ग्छानकार्यस्यापृताः परक्षेत्रं वा त्रजन्त. स्वार्धम-हिण्डमाना न संतर्नित तत एपणादिदोपेषु पञ्चकपरिहाणियतनया गृहन्ति ॥ १९०४ ॥

यत् तद् ग्छानार्थ परिवासते तत् कीद्दरे स्थाने स्थाप्यते ? इत्याह—

उँव्यरगस्स उ असर्ता, चिलिमिणि उभयं च तं जह न पासे । तस्सऽसइ पुराणादिस, ठविंति तदिवस पडिलेहा ॥ १९०५ ॥

कृतयोगिना गीतार्थेन वा तद् अन्यस्मिन् गृहापवरके स्थापनीयम्। अथ नात्ति पृथगपवरकत्त्रती वसतावेव योऽपरिमोन्यः कोणकत्रत्रै चिलिनिलिकया आवृत्त्य 'उमयं' ग्लाना-ऽगीतार्थल्यणं यथा न पत्यित तथा स्थाप्यम् । यदि ग्लानन्तत् पत्यिति तदा स यदा तदा तस्याभ्यवहारं कृयीत् । अगीतार्थस्य त तद् हृद्या विपरिणामा-ऽप्रत्ययाद्यो होषा मवेयु । ''तस्सऽसइ'' ति 10 'तस्य' अपरिमोन्यस्थानस्थामावे पुराणः—पश्चात्कृतत्त्रस्य गृहे आदिशक्ताद् मातापितृममानेषु गृहेषु स्थाप्यन्ति । तस्य च तत्र स्थापितस्य तिह्वस प्रस्थपेत्रणा कर्तव्या । तिह्वसं नाम प्रतिदिनम् । यदुक्तं दिश्याम्— तिह्वसं अणुदिखहे (वर्ग ५ गा० ८) इति । ॥ १९०५ ॥ अथ 'अणेउं दोहि वी कुज्ञा' (गा० १९००) इत्यस्य व्यास्थानमाह—

फामुगमफासुगेण व, अचित्तर परिचऽणंतेणं ।

आहार-तिह्णेतर, सिणेह इअरेण वा करणं ॥ १९०६ ॥

प्राञ्जेन अप्राञ्जेन वा अचित्र 'इतरेण वा' मिचतिन परीत्रेन अनन्तेन वा आहारेण अनाहारेण वा तहेवसिकेन 'इतरेण वा' परिवासितेन सकेहेन 'इतरेण वा' अकेहेन न्छनस्य चिकित्सायाः करणमनुज्ञातम् ॥ १९०६ ॥

गता ग्लानानुवर्तना । अथ वैद्यानुवर्तनानिमिथित्तुः प्रतावनां रचयन्नाह— विज्ञं न चेव पुच्छह्, जाणंता विति तस्स उवदेसो ।

दह-पिरुगाइएम् च, अनाणगा पुच्छए विज्ञं ॥ १९०७ ॥

न्छानो त्र्यात्—यूयं वैद्यं नेत्र पृच्छय, आत्मच्छन्देनेत्र प्रतिचरणं दुरुय । ततो यदि सायतो जानन्तः—चिकित्सायां कुग्रह्मततो क्षुत्रते—अस्मानिर्वेद्यः प्रागेत पृष्टत्यत्येवायनुपदेश इति। यहा प्रतिश्रयान्तिगेत्य क्रियन्तमपि भूमागं गत्ना मुह्तंनात्रं तत्र स्थित्वा समागत्य क्षुत्रते—
25 अयं वैद्येनोपदेशो दत्त इति । तथा दृष्टं—सर्पडङ्कः पिरुनं—गण्डः खादिग्रहणेन शीतिरुक्ता दुष्ट-वातो वेत्यादिपरिग्रहः, एतेप्वाप यदि ज्ञात्ततः स्वयमेत्र कुर्वन्ति । अथाज्ञात्ततो वैद्यं पृच्छन्ति ॥ १९०७ ॥ अत्र शिष्ट्यः पृच्छति—

किह उप्पन्नों गिलाणो, अहम उण्होदगाइया बुड्डी । किंचि बहु मागमढ़े, ओमे खुर्च परिहरंतो ॥ १९०८ ॥

१ °त्—परिवासयेत् । ये च ग्ला॰ मा॰ शं॰ ॥ २ ओवर॰ ता॰ ॥ ३ °त्र कटेन चिलिमिल्या वा त्रा॰ मा॰ ॥ ४ हेनवन्त्रं यदेशीनाममालागन्त्रियं ॥ ५ "दह ति चलदहादे, जिल्ला छोडिया, लदिग्गहूंगं गंदादि" इन्ते चूणां । "दह ति चलदहाद, पिल्लं गंडं, सादिग्गहूंगं छोडिया" इते विशेषचूणां ॥

'कथं '' केल हेनुका ग्यान उत्पतः ' इति । सृरिसाह—भूयांसः सन्तु रोगातद्वा यह्नशाह् म्हानत्तमुपनागने । तत्र -: "द्युष्यंतनीति शुष्यन्ति, नशुरोगो द्यरो त्रणः।" इति यच-नादः यदि ज्यादिको विद्योपणमाध्यो रोग ततो जपन्येनाप्यप्टम कार्यनत्यः । यस यस रोगस पर्यं तत् तस्य पार्यम्, यथा— तत्रोगिणो धृतादिपानं पित्ररोगिण बर्कराद्यपयोजनं क्षेप्मरोगिणो नागराद्रिमरणिगित । ''उण्नेद्रगारमा सुद्रि'' ति उपपास कर्त्तुमसिहेप्णुर्यदि । रोगेणामुक्तः पारयति तत एए फ्रम — उत्योदके प्रक्षिप्य कृरभिवधानि अगरितानि ईपन्मिल-तानि वा सम दिवानि एक या दिनं टीयन्ते । तनः "किनि" वि उष्णोटके मथुरोठणं स्तोकं प्रक्षिप्य तेन सह जोउन हिनीचे समके दिन या दीयन । एवं तृतीये "बहु" वि बहुतरं मधुरो-त्य उप्पोर्टी मिश्य धायते । "भागि" ति नार्थं सप्ती दिने वा त्रिभागी मधुरोहणस्य ही भागातुर्गोरकम्य. "अंद्र" नि परामे सम्रेह दिने वा पर्छ मधुगेरुणसार्द्रमुण्णोदकस्य, पष्टे 10 "पोमि" वि निमाग उप्पोक्तरूक हैं। भागी मधुरोक्तवस्य, मप्तमे सप्तके दिने वा "जुवं" ति 'युक्त' विजिन्मातमुष्णोरकं रोप न् सर्वमिष मनुगेरणिसेतं डीयते । नवनन्तर् हितीयाँहरिष सदापत्यान्यनगाहिवादीनि परितरन समुहिशनि गायन् पुराननगाहारं परिणमयितुं समर्थः सम्पन्न इति । -: एंगा उप्मोदमादिमा गृतिईष्टन्या । उत् न सर्वत्राप्येक दिन विशेष-भूणि-रिहद्वाप्यानिमानेण दिनसाकं नु भुग्येनिमायेणेति मन्तव्यम् ।- ॥ १९०८ ॥

अध "अहम" नि परं व्यान्यानयज्ञान-

जात्र न मुक्तों ता अणगणं तु मुक्ते वि उ अभत्तहों। असहमा अञ्च छहं, नाऊण रुपं च जं जोगं ॥ १९०९ ॥

यावदमी ज्यर-नक्षीमाजिना रोनेण न गुक्तनावद् 'अनगनम्' अभक्तार्थलक्षणं कर्वव्यम् । मुक्तनापि निर्फं दिनगमभनावों निषेयः। अवागायमहिष्णुननोऽष्टमं वा पष्ट वा करोति 120 जात्वा या 'रुजं' रोगधिरोपं यर् यत्र योग्यं शोपणनशोपणं या तत् तत्र कार्यम् ॥ १९०९ ॥

यथेपंतुर्याणानागरी। रोग उपशान्यति ततः मुन्टरम्, अथ नोपशान्यति ततः को विधिः ! त्यार--

एवं पि कीरमाणे, विजं पुच्छे अठायमाणिम ।

विज्ञाण अहर्ग दो, अणिष्टि इद्धी अणिष्टियरे ॥ १९१० ॥

25 एयमाप क्रियमाणे यदि रोगो न तिष्टति—नोपगाम्यति ततलसिन्नतिष्ठति वैयं प्रच्छति । अथ कियन्तो वैषा भवन्ति ! इत्यार्—वैयानां सल्वष्टकं मन्तव्यम् । तत्र द्वी वैद्यी नियमाद् 'अनृद्धिकां' ऋदिरिहर्ना, 'इतरे' पड् वैद्या ऋदिमन्तो अनृदिमन्तो वा ॥ १९१० ॥

तदेव वैचाएक दर्शयति-

संविग्गमसंविग्गे, दिइत्थे लिंगि सावए सण्णी। अस्सण्णि इश्वि गहरागई य कुसलेण तेगिच्छं ॥ १९११ ॥

'संविमः' उचतविहारी १ 'असविमः' तद्विपरीतः २ 'लिङी' लिङावशेपमात्रः ३ 'श्रावकः'

१ 🗗 🗠 एतःन्तर्गत पाटः भा॰ नानि ॥ २ 🗗 🗠 एतदन्तर्गत पाठः भा॰ पादि ॥

मतिपन्नाणुत्रतः ४ 'संज्ञी' अविरनसम्यन्दृष्टिः ५ 'असज्ञी' मिय्यादृष्टिः, स च त्रिया—अनिभ-गृहीतमिय्यादृष्टिः ६ अमिगृहीतमिय्यादृष्टिः ७ परतीर्थिकश्चेति ८। "दिहुर्ये" ति दृष्टः-डपल्ड्योऽर्थ.—छेडश्रुतामिथेयरूपा चेन स हष्टार्थी गीतार्थ इत्यर्थः, एतत् पदं सप्रतिपक्षमत्र सर्वत्र योजनीयम् । तद्यथा—यः संविद्यः स गीतार्थो वा स्यादगीतार्थो वा । एवमसंविद्य-⁵ लिइ.स-श्रावक-संज्ञिप्त्रपि गीतार्थत्वमगीतार्थत्वं च द्रष्टव्यम् , तथा चृणिकृता व्याख्यातत्वात् । अनिगृहीतादयस्तु त्रयोऽपि नियमादगीनार्थाः । "इहि" ति संविमा-ऽसंविमा नियमादन्-द्धिको, रोपान्तु ऋद्विमन्तोऽनृद्धिमन्तो वा मवेष्टः । सर्वेऽिन चेते प्रत्येकं द्विया—कुग्रला अकुगलाश्च । 'गलागतिः' चारणिका, सा चानीपां कर्त्तत्र्या । तद्यथा—प्रथम संविद्यगीता-र्थेन चिकित्माकर्म कारयिनव्यम्, अथासा न छम्यने ततोऽसंविद्यगीतार्थेन, तद्माव संविद्या-त्तदमाप्तावसंविद्यागीतार्थेनानि । एवं लिङ्गस्यादिप्विप संज्ञिपर्यन्तेषु मावनीयम् । तेषामशार्षे। पूर्वमनभिगृहीनभिय्यादृष्टिना, ततोऽभिगृहीतमिथ्यात्वेन, तदनन्तरं परतीर्थिकेनापि कारियतव्यम् । एते च पूर्वमनृद्धिमन्तो गवेपणीयाः न ऋद्धिमन्त , तदीयगृहेषु दुःप्रवेशतया वहुदोपसङ्गवात् । एनं च यदि चिकित्साकुगुला मवन्ति तत इत्थं क्रमः प्रतिपत्तन्यः। थथ यः संविद्यगीतार्थः सोऽकुगले यस्त्रसंविद्यगीतार्थः स कुगल्यतः संविद्यगीतार्थं परित्य-15 ज्यासंविद्यगीतार्थेन कारापणीयम् । एवं वहूनप्यपान्तराले परित्यज्य यः कुशलस्तेन चैकित्स्यं कारियतव्यम्, एषा गत्यागतिः प्रतिपत्तव्या। यद्वा "इह्नि गइरागड्" ति ऋद्विमति गत्यागती कुर्वाणे महद्विकरणं मवति, अतोऽनृद्धिना कार्यितत्र्यम् । य नै चैतत् समनी-पिकाविजृन्मितम् । यत आह विशेषचृणिकृत्-

अहवा गइरागइ ति इहिमंताणं इंत-नंताणं अहिगरणदोसा, तम्हा अणिहिणा कारेयवं ति । ⊳ 20|| १९११ || असुमेवार्थमपराचार्यपरिपाट्या दर्शयति—

संविक्नेवर लिंगी, वह अवह अणागाह आगाहे। परउत्थिय अहमए, इही गइरागई क्रुसले ॥ १९१२ ॥

सविम. १ 'इतरश्च' असविमः २ लिङ्की च ३ इति त्रयोऽपि पान्वत्, 'त्रती' प्रतिपन्ना-णुत्रनः ४ 'अत्रती' अविरतसम्यन्दृष्टिः ५ 'अनागादः' अनभिगृहीतदर्शनविद्रोपः ६ 'आगादः' ^{'23} अभिगृहीतमिथ्यादर्शनः ७ 'परयृथिकः' शाक्य-परिव्राजकादिरप्टमः ८। "इङ्घी गइरागई कुसले" ति च्याच्यानार्थम् ॥ १९१२ ॥ अनन्तरोक्तकमविपर्यासे प्रायश्चित्तमाह—

वोचत्ये चडलहुगा, अर्गायत्ये चडरों मासऽणुग्वाया ।

चडरो च अणुग्वाया, अइसलें इसलेण करणं तु ॥ १९१३ ॥ संविभगीतार्थं मुक्ता असंविभगीतार्थेन कारयति एवमादिविपर्यम्वकरण चत्वारो रुघवः । ³⁰ गीतार्थं मुक्त्वा अर्गातार्थंन कार्यित चत्वारो मासा अनुद्धाताः । कुग्रलं विहायाकुग्रलेन कार-

यति चत्वारोऽनुद्धाता मासाः । यत एवमतः कुद्युळेन चिकित्साकरणमनुज्ञातम् ॥ १९१३ ॥

१°ति ८। दृष्टार्थो नाम गीतार्थः, एतत् मा॰ ॥ २ ४ १० एतदन्तर्गतः पाठः सा॰ नात्ति ॥ ३ नेयं गाया चूर्णिकृता विशेषचूर्णिकृता बृहद्भाष्यकृता वा बाह्यानाऽन्ति ॥

अब वैषयमीप गन्छनां विनिम्निभित्तुगाः---

नीयगपुन्छा गमणे, पमाण उचगरण सउण वाचारे ।

संगारा व गिंहीणं, उपएसा चेन तुलणा च ॥ १९१४ ॥

प्रमानो नोदलपुच्या वक्तत्या. वनो नगर्न वनगराणे वापूनाम्, तनलेपामेव प्रमाणम्, तत उपकरणम्, तन शहनाः, नजननमं वयस्य 'व्यापारः' प्रशन्ता-ऽप्रशनस्यः, ततः ६ 'सन्नारः' सक्केनो मृतिया प्रधानहत्तार्थसा यथा फर्मायः, नतो वेथनोप्रशादिविषय उपदेशो यश दीयते, ततनमुर्देशं धुना गया नय मुलना कर्षेता, तदेनन् सर्वमि वक्तव्यमिति द्वारगाथायमामार्थः ॥ १९१२ ॥ भग जिल्लामं प्रतिपासने —तत्र प्रथम नोवकप्रच्छाहारम् , गिष्यः प्रन्छति-—िक राज्यो वेयसमी रं भीवताव * अथ वेय एव रयानसकाशमानीयताम् ! भन्न कथिदानार्वदेशीय भारतनगढ --10

> पाहडिय नि य एगी, नेयच्यों गिलाणशो उ विजयरं। एवं नन्य भर्णने, चाउम्माना भवे गुरुमा ॥ १९१५ ॥

'प्क.' कश्चित् पार —ोत् स्यानान् रमानीयनाने 'पानृतिका' वध्यमाणलक्षणा भवति, अतो म्हान एवं विदागृह नेनाए । उदानानार्यदेशीनोत्ते मृदिगह्—एवं 'तत्र' म्हानन-यनविषये भणनो भानः। द्वारा गाना गुरुका भवन्ति ॥ १९१५ ॥ 15

केलं प्रनः प्राथितमा ' इन्यतः ।।। ---

रह-हन्धि-जाण-तुरम्-अणुरंगाउँहि उति कायवहो ।

आमण महिय उदए, कुरुकुय मधरे उ परजोगी ॥ १९१६ ॥ रथ-हिम्मी-प्रनीती पान-विदि तकि हुन्। प्रसित अनुरता-गणी एते. आदिशब्दा-दपरेण या विन्हार्टन 'आयानि' जागकहनि ये। फायाना--एविन्यादीना वधी भवति । तथा 20

समायातस्यासन दानच्यम् । स्टानम्य च दार्गारं परागृष्टे नगादिपारने वा कृते कुरुकुनाकारापणे मृतिकाया उदकरम न वधी भवति । राग्हे तु परयोगो भवति, परमयोगेण सर्वमपि भवति न माधूनां किनप्यधिकरण भवतीन्यतं । एया प्रामृतिका वैव ग्लानसमीपमानीयमाने यतौ भवति ॥ १९१६ ॥ धन. किय् * स्ताह--

लिंगन्थमाहयाणं, छण्हं चेजाण गम्मऊ मूलं।

संविग्गमसंविग्गं, उपस्पगं चेव आणेआ ।। १९१७ ॥

लिक्स्यादीना पण्णामिष वैद्याना गृहं रठानं गृतित्वा गम्यताम् नेते उपाश्रयमानेतन्याः, अपिकरणटोपभयात् । संविगोऽसविगध्य एनो हावप्युपाधयमेवानयेत् , दोपाभावात् ॥१९१७॥

पुनं परेणोक्त सुरिराह— वाता-ऽऽतवपरितावण, मयपुच्छा सुण्ण किं सुसाणकुडी ।

स चेव य पाहुडिया, उवस्तए फासुया सा उ ॥ १९१८ ॥

ग्लानो वैद्यगृहं नीयमानो पातेन आतपन च महती परितापनामनुभवति । "मयपुच्छ" चि

१ पर्य नोदयेनोंक भा॰॥

90 US

विधि:

25

30

आवडणमार्एमुं, चडरा मामा हवंनऽणुग्वाया । एवं ना वर्चने, पन य हमे भवे दीमा ॥ १९२४॥

'आपतने' रागरी शिरमी पर्तम, आदिशकात् प्रपतन प्रसाटन वा मजातम्, अपरेण पा पस्तरी गृहीत्वा प्रधानम् आदृष्टः, 'रूप्त पा प्रथमि '' इत्यादि भणितः, गच्छतामेव वा मेनापि क्षुनम्, प्रमादिश्वपद्मनेपु जानेपु यदि गच्छति तथा चलारे मासा अनुद्धाता ह भवन्ति । एवं तापर् मानो मन्त्रस्य । अ । अ । असूर्य प्राप्तन रमे दोषाः परिहर्षक्या मवन्ति ॥ १९२४ ॥ ताने र मतिपारसन् न्यापारस्मातः—

साउ-ऽव्भंगण-उच्चलप-लाय-छारु फुरुट य छिंद-भिंदंती। सुरुआनण गेगविति, उचण्सी वा वि आगमणं॥ १९२५॥

एकवाटकपरिधानो यस वेशो भर्तन नम न प्रष्टयः । एतं तेलादिना अध्यक्षनं कल्क-10 कोभादिना या व्यक्तं नेलानं में या-गूर्नं गुण्डनादिल्यणं कारयन्, धारय-भस्तन व्रव्हरहकस्य-क्न्यरपुर्वित्रम्य उपल्यापन्यः गुण्डांना या गर्नाप नितः, फोष्टादिक या रप्पकादिना या दृषितं क्ल्याप्यक्तं दिल्यान्, पर्वे प्राप्त या, शिर्यान्, धिराया या भेदं स्त्राणो न प्रच्छनीयः, भव ग्यानस्यापि विद्यान् हेत्य भन्य नत्रभेद्यनन्गेदनयोगि प्रष्ट्य । अथासी शुभासने उपिष्टः 'रागिविधि' येद्यमान्युत्तक मन्यत्युत्त प्रत्येभ्यति, अथवा रोगिविधिः-चिकित्सा १६ तां क्लािविधान्य प्राप्तान । १९२५॥ अय राज्ञान्य गृहिणामिति द्वारं व्याल्यानयिति—

पन्छाकडे य सभी, दंगणऽहाभद् दाणसट्टे य । मिन्छिटिट्टि संबंधिए अ परितन्धिए चेत्र ॥ १९२६ ॥

'पश्चारहतः' नाग्ति परिलान्य गृह्मान प्रतिपान, 'नर्जा' गृहीताणुवतः, "दंसण" ति 20 दर्शननम्पत्नोऽधिरतनम्पर्हार , 'यथानहरू ' सम्यत्त्वरहित पर सर्वज्ञशासने साधुपु च बहु-मानमान्, 'दानश्चार ' दानश्चिः. 'भिन्त्राहिः' शाक्यादिशासनसः, 'सन्त्रन्धी' म्लानसेव स्वजनः, 'परतीथिक ' सरज्ञन्य-परिमाजकादि परं भद्यकः । एतेपा सकेतः कियते, यथा—वैयस्य पार्धे चयं गच्छामः, भविष्टिन्तर्भवित्वस्यम्, यदसी स्थात् तद् युम्माभिः सर्वमपि प्रतिपत्तन्यम् ॥ १९२६ ॥ ये वैश्यमीं प्रशापितासे वैद्यसेदं कथयन्ति— 25

वादि नियाण विकारं, देसं कालं वयं च धातुं च । आदार अग्गि-धिद्यल, समुद्दं च किहंति जा जस्स ॥ १९२७ ॥

'त्र्याधि' ज्वरादिक रोग 'निदान' रोगोध्यानकारण 'विकारं' प्रवर्द्धमानरोगविशेषं 'देशं' ग्हानत्वीत्पत्तिनिवन्धनप्रवात-निवानादिप्रदेशस्त्र 'कारु' रोगोत्यानसमयं पूर्वाहादिकं 'वयश्च' देशव-तारुण्यादिक 'वातु च' वानादीना धातृनामन्यतेमो यस्तस्योत्कटो वर्चते तं 'चः' समुख्ये 80

१ या उपरि अचष्टभ्य वा स्थि॰ भा॰ ॥ २ °स्तं वाचयति ततः प्रष्टवाः । स च भा० ॥ ३ °गोत्पित्तिकारणभूतं पत्मन्तारिकं रोगोत्थानसमयं वा पूर्वा॰ भा० । ४ मो० छे० विनाऽन्यत्र— °तमो य उत्कटम्नम् 'आहा॰ स० दे० जा० । श्रामो धातुरस्योत्कटो वर्त्तते इत्येव 'आहा॰ भा० ॥

20

'आहारम्' अल्पमोजित्वादि स्क्षणम् अग्निवरं—जाटरो विह्नरस्य मन्दः प्रवरुगे वा इत्येवं घृतिवरं— सात्त्विकः कातरो वाऽयमित्येवं तथा ''समुइं'' ति प्रकृति सा च या यस्य जन्मतः प्रमृति तां च कथयन्ति ॥ १९२७ ॥ अथोपदे चहारमाह—

कलमोदणो य खीरं, ससकरं त्लियाइयं दन्वे । भृमिघरेट्टग खेत्ते, काले अमुनीइ वेलाए ॥ १९२८ ॥ इच्छाणुलोम भावे, न य तस्सऽहिया जिंहं भवे विसया । अहवण दित्तादीमुं, पिंडलोमा जा जिंहं किरिया ॥ १९२९ ॥

अनन्तरोक्तं व्याघि-निदानादिकं श्रुत्वा वद्यः सगृहस्थित एव द्रव्यादिमेदात् चतुर्वियमुपदेशं द्वात् । तद्यथा—द्रव्यतः करुमगािटरोदनस्तथा क्षीरं च सगर्करमस्य दातव्यम्, तथा तूिल10 कायां ग्रायितव्यः, आदिशव्याद् गोर्गापंचन्दनादिना विलेपनीय इत्यादि । क्षेत्रतो मृमिगृहे
पकेष्टकागृहे वाऽयं स्थापनीयः । कालतोऽमुकत्यां वेलायां प्रथमप्रहराष्ट्री मोजनमयं कारेणीयः ।
मावतो यदस्य स्वकीयाया इच्छाया अनुलोमम्—अनुकृष्ट तदेव कर्त्तव्यम्, नास्याज्ञा कोपनीयेति
मावः, तथा यत्र 'तस्य' न्लानस्य विषयाः 'अहिताः' अनिष्टाः कन्दित-विलिपतादिद्भा गीतवादित्रगोचरा वा शब्दादयो न भवन्ति तत्र स्थापनीय इति शेषः । 'अहवण'' ति स्थवा

15 'हप्तादिषु' इप्तचित्तप्रमृतिषु प्रतिलोमा किया कर्त्तव्या । तत्र द्रप्तचित्तस्यापमानना, यथा
स्थ स्थमानादिनाऽपहृतचित्तस्य > दर्पातिरेकज उन्मादः शाम्यित, ≪ क्षिप्तचित्तस्यापमानादिनोपहतचित्तस्य > सम्मानना; यशाविष्टस्य द्य यथायोगमपमानना सम्मानना वा विवेया; ज्वरादो वा
रोगे विश्लोपणादिका किया या यत्र युज्यते सा तत्र विवेयेति ॥ १९२८ ॥ १९२९ ॥
अथ तुरुनाहारमाह—

अपडिहणंता सोर्ड, कचनोगाऽरुंभि तस्स किं देमो । नहविभवा तेगिच्छा, ना रुंभो ताव जृहंति ॥ १९३० ॥

े वृद्येन दीयमानस्पदेशम् 'अप्रतिष्ठन्तः' तहचनमविक्षृद्धयन्तः श्रुत्वाऽऽत्मानं तोलयन्ति— किमेतत् कलमशाल्यादिकं लप्यामहं न वा ! इति । यदि विज्ञायते 'ध्रुवं लप्यामहे' ततो न किमपि मणन्ति । अथ न तस्य ध्रुवो लागः ततो मणन्ति—यथा युप्मामिरुपदेशो दत्तत्वया १० वयं योगं करिप्यामः, परं यदि छतेऽपि योगे न लमामहे ततस्य कि दद्यः !; अपि च वैद्य-कशास्त्रे 'यथाविमवा' विमवानुरूपा चिकित्सा भणिता, यस्य याद्यशं विमृतिस्त्रस्य तदनुरूपैरोपधैः पय्यश्च चिकित्सा कियते इत्यर्थः ; अतो य्यमपि जानीथ, यथा—अस्माकं सर्वमपि याचितं लम्यतं नायाचितम्, अतो यदा कलमञाल्यादिकं याच्यमानमपि न प्राप्यते तदा किं दात-लम् ! इति । एवं वैद्योपदेशमपसप्यन्तन्त्यायद् "जृहंति" ति देशीश्वल्यत्वाद् आनयन्ति यावद् अध्यस्य द्वयस्य कोद्य-कृरादेर्धुवः प्रतिदिनमावो लामो भवतीति ॥ १९३०॥

[·] १ °रियतिच्यः । साँ मा० ॥ २ ४० एतदन्दर्गतः पाठ भा० नान्ति ॥ ३ मो० छे० विनाऽन्यत्र— °स्य तस्य दर्पा° त० टे० का० ॥ ४ ४० एतदन्तर्गतः पाठ भा० पुन्तक एव वत्तेते ॥ ५ °ति" व्यान° नो० छे० निना ॥ ६ °वो छास्रो सचित मो० छे० विना ॥

अथ तुरुनागेव प्रकारान्तरेणाट-

नियएहिं ओमहेहिं, कोइ भणेजा करेमऽहं किरियं। तस्यऽप्पणो य थामं, नाउं भावं च अणुमन्ना॥ १९३१॥

तैस म्यानस्य 'कोऽपि' मजातरो वेचो भणेत्—निर्वाहरीपंघरह म्यानस्य करोमि कियाम्, प्रेष्यत गदीये गृहे म्यानभिति । नतो गुरुभिः प्रोष्टेन ग्यानेन तस्यात्मनध्य 'साम' वीयं तोल-६ नीयम्—किमेप वेच लीपणानि प्रियत् समर्थां न वा ', जहमपि कि भूत्या वल्यान् ! आहो- श्विद्वल्यान् ', भागो नाम-किमेप पर्माद्वोश्विक्तिला चिकीपुं त्वगृहे मामाकारयति ' उताहो उक्तिकामणाभिप्रायेण ! इति । ययसो गृहस्य जीपभप्रणे समर्थो यदि च स्वयं भूत्या वल्यान् यदि च पर्माहेतोः सज्ञानस्यनमाकारयति तन एत तस्यात्मनध्य वीर्यं भावं च जात्वा गुरूणाम- नुजां गृहीत्वा तत्र गन्तस्य नान्यनिति ॥ १९३१ ॥ अवामो वेपो भूयात्—

जारिसयं गेलकं, जा य अपन्था उ बद्दण तस्य । अददृण न सफा, बोर्नु तं विवामी तत्य ॥ १९३२ ॥

यादशं सुष्माभिः 'रठान्य' रठानलगाप्यात 'या च' यादशी तत्यायम्या वर्धते तदेतद्रदृष्ट्वा न शक्यते किमप्रीयपादि 'वकुम्' उपटेष्टुम् , ततः 'ताव' स्वानसगीपे नजाग उति ॥१९३२॥

एवं भणित्या मतिशयगागतन्य तस्य यो विभिः फर्जन्यनमभिभित्युद्धीरगाथामाह-

अन्भुद्धाणे आसण, दायण भद्दे भती य आहारी । गिलाणस्य य आहारे, नेयच्यो आणुपुच्यीए ॥ १९३३ ॥

प्रयममञ्जूत्यानित्ययो विधित्तित्व्यः, तत आमनविषयः, ततो ग्ठानस्य दर्शना यथा क्रियते, ततः "मरे" चि भद्रको वैगो यथा निकित्नामेवमेव करोति, इतरस्य तु 'मृतिः' मज्ज-नादिकं चिकित्नामेननम् आहारधा यथा दातन्यः, ग्ठानस्य च यथा आहारे यतना कर्चन्या 20 तथा सर्वोऽपि विधिरानुपूर्त्यो प्रयत्यमाणो ज्ञातन्य इति समुदायार्थः ॥ १९३३ ॥

जवयवार्थं नु प्रतिद्वारमिभिल्तुराह्—

अन्सद्धाणे गुरुगा, तत्य वि आणाइणो भवे दोसा ।

"अधवा सण्णातओं से बोद् भणेना—जियगाणि॰ गांधा ॥ तस्त थामं-कि ओसधाणं समत्यो असमत्यो ?, अप्पणो थाम-कि विभिन् विल्लो एम् ण या ?, भावं च ति-कि जेहेण ? धम्महेर्ड वा ? अध परिणामे-तओ ?, एवं जाहुं अजुण्णा ॥" इति च्यूणों ॥

[!] तम्य ग्लानम्य फोऽपि सद्वातिको भणेत्—निजवेदीपंघरहं ग्लानस्य करोमि क्रियाम्, मेथ्यत मदीये मृहे ग्लानमिति । ततः क्षिं फर्स्वम् ? इत्याह—'तस्य' मृहस्थस्य 'स्थाम' बीयम्-'किमीपधानि प्रियतुं [नमधा वा श्व]समर्थः ?' इत्येवं द्वात्या, 'आत्मनो वा' तस्य ग्लानम्य स्थाम वात्या-'कि भृत्या वलवान् ? आहोश्चिद्वलवान् ?' इति, भावं च बात्या-'किमेप धमेहेतोश्चिकित्नां चिकीर्षुः समृहे ग्लानमाकारयति ? उताहो उन्निष्का-मणभिमायेण ?' इति । यत्रसी मृहस्थ औपधपूरणे समर्था यदि च ग्लानो धृत्या वल-वान् यदि च धमेहेनोः सव्वातिकस्तमाकारयति ततोऽनुद्वा दातव्या अन्यथा तु नेति ॥ १९३१ ॥ इति भा॰ पुनके दीरा ।

मिच्छन गुयमाईा, विगहणा इस गण मंवे ॥ १९३४ ॥

आचार्यो यदि देहस्यागनस्यान्युन्थानं करेगीत तदा चन्त्रारा गुरुकाः । तत्राप्याद्वादयो दोषा भवेयुः । तथा निथ्वात्वं गजदया बनेयुः, आदिब्रह्णेन गजामात्यादिपरिब्रहः । ते हि चारपु-रुपादिमुखादाचार्यं वेदस्यास्युन्यिनं श्रुचा न्वयं वा दृष्टा चिन्त्रयेयुः — अमी श्रमणो असाकमस्यु-ध्यानं न क्षत्रीतः, अन्मङ्कलः तु नीचनरस्त्रेत्यमन्युनिष्टन्तं, अहो ! दुईटवर्माणोऽमी इति । प्रहिष्टा वा यत् तस्त्रवाचार्यस याँद वा छुळस गणस सङ्घस वा विराधनां छुर्छः तित्रस्तरं यायश्चित्तम् ॥ १९३४ ॥

अणन्मृहाणे गुरुगा, तन्य वि आणाइणी भवे दोना । मिच्छत्त सो व असी, गिलाणमादीविराहणया ॥ १९३५ ॥

व्ययतद्देशमयादाचार्यो नोविष्टति तत्रापि चतुर्गुरकाः । तत्राऱ्यादाद्यो दोषा भवन्ति । स वा' वैद्योऽन्यो वा ठं हड्डा निय्यालं गच्छेत्, यदा—अदो ' तत्रसिनोऽप्यनी गर्वेमुद्रहन्ति । र्यादृष्टो वा वैद्यो ग्छनस क्रियां न क्रुर्याद् अपप्रयोगं वा क्रुर्यात्, एवं ग्छानविरावना। आदि-श्रव्यादाचार्यादेवी राजवष्ट्रमतया विराधनां हुर्यात् . यहा 'युम्माकं देहेऽनुको व्याविवर्तते ठिचिकित्सार्थमञ्जूमारवं मवदां दास्ते^र इति मणिसा विरुद्धे। प्रवासनाचार्यं विराधयेत् mll १९३५ ॥ यत एने दोषा अने। वं विविः कर्तव्यः-

> र्गायत्ये आणयणं, पृथ्वि उद्वित्त होह अमिलाने । गिलाणस्स दावणं घावणं च चुनाइगंव च ॥ १९३६ ॥

गांतर्थर्वेद्यस यतिश्रये व्यानयनं कर्तव्यम् । यदि ते पञ्च जनास्ततः सङ्घाटकः मथमत एवा-गच्छित । अय त्रयन्तत एक्रतन्त्रयात् प्रयममागच्छितः, आगत्य च गुरूणां कथयति—वैद्य थ्रथागच्छतीति । दवा गुर्वा हे थामने तत्र माहिमिः सापयीन । सयं तु चङ्कमणलस्येण 'पूर्व' वैद्यागमनात् यागेकोत्यायोद्ध सिका आसने । गीनार्थेश्च निवेद्ययितव्यम् 'एष् वद्यः' इति । थोचोर्वश्च पूर्वमनाच्यताऽपि बेच्सामिखपः क्लेब्यः, पूर्वन्यदेन चासनेनापितमत्रणीयः । तत श्राचार्यो वैद्यक्ष द्वावत्यासने उपविद्यतः । तता च्यानस दर्शना कार्या । क्रयम् १ इत्याह— म्छानस यद् टरकरण छरीर वा अछिचिनोपछिष्ठं तस 'घावनं' प्रशालनं कर्तव्यम् , च्याब्दात् थ्य रेडिङ-काविकी-संज्ञामात्रकाम्येकाने स्थापनीयानि, मुसिकाया उपलेपने सम्मार्जने च त्रिवेयस्, वयानि यदि हुर्गन्यो नवति ततः पटवासादिन्हुर्गानि तत्र विकीयन्ते, आदिद्यव्यात् कर्यूरादिनिः छुगन्त्रिद्रकेर्सुमा गन्त्राध्यनीयने, तनः प्राष्ट्रनसुक्त्रामाः सुत्रीमृतो ग्लानो वद्यस दृस्येते । यदि वस क्रिडिड् बर्गादिकं पटिववकं तदा निसन् पाटितं मित स्योदकादि मागुकं इस्तवावनं द्यतव्यम् । अयोग्गोदकमरी नेच्छति नत पश्चाक्रनाद्यो सृतिकासुद्कं वा प्रयच्छन्ति थः॥ १९३६ ॥ गडमम्युन्याना-ऽऽसन-उर्छनाङ्वारत्रयम् । अय मङ्क्छारमाह-

चडपादा तेर्गिच्छा, को मेसलाइँ दाहिई तुन्मं। र्वाहरं च प्रव्यपत्ता, मणंति पच्छाकडाद्ऽम्हे ॥ १९३७ ॥ वैग्रे वृषात—चिकित्म चतुप्रादा मदति, चलारः पादा -चतुर्योग्रह्मा यसां सा चतु-

पादा, तद्यथा—आदुर, मिननगा वेयो भेषनानि । न ऐते धर्ने भिर्वेयशास्त्रोक्तगुणोपेते धि-कित्सा निष्याते, :- जनः को नाम न्यानन योग्यानि मेपानीन युष्पाक प्रदास्यति । सतस्तत्र द्यमहेत्तया प्रामासाः पधारहताच्या भणन्ति—वयं दाखाम इति । एवं ताबद् भद्नो वैषः किया करोति न चान्यत् किमति म्युट्यति ॥ १९३७ ॥

यस्त मान्तमास्दिस्य सृतितारमातारहार नाह-

5

फोई मजणगविहिं, नयणं आहार उवहि केवडिए। मीयन्थेहि य जयणा, अजयण गुरुगा य आणाई ॥ १९३८ ॥

कश्चिद् वेची ह्यान् — गणनं- रयन तस्य विधि: - प्रकारः 'गजनविधिः' तेलास्याः नाटिप्रकि-गापुरस्परं कानमित्यक्तः 'दायनं' पल्यदादिः, 'जानार' सोजनम्, 'डपैविन' बनादिस्त्यः, "केबहिय" चि न्याया , एतत् मी मम फो नाम द्रासति " प्रति । ततः पश्चात्कृतादिभिर-10 म्युष्गान्तत्र्यम्—दगं हाम्याम । तेपामभावे गीर्तार्थितनया नर्वमप्यस्युपगन्तव्यम् । यययतनया **अन्युपगच्छन्ति मित्रोपयन्ति या नत्यस्यारी गुरका आज्ञारयध्य दोपाः । एपाँ निर्युक्तिगाथा** ॥ १९६८ ॥ अर्थनामेय दिनायियपुराह—

> एयम्य नाम दारिक, को मराणगार दाहिई गन्तं । ने चेव णं भणती, जे इन्छिन अम्हें तं सब्यं ॥ १९३९ ॥

'एनस' स्टान्स 'नाम' र्रात सम्भावनाया यद् यत् प्राचीग्य भेषजादि तत् तत् सर्वे दास्यथ, मम पुनर्भजनकाष्टिकं को दास्यति ' इत्युक्ते 'त एव' पश्चात्कतादयः "णं" इति तं वैधं भणन्ति—यद् एच्छिन तन् सर्व यय दान्याम इति ॥ १९३९ ॥

जं एन्य अम्हे सन्तं, पडिसेहं गुरुत दोस आणादी I एएसि अमर्ट्ए, पडिनेहे गुरुग आणादी ॥ १९४० ॥

20

ये ते पूर्वं पश्चान्त्रनादयः प्रजापितानं 'यदत्र ग्लानस युष्माक चोपयुज्यते तत् सर्वे वयं दासामः' इत्युक्त सति यः साधुन्यानिकरणभयात् प्रतिपेवयति तस्य चत्यारो गुरुका आज्ञा-दयश्च दोपाः । अथ न सन्ति प्रधात्मनादयनान एतेषाम् 'अमति' अभावे यो वेद्य 'प्रतिपेधयति' 'न वयं भवतो गळ्नादि दास्यामः' इति नस्यापि चतुर्गुरुका आज्ञादयश्च दोषाः ॥ १९४० ॥

पश्चाक्ततादिषु प्रतिपित्यमानेषु यद् वैपिधन्तयति नदार---

25

जुत्तं मयं न टाउं, असे दिने वि ऊ निवारिति । न करिङ तस्य किरियं, अवप्पओगं वं से दिङा ॥ १९४१ ॥

युक्तममीपां स्वयमदातुम् अपरिमहत्वात्, यत् पुनरन्यान् ददतो निवारयन्ति तन्न युज्यते । एवं प्रहिष्ट. सन् 'तन्य' न्टानन्य किया न कुर्यात , 'अपप्रयोग वा' विरुद्धीपधयोगं "से" तस्य 'दबात्' प्रयुत्रीत, तसादन्यान् न निवारयेदिति ॥ १९४१ ॥

१ ॰ एतदन्तर्गत पाठ त॰ उ॰ मां॰ नासि ॥ २ °तुर्मिर्मिलितिश्चि° गा॰ ॥ ३ °पिघः' त्रीप्रभृतिकं ''के' भा॰ ॥ ४ °पा पुरातना गाथा' मो॰ छे॰ विना । "मोई मजणगविहिं॰ गाहा पुरातना" इति पिरोपचूर्णो ॥ ५ त॰ ३० विनाऽन्यत्र-च से देजा गो॰ छे॰ । च देसिज्जा भा॰ का॰ ॥

दाहामो नि य गुन्गा, तत्थ वि आणाइणो मवे दोसा । संका व स्पर्णाहं, हिय नेंड्र तेणए वा वि ॥ १९४२ ॥

पश्चाकृतार्ज्ञानाममात्रे यदि सायवो मणन्ति 'वयमवस्यं ते सर्वमिष दासामः' इति तदा चलारो गुरुकाः, तत्राप्याज्ञादयो दोषा मन्द्यः । तथा कत्यापि हिरण्यादो केनचिद् हृतेऽन्यथा व्वा नष्टे सति श्रष्टा मनति — अहिरण्य-स्वर्णा अप्यमी यद् दासाम इति मणन्ति तद् नृतमेतरेव गृह्यतिमिति । यहा 'स्चकः' आरक्षिकादिमिस्त्रक्षृत्वा राजकुरु गत्वा स्च्यते, यथा—
सेनका एने अमणाः, येन वैश्वस हिरण्यादिकं दातव्यतया प्रतिपद्यन्ते । ततो अहणा-ऽऽकर्षणाद्यो दोताः ॥ १९४२ ॥

पडिसेह अजयणाए, दोसा जयणा इमेहिं ठाणेहिं । मिक्सण इही विद्यपट रहिय जं भाणिहिसि छत्तं ॥ १९४३ ॥

पश्चाक्रवादीनाममात्र यद्ययतनया 'त्रतिषेषयन्ति' 'न तत्र मृति वा मक्तं वा ठालामः' इति तत्रश्चर्तुनका आज्ञाद्यश्च ठोगाः । तलाद् यतना एमिः स्रोतेः कर्तव्या—"मिक्लण" वि मिश्नां कृत्वा वयं दालामः, "इङ्गि" वि ऋदिनता वा निक्तामता यत् क्रापि निशिष्ठं तद् गृहीत्वा दाल्यामः, "विद्यपदे" नि 'हितीयपदे वा' क्रवित् कारणजाते सञ्जाते सति यद्यं15 नातं गृहीतं तद् उद्धरितं दालानहे । "रिहण्" वि पश्चाक्तवादिरिहितं एवं मणन्ति—"नं माणिहिसि नुतं" यन् तं मणित्रसि तद् यणग्रक्ति करिप्यामः, यद् वा अन्नाकं 'युक्तम्' एवतं तद् विष्यासान इति ॥ १९४३ ॥ अथासो वयो कृयात्—

अहिरण्णग न्य मगवं !, सक्खी ठावेह जे ममं देंति । वंनं पि दुढकंखी, न रुमइ दुढं अवेण्तो ॥ १९४४ ॥

20 सगदन्! अहिरम्बकाः स्य यूयम् अतः साक्षिणः स्गपयत ये मम पश्चात् प्रयच्छन्ति । असमेवार्थे प्रतिबस्तूपमया द्रदयति—"वंतं नि" ति देशीवचनत्वाद् अतिद्ययेनापि दुग्वकाद्गी न रुमते दुग्वमेषनोः सकार्यात् ॥ १९४२ ॥ एवं वैष्येनोक्ते किं कर्तव्यम्? इत्याह—

१ ^९ग्यादिके केन^० मा०॥ २ ये कें^० त० डे०॥

३ शात् । एवं वेंग्रेनोकं साधुमिरमियातव्यम्—यसाकं दीक्षितानामहीकमुह्रपितुं न कर्यते यतः किं कार्य साक्षिणां स्थापनया ? इति । यथैवमपि न तिष्ठति ततः कोऽपि पूर्दा साक्षित्वेन स्थाप्यते. यथा—वर्य मिझाटनं कृत्वा यथाल्क्यमेतस्य दास्यामः, यथा साक्षे युक्तं तत् करिस्थामः, यथा साक्षे युक्तं तत् करिस्थामः, यथा साक्षे स्वानं साक्षिक इति ॥ १९४४ ॥ अथ सिद्धपदं व्यास्थाति—पंचस्यदावगहणे० नाथा इति म० पुत्तके पारः॥

"शहरण गाया देंछ । 'वंदं ि' ति तिग्रदं मिंग होति । एवं मिनिते पन्हा मणिति—अन्हं निक्तिगां प हमित अग्रितं हाते । एवं पि मिनिते वित प शित तो के नि गिहा बतगाए सम्बी दिन्दिते, नवा—निम्हर्गदं हमें वं अन्ह हुतं दं अन्हे दाहामों, तुमं सम्बी ॥ 'हड्डां' ति क्रेड वा इड्डिंग् ने प्रकार से पारि मिनित के प्रकार होते प्रकार से प

"अहिंग्याग त्य॰ गाहा इन्छा । यहरं 'वंते पि' नि रिसर्ट ति मिन्ये होड ॥ 'टिट्टि' ति छोड इट्टिमंती

पळाडेंगे दाहे के मनद—वंत्रक्वा नहीं। गहा ॥" उति विदेशयकुणीं॥

मा॰ युद्धके चूर्णि-विशेषच्युण्येतुसार्द्धां टीकेते तस्मिन् चूर्णि-विशेषचूर्णिवत् "पच्छाकडार् ज्यमा॰" ह्री १९८५ गाया न वर्तते ॥

पन्छाकडाइ जयणा, दाराणकडोण जा भणिय पुट्यि । सद्धा-विभवविहणाः ति चिय इन्छंतगा सक्सी ॥ १९४५ ॥

पश्चाकृतादिविषया महानकादियापनकार्येण या पूर्व यतना मणिता सेव एह मन्तन्या । नवरं ने पद्मात्मृतादय. श्रद्ध्या विभवेन च विरीनाम एव इच्छन्तः सन्त इह साक्षिणः स्थाप्यन्ते, बबा-वय मिहारनं कृत्वा यपालकांगेतल दालाम इति ॥ १९४५ ॥

अब ते साधीभवितु नेच्छन्ति ततो य ऋदिमत्यननितः न इवं तृयात्--

पंचसयदाण-गहणे, पलाल-खेलाण छट्टणं च जहा । सहसं व सयसहस्तं, कोटी रजं व अग्रुगं वा ॥ १९४६ ॥ एवं ना गिरुवान, आसी य इयाणि किं भणीहामी । र्जं तुरुम्डम्ह य जुर्जं, तं उग्गाडम्मि काहामी ॥ १९४७ ॥

यथा पराल-रोलयोग्छर्न निर्धायते तथा धीना-ऽनाथादिस्यो वयं सपकाणां पद्य भतानि हेरूपेंब दानं दत्तवन्नः, उपाजनागिष छुर्वाणाः पद्मगतानां ग्रहणमेवमेव छनवन्तः, एवं सहसं शतसहभं कोटि राज्यम् 'नशुफ वा' धानिर्विष्टं सहजास्यानं लील्येव वयं दचवन्तः सीकृत-

बन्तो वा, एवं नावदम्माफं गृहयाने विगृतिरासीत , इदानी पुनरिकद्यनाः श्रमणाः सन्तः किं

भणिज्यामः ! कि करिप्यान ' इति भावः, परं तथापि ग्लाने 'उद्गाढे' प्रगुणीगृते सति यत् 15 तवासाकं च 'युक्तम्' अनुरापं तत् करिप्याम इति ॥ १९४६ ॥ १९४७ ॥

एवं तावत् सत्रामे वेराविषया यतना भणिता । भथ त्तरामे वैद्यो न प्राप्यते ततः परमा-

मादप्यानेतव्यः तत्र विधिमात्-

पाहिले नाणतं, वाहिं तु भईएँ एस चेव गमी। पच्छाकटाइएसं, अरहिय रहिए उ जो भणिओ ॥ १९४८ ॥

पाथेयं नाम-कण्टकगर्दन्यतनं यत् तस्य भक्तादि दीयते ता 'नानात्य' विशेषः, वास्तव्यवैद्यस्य तम सम्भवति अस्य तु भवतीति भानः । तन च विद्यामादागतस्य 'भृतो' मज्जनादौ वेतने

एष एव गमो इएव्यः, पश्चात्कृतादिभिररिहते रहिते वा योऽनन्तरमेव भणितः ॥ १९४८ ॥

अथात्रेव यतनाविद्योपमाह-

मजणगादिच्छंते, वाहिं अन्भितरे व अणुसद्घी । धम्मकर्-विज्ञ-मंते, निमित्त तस्सऽह असो वा ॥ १९४९ ॥

मज्जनं-स्नानम् आदिशव्याद् अभ्यक्षनोद्धर्तनादिकं 'विद्यः' मार्गे भागच्छन् 'अभ्यन्तरे वा' न्हानसकारो प्राप्तो यदीच्छति ततः सर्वं तसा पश्चात्कृतादयः कुर्वते । तेपामभावेऽनुशिष्टिः कियते, यथा—यतीनां न कल्पते गृहिणः स्तपनादि कर्तुग्, भवतश्च मुधा कुर्वतो वहु फलं भवति । यथ तथापि नोपरमते ततो धर्मकथा कर्त्तव्या । तथाप्यप्रतिपद्यमाने विद्या-मद्य-निमित्तानि 'तस्य' 30 नेपसानर्जनार्थं प्रयुज्यन्ते, अन्यो वा तानि प्रयुज्य वशीक्तियते, ततस्तस्य वैद्यस्यासौ मज्जनादिक काराप्यते ॥ १९४९ ॥ अथ धर्मकथापदं भावयति--

तह से कहिंति जह होइ संजओ सिन्न दाणसङ्घी वा ।

परप्रामाद 20 वेयस्या-नयने विधि

25

महिया उ अण्हायंते, करिति खुड्डा इमं अंतो ॥ १९५० ॥

आक्षेपणीप्रमृतिमिर्धर्मक्यामिनस्य तथा धर्म क्ययन्ति यथाऽसी संयनी मवति 'संजी वा' गृहीताणुत्रतोऽनिरतसम्यन्दृष्टिजी 'दानश्राद्धी वा' मुचेत्र साधृनामारोग्यदानशीलो भवति । अध धर्मक्यालित्रन्तीति ततो विद्या-मन्नादयः प्रयुज्यन्ते । तेपाममावे तस्य आमलकादीनि दीयन्ते, क्मण्यते चासौ—न्तिहर्गत्वा तद्दागादिषु न्नानं कुरुत । अध विहः न्नातुं नेच्छिति ततो विहर-स्नाति तस्मिन् क्षुष्टकाः 'इदं' वङ्यमाणम् 'अन्तः' प्रतिश्रयस्याम्यन्तरे कुर्वन्ति ॥ १९५० ॥

किं तत् ? इत्याह—

उसिणे संसहे वा, भूमी-फलगाइ मिक्ख चड्ढाई । अणुसही घम्मकहा, विज्ञ-निमित्ते य अंतों विहें ॥ १९५१ ॥

10 'टणोदकेन' यतीतेन 'संस्पेन' गोरसरसमात्रितेन अपरेण वा प्रायुकेन पानकेन क्षुष्टकासं कपयन्ति । श्रयनमाश्रित्य मृमो फलके आदिशब्दात् पस्यद्वादिषु वा स शाय्यते । मोजनं प्रतीत्य 'मेइं' मिलापर्यटनेन रुव्यमानीय तस दातव्यन् । ''चड्ढार्' ति 'चंड्रं' कमदकमयं माजनम् आदिश्रहणात् कांस्थराच्यादिपरिश्रहः, एतेषु मोजनमसो कार्यितव्यः । हिरण्यादिकं द्रविणवातं याचमानस्य 'अन्तः' इति वास्त्रचैत्रद्यस्य 'बहिः' इत्यागन्तुक्रवैद्यस्योमयस्याप्यनुशिष्टि-15 धर्मक्या-त्रिद्या-निमित्तानि प्रयोक्तव्यानीति निर्मुक्तिगाद्यासमासार्थः ॥ १९५१ ॥

अँयनामेव मावयन्नाह—

तेह्रुव्यद्वण ण्हावण, ख़ुड्डाऽसति वसम अवस्तिंगेणं । पद्दुगादी भूमी, अणिच्छि ना तृहि-पह्नंके ॥ १९५२ ॥

शुक्तानं वैद्यं तेलेनाभ्यक्त्यं कल्केनोहत्त्यांण्णोदकादिना प्राष्ट्रकेनकान्ते कपयन्ति । अय 20 शुक्तान सन्ति कपयितं वा न वानते ततो ये 'दृपमा.' गच्छत्य ग्रुमा-ऽग्रुमकारणेषु मारोहहन-समयितं 'अन्यिलेकेन' गृहस्थादिसम्बन्धिना मानादिकं वेद्यस्य क्विन्ति । "पह्दुगाई" इत्यादि, स वेद्यः ग्रियतुकामः प्रथमतो म्मा संज्ञारपद्वमुत्तरपद्वकं च प्रजीर्य ज्ञाच्यते । अथ नासी पद्व-द्वये समुमिच्छति तत्त और्णिक-सात्रिका कर्यो प्रजीर्यते । तथापि यदि नेच्छति ततः काष्टम-छके संज्ञारोत्तरपद्वकावादीर्य ग्रयनं कार्यते । तथाप्यिनच्छति उत्तरोत्तरं तावक्रेतच्यं यावत् 25 तृष्टी-पल्यद्वावप्यानीय ग्राययितच्य इति ॥ १९५२ ॥ अथ मेक्षपदं मावयति—

. समृदाणिओदणो मचओ वऽणिच्छंति वीमु तवणा वा । एवं पऽणिच्छमाणे, होइ अहंमे इमा जयणा ॥ १९५३ ॥

नमुदानं नाम—उचात्रचकुळेषु मिल्लाग्रहणन् तत्र छट्यः सामुदानिकः, "अध्यात्मादिभ्य इकण्" (मिद्ध० ६—३–७८) इति इकण्पत्ययः, स चासावीदनश्च सामुदानिकीदनः, स अध्ययमतो वैद्यस दातन्त्रः । अथासी तं मोक्तं नेच्छति ततो मात्रकं वर्तापनीयम्, तत्र प्रायोग्यं वद्य अहीतव्यमिति मात्रः । अथ तथापि नेच्छति ततः "वीसु" ति पृथग् ओदनं व्यक्षनमपि

१ 'चडुकस्' अष्टकमयं नो॰ टे॰ विना॥ २ °ति सङ्गहरा।° नो॰ टे॰ विना॥ ३ स्नापनां तस्य इवेन्ति । अथ नो॰ टे॰॥

ष्ट्रयक् तदर्थं माह्यम् । अथ जीतलगिति कृत्वाऽसा तद् नेच्छति तदा "तवण" ति तदेव (मन्या-मम्-२५०० । सर्वेमन्थामम्-१४७२०) मृहीत्वा यतनया तापयितव्यम् । एवमप्यिनिच्छति अलभ्यमाने वा 'र्यं' वध्यमाणलक्षणा यतना भवति ॥ १९५३ ॥ तामेवाह—

> तिगसंवच्छर तिग दुग, एगमणेगे य जोणिघाए अ। संसद्टमसंगद्दे, फासुयमप्फासुए जयणा ॥ १९५४ ॥

5

येषां शालि-शिह्मिभृतीनां धान्याना सवत्तरत्रयादृद्धंमागमे विध्यत्तयोनिकत्वमुक्तं तेषां सम्बन्धिनो ये त्रिवार्षिकातन्तुलान्त ''तिग हुग एग''न्त प्रथमतिस्व्लिट्टिता महीतव्याः, तदमावे द्विच्छिटिताः, तेषामलागे एकच्छिटिता अपि । अथ त्रिवार्षिका न प्राप्यन्ते ततो द्विवार्षिकाः, तेषामलागे एकवार्षिका अपि व्युत्कान्तयोनिकाः सन्तिसिखेकच्छिटिताः क्रमेणं प्राष्टाः । ''अणेगे य'' वि थेषां धान्यानाम् 'अनेकानि' वर्षत्रयाद् बहुतराणि वर्षाणि स्थितिः प्रतिपा-10 दिता, यथा—तिल्-मुद्द-मापादीनां पञ्च वर्षाणि अतसी-क्र्यु-कोद्रवप्रभृतीनां तु सप्त वर्षाणी-त्यादि, तेषामि तन्दुला पञ्चार्षिकाः सप्तवार्षिका वा त्रिखेकच्छिटिता क्रमेण प्राष्टाः । अत्रापि वर्षपरिहाणिर्व्युत्कान्तयोनिकत्वं च तंथव द्रष्टन्यम् । इह च थेषा यावती स्थितिरुक्ता ते तावतीं स्थिति प्राप्ताः सन्तो नियमाद् न्युत्कान्तयोनिका , ये त्यगिष न परिपूर्णां स्थिति प्राप्तुवन्ति ते व्युत्कान्तयोनिका अव्युत्कान्तयोनिका वा भवेयुरिति । ''जोणिघाए अ'' वि च्युत्कान्तयोनिका-15 नाममावेऽच्युत्कान्तयोनिका अपि ये 'योनिघातेन' जीवोत्पित्तिसानविष्यंसनेन गृहिभिः साध्वर्थम-विचीकृतात्तेऽप्येवमेव वदार्थं ग्रहीतव्याः। तथा पानक पुनरिद तस्य दातव्यम्—''ससद्व'' इत्यादि, द्रप्यादिभाजनघावन सद्यप्रपानकम्, उप्यमिष प्रथमवि प्रथमतः प्राप्तुकं तदग्रवेऽप्रायुक्तमपि यतनया यत् त्रसविरहित तत् तद्रथं प्रहीतव्यम् ॥१९५४॥

अथेनामेव निर्धुक्तिगायां भावयति—

20

वकंतजोणितिच्छडदुएकछडणे वि होइ एस गमो । एमेव जोणिघाए, तिगाइ इतरेण रहिए वा ॥ १९५५ ॥

त्रिवापिकादयो ये द्युत्कान्तयोनिकास्ते त्रिच्छिटिता शाद्याः । तेपामभावे द्येकच्छिटतानामपि 'एप एव गमः' यत्तेऽपि द्युत्कान्तयोनिका गृद्यन्ते । एवमेव च योनिघातेऽपि साध्वर्थं कृते ''तिगाइ'' ति त्रिद्येकच्छिटिताः क्रमेण प्रहीतव्याः । तेपामभावे त्रिवापिकादयो यथाक्रमं कण्डाप-25 नीयाः । अथ नास्ति कोऽपि कण्डियता ततः 'इतरेण' अव्यक्तिकेते 'रिहते वा' सागारिकवर्जिते मदेशे स्वयमेव कण्डयति । यहा ''रिहिए'' ति पश्चात्क्रतादिभिर्गृहस्थे रिहते एपा अग्रिपुक्ता वक्ष्यमाणा च अयत्वना कर्त्तव्या, अर्थत्र तु पश्चात्क्रतादयो भावितगृहस्थाः प्राप्यन्ते तत्र सर्वन्मपि वैद्यस्य समाधानं त एवोत्यादयन्तिति भावः अ।। १९५५॥

ते च तन्द्रलाः कथमुपस्कर्तव्याः 2 इत्याह-

30

१ °ण ब्रहीतच्याः। "अ° मा०॥ २ °णिस्तर्थेय द्रष्टच्या। अत्र च येपां मा०॥ ३ °ति कृत्वा द्विवार्पिकाटिषु व्युत्कान्तयोनिकत्वविशेषणं कृतसिति। "जो° मा०॥ ४ गृह्यन्ते। तथा त० है० का०॥ ५-६ ४ ▷ एतदन्तर्गत पाठ मो० है० विना न॥

पुन्ताउत्ते अवचुछि चुछि मुक्ख-घण-मन्द्युसिर-मिनिदे । पुन्त्रक्तय असइ दाणे, ठवणा हिंगे य कछाणे ॥ १९५६ ॥

पृत्व-प्रथमं गृहिमि काष्ट्रप्रश्नेणादायुक्तः पृत्रीयुक्तस्यस्मिन् 'पृत्रीयुक्ते' पृत्रीतिऽव्युक्ते प्रथमं तन्दुलानुपस्तरोति । तद्यांच पृत्रीतप्तयां चुह्याम् । अथ चुह्यपि पृत्रीतप्ता न प्राप्यते तत विद्यानि दाक्रणि प्रक्षिप्योपस्तरोति, तद्यथा—"सुक्तव्यणमञ्ज्ञसिरमनिद्धि" चि सुप्ताणि—नाद्रीणि वनानि—वंशवद् न रत्ययुक्तानि अशुपिराणि—अस्तृदितानि स्वारहितानि वा अविद्यानि—मृत्रेश्वतिच्छृद्राणि । ईह्यानि दाक्रणि वस्त्यमाणप्रमाणोपेतानि पृत्रेष्ठतानि च अहीतव्यानि । अथ पृत्रेष्ठतानि व सन्ति ततः स्वयमिष तेषा प्रमाणोपेतत्वं कर्चव्यम् । तथा याचमानस्य वैद्यस्य "दाणे" चि अर्थजातदानं कर्चव्यम् । कथम् १ इति अत आह—"ठ्वण्" चि श्रेक्षेण 10प्रवज्ञता यद् निकुङ्जादियु द्रविणजातं स्वापितं तस्य दानं कर्चव्यम् । "लिङ्गि" चि स्विक्षेत्रच परिलेङ्गेन गृहिलिङ्गेन वा अर्थजातमुत्ताद्यनीयम् । "कञ्चाणे" चि प्रगुणीम्तस्य ग्लावस्य तस्यिन्य-एक्गणां च पञ्चकस्याणकं दातव्यम् ॥ १९५६ ॥ अथ प्रक्षिप्यनाणदारुणां प्रमाणादिक्तमाह—

हत्यद्वमत्त दारुग, निच्छिष्टिय अघुणिया अहाकडगा । अर्साईइ सर्यंकरणं, अघङ्गोवक्त्वडमहाउं ॥ १९५७ ॥

15 ह्त्युद्धं-द्वाद्याङ्गुलानि तन्मात्राणि—तावत्यमाणद्रव्येपितानि 'निच्छिङ्कानि' छ्ङीरिहतानि 'अधुणिनानि' धुणरिवद्वानि दारुणि भवन्ति । ईद्यानि च यथाकृतानि अद्येतव्यानि । यथा-कृतानम् 'असति' अमावे 'त्वयंकरणम्' आत्मेनव हन्त्राद्धप्रमाणानि कियन्ते छुङ्क्ष्यापनीयते इस्पर्थः । उपस्कृते च मक्ते उन्मुकानां घट्टना न कर्तव्या किन्तु तेऽग्रिजीवा यथायुष्कमनुपाल्य स्वयमेव विष्याग्रन्ति ॥ १९५७ ॥ अथ पानक्यतनामाह—

कंजिय-चाउलउद्द्य, उसिणे संसद्घमेत्वरे चेव । ण्हाण-पियणाइपाणग, पादासइ वार दृहरूए ॥ १९५८ ॥

पानीय याचतो वैद्यस काल्लिकं दातच्यम् । यदि तद् नेच्छति, ततः 'चाउलोदकं' तन्दुन् ल्याकान् । तद्रप्यनिच्छत्युण्णोदकं वा संस्रष्टपानकं वा । "इतरं" ति प्राशुक्रमनिच्छति अप्रा-शुक्रमि, यावत् कर्पूर्वासितम् । एवं कान-पानादिपु कार्येषु पानकं तस्य दातच्यम् । तन्त 25प्रथमतः पात्रके स्थाप्यते, । अथ नास्यतिरिक्तं पात्रकं न वाडसा तत्र स्थापयितुं ददाति ततो बार्के स्थापयित्वा 'दर्वस्यति' मुखे घनेन चीवरेण वश्चाति येन कीटिकादय सत्त्वा नामिपतिनत्त ॥ १९५८ ॥ मावितं भक्षपदम् । अथ "चङ्चादि" (गा० १९५१) ति पदं मावयति—

१ 'पणेनायु' मा॰ ॥ २ 'णि पूर्वेक्टनान्येव प्र' मा॰ ॥ ३ 'मिप कर्त्तव्यानीति व्यास्य-श्रापः । तथा मा॰ ॥ ४ तदानीय दातव्यम् मा॰ ॥ ५ 'पस्कुर्वता चोल्मुकानां परस्परं यहना न कर्त्तव्या, टपस्कृते चाग्निर्वथायुष्कमनुपाल्य खयमेव विष्यायति, न पुनः साभ्रुना विष्यापयितव्य इति ॥ १९५७ ॥ कंजिय गाथा० मा॰ । "असतीय॰" पच्छृदं । इवस्कृष्ठिते प बंद्रते, स्वमेव अवाद्यं पाठेति ॥ पागनं दमं—' इति चूर्णो । "अध्दुण" ति तयगार अवसंतुष्ठति (१), इवस्कृष्टिर तात्र ण बद्धे, जाव स्वमेव विष्त्रातो ताहे ते अहाद्यं पाठेति ॥ पागनं इमं—" इति विशेषस्तृणों ॥

चहुग सराव कंसिय, तंत्रक रयए सुवन्न मणिसेले । भोतुं स एव धोवड, अणिच्छि किढि खुडु वसभा वा ॥ १९५९ ॥

'नहुकं' फमढकं तत्रासी भोजन कार्यते । अथ तत्र नेच्छिति भोक्तु ततः शरावे । तत्रानि-च्छिति कांस्यभाजने ताग्रभाजने वा । तत्राप्यनिच्छित रजतसाले मुवर्णस्थाले मणिशेलमये वा भाजने भोजयितच्यः । मुक्ता चासी स्यमेव तद् भाजन धावित । अथ नेच्छिति धावितुं ततः ६ 'किदी' स्विद्याविका सा प्रधालयित । तस्या अभावे क्षुलकाः । क्षुलकाणामभावे वृपभाः ॥ १९५९ ॥ शिष्टाः प्रच्छिति—कथगसयतस्य संस्रष्टभाजन सयतः प्रक्षालयित ? कि निमित्तं वा वैद्यस्य मजनादिकिमयत् परिकर्ग कियते ? उच्यते—

प्याईणि वि मग्गइ, जह विज्ञो आउरस्स भोगद्वी।

तह विजे पडिकम्मं, करिति वसभा वि मुक्खहा ॥ १९६० ॥

यया वैदाः 'भोगार्थां' भोगाद्गद्रस्याभिलापी 'आतुरस्य' रोगिण 'प्यादीन्यपि' पूय-पकरकं तदादीनि आदिशब्दार्त् शोणितप्रभृतीन्यप्यश्चित्सानानि 'मार्गयति' शोधयति तथा वृपमा अपि मोहार्थ वैदास्य सर्वगपि 'प्रतिकर्म' मज्जनादिकं कुर्वन्ति ॥ १९६० ॥

यस्तु न दुर्गात् तस्य प्रायध्यत्तमाह—

तेइच्छियस्म इच्छाणुलोमगं जो न कुज सइ लामे । अस्संजमस्स भीतो, अलस पमादी व गुरुगा से ॥ १९६१ ॥

चिकित्सया चरति जीवति वा चिकिल्पिक.—वयस्तरंग या मज्जनादाविच्छा तस्याः अनुलोमम्— अनुकृष्टं प्रतिकर्मे 'सित लामे' लाभसम्भवे ''अस्तजमस्स भीउ'' ति पञ्चम्यथे पष्टी 'असयमाद्' असयतवयावृत्त्यकरणलक्षणाद् भीतोऽलसः प्रमादी वा यो न कुर्यात् तस्य चत्वारो गुरुकाः ॥ १९६१ ॥ अय ग्लान-वेषयोर्वयावृत्त्यकारणान्युपदर्शयति—

> लोगविरुद्धं दुप्परिचओ उ कयपिडिकिई जिणाणा य । अतरंतकारणेते, तदह ते चेव विज्ञम्मि ॥ १९६२ ॥

ग्लान्स्य यदि वयाद्यस्य न क्रियते ततो लोकविरुद्धं भवति, लोको त्रूयात्—िधगमीपा धर्मं यत्रेवं मान्यसम्भवेऽपीद्यमनाथत्वभिति । तथा परस्परमेकप्रवचनप्रतिपत्त्यादिना यः कोऽपि लोकोत्तरिक सम्बन्धः सः 'दुप्परित्यजः' दुप्परिद्धर इति ग्लानस्य वेयाद्यस्य कार्यम् । कृतप्रति-25 कृतिश्चेवं कृता भवति , यत् तेन ग्लानेन पूर्वं हुप्टेन सता यदात्मन उपकृतं तस्य प्रत्युपकारः कृतो भवतिति भावः । 'जिनाना' तीर्थकृता या 'आज्ञा' 'अग्लान्या ग्लानस्य वेयादृत्त्य कुर्यात्' इत्यादि-लक्षणा सा कृता भवति । एतानि अतरन्तः—ग्लानस्तस्य वेयादृत्त्ये कारणानि । 'तद्र्थं' ग्लानार्थं यद् वेद्यस्य वेयादृत्त्यकरणं तत्रापि 'तान्येव' लोकविरुद्धपरिहारादीनि कारणानि द्रष्टव्यानि ॥ १९६२ ॥ अथ ग्लानस्य मज्जनादिविधमतिदिशनाह—

एसेव गिलाणिम वि, गमो उ खलु होइ मजणाईओ । सविसेसो कायच्यो, लिंगविवेगेण परिहीणो ॥ १९६३ ॥

१°ट् अपराण्यप्यश्च° मा॰ ॥ २°ति, तेनापि ग्छा° मा॰ ॥ ३ अतरतः-ग्छानस्य वं° मा॰ ॥

ħ

25

एप एव न्छानेऽपि मज्जनादिकः 'गमः' मकारो भवति, यथा वैद्यविषय उक्तः । नवरं 'सवि-दोषः' मक्ति-यहुमानादिविदोषसहितो लिक्कविवेकेन परिहीनः सर्वोऽपि कर्षच्यः ॥ १९६३ ॥ अय न्छान-वैद्ययोरनुवर्षनाया नहार्थत्वं दर्शयकाहः—

को वोच्छिइ गेलचे, दुविहं अणुअत्तणं निरवसेसं । लह लायइ सो निरुओ, तह इजा एस संखेवो ॥ १९६४ ॥

ग्लान्ये सित या हिविया अनुवर्तना—ग्लानविषया वैद्यविषया च तां 'निरवरोषां' सम्पूर्णी को नाम वस्त्रति ? वहुवक्तव्यत्ताद् न कोऽपीत्यिमपायः । अतो यथाऽसा ग्लानो नीरुग् जायते तथा कुर्यात् । एषः 'सङ्क्षप' सङ्गहः, उपदेशसर्वस्तिमिति यावत् ॥ १९६४ ॥

अथ वैद्यस्य दानं टातव्यं तत्र विधिमाह—

10 कार्गतु पडण जायण, धम्मावण तत्य कह्यदिहंतो । पासाद क्यादी, वत्युक्करंड तहा ओही ॥ १९६५ ॥

ग्छाने प्रगुण जात सित आगन्तुक्रवेंगा यदा दिल्लणां याचते तैदा तस्यानुशिष्टिदीतच्या— यथा न वर्तते यतीना ह्ताद् वेतनकं प्रदीतुम्, सुगक्कतममीषां यहुफरूं भवति, अपि च 'धर्मापणः' धर्मच्यवहरणहड्डोऽयमस्माकम्, अतो यदत्र सम्भवति तदेव प्रदीतव्यम् ।

15 ऋचिक्रदृष्टान्तश्च तत्रोच्यतं । यथा---

केनिवत् क्रियकेण गान्यिकापण स्त्रकान् निक्षिप्य मणितम्—मैमेतेः किश्चिद् माण्डजातं दृद्धाः । ततः सोऽन्यदा तत्रापण मद्यं मार्गियतुं रुद्धाः । विण्जा प्रोक्तः—ममापणे गंन्यपण्यमेव स्वविद्धिते, निक्षि मम मद्यन्, अतस्तं गन्यपण्यं गृहाणिति । एवमस्नाकमि धर्मापणाद् धर्मे गृहातु मवान्, नास्ति द्विणजातन् ॥

20 द्खुक्ते यदि नोपरमते तनः शृंक्षेण प्रत्नता यद् निकुञ्जादिष्ठ परिष्ठापितं तदानीय दीयते । तस्मामान यद् उत्सन्नसामिकं कापि प्रासादे कृपे वा आदिश्वन्दाद् निर्धमनादिष्ठ वा निष्ठानं तथा श्राटितपतितं यद् वास्तु—गृहं तद् उत्करुटमिनेति कृत्वा वास्तृत्करुटसुच्यते तत्र वा यद् निवानं तद् अवविज्ञानिन उपलक्षणत्वाद् दशप्र्विप्रभृतीनां वा पार्श्वे पृष्ट्वा ततः प्रासादादि-स्रानादानीय वैद्यस्य दातन्त्रम् ॥ १९६५ ॥ वास्त्रस्र्वेद्यस्य दानिविष्वनाह—

> वन्यव्य पउण जायण, घम्मादाणं पुणी अणिच्छंते । स चेत्र होइ जयणा, रहिए पासायमाईया ॥ १९६६ ॥

प्रगुणीमृते न्छाने वाल्ज्यवद्योऽपि यदि याचनं कुरुते ततलस्यापि वर्म एवादानं—इन्यं तद् दातच्यम् । "पुणो अणिच्छेते" ति 'पुन-' मृयो मृयः प्रज्ञाच्यमानोऽपि यदि वर्मादानं नेच्छति

१ इत आरम्य "विज्ञस्य व द्व्यस्य व०" इति १९७३ गायागव्द्वित्तेचो गाया च्युणी एतत्क्रमेण वर्तन्ते—आर्ग्तु पटम० गाया १९६५ । द्विहिन्स पटम० गाया १९६७ । व्वद्दुगमार्था० गाया १९६९ । वर्षित्र पटा० गाया १९६६ । विहित्रपेदे० गाया १९६८ । विहित्रपेदे० गाया १९७० । पटणिस य० गाया १९७१ । जिल्लाच व ट्व्यन्स० गाया १९७३ । विद्यापसूर्णी पुन. दीकानुसारी गायाकमो वर्तते ॥ २ यदा भूनि या भा०॥ ३ तदा भण्यते—'धर्मापणाः' त० दे० हो०॥

तदा पश्चात्कृतादिभिर्गृहरी रहिते सेव प्रासादादिका यतना कर्त्तव्या या अनन्तरगाथायामभिहिता ॥ १९६६ ॥ ह्रयोरप्यागन्तुक-वानव्यवययोरुपधि याचतोर्विधिमाह—

> उविहिम्मि पडगसाडग, संवरणं वा वि अत्थुरणगं वा । दुगभेदादाहिंडणंऽणुसिट्ट परिलंगं हंसाई ॥ १९६७ ॥

'उपधी' उपकरणे 'पंटशाटकः' परिधान 'सवरणं' प्रच्छवपटः 'आलरणं' प्रस्तरणकं तृली ह षा यचेतानि मार्गयति ततमधेव धर्मापणदृष्टान्तः क्रियते । अथ नोपरमते ततो द्विकं—साधुयुगं तहसणो यो भेदः—प्रकारस्तेन आदिशब्दाद् युन्देन वा हिण्डित्वा पटशाटकादिकसुत्ताद्य वैद्यस्य प्रयच्छन्ति । अथ सर्वशैव न प्राप्यते ततोऽनुशिष्टि-धर्मकथादीनि प्रयोक्तव्यानि । तथाऽप्यनु-परतस्य परिहक्षं कृत्वां हंसादिप्रयोगेणोत्पाद्य प्रयच्छन्ति ॥ १९६७ ॥

द्वितीयपदे न दर्चादिष, यत आह—

10

विद्यपदे कालगए, देसुद्वाणे व वोहिगाईसु । असिवाई असईद व, ववहारऽपमाण अदसाई ॥ १९६८ ॥

दितीयपदे वेथे ग्हाने वा कालगते सित वन्गदिकं न द्यादिष । यहा वोधिकाः—ग्हेच्छा-स्तेषाम् आदिशव्दात् परचकस्य वा भयेन 'देशस्थोत्थाने' उद्गसीभवने । अशिवे वा आदिग्रह-णाद् दुर्भिक्षे राजिहिष्टे वा सञ्जाते सित । 'असित वा' सर्वथेव वन्नाणामलाभे व्यवहारः क्रियते, 15 व्यवहारेण च निर्जितस्य न प्रयच्छन्ति, व्यवहारेण वा कारणिकर्दाप्यमानाः प्रमाणहीनानि 'अदशाकानि' वन्नाणि दर्शयन्ति—असाकमीदशान्येव स्वाधीनानि अन्यानि न सन्ति ॥१९६८॥

अथ द्रविणजातं मार्गयति वैधे विधिमाह—

कवप्टगमादी तंवे, रुप्पे पीते तहेव केवडिए । हिंडण अणुसद्वादी, पृह्मिलिंगे तिविह भेटो ॥ १९६९ ॥

02

कपर्दकादयो मार्गियत्वा तस्य टीयन्ते । ताघ्रमयं वा नाणक यद् व्यविद्यते, यथा— दक्षिणापथे काकिणी । रूपमयं वा नाणकं भवति, यथा—भिद्धमाले द्रम्मः । पीतं नाम—

े कितीयपदे स वैद्यो ग्लानो वा कालगतः, देशस्य वा उत्थाने-उक्सीभवने बोधिकाः-ग्लेच्छास्तद्भयेन वा दिशोदिशं पलायिताः, आदिशब्दात् परवकादिभयपरि-प्रहः, अशिवं वा तत्र जातम्, आदिशब्दाद् दुर्भिक्षं राजिक्ष्यं वा समजिन, 'असित वा' सर्वथा अलब्धे व्यवहारः क्रियते गा॰।

"बिश्यपदे 'कालगए' वेजो कालगओ गिलाणो वा, देसो वा उद्विशो बोहियादिभएणं, बोहिया-मेच्छा, असिवं वा जायं, आदिरगद्णेणं दुविभवरां रायदुर्हं वा, अलब्भमाणे ववदारं करेति।" चूर्णो विशेषचूर्णी च॥

१ °ण, अणुसद्वाई वि परिलंगे भा०॥ २ त० उ० का० ता० विनाऽन्यत्र— °ग हिंसाई मी० छ०॥ ३ 'पटकः' प्राचरणं 'द्वाटकः' परि भा०। पर्गमारणं 'मवरण' मुंदर पाडरणं 'अत्थरणं' पत्थरणं वा मगंते तहेव धम्मावणिद्वंतो ।" इति विशेषचूर्णो ॥ ४ °प्रिद्तिच्या। तथाप्यजुप त० छ० कां०॥ ५ °त्वा हिंसा भा० मो० छ०। "अलमे परिलंगेण वा गिहत्यिंगेण वा हंसादिविमासा।" इति चूर्णो विशेषचूर्णो च। "अति परिलंगेण वा गिहिलंगेण वा सपायादिविमासा।" इति चूर्णिप्रत्यन्तरे पाठ॥ ६ दिपि, कथम् ? इति चेद् उच्यते—भा०॥ ७ कितीयपदे स वैद्यो ग्लानो वा कालगतः, देशस्य वा उत्थाने-उक्टसीभवने

युवर्ण तन्मयं वा नाणकं भवति, यया—पूर्वदेशे दीनारः । 'केवडिको नान' यथा तैत्रेव पूर्व-देशे केत्रामिधानो नाणकविशेषः । एतेपामप्युतादनं क्षत्रेना सङ्घाटकेन बृन्देन वा हिण्डनं तथव कत्तेत्र्यम् । अल्ट्येऽनुर्शिक्षादीनि प्रयोक्तत्र्यानि । लिक्समिति पदं त्र्याम्यायते—पृति-तम्-अचितं यहिङ्गं तत्र त्रिवियो भेटः क्रेच्यः । किमुक्तं मवति १--तिसन् देशे यत् ध्त्रयाणां सिल्किन्गृहिलिङ्ग-कुलिङ्गानां मध्यात् पृजिनं तेन लिङ्गेन दविणजातसुरपाद्यन्ति वैद्यं वा प्रज्ञापयन्ति ॥ १९६९ ॥ द्वितीयपदे द्विणनातमीप न द्यान्, क्यम् १ इत्याह-

> विद्यपंद कालगए, देसुद्वाणे च वोहियादीसु । अनिवादी अमईह व, ववहारऽहिरण्णगा समणा ॥ १९७० ॥

हिंतीयपढे वेचे ग्लाने वा कालगत सति, देशस वा गोषिकादिमयेनोत्याने—उद्वसने, अधि-10 बाहा वा सञ्जाते, 'अमतायां वा' मर्वेयवालामेऽर्थनातं वैद्यस्य न द्यात् । व्यवहारे च मसुप-स्विते हुनते—अहिरण्यकाः श्रमणा मवन्तीति तावत् सर्वत्रापि सुप्रतीतस्, परं तथाप्येतेनार-टेंगरमामिन्तर्पि द्रविणनार्त गवेषयिनुमारव्यम्, तना लोको वर्वाति—न वर्षते शिष्टानां यतिभ्यो हिरण्यादि दानुन् । यत उक्तम्-

गृहस्रसाददानेन, वानप्रसंस गारसात् । यतीनां च हिरण्येन, दाता स्वर्गं न गच्छति ॥ दति ।

एवं व्यवहारो रुम्यते ॥ १९.७० ॥ अथ ऋत्याणकपदं व्यान्यानयति—

पडणिम्म य पञ्चितं, दिखद कछाणगं दुवेण्हं पि। बृहे पायच्छित, पविमंती मंडिंह दो वि ॥ १९७१ ॥

ग्छाने प्रगुणामृते मति 'हयोरपि' ग्छान-प्रतिचन्कवर्गयोः 'कच्याणकं' प्रायक्षितं दीयते' I 20 इहै वमविद्योषणोक्ते अप रळानन्य पञ्चकस्याणकं प्रतिचरकाणां त्वेककस्याणकं दात्रव्यम् , आदे-ग्रान्तरेण वा द्वयोगी पञ्चकरयाणकं मन्त्रव्यम् । अर्थाह च निग्नीयच्णिकृत्-

१ यथा पश्चिमदेश दी॰ मा॰ ट॰॥ २ ध्यम्तीनि म॰ मा॰॥ ३ धन्ति वितीयपदे द्रविणजानमुन्पाद्यन्ति वर्ष वा नो॰ टे॰ ॥ ४ डितीयपदे वैद्यो ग्टानो वा कालगतः, देशो या उहित्तः, वोविकार्त्तां या मयमुद्रपादि, अद्दियादिकं वृा समजीते, 'असता वा' सबेथेव न उच्चं ततो न द्याद्। व्यवहारे मा॰॥ ५ °ते। तत्रवम° मा॰॥ ६ 🗗 🗁 एउडन्तर्गत. पाट त० है० ह्याँ० नास्ति ॥

७ माँ॰ हे॰ विनाऽन्यत्र—कृत्—जाहुरो निलाणो पुत्रतो ताहे से पंचक्छाणगं दिखर, पंडियरनाणं पक्रकञ्जाणनं, आहेर्स्तरेण चा हुण्ह वि पंचकञ्जानं ति । ततो व्यृढे प्राय-श्चित्ते 'हावृषि' ग्टान-प्रतिचरक्रवनों मण्डलीमोजनाट्रियु प्रविशतो नान्यथा ॥ १९७१ ॥ गतमनुवर्तनेति मृष्टहारम् । अथ चालनाहारमाह—विद्यस्स च० गाथा मा० ॥ "पराम्य य० गाथा रुंटा । वेहिं बनावच छने वेसि पाएस परिनुं 'इच्छामो बनावचं' भगति । अणुय-

ता ति वारं गर्ने। इद्यांनि जाटा ति दारं—बेंबल्स व॰ गाया॥" इति च्यूगों॥ "पर्टाास्म व पच्छित्त॰ गाहा इच्छा। तिज्ञास्य पडियरणस्य य पंचरणार्गे विवाह। वृद्धे पंचरुत्राः गए मंडिं प्रिन्ति । केंहिं वेदावन ऋषं तेर्ति पारेष्टु पडिडं 'टच्छामी वेयात्रम्ं' मणड् ॥ अञ्चयत्र ति टार्र गर्द । इटार्गी बाला नि दारं, तुम्य गाह्य-बेळ्ड व॰ गाह्य ॥" इति विदेशपचूर्णी ॥

भा॰ पुक्तके द्रीका चूर्णा-विदेशपचृण्येतुमारणीति चूर्णि-विदेशपचूर्णीवत् तीसन्, "अणुयत्तणा द एवा॰" इति १९७२ गामा नान्ति ॥

Б

15

आदेसन्तरेण वा दुण्ह वि पंचकछाणं ति । 🗠 ततो व्यूढे प्रायश्चित्ते 'हावपि' ग्लान-प्रतिचरकवर्गी भोजनादिमण्डली प्रविद्यतः ॥१९७१॥ अथोपसहरन्नाह--

> अणुयत्तणा उ एसा, दन्वे विजे य विनया दुविहा । इत्तो चालणदारं, युच्छं संकामणं चुभओ ॥ १९७२ ॥

ग्लानप्रायोग्यद्रव्यविषया वद्यविषया चेपा द्विविधाऽनुवर्त्तना वर्णिता । इत ऊर्द्ध चालनाद्वारं सद्भामणाहारं च 'उभयनः' ग्लानह्रयविषय वक्ष्ये ॥ १९७२ ॥

विसस्स व दन्त्रस्स व, अहा इच्छंतें होह उक्सेवी ।

पंथी य पुन्वदिहो, आरक्तिसओं पुन्वभणिओ उ॥ १९७३॥

वैद्यस्य वा 'द्रव्यन्य' औपघादिरुधणस्य वा अर्थाय यदि ग्लान इच्छति ग्रामान्तरं गन्तुं तदा 10 तस्य 'उत्होपः' चालना कर्चच्या । यदि रात्री गन्तच्य भवति तदा पन्थाः पूर्वमेव दृष्टः कर्त्तच्यः । आरक्षिकश्च पूर्वमेव 'वयं रात्रो ग्लानं गृहीत्वा गमिप्यामः, भवता चौरादिगङ्कया न महीतन्याः' इति भणितः कर्त्तन्य उति ॥ १९७३ ॥

अथास्या एवं निर्युक्तिगाथायाः पूर्वार्द्धं गावयति—

चडपाया तेगिच्छा, इह विजा नित्य न वि य दन्वाई।

अमुगत्य अत्थि दोनि वि, जइ इच्छिस तत्थ वचामो ॥ १९७४ ॥

कापि क्षेत्र वैद्या जीपधानि वा न सन्ति ततो ग्लानं प्रतिचरका हुवीरन्—चिकित्सा चतु-प्पाटा पूर्वोक्तनीत्या भवति , तत्रेह क्षेत्रे वैद्या न सन्ति नापि च 'द्रव्याणि' औपधादीनि अत्र सन्ति, अमुकत्र ग्रामे नगरे वा हे अपि विधेते, अतो यदि त्विमच्छिस ततस्तत्र व्रजाम इति ॥ १९७४ ॥ ग्लानः प्रतिभणति-20

किं काहिइ मे विज्ञो, भत्ताइ अकारयं इहं मज्झं। तुन्मे वि किलेसेमि य, अग्रुगत्थ महं हरह खिप्पं ॥ १९७५ ॥

आर्याः ! यदि नाम अत्र वैद्यो भवति ततः कि ममासौ करिप्यति ? अ उपलक्षणमिदम्, तेन यद्यापथान्यपि भवेयुस्तान्यपि मे कि करिप्यन्ति १ > यतो भक्तादिकमकारकं ममेह विद्यते, तसिंधाकारके युप्मानिष मुधेव परिक्केशयामि । ◄ र्यंत उक्तम्---25

भेपजेन विना व्याधिः, पथ्यादेव निवर्तते ।

न तु पथ्यविहीनस्य, भेपजाना शतैरपि ॥ ⊳

ततो माममुकत्र ब्रामे नगरे वा क्षिप्रं 'हरत' नयत, येन मे तत्र भक्तादि कारकं स्यात्। एवंब्रुवाणोऽसो श्रामान्तरं प्रति चालयितव्यः ॥ १९७५ ॥ चालनायामेव कारणान्तरमाह-30

साणुप्पगभिक्खद्वा, खीणे दुद्धाइयाण वा अहा।

१ एव पूर्वाईं भा॰ का॰ ॥ २ न भवेयुः ततो भा॰ ॥ ३ °ति, परसिद्ध क्षेत्रे मो॰ छे॰ विना ॥ ४ ° प्यति ? । कुतः ? इत्याह—भक्ता° भा॰ ॥ ५ ৺ प्रतदन्तर्गतः पाठ. मो॰ छे• प्रस्तकयोरेव ॥ ६ ४ > एतदन्तर्गतः पाठः मो॰ छे॰ प्रस्तकयोरेव ॥

अञ्मितरेतरा पुण, गोन्सिमिसुद्य-पिचड्डा ॥ १९७६ ॥

नागरं स्तनं सानुप्रो—प्रस्कृतेलाणं छम्यते या निष्ठा सा मानुप्रामिक्षा नद्यै प्रानं नयन्ति । नगरे हि प्राय उत्तरे मिक्षा छम्यते, तावतीं च वेलां प्रतीक्षमाणस्य न्लानस्य कालातिकान्तमो- जिलेन जारतिप्रानम्बनुप्रज्ञायते, अतः सानुप्रेगे—सवारमेव निष्ठा यहामे छम्यते तद्यै ग्लानो व्यानं नगरे वा दुग्वादीनि हर्लमहत्याणि क्षीणानि अवलेणमध्ये आम्यन्तराः—नगर्वा- न्ल्यसाववो ग्लानमन्यत्र नयन्ति । 'इतरे पुनः' प्रानीणग्लानप्रतिचरका ग्लानस्य गोग्सेन ४ उप- लक्ष्यत्वादन्येन ताहरोन स्टम्मजनकद्रत्येण > सिन्मः—स्टमा नन्योद्यो जातः पित्तं वा सिन्न तिमिति परिनाव्य तदुप्रशानकद्रव्याणानुसादनार्थं ग्लानं नगरं नयन्ति ॥ १९७६ ॥

अथवा नागरन्थनचालनाथनिदं कारणम्-

10 परिहीणं तं द्व्यं, चमिटङांतं तु अन्नमचेहिं। कालाह्झेनेण य, नाही परिनिष्टिओ तस्त ॥ १९७७॥

बन्यान्यन्छनसङ्घादकैः स्वारनाङ्केषु जनक्षमानं सन् परिर्वाणं 'तद् द्रस्यं' ग्लनपायोग्यम् , बथवा वेद्येन ग्लानसोपदिष्टम्—सवारमेव मवता मोक्तस्यमः ददानीं च नगरे न लम्यते तन-तेन कालातिकान्नेन दस स्याधिः सुधुत्तरं परिवार्द्धतः ॥ १९७७ ॥

15 एत्रमादीनि कारणानि विज्ञाय ते परस्वरं मणनि—

उक्खिपक गिलाणों, अन्नं गामं वयं तु नेहामो । नेक्या अन्नगामं, मव्वपयत्तेण कायव्वं ॥ १९७८ ॥

डिलिप्यतां ग्लनः, यतत्तनन्यं प्रानं वयं नेप्याम इत्येक्ताक्यत्या निश्चित्य मवार्मेव तेर्नि-गेन्तव्यम् । यतः यत्त्वासि छीतन्ययां वेल्यां नीयमानो ग्लानो न परिताप्यते । किञ्च—

2) प्रस्तासि हवा मार्गाः, परिहासहवाः क्रियः । मन्दर्भादं हवं क्षेत्रं, हवं सम्यमनायमम् ॥

वती नीत्रा ग्छननम्यं आनं सर्वप्रयंत्रन शतिचरमं ऋतेव्यनिति ॥ १९७८ ॥ गतं चाटनाहारम् । अथ सङ्कानगाहारमाह—

सो निजई गिलाणो, अंतर सम्मेलणा य संद्योमो । नेजग अन्नगामं, मञ्चपयत्तेण कायव्यं ॥ १९७९ ॥

एवम्रत्सिष्य यं प्रामं 'स.' नागराकाना नीयते तजी प्रामादन्यो गळानी नगरमानीयमानोऽस्ति तेषाम्रमयेशमित साधूनाम् 'अन्तरा' अगन्तगके सिन्गळना मजित तजः पर्म्यरं वन्द्रमं कृता निराणवं पृद्धा न्यानयोः 'संद्योमं' सङ्कामगं कृतीन्त, नागरा प्रामीपान्तानं गृह्दित प्रामीपान्ता नागराकानीत्रकं मजित । नीत्वा चान्यं प्रामं सर्वप्रयंत्तेन प्रतिचन्प्रस्तियेरपि कर्तव्यम् द्या। १९७९ ॥ किं पुनरमित्राय ते गळानसङ्कामगां कृतीन्तः ? इति उच्यते—

जारिस द्वे इच्छह, अम्हे मुतृण ते न लिमिहिह ।

१ °प्रगमिक्षार्य यामे मीयते नार ॥ २ < > एदश्न्द्रोतः पाठः नोर हेर पुनक्रीरेव ॥ ३ °यां सुक्षेनेव मार्गो भृयानतिलङ्क्षयते । एकं च—प्रत्यु° नार ॥ ४ °यते ततस्तेषा° नार ॥

25

इयरे वि भणतेवं, नियत्तिमो नेह अतरंते ॥ १९८० ॥

नागरा त्रामेयकान् घुवतं—'यादृशानि' तिक्त-कटुकाटीनि दृत्याणि ग्लानार्थमिच्छत 'तानि' तादृशानि अस्मान् 'मुक्त्या' विना न लप्सध्वे । 'इतरेऽपि' त्रामेयका नागरान् एवं भणन्ति—यूयमसामिविंना दुग्वाटीनि न लप्सब्वे । ततस्ते द्वयेऽपि परस्परमिद्धिति—यद्वेवं ततो निवर्तामहे, यूयमसुम् 'अतरन्तं' ग्लानं नयतः वयं युप्मटीयं नयाम इति ॥ १९८० ॥

एवं सङ्गामणां कृत्या तत्र च श्रामे नगरे वा नीत्वा सर्वप्रयत्नेन प्रतिचरणा विधेया । न पुनर्निर्धर्मेतयेत्थं चिन्तनीयं भणनीयं वा—

> देवा हु णे पसन्ना, जं मुक्का तस्स णे कयंतस्स । मो हु अइतिक्यरोसो, अहिगं वावारणासीलो ॥ १९८१ ॥ तेणेव साइया मो, एयस्स वि जीवियम्मि संदेहो । पउणो वि न एसऽम्हं, ते वि करिजा न व करिजा ॥ १९८२ ॥

'हुः' अवधारणे, नृतं ''णे'' असाकं देवा प्रसन्ना यद् मुक्ता वयं तसात् कृतान्तात्, गाथायां पञ्चम्ययं पष्टी । इह कृतान्तग्रव्देन कृतं—निप्पादितं वहिष कार्यमन्तं नयतीति व्युत्पत्त्या कृतम उच्यते, यद्वा कृतान्तः—यमस्तुस्यत्वादसायिष कृतान्तः । अत एवाह—स हि 'अति-तिक्षणरोपः' पुनः पुना रोपणग्रीलो दीर्घरोपी वेत्यर्थः । 'अधिकम्' अत्यर्थं 'व्यापारणाशीलः' 15 कृताकृतेषु कार्येषु भूयो भूयो नियुद्धे । यद्वा तेनेव ग्लानेन 'सादिताः' खेदं प्रापिता वयमतोऽस्य कर्तुं न ग्रकुमः । अथवा एतस्यापि जीविते सन्देहस्ततः कि निर्धकमात्मानं परिक्लेग्यामः ?, प्रगुणीमृतोऽिष चेष नास्माकं भविष्यति, तेऽप्यस्मदीयस्य कुर्गुर्वा न वा, अतो वयमि न कुर्महे । एवमादीनि ब्रुवाणानां तेषां निर्धर्माणामाचार्येण गिक्षा दातव्या न तृपेक्षा विषया ॥१९८१॥ १९८२ ॥ यत आह—

जो उ उवेहं कुज़ा, आयरिओ केणई पमादेणं । आरोवणा उ तस्सा, कायन्वा पुन्वनिदिद्वा ॥ १९८३ ॥ 'यस्तु' यः पुनराचार्यः केनापि प्रमादेन प्रमत्त सन्नुपेक्षां कुर्यात् तस्यारोपणा पूर्वनिर्दिष्टा

कर्त्तव्या, चत्वारो गुरव इत्यर्थः ॥ १९८३ ॥ अथवेयमारोपणा--

उवेहऽप्पत्तिय परितावण महय मुच्छ किच्छ कालगए। चत्तारि छ च लहु-गुरु, छेओ मूलं तह दुगं च ॥ १९८४॥

यो ग्लानस्योपेक्षां करोति तस्य चत्वारो गुरुकाः । उपेक्षायां कृताया यद्यपीतिकं ग्लानस्य जायते ततोऽपि चत्वारो गुरवः । अनागादपरितापे चतुर्रुष्ठ । आगादपरितापे चतुर्गुरु । महादुःखे पद्रुष्ठु । मूर्च्छीयां पद्गुरु । क्रूच्छूपाणे च्छेदः । क्रूच्छ्रोच्छ्वासे मूलम् । समवहतेऽनवस्था-प्यम् । कालगते पाराश्चिकम् ॥ १९८४ ॥

उवेहोभासण परितावण महय ग्रुच्छ किच्छ कालगए। चत्तारि छ च लहु-गुरु, छेओ मूलं तह दुगं च ॥ १९८५॥ उपेक्षायां स ग्लानः स्वयमेव गत्वा गृहस्थानवमापते चत्वारो लघवः। तस्य तत्र गच्छतः श्रीन-नाना-ऽज्नेषेः परिश्रमेण बाडनागादपरिनापनादीनि जायन्ते नतः प्रायश्चित्तमनन्तरगायोक्त-नीत्या द्रष्टव्यम् ॥ १९८५ ॥

उवेहासामण उत्रणे, परितात्रण मह्य मुच्छ किच्छ कालगए। चनारि छ च लहु-गुरु, छेदो मृलं तह दुगं च ॥ १९८६॥

ह उपेक्षायां ग्लाना सक्त-पानमीपर्धं वा अवसापणनीत्पाद्य स्यापयति न लक्कोम्यहं दिने दिने पर्यदिनुं तनश्चलारा गुरवः । तेन परिवासितन जीनळ्लाह् अनागादपरिनापनादीन्युपजायन्ते प्रायश्चित्तयोजना प्रायत् ॥ १९८६ ॥

उवेहोमामण करणे, परिनावण महय मुच्छ किच्छ कालगए। चत्तारि छ च लहु-गुरू, छेदो मृतं नह दुगं च॥ १९८७॥

10 छपेक्षायां कृतायां यदि रजनाडियमाप्य न्ययमेवीपयादिकं करोति गृहसेवी कारयति तदा चत्वारो गुरवः । न्ययंकुवेतिव्यक्तित्मायनिर्वर्गहरेशवी चिकित्सां कारयतीऽनागाढपरितापादीनि भवन्ति । शेषं प्राप्तत ॥ १९८७ ॥

> वैद्याणम औद्याणे, मलिंगपिंडसेवणं निवारिने । गुरुगा अनिवारिने, चरिमं मृतं च नं जस्य ॥ १९८८ ॥

अप्रतिज्ञागरिनो ग्छानो यदि निर्वेदेन वेद्ययसं मरणमस्युपगच्छिति तनस्त्रपामप्रतिज्ञागर-काणां 'चरमं' पागिक्षकम् । अथ 'अवधावनम्' उत्प्रवज्ञनं करोति तनो मृळम् । स्रिक्षिक्तिस्तितो यद्यक्रप्यप्रतिमेवना करोति ननश्चनुर्गुरुकाः । यदि तं तथा प्रतिसेवमानं निवास्यति तदापि चनुर्गुरुकाः । अथ न निवास्यति तनो यद् यत्र अप्राशुकेऽनेपणीये वा गृद्यमाणे प्रायिश्चित्तं तत् तत्र प्रामोति ॥ १९८८ ॥ ८ अथ निर्द्धमा येषु स्थानेषु ग्छानं त्यज्ञेन् तान्याह्—>

29 संविग्गा गीयन्थाऽमंबिग्गा गुह्ध तहेव गीयन्था । मंबिग्गमसंविग्गा, नवरं प्रुण ने अगीयन्था ॥ १९८९ ॥ संविग्ग संजर्द्ध्यो, गीयन्था गुह्ध तहेवऽगीयत्था । गीयन्थ अगीयत्था, नवरं प्रुण ता असंविग्गा ॥ १९९० ॥

संयत्ताश्चतुद्धी, तद्यया—संविद्या गीतायीः ? अयंविद्या गीतायीः २ संविद्या अगीतायीः ३ 25 असंविद्या अगीतायीश्च ७ इति । संयत्योऽपि चनुर्विद्याः, तद्यया—सविद्या गीतायीः १ मंबिद्या अगीतायीः २ अनंविद्या गीनायीः ३ अमंबिद्या अगीनायीः ७ ॥१९८९॥१९९०॥ एनेप्वष्टम् स्रानेषु ग्छानं परित्यजनः प्रायश्चित्तमाह—

> चउरा रहुगा गुरुगा, छम्मामा होति रुहुग गुरुगा य । छेदो मूर्ल च नहा, अणबहुष्या य पारंची ॥ १९९१ ॥

29 यथेमें म्याने रठानं पारियजित चलारा छन्नकाः । हितीये चलारा गुरुकाः । तृनीये पण्पासा छपदः । चनुर्थे पण्पामा गुरुवः । पञ्चमें च्छेटः । पष्ट मृत्यम् । सप्तमेऽनवस्थाप्यः । अष्टमे पारा-ज्ञिको सर्वति ॥ १९९१ ॥ यदि वा—

१ न १ एतदन्तीत. पाटः सा० नामि ॥

10

15

20

संविग्ग नीयवासी, कुसील ओसन तह य पासत्था। संसत्ता विंठाया, अह्छंदा चेव अहुमगा ॥ १९९२ ॥

सविमाः १ नित्यवासिनः २ कुञीलाः ३ अवसन्नाः ४ पार्थस्थाः ५ ससक्ताः ६ वेण्ठकाः ७ यथाच्छन्दाश्चेवाष्टमाः ८ ॥ १९९२ ॥ एतेषु परित्यजतो यथासह्यमिदं प्रायश्चित्तम्-

चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मामा होति लहुग गुरुगा य। छेदो मूलं च तहा, अणवद्वप्पो य पारंची ॥ १९९३ ॥

चत्वारो लघुकाः १ चत्वारो गुरुकाः २ पण्मासा लघुकाः ३ पण्मासा गुरुकाः ४ छेदः ५ मृरुं च तथा ६ अनवस्थाप्यश्च ७ पाराञ्चिकः ८ ॥ १९९३ ॥ अथवा —

> संविग्गा सिजातर, सावग तह दंसणे अहाभद्दे । दाणे सङ्घी परतित्थिगे य परतित्थिगी चेव ॥ १९९४ ॥

'सविद्याः' प्रतीताः १ 'शय्यातरः' प्रतिश्रयदाता २ 'श्रावकः' गृहीताणुत्रतः ३ दर्शनस-म्पन्न:-अविरतसम्यन्दृष्टिः ४ 'यथाभद्रकः' शासनबहुमानवान् ५ 'दानश्राद्धिकः' ढानरुचिः ६ 'परतीर्थिकः' शाक्यादिपुरुषः ७ 'परतीर्थिकी' शाक्यादिपापण्डिनी ८ ॥ १९९४ ॥

एतेषु परित्यज्ञतो यथाकमितदं प्रायश्चित्तम्-

चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होति लहुग गुरुगा य । छेदो मूलं च तहा, अणवहप्पो य पारंची ॥ १९९५॥

उक्तार्था ॥ १९९५ ॥ अथ क्षेत्रतः पायश्चित्तमाह—

उवस्सय निवेसण साही, गाममज्झे य गामदारे य। उजाणे सीमाए, सीममह्कामहत्ताणं ॥ १९९६ ॥ चडरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होति लहुग गुरुगा य । छेदो मूलं च तहा, अणवहुप्पो य पारंची ॥ १९९७ ॥

क्षेत्रान्तरं सङ्कामञ्जूपाश्रये ग्लानं परित्यज्य यदि गच्छति तदा चत्वारो लघुकाः । उपाश्रया-न्निप्काञ्य निवेशनं यावदानीय परिहरति चत्वारो गुरुकाः । साहिकाया पण्मासा रुघवः । श्राम-मध्ये पण्मासा गुरवः । ग्रामद्वारे च्छेटः । उद्याने मूलम् । ग्रामसीमनि परिष्ठापयति अनवस्था-प्यम् । खप्रामसीमानमतिकाम्य परित्यजन् पाराश्चिक इति । यत एवमतो न परित्यजनीयः 25 ॥ १९९६ ॥ १९९७ ॥ कियन्तं पुनः कालमवश्यं प्रतिचरणीयः ² उच्यते—

छम्मासे आयरिओ, गिलाण परियद्वई पयत्तेणं। जाहे न संथरेजा, कुलस्स उ निवेदणं कुजा ॥ १९९८ ॥

येन स ग्लानः प्रवाजितो यस्य वा उपसम्पदं प्रतिपन्नः स आचार्यः सूत्रार्थपौरुपीप्रदानमपि परिहृत्य प्रयतेन पण्मासान् ग्लानं 'परिवर्त्तयति' प्रतिचरति। यदा पट्खपि मासेपु पूर्णेपु स ग्लानः 30 'न सस्तरेत्' न प्रगुणीभवेत् , यद्वा आचार्य एव खयमन्याभिर्गणचिन्ताभिर्न संस्तरेत् ततः 'कुरुस्य निवेदनं कुर्यात्' कुरुसमवायं कृत्वा तस्य समर्पयेदित्यर्थः ॥ १९९८ ॥ ततः—

संवच्छराणि तिन्नि य, कुलं पि परियद्भई पयत्तेणं।

ស

10

जाहे न संथरिजा, गणम्स उ निवेदणं कुजा ॥ १९९९ ॥

त्रीन् संवत्नगन् कुलमपि प्रायोग्यमन्तन्यानापघादिभिः प्रयत्नन परिवर्तयिन । ततिश्रपु वर्षेषु पूर्णेषु यदा न संन्तरेन् नदा गणस्य नियदनं क्षयोत् ॥ १९९९ ॥ तनः—

मंत्रच्छनं गणा वी, गिलाण परियद्वद्दं पयनेणं ।

जाहे न मंथरिजा, मंघस्स निवेयणं कुछा ॥ २००० ॥

एकं संबत्तरं यावद् गणोऽपि ग्जानं महता प्रयंत्रन परिवर्त्तयति । ततो यदा न संखरेत् सतः सङ्घ्य निवेदनं कुर्यान् । ततः सङ्घो यावज्ञीवं नं सर्वप्रयंत्रन परिवर्त्तयति ॥ २००० ॥ गायात्रयोक्तमर्थमकताथया सगुद्य प्रतिपादयति—

> छम्मासे आयरिओ, क्षत्रं तु मंत्रच्छराहूँ तिनि मवे । संवच्छनं राणो वी, जावजीवाय संघो उ ॥ २००१ ॥

ज्यान्यानार्थो ॥ २००१ ॥

एन्स यो भक्तिवेकं कर्तुं न शकोति तमुद्दिय द्रष्टव्यम् । यम्तु भक्तिवेकं कर्तुं शकोति तेनाष्टादश मामान् यावन् प्रथमनिश्चिकित्सा कार्ययतव्या, विरतिमहितस्य जीवितस्य पुनः संसार् हुरापत्त्रान् । ननः परं यदि न प्रगुणीमवित ततो भक्तिवेवकः कर्त्तव्य इति । थागादे कारण-१६ जाते मञ्जाने सित ग्लानस्य वैयावृत्त्यं न क्ष्यादिष परित्येनेद् वा ग्लानम् । कि पुनम्तन् कारण-जानम् १ इति उच्यते—

> असिवे औमीयरिए, रायहुंड भवे व गेलचे। एएहिं कारणहिं, अहवा वि कुरेंड गण संवे ॥ २००२ ॥

अग्रिवं न मेमुत्रके सित रेग्रनं परित्यंत्रहें न च प्रायिश्वत्तमामुयान् । एयम् प्र अवमीद्रेयं 20 राजिहिष्ट 'भये वा' श्रिरिक्तनसमुद्धे ''नेल्कि'' त्ति सर्वा वा गच्छो रलानीमृत इत्यतः कत्य कः प्रतिचरणं करोतु १ एतः कारणः, अथवा कुरुत्य गणस्य सङ्घत्य वा गमिषित रलाने स्वयम- कुर्वकाप शुद्धः । परित्यं ति तिवयं यतना—अग्रिकं समुद्धके देशान्तरं मङ्गामन् रग्रानमन्त्रेषां प्रतिवन्यस्थितानां नाधृनामपेयति, तेषाममाव श्रव्यातगदीनां समीपे सार्थामकस्थलीषु वा देव- कुल्किषु वा निक्षिपन्ति । एवमवमोद्धे भये च द्रष्टव्यम् । राजिहिष्ट यद्यकत्य गच्छस्य 25 प्रदेषमापन्नो राजा तत्रोऽन्येषां साधृनां समपेयन्ति, अथ सर्वधामिष प्रहिष्टम्ततः श्रावकादिषु निक्षिप्य वजन्ति । उत्पर्धतः पुनरितरिष कारणेनं निक्षिपन्ति किन्तु स्कत्ये न्यस्य बहन्तीति ॥ २००२ ॥ आह च—

एएहिँ कारणहिं, तह वि वहंती न चेव छिंडित । अमह वा उवगरणं, छिंडिति न चेव उ गिलाणं ॥ २००३ ॥

²⁰ एने: कारणेर्यद्यपि रठानो निश्चेष्टुं करुपत तथापि यहन्ति नेव परित्यज्यन्ति । अथ 'अस-हिष्णवः' बोहुमसमर्थाः तन टपकरणं परित्यज्ञन्ति नेव रठानम् ॥ २००३ ॥

अह्या वि सा सणेखा, छंड्ड सम तु गच्छहा तुन्मे ।

१ ॰ १ । एनडन्तर्गनः पाटः मो० छे० पुस्तक्योरिय ॥ २ °नरेतेष्यपि कारणेषु न नि° मा० ॥

होड त्ति भणिय गुरुगा, इणमन्ना आवई विइया ॥ २००४ ॥ अथवा स ग्लानो भणेत्-मां 'छर्टयित्वा' परित्यज्य यूयं गच्छत । एवमुक्ते यदि कोऽपि साधुः 'भवत्वेवम्' इति भणति तदा तस्य चत्वारो गुरुकाः । 'इयं' वक्ष्यमीणलक्षणा प्रकारा-न्तरेण 'अन्या' द्वितीया आपदुच्यते ॥ २००४ ॥ तामेवाह-

> पचंतमिलक्खेसं, वोहियतेणेस वा वि पडिएस । जणवय-देसविणासे, नगरविणासे य घोरम्मि॥ २००५॥ वंधुजणविष्पओगे, अमायपुत्ते वि वद्दमाणिमम । तह वि गिलाण सुविहिया, वचंति वहंतगा साह ॥ २००६ ॥

प्रत्यन्ताः-प्रत्यन्तदेशवासिनो ये म्लेच्छास्तेषु तथा वोधिकस्तेना नाम-ये मानुपाणि हरन्ति तेषु वा पतितेषु सत्सु यो जनर्षटरग—मगधादेः देशस्य वा—तदेकदेशभृतस्य विनाशः—विध्वंसत्त-10 सिन्, तथा नगरविनाशे च 'घोरे' राष्ट्रे उपस्थिते, वन्धुजनाना—खज्ञातिलोकानां मरणभयाति-रेकात् पलयमानाना यः परस्परं चिप्रयोगस्तस्मिन्, कथम्मृते १ 'अमातापुत्रे' सस्तजीवितरक्षणा-क्षणिकतया यत्र माता पुत्रं न सारति पुत्रोऽपि मातरं न सारति तदमातापुत्रम् "मयूरव्यंसके-त्यादयः" [सिद्ध० ३-१-११६] इति समास तिसान्निप वर्त्तमाने ये 'सुविहिताः' शोभ-नविहितानुष्ठानास्ते तथापि ग्हानं वहन्तो वजन्ति न पुनः परित्यजन्ति ॥ २००५॥२००६॥ 15

ततोऽसो ग्लानः पाह-

तारेह ताव भंते !, अप्पाणं किं मएछयं वहह । एगालंबणदोसेण मा हु सन्वे विणस्सिहिह ॥ २००७ ॥

तारयत तावद् भैदन्त ! यूयमात्मानमसादपारादापत्पारावारात् , कि मां मृतमिव मृतम्-अद्यधी-नमृत्युसम्भवतया शवप्रायं वहत ? । अपि च 'एकालम्बनदोपेण' मदीयमेव यदेकमालम्बनं तदेव 20 वहनां विनाशकारणतया दोपस्तेन मा यूयं सर्वे विनद्व्यथ ॥ २००७ ॥

एवं च भणियमेत्ते, आयरिया नाण-चरणसंपन्ना। अचवलमणलिय हितयं, संताणकारिं वहमुदासी ॥ २००८ ॥

प्वं च ग्लानेन भणितमात्रे सित आचार्याः 'ज्ञान-चरणसम्पत्राः' सिवग्नगीतार्था इति भावः 'अचपलम्' अत्वरितां त्वराकारणस्य मरणभयस्याभावात् 'अनलीका' सत्यां सद्भावसारत्वात् ²⁵ 'हिताम्' अनुकूला परिणामसुन्दरत्वात् 'सर्ज्ञोणकरी' आर्त्तजनपरित्राणकारिणीं वाचसुदाहृतवन्तः || २००८ || कथम् ^२ इत्याह-

सन्त्रजगजीवहियं, साहुं न जहामों एस धम्मो णे। जित य जहामी साहुं, जीवियमित्तेण किं अम्हं ॥ २००९ ॥ सर्वसिन् जगति ये जीवा:-त्रस-स्थावरभेदभिन्नास्तेषामभयदायकतया हितं सर्वजगज्जीव-30

१ °माणा 'अन्या' भा॰॥ २ °पदः-मगधादिः देशः-तदवयवस्तयोः विना भा॰॥ ३ भगवन्तः! आत्मानमस्मादापदर्णवात्, किं भा॰॥ ४ सन्त्राणं-परित्राणं रक्षणमित्येको-ऽर्थः तत्करीं-तत्कारिणीं वाच भा०॥

29

हितं साधुं 'न प्रनहिमः' न परित्यनामः, एषाऽन्मार्क 'धर्मः' समाचारः । यदि च नाधुं प्रन-हीमलतः किमन्मार्क 'जीविनमात्रेण' सनाचारजीवितविक्छेन बहिःप्राणयारणमात्रेण प्रयोज-नमः न किञ्जिदिसर्थः ॥ २००९ ॥

नं वयणं हिय मधुरं, आसामंज्ञरसग्रुटमवं सयणा । समणवर्गघहत्या, वेह गिलाणं परिवर्हतो ॥ २०१० ॥

'तद् एवंतियं तवनं 'हितं' परिणामप्रव्यं 'मयुरं' श्रीत्र-मनसं प्रवहादकं तयाऽऽश्वास एवा-क्रुरः-प्रगेहन्तस्य मसुद्भवः-उत्पत्तियेन्सात् तद् आश्रामाञ्चरसमुद्भवन , ग्लानस्याश्वासपरोहर्वाज-मिति सावः, न्वजन इव खजनः म आचार्यः 'श्रमणवरगन्यहर्मा' यण हि ग्रन्यहर्म्ता गज-क्रन्यानां यृथाविषन्यपद्महृहह्माना गिरिकन्द्रगदिविषमहुर्गेन्विष पतिता न तर्सारस्यागं करोति, १० एवमयमपि गणवरपद्मनुपाल्यन् वियमद्यायामपि श्रमणवरात्र परित्यज्ञर्नति श्रमणवरगन्य-हमीत्युच्यतं, म ग्रानं 'परिवहन् परिवर्जयंत्रवननन्द्रगेक्तं प्रवंति ॥ २०१० ॥

तन इन्यं तदीयवचनं श्रुन्वा समीपवर्तिनानगारिणामित्यं सिरीकरणसुपवायने—

जह मंजमा जह तवा, दहमित्तित्तं जहुत्तकारित्तं । जह वंगं जह सायं, एएमु परं न अक्रमुं ॥ २०११ ॥

ग्रीत 'नयमः' पञ्चाश्रवित्मणादिक्षो यदि 'तपः' अनग्रनादिक्षं 'हद्मेत्रीकृत्वं' निश्चल-मेहितं 'ययोक्तकार्ग्त्वं' मगदराज्ञागप्रकृत्वं यदि 'त्रद्य' अटाद्युमेदमित्रं त्रद्यच्यं यदि 'शांचं' निम्पलपता सङ्गादमारना वा, एतानि यदि परमेतप्यव माहुषु प्राप्यन्ते 'नान्येषु' शाक्यादि-पर्गार्थिकेषु, नेपायेवंविषय ग्यानप्रतिचरणविष्यस्मावात् ॥ २०११ ॥

इत्यं ताबद् विषमायामित दशायां ग्याना न परित्यक्तव्य इत्युक्तम् । अयात्यन्तिकं सये 20 तमपरित्यज्ञतां यदि सर्वेपामित विनाश उपदीक्ते ततः को विषि १ इत्याह—

अचागार्ट व निया, निक्खित्तो जह वि होज जयणाए। नह वि उ दोण्ह वि धम्मो, रिज्जमावविचारिणो जेणं॥ २०१२॥

'श्रत्यागांहं' मन्यन्तम्छेच्छादिमये, बाराज्यः पातनायान्, सा च प्रागंत्र कृता, 'सात्' कृताचिद् यतनया निष्णन्यराये प्रदेशे यग्ययसा न्छाना निश्चिता मनेत् तथापि 'द्वयोरिंग' ध्रान्यान-प्रतिचरकर्मयोः 'छमेः' ''सर्व नाक्यं मानवारणं मनिंति' इति न्यायाद् वर्स एन मन्तज्यः। ज्ञतः १ इत्याद्—'यन' कारणेन द्वानिति कानुः—अङ्कित्छो मोशं प्रति प्रगुणो यो मानः—परिणाननत्र निचरितं श्रांक्यनयोरिति कानुमानिन्नारियोः, अर्थेग्रहरिणामयुक्तानिति मानः ॥ २०१२॥ तन्त्र

पत्तां जनां य विउद्धां, मिच्छत्त विराहणा य परिहरिया । साहम्मियवच्छहं, उवसंते नं विमन्नंति ॥ २०१३ ॥

तेराचार्यः सार्ह्यामश्च ताहरोऽपि मये सहसेव न्छानमर्पारत्यज्ञद्धिः 'विषुष्टं' दिनिवदिक्यचारि यद्यः प्राप्तम् । -: गाण्यायां पुंच्चितरेदेशः पाङ्कतत्वात् , एवमन्यत्रापि यणयोगं छिक्कव्यन्ययो मन्तव्यः । १-

१-२ 🗠 🗠 एनडन्संबर पाउर से ० हे ॰ हन्स्क्रोरेब ॥

तथा 'मिन्यात्वं' तत्परित्यागसमुत्यमन्येपीं गृहस्थानां ग्लानस्य वा मिथ्यादर्शनगमनं तत् परिहृतं भवति । विराधना च ग्लानस्य महायविरिहृतस्य सयमा-ऽऽत्मविषया सा च परिहृता । साध-र्मिकवात्सस्य चानुपालितं भवति । यदा च तद्रत्यागाद भयमुप्रशान्तं भवति तदा 'तं' ग्लानं 'विमार्गयन्ति' शोधयन्तीत्यर्थ. ॥ २०१३ ॥

गतं ग्लानद्वारम् । अथ गच्छप्रतिबद्धयथारुन्दिकद्वारमाह्—

5

15

पडिवद्धे को दोसो, आगमणेगाणियस्स वासासु । सुय-संघयणादीओ, सो चेव गमो निरवसेसो ॥ २०१४ ॥

प्रतियन्धनं प्रतिवद्ध गच्छप्रतियन्य दृत्यर्थः तत्र कारणं यथालन्दिकानां वक्तव्यम् । "को दोसो" ति को नाम दोषो भवति यत् ते यथालन्दिका आचार्याधिष्ठिते क्षेत्रं न तिष्ठन्ति ? । "आगमणेगाणियम्स" ति यद्याचार्याः स्वयं दोत्रविहर्गन्तु न शक्तवन्ति तत एकािकनो यथाल-10 न्दिकस्यागमनं न्व गुँक्णां समीपे भ भवति । "वासायु" ति वर्षासु उपयोगं दत्त्वा यदि जानाति वर्षं न पतिप्यति तत आगच्छति न्व यंथालन्दिको गुरुसमीपे, भ अन्यथा तु नेति । श्रुत-संह-ननादिकम्तु गम. स एव निरवशेषो वक्तव्यः यो जिनकल्पिकानाम्, यम्तु विशेषः स प्रागे-वोक्त ॥ २०१४ ॥ अथ प्रतिवद्धपदं व्याग्व्याति—

मुत्तत्थ मावसेसे, पडिवंधो तेसिमो भवे कप्पो । आयरिए किइकम्मं, अंतर वहिया व वसहीए ॥ २०१५ ॥

मृत्रस्यार्थन्नेर्गृहीतः परमद्यापि 'सावशेषः' न सम्पूर्णः एप तेषां गच्छविषयः प्रतिवन्घो इष्टन्यः । तेषां च 'अयं' वध्यमाणः कल्यः, यथा—आचार्यस्येव 'कृतिकर्म' वन्दनकं तैर्दातव्यं नान्येषां माध्नाम् । तथा यद्याचार्यो न शकोति गन्तुं ततोऽन्तरा वा श्रामस्य वहिर्वा वसतौ यथालन्दिकस्य वाचना ददाति । एतदुत्तरत्र भावयिष्यते ॥ २०१५ ॥ अथ को दोष इति 20 द्वारम् । विष्यः पृच्छति—यद्याचार्याधिष्ठिते क्षेत्रे ते तिष्टेयुस्ततः को दोषः स्यात् ? उच्यते—

नमणं पुन्वन्भासा, अणमणें दुस्सील थप्पगासंका । आयद्व कूकुड त्ति य, वातो लोगे ठिई चेव ॥ २०१६ ॥

यथालन्दिकानां न वर्तते आचार्य मुक्तवा अन्यस्य साघोः प्रणामं कर्तुम्, तथाकल्पत्वात् । ततस्ते क्षेत्रान्तिसिष्ठन्तः पूर्वाभ्यासाद् 'नमनं' प्रणामं साध्नां कुर्युः । गच्छवासिनश्च यथाल-25 न्दिकान् वन्दन्ते, ते पुनर्यथालन्दिकास्तान् भ्यो न प्रतिवन्दन्ते, ततस्तेपामनमने लोको त्र्यान् त्—'दुःशीलाः' शेलस्तम्भकल्पा अमी, येनान्येपामित्यं वन्दमानानामपि न प्रतिवन्दनं प्रयच्छिन्ति, न वा कमप्यालापं कुर्वन्ति । गच्छवासिषु वा लोकस्य स्थाप्यकाशद्धा मवति, अवस्यं स्थाप्याः—दुःशीलस्वादवन्दनीयाः कृता अमी, अन्यथा कथं न प्रतिवन्द्यन्ते !, आत्मार्थिका वा अमी येनाप्रतिवन्दमानानिप वन्दन्ते, 'कोत्कुटिका वा' मातृस्थानकारिणोऽमी लोकपिद्धनिमि-30 चिमत्थं वन्दन्ते । एवं लोके वाद उपजायते । एतेः कारणेः क्षेत्रविस्ते यथालन्दिकासिष्ठन्ति । अपि च 'स्थितिरेव' कल्प एवायममीपाम्, यत् क्षेत्राभ्यन्तरे न तिष्ठन्ति ॥ २०१६ ॥

१ °पां तस्य चा मिथ्या° मो॰ छे॰ विना ॥ २-३ ⁴ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो॰ छे॰ पुस्तकयोरेन ॥
मृ॰ ७४

अधामीयामेव कल्यमाह—

दोति वि दाउँ गमणं, घारणकुसलस्य खेत्तबहि देह । किह्कस्म चोलपहे, जोबग्गहिया निसिद्धा य ॥ २०१७ ॥

आचार्यः मृत्रार्थपोत्रको हे अपि गच्छवासिनां दत्त्वा यथाकिकानां समीपे गमनं करोति । क्ष्याचार्या च तत्र नेप्रान्यं क्रययति । अथाचार्या न छक्रोति तत्र गन्तुं तत्रो यस्त्रमां यथाकिन्-कानां मध्ये व्यागाकुछनः-अववारणाद्यक्तिमान् स क्षेत्रविद्यन्तग पद्धिकायाः प्रन्यासन्ते स्मानं समायाति, तत्र च गत्ता आचार्यनसार्थं ददानि । स च श्रुतमक्तिदेतोगचार्याणां 'कृति-कृमं वन्द्रनकं दत्त्वा चोच्यद्वकिर्ताय आप्रशिद्द्यां निष्यायास्त्रविष्ठश्चार्थं शृणोति ॥२०१७॥

अय ''देंकि वि दाउं गमणें' इत्यावद्वाह—

अत्यं दो व अदाउं, वबह वायावण व अनेणं । एवं ना उद्दब्द, वासामु य काउपुवजाेगं ॥ २०१८ ॥

यग्राचांचां है आर पान्यों दक्ता गर्नु न श्रक्तानि तनोऽर्थमदक्ता, नणन्यश्रक्तां 'हावित' मृत्राणंवदक्ता प्रवनि. अन्येन वा श्रिप्येण सश्चित्यान् 'वाचयनि' वाचनां दास्यिन । अथा- चार्यमत्र गर्नुनशक्तनतो यदालिन्द्र एकः सृद्धिमांग्नायानि । एवं तावद् ऋतुवदे द्रष्ट- १० व्यम् । वर्षामु चश्चकः पुनर्णे वर्षासु पुनर्णे विदेषः— 'ठर्योगं हत्वा' 'कि वर्षे पनिन्यिन न वा १' इनि विसुद्ध्य यदि जानानि पनिन्यिन ननो नाचार्यामां समीप्रमाणिनि, ५ अयं जानानि न पनिन्यित दनः समायति > ॥२०१८॥ अथ गुरुवनत्र गनाः ऋवं मसुद्दिशनिः इत्याद्द

मंत्राही मनोणं, मर्च पाणं च नेह उ गुरुषं । अञ्चर्ष्हं थेरा वा, नो अंतरपहिए एह ॥ २०१९ ॥

शुक्रणां यथलिकसमीरमुस्तनानां योत्यं मकं एतं च गृहीला मङ्घटकः 'मोर्गण' पृष्टतो गन्न तय नयनि । अय यादना कालेन यथाकिक्क्रमामुर्गण्यं गुग्ने वकिन ताबता 'अन्युरानं अर्तावातस्थ्यति 'स्वित्र वा' वर्ष्ट्रक्रवयःप्राप्ताने आचार्यालातोऽन्तरपण्डिक्,यामेको ययाकिन्द्रको बरागास्त्रव्यः समायाति । तत्र गुरवोऽति गन्ना तस्य वाचनां दस्त्रा सङ्घाटकेना- नीतं सक्त-यानं समुद्दिस्य सन्व्यासमये मुख्येत्रमायान्ति ॥ २०१९ ॥

१९ अयान्स्पन्तिमप्ति गन्तुमसमयो गुरवस्ततः क्रिस् ह इन्सह—

अंतर पहित्रममे वा, विद्यंतर वाहि वसमगामस्य । अन्नवमहीएँ तीए, अपर्गमोगिम्म वाएइ ॥ २०२० ॥

श्रन्तर्रा उटाश्चित् इस्मानयोः 'श्रन्तरा' अग्रान्तर्रे गन्ता यमाविन्हं बाचयि । तत्र गन्तरश्चे प्रतिहरस्यामे । अथ तत्राति गन्तं न श्रक्तेति ततः 'विह्यंतर' ति द्वितीयं— अप्रतिहरम-मृत्येश्योर नगळ्ळाणं यदन्तं तत्र गन्ता बाचनां प्रयच्छित । तत्राति गमना-शक्तो 'हरसम्मन्त्य' मृत्येश्वरः बहिविंदने प्रदेशे गन्ता बाचयि । यदि तत्राति गन्तं न प्रमित्यास्तरो मृत्येश्व गृत्रान्यसां वसतो । तत्राति गन्तुमशक्तो तस्तामेव मृत्यम्तावर्यास्मो-

[्]रं ४.% जन्द्रन्तीन, यहः सार पुन्द्र एवं वर्षते ।

25

ग्येऽवकारो वाचयति ॥ २०२० ॥ तत्र चेयं सामाचारी-

तस्स जई किइकम्मं, करिंति सो पुण न तेसि पकरेइ। जा पढइ ताव गुरुणो, करेइ न करेइ उ परेणं॥ २०२१॥

'तस्य' यथालन्दिकस्य 'यतयः' गच्छवासिनः साधवः कृतिकर्म कुर्वन्ति, 'स पुनः' यथाल-न्दिकः 'तेषां' गच्छवासिनां पर्यायज्येष्ठानामि कृतिकर्म न करोति । यावच 'पठित' अर्थहो- पमधीते गुरोरिप तावदेव करोति, परतस्तु न करोति, तथाकल्पत्वात् ॥ २०२१ ॥

अमीपामेव मासकल्पविधिमाह—

एको वा सवियारो, हवंतऽहालंदियाण छ गामा। मासो विभञ्जमाणो, पणगेण उ निद्विओ होह् ॥ २०२२ ॥

यदि गुर्विषष्ठितम्लक्षेत्रस्य विहिरेको म्रामः 'सविचारः' सविक्तरो वर्तते। ४ ईह विचारशब्देन 10 विस्तार उच्यते, ततः सह विचारेण वर्तते यः स सविचारो विस्तीर्ण इत्यर्थः । ⊳

आह च चूर्णिकृत्—सिवयारो ति वित्यिन्नो ।

ततस्तिसन् मामे पर् वीथीः परिकल्प्य यथालन्दिका एकेकस्यां वीथ्यां पञ्च पञ्च दिवसान् भिक्षामटिन्त, तस्यामेव च वीथ्यां वसितमिष गृहन्ति । एवं मितवीथ्या ''पणगेण'' रात्रिन्दिवपञ्चकेन मासो विभज्यमानः सन् पिद्धरहोरात्रपञ्चकेः 'निष्ठितः' सम्पूर्णो मवति । अथ नास्ति 1६
विस्तीणों मामस्ततः ''हवंतऽहालंदियाण छ ग्गामा'' इति मूलक्षेत्रपार्श्वतो ये लघुतराः पद्
मामा मवन्ति तेषु प्रत्येक पञ्च पञ्च दिवसान् पर्यटतां यथालिन्दिकानां तथेव पिद्धरहोरात्रपञ्चकेमीसः परिपूर्णो भवतीति ॥ २०२२ ॥

गतं गच्छप्रतिवद्धयथालन्दिकद्वारम् । अयोपरि दोपा अपवादश्चेति द्वारद्वयमाह-

मासस्सुवरिं वसती, पायच्छित्तं च होति दोसा य । विद्यपदं च गिलाणे, वसही भिक्खं च जयणाए ॥ २०२३ ॥

मासस्य उपलक्षणत्वात् चतुर्णां वा मासानामुपरि यदि वसित तदा प्रायश्चित्तं ठोपाश्च भवन्ति । द्वितीयपदं च 'ग्लाने' ग्लानार्थम् उपलक्षणत्वादिशवादिभिश्च कारणेर्मासस्योर्द्धमप्यवस्थानलक्षणं भवति । तत्र च वसितर्भेक्षं च यतनया ग्रहीतव्यम् ॥ २०२३ ॥

अँथेनामेव निर्युक्तिगाथां विवरीपुः प्रायश्चित्तापत्तिस्थानानि तावदाह—

परिसाडिमपरिसाडी, संथाराऽऽहार दुविह उवहिम्मि । डगलग-सरक्ख-मल्लग-मत्तगमादीण पच्छित्तं ॥ २०२४ ॥ ओवासे संथारे, वीयारुचार वसहि गामे य । मास-चडम्मासाधिगवसमाणे होइमा सोही ॥ २०२५ ॥

सस्तारको द्विधा—परिशाटी अपरिशाटी चै । परिशाटी-तृणमयः ⊲ पॅरिशटति-उत्पाट्य-३०

१ ⁴ > एतदन्तर्गतः पाठ मो० छे० पुस्तकयोरेष ॥ २ मो० छे० विनाऽन्यत्र—अथैनामेय विव-रीपुः त० डे० कां० । अथैतदापित्तस्थानानि प्रतिपादयति—परि॰ मा० ॥ ३ मो० छे० विनाऽ-न्यत्र—च । यस्य परिभुज्यमानस्य किञ्चित् तदन्तर्गतं तृणादि परिशटति स परिशाटी— तृणमयः संस्तारकः, तिद्वप॰ मा० ॥ ४ ⁴ > एतदन्तर्गत. पाठ. त० डे० कां० नास्ति ॥ गतसुपरि टोपा इति द्वारम् । अथ द्वितीयपटं भावयति— वहदोसे वऽतिरित्तं, जइ लब्भे वेज्ज-ओसहाणि वहिं । चउभाग तिभागऽद्धे, जयंतऽणिच्छे अलंभे वा ॥ २०२८ ॥

ग्लाननिमित्तमितिरिक्तमिष काल वसेत्। अथोद्गमादिभिर्दोपर्वहुदोप तत् क्षेत्रं तत उत्पाट्य ग्लानं विहर्गन्तव्यं यदि वैद्यापधानि तत्र लम्यन्ते। अथ ग्लानो विहर्गन्तुं नेच्छित वद्यापधानि व वहिर्ग लम्यन्ते ततोऽनिच्छिति अलाभे वा तत्रव आमे चतुर्भागीकृते त्रिमागीकृतेऽद्धीकृते वा यथायोग वसता भिक्षायां च यतन्ते । इह च यद्यप्युत्तर्गतस्त ग्राममष्टा भागान् कृत्वा यतन्ते, तथा चेत्र सस्तरित ततः सप्त भागान्, एवं यावदेकभागमिष कृत्वा यतन्ते इति पुरस्तावृ (गा० २०३१) वक्ष्यते, तथापि चतुर्भाग-त्रिमागा-ऽद्धिग्रहणं "तुलावण्डमध्यग्रहण"-न्यायेनाष्टभागादीनामिष ग्रहणार्थम् ॥ २०२८ ॥ प्रकारान्तरेण द्वितीयपदमाह— 10

ओमा-ऽसिव-दुहेसं, चडभागादि न करिति अच्छंता। पोरुसिमाईबुद्धी, करिंति तबसो असंधरणे॥ २०२९॥

अवमां-ऽगिव-राजिहिष्टेषु विहः सञ्जातेषु तेत्रव क्षेत्रेऽतिरिक्तमिष कालं तिष्ठन्ति यावद् विहः सुभिक्षादीनि जायन्ते । तच्च क्षेत्रं यदि लघुतरं ततस्तत्र तिष्ठन्तोऽसस्तरणे सित चतुर्भागादि-रचनां न कुर्वन्ति, किन्तु तत्र पारुप्यादितपसो वक्ष्यमाणनीत्या दृद्धि कुर्वन्ति । ⊲ अथ वृह-15 त्तरं तत् क्षेत्रं पृयेते चतुर्भागादिरचनयाऽपि कियमाणं परं तत्राप्यवमादीनि समुत्पन्नानि, तत्रावम तादृशमुत्पन्नं यादृशे चतुर्भागादिपरिपाट्या पर्यटन्तो न सस्तरन्ति, अगिवे भागादृ भागान्तरेषु सङ्कामतामिश्चवं सञ्चरति, राजिहिष्टऽपरापरभागेषु सञ्चरन्तः पकृशीभवन्ति, अतिक्षप्यप्यवमा-ऽशिव-राजिहिष्टेषु चतुर्भागादिरचनामकुर्वन्तः पारुप्यादितपसो दृद्धि कुर्वन्ति । ⊳ तद्यथा—ये पोरुपीपत्याख्यानिनस्ते पूर्वार्द्ध प्रत्याच्थते, ये पूर्वार्द्ध प्रत्याख्यातारस्ते एकागनं प्रत्याख्या-20 न्तीत्यादि ॥ २०२९ ॥ अथ यतनामेव स्पष्टयति—

मासे मासे वसही, तण-डगलादी य अन्न गिण्हंति । भिक्खायरिय-वियारा, जिंहं ठिया तत्थ नऽन्नासु ॥ २०३० ॥

मासे मासे वसतिरन्या तृण-डगलादीनि च पृवेपिरेभुक्तानि परित्यज्य अन्यानि गृहन्ति । यसिश्च भागे मासकरूप स्थितास्तत्रेव भागे तसिन् मासे भिक्षाचर्या विचारम्मि च गच्छन्ति 25 'नान्यासु' भिक्षा-विचारम्मिषु ॥ २०३० ॥ अथ भागकरणस्थेव विधिमाह—

२ एतदन्तर्गतः पाठ त० डे॰ कां॰ नास्ति ॥ ३ मिश्नां वि॰ भा॰ ॥

१ 'अयमं' दुर्मिक्षम् अशिवं वा राजिष्टणं वा यहिः सञ्जातं ततस्तत्रैवातिरिक्तमिष कालं तिष्टन्ति यावद् वहिः सुभिक्षादीनि जायन्ते । तच्च क्षेत्रं यदि लघुतरं ततस्तत्र तिष्टन्तश्च-तुर्भागादिकरपनां न कुर्वन्ति । यदि वा तत्रैव क्षेत्रं अवममशिवं राजिष्टणं वा समुत्पन्नम् , तत्र च ग्लानादिप्रतिवन्धेन स्थिताम्ततोऽअवमोदरिके चतुर्भागादिपरिपाट्या पर्यटन्तो न संस्तरन्ति, अशिवे भागाद् भागान्तरं सद्भामतामशिवं सञ्चरति, राजिष्टणे अपरापरेषु भागेषु सञ्चरन्तः प्रकटीभवन्ति तत्तिस्विप्वपि चतुर्भागादिरचनां न कुर्वन्ति । यत्र चाशिवं भवति तत्र यदि चतुर्थ-पष्टादिकं तपः कर्त्तुं संस्तरणं-सामर्थ्यं नास्ति ततः पौरुष्यादिश-स्वाख्यानस्य द्विद्धं कुर्वन्ति । तद्यथा—भा॰ ॥

अट्टाइ जाव एकं, फरिंनि भागं असंथरे गामं । अट्टाइ चिय वसदी, जयंनि जा मृलवसदी उ ॥ २०३१ ॥

कटाचिद्धे। ऋनुबद्धमानान् स्यानकार्येण स्वानव्यं मंबद् अता प्राममद्देश भागान् कुर्वन्ति । तदः प्रथमेऽप्रमानं वर्मातं तृण-इगलादीनि च गृहन्ति, मानं च यावत् प्रथम एवाप्रमाने अभिवाचयां विचारमृप्तिगमनं च कुर्वन्ति । ततो यदि मध्येमानं पृणं वा मानं रलानः प्रगुणाम्- तन्तनः वृत्ते निर्गानव्यम । अथ न प्रगुणाम्तन्तनः पृणं मानं द्वित्तं येऽप्रमानं तिष्ठन्ति, तत्रा- प्रयम एव विधिमन्तव्यः । एवं तृतीयमप्रमानमादा कृत्वा अप्यममप्रमानं यावद् द्रप्रव्यम् । अथाप्रमिमीगीविभक्ते आमे न संस्तरित तदः सप्तमागीकृत्य त्रयव यनन्ते । एवमप्यनंद्यरणे पद् मागानादा कृत्वा यावदेकमि मानं कुर्वन्ति । एवं वसनीगि प्रथमतः प्रथक् प्रयम् मास- १० कल्प्रमायोग्या अष्टा गृहन्ति । नदमाव सप्त-पद्-पञ्चादिकमण यनन्ते, यावन् तस्यामेव मृल्य- स्ता तिष्ठन्ति ॥ २०३१ ॥ अथावव मङ्कानाह—

इत्यं पुण संजोगा, इकिकस्त उ अलेमें छंमे य । णेगा विहाणगुणिया, तुद्धा-तुद्धेसु ठाणेसु ॥ २०३२ ॥

अत्र पुनः प्रक्रमे 'ण्केकस्य' वसित्तमागस्य मिक्षाचर्यामागस्य वा अलामे लामे च यानि 15तुन्यानि—समानसङ्ग्राकानि स्थानानि अनुन्यानि—विसदृशसङ्ग्राकानि तेषु विधानन—चारणि-काविधिना गुणिनाः सन्नः 'अनेके' चह्नः 'संयोगाः' मक्तका सर्वान्ति । चारणिकाकमध्या-यस्—अष्टा वसन्योऽष्टा सिक्षाचर्याः १ अष्टा वसन्यः सप्त सिक्षाचर्याः २ एवं पद् सिक्षा-चर्याः ३ पद्म सिक्षाचर्याः १ चनन्नो सिक्षाचर्याः ५ तिन्नो सिक्षाचर्याः ६ हे सिक्षाचर्ये ७ एका सिक्षाचर्या ८, एवं सप्त वसन्योऽष्टा सिक्षाचर्याः १ सप्त वसन्यः सप्त सिक्षाचर्याः २ १० इत्यादिचारणिकया सर्वादिसङ्गान्ति वसनिविषयासु प्रत्येक्तमष्टावष्टी सक्तकः प्राप्यन्ते, सर्व-सन्वया लव्या सक्तकानं चनुःपष्टिरिन ॥ २०३२ ॥ अर्थेतन्वेव सक्तकेषु विधिमाह—

एकाइ वि वसहीए, ठिया उ निकलविष्याएँ पयति । वसहीसु वि वयणवे, अवि एकाए वि चरियाए ॥ २०३३ ॥

येषु भक्तकेष्येकेव वसिनः प्राप्यते तेष्येकस्यामी वसता स्थिता भिक्षाचर्यायां प्रयतन्ते, अध्यसमधी भागान् प्रामं विभव्य भिक्षां पर्यटन्ति, असंसर्णे यावदेकमी भागं इत्वेति भावः । अभिन्ने व्यादिसद्याकासु वसित्यु निष्टनः सुतरां भिक्षाचर्यायां प्रयतन्ते इति मृचनार्थः । यत्र स्वेकेव भिक्षाचर्या प्राप्यते तेष्रकस्यामी भिक्षाचर्यायां पर्यटेक्किः एवमेव वसित्यपि यतना कर्तव्या ॥२०३३ ॥ उक्तमप्रवादद्वारस् । नहक्ती च समर्थितं ''पडिलेहण निक्समणे'' (गा० १६५८-५९) हित हारगाथाह्यस् ॥ सृत्रम्—

20 से गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा सपरिकवेवंसि सवाहिरियंसि कप्पड़ निग्गंथाणं हेमंत-गिम्हासु दो

१ टिन्ते एवं मो॰ हे॰ दिना॥ २ इन्यादि द्वा भा॰॥

मासे वत्थए। अंतो इकं मासं, वाहिं इकं मासं। अंतो वसमाणाणं अंतो भिक्खायरिया, वाहिं वस-माणाणं वाहिं भिक्खायरिया २–७॥

अस्य सम्बन्धो व्याख्या च प्राग्वत् । नवरं 'सवाहिरिके' प्राकारवहिर्वितिगृहपद्धतिरूपया वाहिरिकया सहिते कल्पते निर्धन्थाना हेमन्त-ग्रीप्मेषु द्वो मासी वस्तुम् । कथम् ? इत्याह— 5 'अन्तः' प्राकाराभ्यन्तरे एकं मासम् , 'वहिः' वाहिरिकायामप्येकं मासम् । अन्तवंसताम-न्तर्भिक्षाचर्या, वहिर्वसता वहिर्भिक्षाचर्येति ॥

अथ भाष्यविस्तरः---

एसेव कमो नियमा, सपरिक्खेवे सवाहिरीयम्मि । नवरं पुण नाणत्तं, अंतो मासो वहिं मासो ॥ २०३४ ॥

10

'एप एव' प्रथमस्त्रोक्तः क्रमः सपिरक्षेपे सवाहिरिकेऽपि प्रामादो नियमाट् वक्तव्यः । नवरं पुनः 'नानात्व' विदोपोऽयम्—'अन्तः' प्राकाराभ्यन्तरे मासो वहिरपि मास इत्येवं मासद्वयं ऋतुवद्धे स्थातव्यम् ॥ २०३४॥

> पुण्णिम मासकप्पे, वहिया संक्रमण तं पि तह चैव। नवरं पुण नाणत्तं, तणेसु तह चैव फलएसु ॥ २०३५॥

15

आभ्यन्तरे मासकर्षे पूर्णे 'विहः' वाहिरिकायां सङ्गमण कर्तव्यम् । तदिष सङ्गमण 'तथैव' पूर्वसूत्रवद् द्रष्टव्यम् । नवरं पुनरत्र नानात्वं तृणेषु तथा फलकेषु । तत्र यदि वाहिरि-कायामेव तृण-फलकानि प्राप्यन्ते ततस्तत्रेव प्रहीतव्यानि । अथ तत्र तानि न लभ्यन्ते < तंतोऽन्यं प्रामं व्रजन्तु, अथ तत्राशिवादीनि कारणानि ▶ तत आभ्यन्तराण्येव तृण-फलकानि वाहिरिकायां नेतव्यानि ॥ २०३५ ॥ तत्र विधिमाह—

अन्नउवस्सयगमणे, अणपुच्छा नित्थ किंचि नेयन्वं । जह नेह अणापुच्छा, तत्थ उ दोसा हमे होंति ॥ २०३६ ॥

द्वितीये मासकल्पे वाहिरिकायामन्यमुपाश्रयं गच्छद्भिरनाप्टच्छया नास्ति किञ्चित् तृण-फरु-कादि नेतन्यम् । यद्यनाप्टच्छया नयति ततस्तत्रेमे टोपा भवन्ति ॥ २०३६॥

> ताई तण-फलगाई, तेणाहडगाँई अप्पणो वा वि । निर्ज्ञतय-गहियाई, सिद्वाँई तहा असिद्वाई ॥ २०३७॥

25

तानि तृण-फलकानि येन साधूनां दत्तानि तस्य स्तेनाहृतानि वा भवेयुः आत्मसम्बन्धीनि वा । तानि च प्रतिश्रयान्तरं नीयमानानि—प्राप्यमाणानि गृहीतानि वा—नीतानि सन्ति शिष्टानि अशिष्टानि वा भवेयुः ॥ २०३७ ॥ शिष्टा-ऽशिष्टपदद्वयं व्याख्यानयति—

कस्सेते तण-फलगा, सिट्ठे अम्रकस्स तस्स गहणादी। निण्हवइ व सो भीओ, पर्चगिर लोगमुङ्घाहो॥ २०३८॥

30

१ प्रादन्तर्गतः पाठः भा० नास्ति ॥

ततः पृष्टे साधुना च निहुते नृपपुमांसत्तस्य साघोर्महेणं कुर्वन्ति चत्वारो गुरवः । राजपुरुषेः 'त्वं चौरः' इत्युक्त्वा राजकुलाभिमुखमार्क्पणे कृते सित पण्मासा लघवः । अथ ते राजकुलाभिमुखमार्क्पणे कृते सित पण्मासा गुरवः । व्यवहारे प्रारच्ये छेदः । व्यवहते यदि सयतः पश्चात्कृत्वत्ततो मूलम् । उद्यहन-व्यक्तनयोर्द्वयोरनवस्थाप्यः । अप-द्रावण-निर्विपयाज्ञापनयोर्द्वयोः पाराध्विक इति ॥ २०४१ ॥ २०४२ ॥

आह कथं पुनस्तृणानि स्तेनाह्तानि सम्भवन्ति ? इखुच्यते---

दंतपुरे आहरणं, तेनाहड बव्चगादिस तणेसु । छायण मीराकरणे, अत्थिरफलगं च चंपादी ॥ २०४३ ॥

ैस्तेनाहृतेषु तृणेषु दन्तपुरविषयमुदाहरणं वक्तव्यम्, यथा आवश्यके योगसङ्गहेषु "दंत-पुर दंतचके o" (नि० गा० १२८०) इत्यस्यां गाथायां यन्निदर्शनमुक्तम्, तत्र यथा 'दन्ताः 10 केनापि न महीतव्याः' इति राजाज्ञया मितिपद्धत्वाद् धनिमत्रसार्थवाहिमित्रेण दृत्ता दर्भपूरुकेराच्छाद्य मच्छन्नमानीताः ग्नेनाहृताः सवृत्ताः, एवं राज्ञा मितिपद्धानि सम्भवन्ति तृणा-न्यपि स्तेनाहृतानीति । तथ्य वव्यकादिभिस्तृणेग्लीनादीनां छादनं मितिश्रयस्य वा मीराकरणं विधीयते । मीराकरणं नाम—कटेह्रीरादेराच्छादनम्, उपलक्षणमेतत्, तेन मस्तरणार्थमपि तृणानि गृह्यन्ते । फरुकं तु मस्तरणार्थं मीराकरणार्थं या । तच्चास्थिरफरुकं चम्पकपट्टादि गन्तव्यम् । 15 अस्थिरफरुकं नाम—उपविश्तां यद्भो यातीव, तच्चेवंविधं चम्पकपट्टादि ॥ २०४३ ॥

अस्तेनाहृततृणानां नयने दोपानाह—

अतेणाहडाण नयणे, लहुओ लहुया य होंति सिट्टम्मि । अप्पत्तियम्मि गुरुगा, वोच्छेद पसजणा सेसे ॥ २०४४ ॥

अस्तेनाहृतानां तृणानामनाप्टच्छ्य वहिर्नयने रुष्ठको मासः । अपरेण केनापि तस्य 'शिष्टं' 20 कथितं 'त्यदीयानि तृणानि सयतेर्वाहिरिकायां नीतानि' तदा चतुर्रुष्ठ । कथिते यद्यसावनुमृहं मन्यते ततोऽपि चतुर्रुष्ठ । अथाप्रीतिकं करोति तदा चतुर्गुरु । व्यवच्छेदं वा तद्रव्यस्य तस्य साधोर्भ्यः प्रदाने कुर्यात् । ''पसज्जणा सेस'' ति 'शेपाणाम्' अन्येपामप्यशन-पानकादिद्रव्याणा-मपरेषां वा साधूनां प्रसद्भतो दानव्यवच्छेदं कुर्यात् ॥ २०४४ ॥

१ °हणं-गृहीतं तत् फुर्यं भो॰ छे॰॥

२ मो॰ हे॰ विनाडन्यत्र— माकर्षणं कृतं प॰ मा॰ । भाकृष्टे प॰ त॰ हे॰ कां॰ ॥

३ मो० छे० विनाऽन्यत्र—स्तेनाहतेषु चव्यजादित्णेषु दन्तपुरिवपसुदाहरणं वक्तव्यम्, यथा आवश्यके योगसङ्गहेषु "दंतपुर दंतचके" इत्यस्यां गाथायां प्रतिपादितम्। तत्र यथा मा०। आवश्यके योगसङ्गहेषु "दंतपुर दंतचके" इत्यस्यां गाथायां यद् 'आहरणम्' निदर्शनमुक्तम्, तत्र यथा त० छे० का०॥

४ °ित । तानि च किमर्थं साधुभिरानीयन्ते ? इत्याह—ग्लान्दिनां हेतोरुपाश्रयस्य च्छादनार्थं प्रतिश्रयस्य चा मीराकरणार्थम् । मीराकरणं नाम-कटेः पार्श्वाणामाच्छादन-मित्यर्थः, उपलक्षणमेतत्, तेन प्रस्तरणार्थमित्यपि द्रष्टव्यम् । फलकं पुनः प्रस्तरणार्थं भा॰ ॥

25

एसेन गमी नियमा, फलएस नि होह आणुप्रव्नीए । नन्दं पुण नाणचं, चडरो मासा जहन्नपंद्र ॥ २०४५ ॥

एष एव 'रामः' प्रकारः फलेकंक्यि सबलातुम्क्यी यस्तुपेषु ''राणे दिहे सिहे" (गा० २०३९) इत्यादिना सणितः । नवरं मुनन्त्र नानाकं क्यारो साम्रा जवन्यपदे सबित । जब-इत्यपदं नाम-चत्र तृरोषु लहुनातिकसापचेते तत्वानाष्ट्रक्तया बहिनेचनीनि द्रष्ट्य्यम् नत्र पत्लेकेषु चतुर्छेषु ॥ २०४५ ॥ अय साम्रहयादृद्धेसदस्याने देषान् हिनीयपदं चाइ--

होण्हं उन्नरि वसर्ता, पायच्छित्तं च होति दोमा य । विद्यपदं च गिलाण, वमही मिक्क्तं च जयणाए ॥ २०४६ ॥

स्वाहितिक क्षेत्रे हुर्गेनीस्योत्यिरं यदि वसति ददः प्रायक्षितं प्रायुक्तनेव नामञ्ज्ञानयम् , 10 दोगक्ष त एवावसाद्ययाः ये अवाहितिक क्षेत्रे ''मंबासे इत्यिदोस्'' (गा० २०२७) इत्या-दिना इक्ताः । दिनीयग्दं च न्यनविषयं ददेव वक्तव्यम् । तत्र च निष्टता वस्तिर्मैकं च यत्तन्या प्रहीद्यमम् ॥ २०४६ ॥ सूत्रम्—

सं गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा सपरिक्खेवंसि अवाहिरियंसि कप्पड़ निग्गंथीणं हमंत-गेम्हासु दो मासा वस्थए ३-८॥

असापि व्याच्या प्रान्दत्। नदरमदाहिरिके क्षेत्रे करते निर्प्रन्थानां हेमन्द्र-श्रीकेषु हैं। नामी बस्तुनिद्धि ॥ अथ मान्यविनदः—

> एनेव ऋमो नियमा, निग्नंथीणं पि होह नायव्वो । वं एत्यं नाणत्तं, नमहं वोच्छं ननामेणं ॥ २०४७ ॥

१९ 'एए एव' निर्धेन्थमुत्रोक्तः ''एवजा सिक्तारथ' (गा० ११३२) इत्यादिकः ऋमो निय-माद् निर्धेन्थीनामारे जात्र्यो मदति । यत् पुतैः अत्र जिहारद्वारे नान चं तद्वृहं ब्ह्ये समा-सेन ॥ २०१७ ॥ प्रतिज्ञातमेव निर्धोहयति—

निन्तंत्रीणं गणह्नपरूचणा खेचमन्त्रणा चेव । वसही वियार गच्छम्म आणणा वारए चेव ॥ २०४८ ॥ मच्ह्रणाएँ य विद्यां, पहिलाए मिक्खनिन्तमे चेव । निन्तंयाणं मानो, कम्हा नासि दुवे माना ॥ २०४९ ॥

निर्धनीतीं ये गावरः-गळवनीतकतास प्रकृता क्लेक्या । ततः हेक्स संवर्ताणये स्वर्ताणये स्वर्ताणये क्लेक्या । ततः हेक्स संवर्ताणये स्वर्ताणया । ततः विकार । तते विकार । तत्व विकार । त्व विकार

गाथाद्वयसमुदायार्थः ॥ २०४८ ॥ २०४९ ॥

अथावयवार्थं मतिद्वारमारे-

पियधम्मे दढधम्मे, संविग्गेऽवज्ज ओय-तेयस्सी। संगहुवरगेहकुसले, मुत्तत्थविक गणाहिवई ॥ २०५० ॥

प्रियः-इष्टो धर्मः-श्रुत-चारित्ररूपो यख स प्रियधर्मा । यस्तु तसिलेव धर्मे हढो द्रव्य-६ क्षेत्राद्यापदुदयेऽपि निश्चलः स दृढयमां, राजदन्तादित्वाद् दृढणव्दस्य पूर्वनिपातः । संविद्यो हिथा-इत्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतो गृगः. सदैव त्रस्तमानसत्वात् । भावतो यः ससार-भयोद्विगः सन् नित्य पृर्वरात्रा-ऽपररात्रकाले सम्प्रेक्षते—िक मया कृतम् ? किं वा मे कर्तव्यरो-पम् ? किं वा शक्यमपि तप कर्मादिकमह न करोमि ? इत्यादि ।

च तां उद्दिमवासा न शयं लभन्ते ।

10

एवं बुधा ज्ञानविशेषबुद्धाः, ससारभीता न रतिं रुभन्ते ॥ ⊳

''वज्ज'' चिं अकारप्रश्रेपाट् अवधं-पापं ''सूचनात् सूत्रम्'' इति कृत्वा तद्भीरुः-अवद्यभीरुः। ओनः तेजश्च उभयमपि वक्ष्यमाणलक्षणं तद् विद्यते यस्य स ओजसी तेजसी चेति । सङ्गहः-द्रन्यतो वस्त्रादिभिर्भावतः स्त्रार्थाभ्याम् , उपग्रहः-द्रन्यत औपधादिभिर्भावतो ज्ञानादिभिः, एतयोः सयतीविषययोः सद्ग्रहोपग्रहयोः कुगलः-दक्षः । तथा 'सूत्रार्थविद्' गीतार्थः । एवं-15 विधः 'गणाधिपतिः' आर्थिकाणा गणघरः स्यापनीयः ॥ २०५० ॥ अथौजस्तेजसी व्याचष्टे—

आरोह-परीणाहा, चियमंसी इंदिया य पिडपुण्णा। अह ओओ तेओ पुण, होइ अणोतप्पया देहे ॥ २०५१ ॥

आरोहो नाम-शरीरेण नातिदेर्ध्यं नातिहस्रता, परिणाहो नाम-नातिस्थोल्यं नातिदुर्वरुता; अथवा आरोह:-शरीरोच्छ्रायः, परिणाहः-बाहोर्विष्कम्भः, एतौ द्वाविष तुल्यौ न हीनाधिक-20 प्रमाणो । "चियमंसो" ति भावप्रधानत्वाद् निर्देशस्य 'चितमासत्वं नाम' वपुपि पांसुलिका नाव-लोक्यन्ते । तथा इन्द्रियाणि च प्रतिपूर्णीनि, न चक्षुः-श्रोत्राद्यवयवविकलतेति भावः । 'अथ' एतद् आरोहादिकमोज उच्यते, तद् यस्यास्ति स ओजसी । तेजः पुनः 'देहे' शरीरे 'अनप-त्रप्यता' अलज्जनीयता दीप्तियुक्तत्वेनापरिभूतत्वम् , तद् विद्यते यस्य स तेजसी ॥ २०५१ ॥

गतं गणधरप्ररूपणाद्वारम् । अथ क्षेत्रमार्गणाद्वारमाह

खित्तस्स उ पडिलेहा, कायन्त्रा होइ आणुपुन्त्रीए। किं वचई गणहरो, जो चरई सो तणं वहइ ॥ २०५२ ॥

'क्षेत्रस्य' सयतीप्रायोग्यस्य 'आनुपूर्व्यो' ''थुइमगलमामंतण'' (गा० १४६१) इत्यादिना पूर्वोक्तक्रमेण प्रख्येक्षणा गणधरेण कर्त्तव्या । आह 'कि' केन हेतुना गणधरः खयमेव क्षेत्रप्रख-

१ अत्र सा॰ प्रती १५३०० प्रन्याप्रं विद्यते, प्रथमखण्डखास्या अत्र समाप्यते ॥

२ °दाहसुत्तत्थतदुभयविद् ता०॥ ३ ॰ ० एतदन्तर्गतः पाठः मो० छे० पुरुकयोरेव ॥ ४ ति वर्ज्यम् अकारप्रस्ठेपाद् अवद्यं चा~पापं मा०॥ ५ "अधवा 'आरोहो' उपतं 'परिणाहो' वाहूणं विक्लंभो, समचउरससंठाणमित्ययं ।" इति चूर्णो ॥

30

पेक्षणाय त्रजति ? उच्यते—यो वलीवदीदिश्चारिं चरति स एव तृणमारं वहति, एवं यो निर्ध-न्यीगणस्याधिपत्यमनुमवति स एव सर्वमपि तिचन्तामारमुद्रहति ॥ २०५२ ॥

आह संयत्यः किमधै न गच्छन्ति १ इत्युच्यते-

संजङ्गमणे गुरुगा, आणादी संडणि पेनि पिछणया । [उर्व]होमे तुच्छा आसियावणाइणों भवे दोसा ॥ २०५३ ॥

यदि संयत्यः क्षेत्रं प्रस्तुपेक्षितु गच्छन्ति तत आचार्यस्य चतुर्गुरव आज्ञादयश्च दोषाः । यथा 'शृकुनिका' पक्षिणी झ्येनस्य गम्या भवति यथा वा "पेसि" ति मांसपेशिका आम्रपेशिका वा सर्वस्वाप्यमिरुपणीया मवति तथा एता अपि; अत एव ''पेव्हणय'' ति विषयार्थिना प्रयन्ते । तथा तुच्छाताः, ततो येन तेनाप्याहारादिखोमेनोपप्रकोम्य आसियावणम्—अपहरणं तासां क्रियते ।

10 एवमादयो दोषा सवन्ति ॥ २०५२ ॥ इटमेव मावयति--

तुच्छेण वि लोभिज्ञह्, भरूपच्छाहरण नियहिसद्वृणं । णंतिनमंतण वहणे, चेह्य रूढाण अक्तिवरणं ॥ २०५४ ॥

तुच्छेनापि आहार-बलादिना स्री लोम्यते । अत्र च भृगुकच्छप्राप्तेन निकृतिश्राद्वेनोदा-हरणम् । कयम् १ इत्याह—''णंत'' वि वन्नाणि वैर्निमन्नणं कृत्वा 'वहने' प्रवहणे चत्यवन्द-15 नार्धमारुहानां संयतीनां तेन 'आक्षेपणम्' अपहरणं कृतमिति ॥

जहा—भरुअच्छे आगंतुगवाणियओ त्चिनियसहो संबईओ न्दवईओ दृष्ण कवडसहु-चणं पडिवन्नो । ताओ तस्स वीसंमियाओ । गमणकाले पवर्चिणं विन्नवेद्—वहणद्वाणे मंगलद्वा पिंडलाहणं करेमि तो संजर्देओ पहुनेह, अम्हे नि अणुगाहिया होजामो । तओ पहुनिया। तस्य गया कवहसङ्गेणं मण्णंति-पदमं वहणे चेह्याइं वंदह, तो पडिलाहणं करेमि चि । 2) ताओ नाणंति—अहो ! विवेको । तओ चेह्यवंदणस्यमारूटाणं पयट्टियं वहणं, नाव व्यासियावियाको ॥ ॥ २०५४ ॥

एएहिँ कारणेहिं, न कप्पई संलईण पडिलेहा। गंतव्य गणहरेणं, विहिणा जो बण्णिओ पुन्ति ॥ २०५५ ॥

एतेः कारणेः संयतीनां क्षेत्रप्रखुपेक्षा कर्तुं न करुपते । केन पुनर्ताई प्रखुपेक्षणाय गन्त-25 व्यम् १ इत्याह—नन्तव्यं गणघरेण त्रिविना । कः पुनर्तिवि. १ इत्याह—यः पृर्वमेत्रेव मास-कल्पप्रकृते (गा० १४४७-१६२२) स्वविरकल्पिकविहारद्वारे वर्णितः ॥ २०५५ ॥

आह की दशं खेतं - ४ तासां योग्यं गगवेरण :> प्रख्येक्णीयम् ? उच्यते---

जत्याहिवई स्रो, समणाणं सो य जाणह विसेसं। एतारिसम्मि खेच, समणाणं होह पहिलेहा॥ २०५६॥ नहियं दुस्सीलन्गो, तक्कर-सात्रयमयं व नहि नन्यि।

निप्यचनाय खेत्ते, अञ्जाणं होह पहिलेहा ॥ २०५७ ॥

'यत्र' त्रामाद्रौ 'अविपतिः' मोगिकादिकः 'शूरः' चौर-चरटादिमिरनमिमवर्नाय इत्यर्थः, स

६ °कार्या ग° त॰ दे॰ आ॰॥ २ < । एतदन्तर्गतः पाट. मो॰ टे॰ पुसक्षीरेन ॥

च 'श्रमणानां' साध्नां विशेषं जानाति, यथा—ईहरामगीपां दर्शने व्रतम्, ईरशश्च समाचारः । एताहरो क्षेत्रे साध्वीयोग्ये श्रमणानां प्रत्युपेक्षणा भवति, ०० एवंविधं क्षेत्र तासां हेतोः प्रत्युपेक्षणीयमिति भावः ▷ ॥ २०५६ ॥

तथा यत्र दुःशीरुजनः सस्कर-धापदभयं वा यत्र नास्ति ईर्दशे निष्प्रत्यपाये क्षेत्रे आर्थिकाणां प्रायोग्ये प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या भवति ॥ २०५७ ॥ अथ वसतिद्वारमाह—

> गुत्ता गुत्तदुवारा, ग्रुलपुत्ते सत्तमंत गंभीरे । भीयपरिस मद्दविए, ओभासण चिंतणा दाणे ॥ २०५८ ॥

'गुप्ता' बृत्या कुट्येन वा परिक्षिता । 'गुप्तद्वारा' कपाटद्वयोपेतद्वारा । यसां च शय्यातरः कुलपुत्रकः, कथम्भृतः ! 'सत्त्ववान्' न केनापि धोभ्यते, महदपि च प्रयोजनं कर्तुमध्यवस्यति । 'गम्भीरो नाम' संयतीनां पुरीपाधाचरणं दृष्ट्वाऽपि विपरिणामं न याति । तथा मीता—चिकता 10 पर्षद् यस्य स मीतपपद् , आजेकसारतया यस्य भुकुटिमात्रमपि दृष्ट्वा परिवारः सर्वोऽपि भयेन कम्पमानस्तिष्ठति न च कचिदन्याये मृवृत्तिं करोति । मार्द्विम्—अस्तव्यता तद् विद्यते यस्य स मार्दिविकः । एवंत्रिधो यदि कुलपुत्रको भवति ततः "ओभासण" ति सयतीनामुपाश्रयस्यावभापणं कर्त्तव्यम् । अवभापिते च यद्यसान्तुपाश्रयमनुजानीते— ० 'अंनुम्रहो मे, तिष्ठन्तु भगवत्यो यथा-ऽभिमेतं कालमत्र' इति ⊳ ततो भण्यते—"चिंतण" ति यथा सकीयाया दृहितुः स्नुपाया वा 15 विन्तां करोपि तथा यद्यतासामपि प्रत्यनीकादुपर्सगरक्षणे चिन्तां कर्त्तुम्तसहसे ततोऽत्र स्थाप-यामः । स माद्यिकातं करोमि चिन्तां परं कथं पुनरम् रक्षणीयाः ? । ततोऽभिधातव्यम्—यामः । स माद्य—चाढं करोमि चिन्तां परं कथं पुनरम् रक्षणीयाः ? । ततोऽभिधातव्यम्—विकाकिककिणी सहस्तेन परहस्तेन वा दृयमाने रद्येते तथेता अपि यद्यासमानुपैरपरमानुपैर्वा उपद्र्यमाणा रक्षसि तत एता रिक्षता भवन्तीति । यद्येवं प्रतिपद्योपाश्रयस्य दानं करोति ततः स्थापनीयाः । अथाप्रतिपद्यमाने स्थापयन्ति ततश्रत्वारो गुरुकाः ॥ २०५८ ॥

अन्याचार्याभिप्रायेणामुमेवार्थमाह-

भणकुड्डा सकवाडा, सागारियमाउ-भगिणिपेरंता । निष्पचवाय जोग्गा, विच्छित्रपुरोहडा वसही ॥ २०५९ ॥

'वनकुट्या' पक्षप्रकादिमयगितिका, 'सकपाटा' कपाटोपेतद्वारा, सागारिकसत्कानां मातृ-भगिनीनां गृहाणि पर्यन्ते—पार्थतो यस्याः सा सागारिकमातृ-भगिनीगृहपर्यन्ता, गाथायामनु-25 कोऽपि गृहश्च्दोऽत्र द्रष्ट्व्यः, 'निष्प्रत्यपाया' दुर्जनप्रवेशादिप्रत्यपायरहिता, विस्तीण पुरोहढं— गृहपश्चाद्वागो थस्यां सा विस्तीणपुरोहडा, एवंविधा वसतिः संयतीनां योग्या ॥ २०५९ ॥

नासकें नातिद्रे, विहवापरिणयवयाण पिडवेसे । मज्झत्थ-ऽवियाराणं, अक्रुऊहल-भावियाणं च ॥ २०६० ॥

विभवाश्व ताः परिणतवयसश्च—स्वविरिक्षयस्तासाम् तथा मध्यस्थानां—कन्दर्पादिमावविक- 30 लानाम् अविकाराणां—गीतादिविकाररहितानाम् अकुतुहलानां—'संयत्यो भोजनादिकियाः कथं

१ < > एतदन्तर्गतः पाठः मो० छे० पुस्तकयोरेव ॥ २ < > एतदन्तर्गतः पाठः मो० छे० पुस्तकयोः रेव । "अजाणं वसहि देहि । सो भणइ—अणुरगहो मे । ताहे भण्णइ" इति विशेषचूणीं ॥ '

20

कुत्रेन्ति ^२' इति कोतुकवर्नितानाम् भावितानां-साधु-साध्वीसामाचारीवासितानां सम्बन्धि यत् प्रतिवेदम-प्रत्यासत्रगृहं तत्र नासन्ने नातिदृरे संयतीप्रतिश्रयो प्राद्यः ॥ २०६० ॥

अथान्याचार्यपरिपाठ्या गच्यातरसरूपमाह—

मोइय-महत्तरगादी, वहुसयणो पिछओ कुलीणो य । परिणतवओ अमीरू, अणभिग्गहिओ अकुत्हली ॥ २०६१ ॥ कुलपुत्त सत्तमंतो, मीयपरिस भद्ओ परिणओ अ । धर्ममही य विणीओ, अजासेजायरो भणिओ ॥ २०६२ ॥

यो मोगिक-महत्तरादिः 'बहुखननः' बहुपाक्षिकः, तथा 'प्ररकः' पिक्वादीनां स्वगृहे प्रवि-शता निवारकः, कुलीनः परिणतवयाश्च प्रतितः, 'अमीरुः' उत्पन्न महत्यपि कार्ये न विमेति 10 'कथमेतत् कर्तव्यम् १' इति, 'अनिमगृहीतः' आमिप्रहिकमिथ्यात्वरहितः, 'अकुतृह्ली' संयतीनां मोजनादिदर्शने केतिकवर्जितः ॥ २०६१ ॥

यस्तु कुलपुत्रकः 'मत्त्ववान्' न केनाप्यिममवनीयः, 'मीतपर्पत्' प्राग्वत्, 'मद्रकः' शासने बहुमानवान्, परिणतो वयसा मत्या वा, तथा 'धर्मार्थी' धर्मश्रद्धान्तः, 'त्रिनीतः' विनयवान्, एप और्थिकाणा शञ्यातरा मणितस्तीर्थकरः ॥ २०६२ ॥

15 गनं वसतिद्वारम् । अथ विचारद्वारमाह—

र्जणावायमसंस्रोगा, ॲणावाया चेव होइ संस्रोगा । आवायमसंस्रोगा, आवाया चेव संस्रोगा ॥ २०६३ ॥

अनापाता असंछोका १ अनापाता सरोका २ आपाता असंछोका ३ आपाता सरोका चेति १ चतमा विचारमृगयः ॥ २०६३ ॥ एतामु संयतीनां त्रिधिमाह—

वीयारे विह गुरुगा, अंतो वि य तद्यविक्ष ते चेव । तद्दए वि नत्थ पुरिसा, उवेंति वेसिन्थियाओ अ ॥ २०६४ ॥

यदि पुरोहर्ड विद्यमाने संयत्यो प्रामाद् बहिर्विचाँरभुवं गच्छन्ति ततश्चतुष्विपि खण्डिलेषु प्रत्येकं चतुर्गृहकाः प्रायश्चित्तम् । 'अन्तर्गि च' ग्रामाभ्यन्तरे पुरोहडादो आपातासंलोकलक्षणं तृनीयं खण्डिलं वर्जयत्वा देग्पेषु त्रिषु खण्डिलेषु गच्छन्तीनां 'त एव' चत्वारो गुरुकाः । 25 'तृनीयेऽपि' स्रण्डिले यत्र पुरुषा वस्त्राक्षियश्च 'उपयन्ति' आपतन्ति तत्र चत्वारो गुरुकाः । यत्र तु कुलजानां स्रीणामापानो मवति तत्र गन्तव्यम् ॥ २०६१ ॥

आह कि पुन कारणं प्रथमादीनि स्राण्डिजनि तासां नानुज्ञायन्ते ? उच्यन्ते— जनो दुस्मीला राख, वेसिन्थि नपुंस हेट्ट तेरिच्छा । मा उ दिमा पडिजुहा, पहमा विद्या चउत्थी य ॥ २०६५ ॥

³⁰ "जत्तो" ति यस्यां दिशि 'दुःशीलाः' परदारामिगामिन पुरुषा आपतन्ति तथा वेझ्यास्त्रियो

१ ° समृद्धियो वि॰ ता॰ ॥ २ श्रायांणां मा॰ ॥ ३-४ श्रणवा॰ ता॰ ॥ ५ ° समृद्धि ग॰ मा॰ ॥ ६ चत्यारो गुरुकाः । 'अन्तरपि च' श्रामास्यन्तरेऽपि तृतीयमङ्गवर्जे श्रापाता॰ मा॰ ॥ ५ ° काः । श्रामास्यन्तरेऽपि तृतीये स्वण्डिले त्रवेवानुष्ठा यत्र कुल भा॰ ॥

नपुंसकाश्च ''हेट्ट'' ति अधोनापिताः 'तिर्यञ्चश्च' वानरादय आपतन्ति 'सा तु' सा पुनः दिक् प्रथमा द्वितीया चतुर्था च 'प्रतिकृष्टा' निषिद्धा, प्रथमादीनि स्वण्डिलानीत्यर्थः ॥ २०६५ ॥

अयेनामेव निर्युक्तिगाथां व्याच्छे-

चारभड घोड मिंठा, सोलग तरुणा य जे य दुस्सीला। उच्मामित्थी वेसिय, अपुमेस उ इंति उ तदहाँ॥ २०६६॥

'चारभटाः' राजपुरुषाः 'घोटाः' चट्टाः 'मिण्ठाः' गजपरिवर्त्तकाः 'सोलाः' तुरगचिन्तानि-युक्ताः. एवमादयो ये तरुणाः सन्तो दु.शीलाखे प्रथम-द्रितीययोः स्थण्डलयोरनापातत्वादेकान्त-मिति कृत्वा उद्भागकसीपु वा वेश्यासु वा ''अपुमेसु उ'' ति नपुंसकेषु वा पूर्वप्राप्तेषु 'तदर्थ' तेपाम्-उद्भामकसीप्रभृतीनां प्रतिसेवनार्थमायान्तीति। चतुर्थे स्विवले सलोकत्वादेते दुःशीला-दयः सयतीवर्गं पत्र्येयुः संयतीवर्गण वा ते दृश्येरित्रत्यतस्तदिष निषिध्यते ॥ २०६६ ॥

हेद्रउवासणहेउं, णेगागमणिम्म गहण उद्घाही । वानर-मयूर-हंमा, छाला सुणगादि तेरिच्छा ॥ २०६७ ॥

अधस्तादुपासनम् अधोलोचकर्म तद्वेतोर्धोनापितेषु पूर्वप्राप्तेषु 'अनेकेपां' मनुष्याणामधो-रोचकर्मकारापकाणामागमने सति यद्यदीर्णमोहास्ते सयतीर्गृहन्तीति ततो ग्रहणे उड्डाहो भवति । तथा वानर-मयूर-हंसाइछगलाः ग्रुनकादयध्य तिर्यञ्चस्तत्रायाताः सयतीमुपसर्गयेयुः ॥ २०६७ ॥ 15

यत एवं ततः किम् ? इत्यत आह—

जइ अंतो वाघाओ, वहिया तासि तइया अणुनाया । सेसा नाणुत्राया, अजाण वियारभूमीतो ॥ २०६८ ॥

यदि 'अन्तः' ग्रामाभ्यन्तरे 'व्याघातः' पुरोहडादेरभावस्ततो बहिस्तासां 'तृतीया विचारमूमिः' आपाताऽसंरोकरूपाऽनुज्ञाता, तत्रापि सीणामेवापातो त्राखो न पुरुपाणाम् । शेपा विचारभूम-20 योऽनापाताऽसंलोकाचा आर्थिकाणां नानुज्ञाताः ॥ २०६८ ॥

गतं विचारद्वारम् । अथ संयतीगच्छस्यानयनमिति द्वारमाह—

पडिलेहियं च खेत्तं, संजइवग्गस्स आणणा होइ।

निकारणिम मग्गतों, कारणें समगं व पुरतो वा ॥ २०६९ ॥

एवं वसति-विचारभृस्यादिविधिना प्रत्युपेक्षितं च सयतीप्रायोग्यं क्षेत्रम् । ततः संयतीवर्ग- 25 स्यानयनं तत्र क्षेत्रे भवति । कथम् ? इत्याह---'निर्धेकारणे' निर्भये निराबाधे वा सित साधवः पुरतः स्थिताः संयत्यस्तु 'मार्गतः' पृष्ठतः स्थिता गच्छन्ति । कारणे तु 'समकं वा' साधूनां पार्स्वेतः 'पुरतो वा' साधूनामग्रतः स्थिताः संयत्यो गच्छन्ति ॥ २०६९ ॥

१ अधैतदेव व्या° भा०॥ २°काः, अपरे च ये त° भा०॥

३ °स्त्रीर्वेदया वा गृहीत्वा "अपुमेखु जु" त्ति न्युंसकेषु तानि वा गृहीत्वेत्यर्थः आयान्ति । किमर्थम्? इत्याह—'तदर्थं' तेषां प्रतिसेचनार्थमित्यर्थः ॥ २०६६ ॥ भा० ॥

४ "णिकारणे पुरओ सजया ठायंति । शह सव्यओ भयं तो मज्हे तरुणीओ पासे मज्झिमाओ थेरीओ खिश्चाओं थेरा खुरु । स्वयंति । शह सव्यओं भयं तो मज्हे तरुणीओं पासे मज्झिमाओं थेरीओं खुरियाओं थेरा खुरु गा मज्झिमा तरुणा वसम ति, कारणे एयाए विहीए वधित" इति विशेषचूणीं ॥

निष्यच्चाय संबंधि भाविए गणहर्ऽप्यविद्-तद्श्री । नेद्द भए प्रुण मन्त्रेण सद्धि क्रयक्रग्णसिंहनो वा ॥ २०७० ॥

'निष्प्रत्यपाये' उपद्रवामात्र नयतीनां ये 'सम्बन्धिनः' सज्ञानीयाः 'मानिताश्च' सम्यक्षिण-तिजनवचना निर्विकाराः संयनामाः सह गणघर आत्महितीय आत्मनृतीयो वा संयनीर्विविक्षितं ध्येत्रं नयति । अय म्त्रेनादिसयं वर्जने ततः सार्थेन सार्वं नयति, यो वा संयतः कृतकरणः— इएग्राबं कृतास्यासम्तेन सहितां त्यो संयनीमत्र नयति । स च गणघरः स्वयं पुग्तः स्थितो गच्छति, संयत्यम्नु मार्गतः न्यिताः ॥ २०७० ॥ अत्रैव मनान्तरसुपन्यस्य दृषयन्नाह—

उमयहाइनिविहं, मा पेंछ बद्दणि नेण पुर एगे।

नं तु न जुलह अविणय विरुद्ध उमयं च जयणाए ॥ २०७१ ॥

10 एकं सुर्शे हुवतं—उमयं-कायिकी-मंज्ञे तदर्थम् आदिग्रव्दान् परिसन् वा कवित प्रयोग् जन निविष्टम्—उपविष्टं मन्तं संयनं त्रिनीं मा प्रेग्यतु इत्यनेन हेनुना सयन्यः पुरतो गच्छिन्त । अत्राचार्यः प्राह्—'तन् तु' नदुक्तं न युज्यते । कुतः ? इत्याह—पुरतो गच्छिन्तीं तासाम-विनयः माधुषु मङ्गायते, लोकविरुद्धं चवं परिस्फुटं भवति—अहो ! महेलाप्रधानममीषां दर्श-नम् । यत एवमतो मागतः स्थिता एव ता गच्छिन्ति । 'उमयं च' कायिकी-संज्ञार्यं यतन्या 15 कुर्योत् । का पुनर्यतना ? इति चेद् उच्यते—यत्रेकः कायिकी मंज्ञां वा व्युत्मृजति तत्र सर्वे-ऽपि तिष्ठन्ति । तथास्थिताँ व्यान्द द्वा संयन्योऽपि नामतः समागच्छेयुः, ता अपि पृष्टन एव धरीरिचन्तां कुर्वेन्तीनि ॥ २०७१ ॥ गतं गच्छस्यानयनिपिति द्वारम् । अथ वारकद्वारमाह—

जहियं च अगारिजणो, चोक्खन्सृतो सुईसमायारो । कुडम्रहदृह्रण्णं, वारगनिक्खेवणा सणिया ॥ २०७२ ॥

20 'यंग्निश्च' प्रामादा 'अगारीजनः' अविग्निकालोकश्चालमृतः ग्रुचिममाचारश्च वर्तते तत्र वारकप्रहणं निर्श्नम्थामः कर्तव्यम् । अय न क्रुवेन्ति तत्रश्चन्तारा गुरवः, यच प्रवचनोद्धाहादि-कन्तप्रज्ञायते तिविष्णतं प्रायश्चित्तम् । यत एवमतः क्रुटमुग्वे—घटकण्टके श्वश्णचीवरदर्वरकण निहित्तस्य वारकस्य ४ म्बच्छद्रवमृतम्य > निश्चेपणा मणिता मगबद्धिः ॥ २०७२ ॥ एनामेव निर्गेनिकाणां भावपति—

ण्नामेव नियुक्तिगार्था भावयति—

र्थापडिचर्हे उत्रस्तर्पे, उस्तरमपदेण संवनंतीओ । वर्चित् काह्भृमिं, मत्तगहत्या न याऽऽयमणं ॥ २०७३ ॥

उत्मगेपढेन नंयनीमिः बीप्रतिबद्ध उपाथ्ये वन्नव्यमिति इत्वा तत्र संवयन्यो यदा कायिकीम्मिं वनन्ति तदा 'मात्रकहस्ता' वारकं हस्ते गृहीन्वा वनन्ति, यथा तासामगारीणां प्रत्ययो नायने—एताः कायिकी इत्वा पश्चादाचमनं करिष्यन्ति, अहो ! शुचिसमाचारा इति । तत्र च 30 गतास्त्रासामद्रश्चेनीमृता आचमनं न क्ष्येन्ति, स च वारकोऽन्तर्सिः कर्तव्यः ॥ २०७३ ॥

ङ्रतः ? ईत्यत आह—

१ ४.५ एउटन्तर्गतः पाटः मी॰ छे॰ पुन्तक्योरेत्र ॥ २ एनदेच सावः मी॰ छे॰ विना ॥ ३ इति चेद् उच्यते सा॰ ॥

हुन्यं विसुयावेडं, पणगस्त य संभवी अलित्तिमा। संदंते तसपाणा, आवजण तकणादीया ॥ २०७४ ॥

बारकोऽिक्तः सन् ''विस्यावेउं'' विज्ञोपियतुं ''दुवसं'' दुष्करो भवति । अलिप्ते च तत्र पानकमावितत्वात् पनकस्य 'सम्भवः' राग्यूच्छंनं भवति । अलिप्तस्य वारकः पानके प्रक्षिप्ते सित सम्दते—परिगलति । स्यन्द्रमाने च 'त्रसप्राणिनः' कीटिका-मिलकादयः समागच्छेयुः । अ तैतः हि किम् ! इत्यत आह— । ''आवज्ला'' ति यदनन्तकायिक-विकलेन्द्रियेषु सद्वहनादिकमापद्यते तिन्ष्यत्रं प्रायिश्चित्तम् । ''तिष्णार्श्य'' ति ततो वारकात् पानके परिगलति मिलकाः पतन्ति, तासां मसनार्थं गृहकोकिला धावति, तस्या अपि मदाणार्थं मार्जारीत्येवं तर्कणम्—अन्योन्यं प्रार्थनं तदा-दयो दोपा भवेयुः ॥ २०७४ ॥ यत्र पुनः कायिकीमृमो सागारिकं भवति तत्रेयं यतना—

सागारिए परम्मुह, दगसद्मसंफुसंतिओ निर्त्त ।

10

पुलएज मां य तरुणी, ता अच्छ दवं तु जा दिवसी ॥ २०७५ ॥ सागारिके सित पराच्युरीभ्य कायिकी कृत्वा 'नेत्रं' भगमसस्प्रशन्त्यः 'दकशब्दं' पानक-प्रक्षालनानुमापकं कुर्वन्ति । तथा 'तरुण्यः' नियः 'किमत्राग्ति पानकं न चा ?' इति जिज्ञासया मा मलोकन्तामिति हेतोस्तस्मिन् वारके तावद् 'अच्छग्' अकलुपं 'द्रवं' पानकं प्रक्षिपं तिष्ठति यावद् दिवसः, ततः सन्ध्यासमये तत् पानकं परिष्ठापयन्ति ॥ २०७५ ॥

गतं वारकद्वारम् । अथ भक्तार्थनाविधिद्वारमाह—

मंडलिठाणस्तऽसती, वला व तरुणीमु अहिवडंतीमु । पत्तेय कमदभुंजण, मंडलिथेरी उ परिवेसे ॥ २०७६ ॥

यद्यसागारिकं ततो मण्डल्या समुद्दिशन्ति । अथ मण्डलीमृमिः सागारिकवहुला ततो मण्ड-लिखानस्यासित वलाद् वा प्रणयेन तरुणीप्वभिषतन्तीपु तत्रोणिकं कल्पमधः प्रस्तीर्थ तस्योपरि 20 सात्रिक तत्राप्यलावुपात्रकाणि स्थापयित्वा प्रत्येकं कमढकेषु भुक्षते । प्रवर्धिनी च पूर्वाभिमुखा धरि निविशते । तत एका मण्डलिस्थविरा यमलजननीसहोदरा सर्वासामपि परिवेपैयेत्, आत्मनोऽपि योग्यमात्मीये कमढके प्रक्षिपत् ॥ २०७६ ॥

ओगाहिमाइविगई, समभाग करेइ जित्तया समणी। तासि पचयहेर्ड, अणहिक्खद्वा अकलहो अ॥ २०७७॥

25

अवगाहिमं—पकान्नम् आदिशच्टाद् घृतादिकाश्च विकृतीः यावत्यः श्रमण्यतावतः समभा-गान् मण्डिलस्यिता करोति । किमर्थम् १ इत्याह—'तासां' श्रमणीनां प्रत्ययार्थम् , तथा ''अणिहिक्खद्ट' ति 'अनिधिकखादनार्थ' सर्वासामप्यिविर्षमसमुद्देशनार्थम् , अकल्हश्चैवं भवति, असङ्गढं न भवतीत्यर्थः ॥ २०७० ॥ ताश्च समुद्देष्टुमुपविश्चन्त्य इत्यं ह्रवते—

निन्वीह्य एवह्या, व विगइओ लंबणा व एवह्या ।

30

१ प्रवदन्तर्गतः पाठ. मो० छे० पुस्तक्योरेव ॥ २ °पयति, आ° भा० ॥ ३ °क्षिपति भा० ॥ ४ °पमं समुद्देशनं यथा भवतीति भावः, एवं च विधीयमाने 'अकलहः' परस्परम-सङ्गढं न भवति ॥ २०७७ ॥ तास्त्र समुद्दिशन्स इत्थं भा० ॥

संयतो निवारयति । तथापि चातिष्ठति तस्मिन् 'सागारिकः' शय्यातरः 'तंत्रं' उपसर्गे तसुपाल-भते ॥ २०८३ ॥ ऐनागेव निर्युक्तिगाथां भावयति-

> गणिणिअकहणे गुरुगा, सा वि य न कहेह जह गुरुणं पि। सिट्टम्मि य ते गंतुं, अणुसद्दी मित्तमाईहिं ॥ २०८४ ॥

कश्चित् तरुणो विषयलोलुपतया सयतीनामुपद्वं कुर्यात् ततरतत्वणादेव तामिः प्रवर्तिन्याः ध कथनीयम् । यदि न कथयन्ति ततश्चत्वारो गुरवः । साऽपि च प्रवर्त्तनी यदि गुरूणां न कथ-यति तदापि चतुर्गरवः आज्ञादयध्य दोपाः, तसात् कथयितव्यम् । ततः 'शिष्टे' कथिते 'ते' आचार्यास्तरयाविरतकस्य पार्धं गत्वा साभ्वीशीलभङ्गस्य दारुणविपाकतास्चिकामनुशिष्टिं ददिते । यगुपरमते ततः सुन्दरम्, अध नोपरमते ततो यानि तस्य मित्राणि आदिशब्दाद् ये वा त्रात्रा-दयः सजनारतेषां निवेद्य तेः प्रजाप्यते । यदि स्थितस्ततो लप्टम् ॥ २०८४ ॥ 10

> तह वि य अठायमाणे, चसभा भेसिति तहवि य अठंते । अमुगर्देथ घर एजह, तत्थ य चसमा वतिणिवेसा ॥ २०८५ ॥

तथाप्यतिष्ठति तस्मिन् प्रत्यनीके 'चृपभाः' गच्छस्य ग्रुभा-ऽग्रुभकार्यचिन्तानियुक्तास्तं प्रत्य-नीकं भाषयन्ति । तथाप्यतिष्ठति यग्तरुणः कृतकरणः साधुः स संयतीनेपथ्यं कृत्वा तस्य सद्धेनं पयच्छति, यथा--अमुकत्र गृहे यूयमागच्छत । ततो वृपमा त्रतिनीनां वेपं परिधाय तेन 15 साधुना सह तत्र गत्या प्रत्यनीकस्य शिक्षां कुर्वन्ति । तथाप्यनुपञान्ते तसिन् सागारिकस्य निवेद्यते । तेनोपलञ्घो यदि स्थितस्ततः सुन्दरम् ॥ २०८५ ॥

अथ नास्ति तटानीं सिन्निहितः सागारिकस्ततः किं कर्तन्यम् ? इत्याह— सागारिए असंते, किचकरे भोइयस्स व कहिंति।

अण्णत्थ ठाण णिती, खेत्तस्सऽसती णिवे चेव ॥ २०८६ ॥

सागारिके 'असति' असन्निहिते 'कृत्यकरस्य' व्रामचिन्तानियुक्तस्य 'भोगिकस्य वा' ग्राम-सामिनः कथयन्ति । तेन ग्रासितोऽपि यदि नोपरमते ततः सयतीरन्यत्र 'स्थाने' क्षेत्रे नयन्ति । अथ नास्ति सयतीप्रायोग्यमपरं क्षेत्र स्वयं वा संयत्यो ग्लानादिकार्यन्याप्रता न शक्तुवन्ति क्षेत्रा-न्तरं गन्तुं ततः 'नृपस्य' ढण्डिकस्य निवेद्यते, स प्रत्यनीकमुपद्रवन्तं निवारयति ॥ २०८६ ॥ गतं प्रत्यनीकद्वारम् । अथ भिक्षानिर्गमद्वारमभिषित्युराह-25

दो थेरि तरुणि थेरी, दोनि य तरुणीउ एकिया तरुणी। चडरो अ अणुग्घाया, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥ २०८७ ॥

अंत्र गुरुनियोगतश्रृणिरेव लिख्यते—जित दोनि थेरीओ निगण्ळिति मिक्सस ण्का, तरुणी थेरी य जित एका, दो तरुणीओ जित निग्गच्छंति एका, एगा थेरी जित निग्गच्छइ एका, एकिया तरुणी जित निग्गच्छइ एका, तत्राप्याज्ञाढयो दोपाः ॥२०८७॥ कुतः ? इत्याह—30

चउकणां होज रहं, संका दोसा य थेरियाणं पि। क्कट्टिणिसहिता वितिए, तइय-चउत्थीसु धुत्ति ति ॥ २०८८ ॥

रोण्ट्रं वेर्गपं रोषे—रुवं धानकरागीयो होला, गंता य—ित मेत्र केयह द्निविचेय निर्वाचिपाओं १ असंप्रणिज्ञाओं नि काई। नक्षणं येगी य केसी संगज्ञा—कुहिणिसहिया हिंदह, "दिनिए" दि पाने निगमम । दे नक्यांको धृतीको नेमाविज्ञेन । एगा वि देन ष्टुकी मंसाविज्ञह । एगा नक्यां हर्जारज्ञा ॥ २०८८ ॥ यन्तरेते दौषाः नन्सद्यं त्रिषिः— វ

पुरती य समानी या, वेर्गकी मन्त्र होनि नरुणीकी। अहरायणे निग्नमणे, एस विही होह कायच्या ॥ २०८९ ॥

'युग्तः' अप्रतः 'मागेत्रक्ष' ग्रहतः स्वविग सर्वान्त, सव्यमांग पुननकत्यः, पूर्व व्हानः मुम्पूय पर्यटर्नानामुक्ता। वयन्येन तु निष्टः महित पर्यटन्ति, तैत्रेका म्यविग तुग्नः द्वितीयः स्वितं प्रदाः तृतीया त्यां त्यांह्यानी संख्यांग स्नि स्त्री प्रदान । एवम् 'अतिगः 10मने' गृहर्रनिगृहमंत्रेगे 'निर्गमने च' तत एवं निर्गमें एवं विविः क्रियों सर्वति ॥२०८९.॥ क्षतः १ इति नेद् टक्कने—

तिगपादमंकाणिङा, अनकाणिङा य गाण-नक्याणं । अद्योजन्द्रन्योणमण्, त्रीसत्यपंत्रमिकित्या य ॥ २०९० ॥

विद्यादयः प्रवेदन्योऽद्यद्वतीया संदेयुः, श्वान-विद्यानी च 'श्वतंत्रकीयाः' अनिमिण्यानिय 15 महीन्त, उपद्रज्ञनित च शान-गर्गादेषु विद्रमृत्योऽन्योन्यं पान्यमं सुनैदेतः रक्षपं कृषेन्ति, एरामं च सम्बद्ध द्यापणीत्व, विश्वनाश्च स्वा गृहस्त्रहु वेषु प्रवेद्ध-निर्गयदिकाः दियाः हुर्वन्ति ॥ २०९० ॥ यत्र कोष्टतो मनेत् तत्रायं विवि:-

वैरी खोहगदार, नहणी गुण होह नीएँ पाद्रे । विद्य किही ठाइ बहि, पचन्यियनक्वणहाए ॥ २०९१ ॥

एक स्वित् 'केष्टक्स' असरकस्य हारे, दर्का पुनः 'तन्याः' स्वविराया नानिकूरे प्रदेशे, या द्र दिनीया 'किटी' स्विता सा हात्म बहितिष्ठति । क्रिमंत्रम् १ इताह—प्रयर्थ-ए छ-नीकरास समाधेस, याँद की असमी क्रियाद तहा सुनैतेन बाउं क्रिया स निवा-येत ॥ २०५१ ॥

वार्णेन निवह कुछे, मंद्रदीए चरिल अन्नीन ।

औराज निच छोपं, खुझ नत्री आउल महाया ॥ २०९२ ॥

विद्वियति—सद्यानि सम्पाननीयोखनाणि कृष्यति सम्पन् जानन्ति, हत्ता च प्रयमन एव पीरहर्गन्त । 'अन्हें इन्यं' पासरं 'छचुन्ना' समस्या 'चेग्युः' भिटावर्षे पर्यदेखः, मा सुदय-सम्भया प्रदेशे कारकाल्यहारयो देताः। या च 'उदान' कर दिस्यतं हुक्तः संवर्ता सा निस-मेंद के दमालतः क्रोति, "गुज्जं नि तसाः प्रदेशे कुलक्ली सर्वयन्त्रा, 'तरः' 20च्छ्येदिन मा काग्रणीया, 'बाङ्के' देनाकीर्य वहासिब स्वायानिः सहिता सा मिळाती

25

२ मध्ये। एवम् का॰ छ॰ बना ॥

२ जनाकीलें सा निश्नी दिण्डापवितव्या, 'सहाया' हितीया तसा दातव्या, न सहा-यितर्राह्वायाः मनिक्षयाप्तिर्गन्तुं कदाचिद्त्यनुबान्यसिति सावः ह २०१२ ॥ आह कि पुनः कारणं येन विष्ठवृतिकृष्ट्रेन ना भिक्षामर्थीन्त ? इति उच्यते—तियभिद्द मा॰ ॥

हिण्डापनीया ॥ २०९२ ॥ अथ तासां घृन्देन भिश्रादने कारणान्तरमाह— तिप्पभिद् अडंतीओ, गिण्हंतऽनन्निहं चिमे तिनि ।

संजम-द्व्यविरुद्धं, देहिं बरुद्धं च जं द्व्यं ॥ २०९३ ॥

त्रिर्प्रभृतियुन्देन भिक्षागटन्त्यः 'अन्योऽन्यसान्' पृथकपृथामाजने चँग्रव्दः प्रागुक्तकारणापे-क्षया कारणान्तरचोतनार्थः, अमुनि त्रीणि द्रव्याणि मुखेनेव गृहन्ति, तद्यथा—संयमविरुद्धं 5 द्रव्यविरुद्धं देहविरुद्धं च यद् द्रव्यम् ॥ २०९३ ॥ एतान्येव यथाक्रमं प्रतिपादयति—

र्पलिक-लद्भागा, ग्रुग्गक्यं चाऽऽमगोरमुम्मीसं।

संसज्जती उ अचिरा, तं पि य नियमा दुदोसाय ॥ २०९४ ॥

पाँलक्ष्याकं—महाराष्ट्रावे। पसिद्धम् , ल्हायाकं—कोनुम्भयालनकम् , एते अन्योऽन्यं मिलिते सूक्ष्मजन्तुभिः ससज्येते । यच मुद्दऋतम्, उपलक्षणत्यादन्यदपि द्विदंछं तद्यामगोरसोन्मिश्रं 10 सद् अचिरादेव सृक्ष्मजन्तुभिः ससञ्चते, ममकं च नियमाद् द्वी दोषी समाहती द्विदोपं तसी द्विदोपाय भवति, सयमोपचाता-ऽऽत्मोपघातरूपं दोपद्वयं करोतीत्यर्थः ॥ २०९४ ॥

> दहि-तेर्ह्हाई उभयं, पय-सोवीराउ होति उ विरुद्धा । देहस्स विरुद्धं पुण, सी-उण्हाणं समाओगो ॥ २०९५ ॥

दॅधि-तेले आदिशब्दादन्यद्पि 'उभयं' मिलितं सद् यत् परस्परविरुद्धम् , ये च 'पयः- 15 सोवीरे' दुग्ध-काञ्जिके परस्परं विरुद्धे एतद् दृब्यविरुद्धं मन्तव्यम् । देहस्य पुनर्विरुद्धं यः शीतो-ष्णयोर्द्रज्ययोः परस्परं समायोगः । एतानि प्रथवप्रथम्भाजनेषु गृह्यमाणानि न संयमाद्यपघाताय जायन्ते ॥ २०९५ ॥ अपि च-

> न्तिथ य मामागाई, माउग्गामो य तासिमन्भासे । सी-उण्हगिण्हणाए, सारक्खण एकमेकस्स ॥ २०९६ ॥

र्ने च सन्ति तासा मामाकानि कुलानि, निह कोऽपि म्त्रीजनं गृहे प्रविगन्तमीर्प्यया निपे-

१ त्रिप्रभृतयस्ता भिक्षा° गा॰ ॥ २ चशन्दः कारणान्तरद्यो° गा॰ ॥ ३ पालक-° ता॰ ॥

४ पालद्धशाकं महाराष्ट्रे गोह्नविषये च प्रसि° मा॰। "पालकं महरहृतिमए गोह्नविसए य सागो जायइ" इति विशेषचूर्णी ॥

५ °दळमामगोरसोन्मिश्रं सदचिरादेव सृक्ष्मजन्तुमिः संसज्यते, अतस्तदिप च निय-माद् हिदोपाय भवति, संयमा-ऽऽत्मोप^० भा॰ ॥ ६ ° लाई दुव्वे, पय° ता॰ ॥

७ दिध तेलं च प्रतीतम् एतदुभयम् आदिशन्दादपरमि संयुक्तं सद् यत् परस्पर-विरुद्धम्, तथा पयः-दुग्धं सौवीरं-काञ्जिकम् एते अपि परस्परं विरुद्धे गा॰॥

९ भाई मा॰ ॥ ८ ºतायोपकल्प्यन्ते भा॰ ॥

१० न सन्ति 'तासां' संयतीनां मामाकाः—'मा मदीयं गृहं प्रविशत' इत्येवमीर्पालु-तया प्रतिपेधकाः पुरुषाः, आदिशब्दाट् अभीतिकृतोऽपि न सन्ति, 'मात्यामश्च' स्त्रीवर्गः तासाम् 'अभ्यासे' प्रसासत्ती वर्तते स्त्रियः स्त्रीणां विश्वसन्तीति भावः, ततः कोऽपि प्रतिसेचनार्थी कयाचिद्गार्था तरुणसंयतीं प्रजापयेत्, एतैः कारणैः त्रिप्रसृतयः पर्यटन्ति, 'मा चिरं पर्यटितन्यं भविष्यति' अतो दोपान्नमपि गृह्दन्ति, एतं शीतोष्णग्रहणेन संरक्ष-णमेकैकस्याः परस्परं छतं भवति ॥ २०९६ ॥ कथं पुनः शीतमुःणं च गृह्वन्ति ? इति चेद् उच्यते--एगत्थ भा०॥.

घणतीति सादः । सानुष्रानो नाम सनयरित्यया कीवर्तीः, च्छव्ह एवकारार्थः, तैत इदसुक्तं सवति—कीवर्ग एव प्रायण निक्षादायकः, स न तामां संप्रतीनामस्याने कीव्यनम्बन्यमिक इत्य प्रत्यानको वन्ते, अविक्रप्रसृतीनामित प्रयेटन्तिनं सुक्तेनेव सन्त्र-पानं प्रयोगं सवति । कीवी-ष्राप्रदेशेन च संरक्षप्रसेक्ष्णस्याः एरस्पं कृतं सक्ति ॥ २००६ ॥ व्यवं पुनः १ द्व्यत आह—

एतत्य नीयमुद्रिणं, च एतिहं पापनं च एतत्या । दोसीणस्य अनहणे, चिराडणे होजिमे दोना ॥ २०९७ ॥

'ण्क्रत' प्रतिनेह 'शीत' प्रमुद्धि संकं गृह्यित, ण्क्रमिख्याम, ण्क्रत्र य पानवस्, ण्रैतच तिस्यामरम्तीनी बरामारीकते । अथ है प्रयेरतत्त एक्ष्य प्रतिष्टे उप्यो हिनीयत्र तु णानकं प्रदेशिको क्षत्र गृहस्तु १ मात्रकं तु कार्य परिमोक्तं न कर्याने, अयोग्यामध्ये दीपात्रं गृह्यित 10तवा देहविन्दं मवति, अय दोपात्रं न गृह्यित ततो दोपातस्याप्ट्ये चिग्रदेन' विरे प्रयेरन्तीनी तह्यादिक्षतोपसीं कींबेद उद्दीयेत॥२०९०॥तथा चार्सेवार्यं दर्शयत् देवत्रयसहयमाह—

थी पुरिसो थ नपुंसी, वेदी तस्त उ हमे पगारा उ । फुंकुम-द्विगसरिसी, पुरदाहसमी, मवे तहथी ॥ २०९८ ॥

वेदिक्या—क्विदः पुरुष्वेदो महंमक्विदः श्रा निरुष्वेद विविध्सारि यथाक्रमममी प्रकाराः— 15 किविदः इस्कुक्षप्तिस्हरः-कर्राषाप्तितुस्यः, यथा कर्त्याप्तिस्त्वेषण्यासाने न परिस्तृदं प्रक्ष-स्रति न व विद्यायति चलित्रम् उत्थानंदेशेद्दात्यते एवं क्विदेशेऽर्य । पुरुष्वेद्दम्तु द्वाप्तिम-हराः, यथा दवार्षिरम्बनयोगतः सहसेव प्रक्रस्य विद्यायति एवं पुरुष्वेद्दोऽर्य । तृत्रीयो नर्तु-सक्वेदः स पुरुष्ठाहस्यः, यथा हि महानगरहाहे बहिः प्रक्रितः स्वादे वा सुक्ते वा स्वेत्र दीत्यते एवं नर्त्रुस्क्रेदेशेऽर्य विद्यां पुरुष्ठे वा स्वेत्र दीत्यते न चेप्रशास्ति ॥ २०९८ ॥

इत्थं वैदत्रयनदः स्टादक्ये प्रस्टुटकोननामाह—

जह फ़ेंफ़ुमा इमहसेह बिहुया एवमेव थीवेदो ।
दिप्पह अति किहियाण वि, आलिंगण-छे(छं)द्रणाइहिं ॥ २०९९ ॥
यथ एक्जाफिर्विट्टाः स्त् "इस्हसेह" ति देदीयते एवमेव कविदेश्यालिहन-छेद-(च्छन्द)नादिलिक्बीरितः ४ र्सन् "लिहियाय वि" ति ४ स्वितायानित दीयते. वि पुनन्तर्गा-धनान् १ ह्यारिष्ट्यार्थः ॥२०९९॥ आह स्वितायां क्यं वेदोहीयनं सबति १ इति उच्यते— न वशो इन्य पमार्ष, न तबस्मिनं मुखं न परियाशो ।

न बन्ना इत्य पराण, न तबस्मिनं मुर्चे न परियाओं । अवि र्खागस्मि वि वेदे, शीलिंगं मव्वहा रक्क्डं ॥ २१०० ॥

१ वनः विमुक्तं ॥

२ पत्रच जिण्ड्नीनामेत्र प्रयंदन्तीनां भवति । अथ हे प्रयंदतस्तत एक्बोष्णं हितीये च प्रतिप्रहे पानकं गृहीनं तत्रो दोपाकसुन्यादितं तत् कुव गृह्नतु? । अथ यस्मिकेव प्रति-ष्रहे उप्यो गृहीनं तक्व शांतमपि गृह्मित तदा देहिवेद्धं सवति । अथ दोपान्नं न गृह्मित तत्रो दोषाक्रम्याप्रहणे चिरादनं-प्रमृतां वेद्धां प्रयंदनं सवति ॥ २०२७ ॥ तत्र व्यामी दोषा सवेद्यः—श्री पुरिस्तो नाव ॥

३ °नां सबति । यय न॰ दे॰ हां॰ ॥ ४ ८ ४ एनइन्दर्गनः पाटः में० टे॰ एनइन्द्रोरेन ॥

25

न 'वयः' वार्द्धकादिकम् 'अत्र' विचारे प्रमाणम्, न वा 'तपिसत्वम्' अन्ञनादितपःकर्मकारिता, न वा 'श्रुतम्' आचारादिकं सुवद्यवगाहितम्, न वा 'पर्यायः' द्राघीयःप्रव्रज्याकारुरुक्षणः, एतेषु सत्स्विप वेदोदयो भवेदित्यर्थः । अपि च 'क्षीणेऽपि' ० निर्द्ध्येन्धनकरूपे कृतेऽपि ▶ वेदे स्त्रीलिङ्गं सर्वथा रक्ष्यम्, अत एव सीकेवली यथोक्तामार्थिकोपकरणप्रावरणादियतनां करोतीति भावः ॥ २१०० ॥ औह यदि ताः स्नानादिपरिकर्मरहिताः ततः किं कोऽपि ठ
तासु रागं वजित येनेत्थं यतना कियते ! उच्यते—

कामं तवस्सिणीओ, ण्हाणुव्यद्दणविकारविखाओ । तह वि य सुपाउआणं, अपेसणाणं चिमं होह ॥ २१०१ ॥

'कामम्' अनुमतं यथा तपिसन्यः स्नानोद्वर्तनविकारविरतास्तथापि 'सुप्रावृतानां' नित्यमेव वहुभिरुपकरणराच्छादितानाम् 'अप्रेपणानां च' अव्यापाराणाम् 'इदम्' अनन्तरमेव वक्ष्यमाणं 10 शरीरसोन्दर्यं भवति ॥ २१०१ ॥ तदेवाह—

> रूवं वन्नो मुकुमारया य निद्धच्छवी य अंगाणं। होंति किर सनिरोहे, अज्ञाण तवं चरंतीणं॥ २१०२॥

'रूपम्' आकृतिः 'वर्णः' गोरत्वादिः 'युकुमारता' कोमल्स्पर्गता क्रिग्धा च-कान्तिमती छिविः-त्वग् 'अङ्गानां' गरीरावयवानाम् । एतानि रूपादीनि आर्थिकाणां 'सिन्नरोधे' बहूपकर-15 णप्रावरणादो भ्रियमाणानां तपः चरन्तीनामपि भवन्ति, ततो युक्तियुक्ता पूर्वोक्ता तासां यतनेति ॥ २१०२ ॥ गतं भिक्षानिर्गमद्वारम् । अथ निर्मन्थानां मासः कस्मात् तासां द्वौ मासाविति र्ट्वारम् । जिप्यः प्रच्छिति—िक निर्मन्थीनामभ्यधिकानि महावतानि येन तासां द्वौ मासो निर्मन्थानामेकं मासमेकत्र वस्तुमनुज्ञायते र सूरिराह—

जइ वि य महन्वयाइं, निग्गंथीणं न होंति अहियाइं। तह वि य निचविहारे, हवंति दोसा इमे तासिं॥ २१०३॥

यद्यपि च निर्ग्रन्थीना महात्रतानि नाधिकानि भवन्ति तथापि 'नित्यविहारे' मासे मासे क्षेत्रान्तरसङ्ग्रमणे इमे ढोपास्तासा भवन्ति ॥ २१०३॥

मंसाइपेसिसरिसी, वसही खेत्तं च दुछमं जोग्गं। एएण कारणेणं, दो दो मासा अवरिसासु ॥ २१०४॥

मांसादिपेशीसहगी सयती, सर्वस्थाप्यभिरूपणीयत्वात् । तथा तासां योग्या वसतिर्दुर्छभा, क्षेत्रं च तत्प्रायोग्य दुर्छभम् । ततो यथोक्तगुणविकरुषयां वसतौ दोपदुष्टे वा क्षेत्रे स्थाप्यमानानां वहवः प्रवचनविराधनादयो दोपा उपढोकन्ते । एतेन कारणेन तासाम् 'अवर्षासु' वर्षावासं

१ •< ⊳ एतदन्तर्गत पाठ मो० छे० पुस्तकयोरेय ॥

२ आह नन्वेतद्पि चिन्समस्ति यत् छग्नस्थसंयस्योऽप्येवंविधां यतनां कुर्वन्ति, यावता यदि ताः स्नानादिविकाररहितास्ततः किमर्थमित्थं यतना कियते ? उच्यते मा०॥

३ °नाम्' अन्तर्निचसन्यादिभिर्वहु° भा॰ ॥ ४ द्वारं व्याख्यायते । शिष्यः भा॰ त॰ डे॰ ॥ ५ °पा भवन्ति । ए° भा॰ ॥

15

20

विमुच्य हैं। हो मामावेफन यस्तुमनुज्ञायते ॥ २१०४ ॥ थय ह्योरुपरि वसन्तीनां होपान् हितीयपटं चोपदर्शयति—

दोण्हं उचिर वसंती, पायच्छिनं च होंति दोसा य । विद्यपपं च गिलाणे, वसही भिक्तं च जयणाए ॥ २१०५ ॥

ह ह्रियोमीसयोरुपरि वसन्ति तनः प्रायिधित्तं रोपाश्च सवन्ति । हिनीयपदं च ग्छाने वसतिर्मेक्षं च यतनया ब्रहीतव्यम् । भावार्थां निर्यन्थानामिय द्रष्टव्यः ॥ २१०५ ॥ सूत्रम्—

> से गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा सपरिक्षेत्रवंसि सवाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंत-गिम्हासु चत्तारि मासा वत्थए—अंतो दो मासे, वाहिं दो मासे। अंतो वसमाणीणं अंतो भिक्ष्वायरिया, वाहिं वसमाणीणं वाहिं भिक्ष्वायरिया ४-९॥

अस्य ज्याच्या प्राग्वत् । नवरं सन्नाहिरिकं क्षेत्रेऽन्तर्हो मासो विहर्ही मासात्रित्वेवं चतुरो मासान् निर्वर्न्थानां वस्तुं करपन इति ॥ अथ माष्यम्—

> एसेव कमा नियमा, सपरिक्तेवे सवाहिरीयम्मि । नवरं प्रुण नाणत्तं, अंतो वाहिं चउम्मासा ॥ २१०६ ॥

'ण्य एवं' पूर्वसूत्रोक्तः क्रमः नर्वोऽपि नियमात् सपिरक्रेपे नवाहिरिक स्त्रे वयन्तीनां सय-तीनां द्रष्टव्यः । नवरं पुनः'नानात्त्वं' विद्रापोऽयम्—'अन्तः' अभ्यन्तरं 'विहः' वाहिरिकायाम् एवसुमयोश्चत्वारो मामाः पुरणीयाः ॥ २१०६ ॥

> चडण्हं उपरि वसंती, पायच्छित्तं च होति दोसा य । नाणत्तं असईएं उ, अंती यसही वहिं चरह ॥ २१०७ ॥

चतुर्णी मासानामुपरि यदि सवाहिरिक क्षेत्र मंयती वसति तदा तदेव प्रायिश्च त एव च दोपाः द्वितीयपद्रमपि तदेव मन्तद्रम् । 'नानात्व' विशेषः पुनरयम्—वाहिरिकायां वसतेः शस्यातरस्य वा ययोक्तगुणस्य 'असति' अमावे 'अन्नः' प्राकाराभ्यन्तरे "वसहिं" ति वसती प्रवेस्यामेव स्थिता 'विहः' व्यहिरिकायां 'चरति' मिक्षाचर्यामदति ॥ २१०७॥

²⁵ इंद्रमेच स्पष्टयति—

जाग्गवसदीह असदे, तत्थेव ठिया चरिति वाहि त । पुच्चगहिए विगिचिय, तत्ता चिय मत्तगादी वि ॥ २१०८ ॥

विद्दः नयनीयान्याया वसंतरमाव 'नंत्रव' अम्यन्तरोपाश्रये स्थिताः सन्त्या बहिश्चरन्ति, पूर्वगृहीनानि मात्रक्र-तृण-द्दगर्राजनि 'विविच्य' परित्यज्य अपराणि 'तत एव' वाहिरिकाया ²⁰मात्रकादीन्यप्यानेतन्त्र्यानि, न केवर्छ मिक्केत्यपिग्रच्टार्थः, श्चत-संहननादिविषया सामाचारी

१ °हीतं मात्रकं तृण-दराखादि 'ति' मो॰ दे॰ विना॥

क्षेत्र-कारादिविषया च स्थितिः स्थविरकल्पिकानामिव द्रष्टन्या ॥ २१०८ ॥ तदेवमुक्त आर्थिकाणामपि मासकल्पविधिः । अथ शिष्यः प्रक्षयति—

गच्छे जिणकप्पम्मि य, दोण्ह वि कयरो भवे महिद्वीओ । निष्फायग-निष्फन्ना, दोन्नि वि होती महिद्वीया ॥ २१०९ ॥

गच्छ-जिनकल्पयोर्द्वयोर्मध्ये कतरः 'महद्धिकः' प्रधानतरो मनेत् १ । गुरुराह—निष्पादक- 5 निष्पन्नाविति कृत्वा द्वात्रपि महद्धिको भवतः । तत्र गच्छः सूत्रार्धयाहणादिना जिनकल्पिकस्य निष्पादकः अतोऽसो महद्धिकः, जिनकल्पिकस्तु निष्पन्नः—ज्ञान-दर्शन-चारित्रेषु परिनिष्ठित इत्यसो महद्धिकः ॥ २१०९ ॥ एनायेव निर्धुक्तिगाथां भावयति—

दंसण-नाण-चरित्ते, जम्हा गच्छिम्म होइ परिबुड्डी । एएण कारणेणं, गच्छो उ भन्ने महिड्डीओ ॥ २११० ॥

दर्शन-ज्ञान-चारित्राणां यसाद् गच्छे परिवृद्धिर्भवति एतेन कारणेन गच्छो महर्द्धिको भवति ॥ २११०॥

पुरतो व मग्गतो वा, जम्हा कत्तो वि नित्थ पिडवंघो । एएण कारणेणं, जिणकप्पीओ महिह्हीओ ॥ २१११ ॥

'पुरतो वा' विहरिप्यमाणक्षेत्रे 'मार्गतो वा' पृष्ठतः पूर्विवहृतक्षेत्रे यसात् 'कुतोऽपि' द्रव्यतः 15 क्षेत्रतः कालतो मावतो वा प्रतिवन्धस्तस्य भगवतो न विद्यते एतेन कारणेन जिनकल्पिको मह-र्द्धिकः ॥ २१११ ॥ अथ द्वयोरपि महर्द्धिकत्वं दृष्टान्तेन दृर्शयति—

> दीवा अन्नो दीवो, पइप्पई सो य दिप्पइ तहेव । सीसो चिय सिक्खंतो, आयरिओ होइ नऽनन्तो ॥ २११२ ॥

दीपाद् 'अन्यः' द्वितीयो दीपः प्रदीप्यते, स च मौलो दीपत्तथैव दीप्यते, एवं जिन-20 किल्पकदीपोऽपि गच्छदीपादेव प्रादुर्भवति, स च गच्छदीपत्तथैव ज्ञान-दर्शन-चारित्रैः स्वयं प्रदी-प्यते। यद्वा यथा शिष्य एव शिक्षमाणः सन् क्रमेणाचार्यो भवति 'नान्यतः' नान्येन प्रकारेण एवं स्यविरकल्पिक एव तपःप्रमृतिभिर्भावनाभिरात्मानं भावयन् क्रमेण जिनकल्पिको भवति नान्यथा। अतो द्वावपि महद्धिको ॥ २११२॥

अस्येवार्थस्य समर्थनायापरं दृष्टान्तत्रयं दर्शयित निर्शक्तिगाथामाह—

25

दिइंतों गुहासीहे, दोनि य महिला पया य अपया य । गावीण दोन्नि वग्गा, सावेक्खो चेव निरवेक्खो ॥ २११३ ॥

दृष्टान्तोऽत्र गुहासिंहविषयः प्रथमः । द्वितीयो द्वे महिले—एका 'प्रजा' अपत्यवती द्वितीया 'अप्रजा' अपत्यविकला । तृतीयो गवां द्वौ वर्गी—एकः सापेक्षः, अपरो निरपेक्ष इति ॥२११३॥

तत्र गुहासिंहदृष्टान्तं भावयति—

30

सीहं पालेइ गुहा, अविहाडं तेण सा महिह्वीया । तस्स पुण जोव्वणिंम, पञ्जोअणं किं गिरिगुहाए ॥ २११४॥

१ इद्मेव भा° मो॰ हे॰ विना॥ २ °त्रयमाह भा॰ का॰ ॥

25

"अविहाइं" ति देशीमापया वालकं सिंह गुहा 'पालयति' वनमहिप-व्याघादिस्यो रक्षति, तिचिगेतस्य तस्य तेस्यः पत्यपायसम्भवात्, तेन कारणेन गुहा महद्धिका । यदा तु सिंहो यावनं प्राप्तो भवति तदा कि तस्य प्रयोजनं गिरिगुह्या द किश्चिदित्यर्थः, स्वयमेव वनमिह-पाद्यपद्रवादात्मान पालयितुं प्रत्यलीमृतत्वात्, इत्यं सिंहो महद्धिकः ॥ २११४॥

४: अथार्थीपनयमाह—

द्व्यावद्दमाईसुं, क्रुसीलसंसग्गि-अन्नउत्थीहिं । रक्खइ गणीपुरोगो, गच्छो अविकावियं धम्मे ॥ २११५ ॥

गणी—आचार्यः म पुरोगः—पुरम्सरो नायको यस्य म तथाविधो गच्छो गुहास्थानीयः सिंहणावकस्थानीय साधु 'धर्मं' श्रुत-चारित्रात्मके 'अविकोविटम्' अयाप्यप्रवुढं द्रव्यापदि आदि10 ज्ञव्यात् क्षेत्र-काल-भावापत्यु तथा कुणीलाः—पार्श्वस्थाद्यस्तरम्यतीर्थिकवी साढं यः ससर्गस्तत्र च 'रक्षति' विश्रोतसिका-प्रमाद-मिथ्यान्वाद्यपद्रवात् पाल्यति अतो गच्छो महर्द्धिकः । यदा त्वसौ द्विविधेऽपि धर्मे ब्युत्पन्नमतिः कृतपरिकर्मा जिनकल्पं प्रतिपन्नम्तटा स्वयमेवात्मानं द्रव्यापटादिप्विप विश्रोतसिकादिविरहितः सम्यक् परिपाल्यति अतो जिनकल्पिको महर्द्धिकः ॥ २११५ ॥

अथ महेलाइयदृष्टान्तमाह—

आणा-इस्सरियमुहं, एगा अणुभवइ जइ वि बहुतत्ती । देहस्स य संठप्पं, भोगमुहं चेव कालिम्म ॥ २११६ ॥ परवावारविम्रका, सरीरसकारतप्परा निचं। मंडणए विस्वत्ता, भत्तं पि न चेयई अपया ॥ २११७ ॥

द्वयोर्भहेल्योर्भध्ये 'एका' सप्रसवा यद्यपि 'वहुतिष्ठः' अपत्यस्तपनादिबहुव्यापारव्यापृता तथापि 20सा गृहस्तामिनीस्वादाज्ञश्वयंग्रुखमनुमवति, 'काले च' प्रम्ताव देहस्य 'सस्याप्यं' संस्थापनां मोग-मुखमपि च प्रामोति ॥ २११६ ॥

या तु 'अप्रजा' अपस्ता सा 'परव्यापारविमुक्ता' अपत्यादिचिन्तावर्जिता 'नित्यं' सदा घरी-रसस्कारे—मुख्यावनाटी तत्परा—परायणा 'मण्डनके' विलेपना-ऽऽभरणादे। व्याक्षिप्ता सती 'मक्तमिं भोजनमिं 'न चेतयित' न सस्मरित ॥ २११७ ॥ अर्थोपनयमाह—

वैयावचे चोयण-वारण-वावारणासु य बहुसु । एमादीवसरेववा, सययं झाणं न गच्छिम्म ॥ २११८ ॥

यथा सप्रसवायाः खियो बहुच्यापारच्यम्रता भवति तथा गच्छेऽपि यद् आचार्योपाध्यायादिवैयाद्वत्यम् , या च चक्रवालमामाचारी हापयतो नोटना, या चाक्रत्यमितसेवनां कुर्वतो वारणा,
याश्च वहवो वस्न-पात्राद्यत्पाटनिवपया च्यापारणाः तद्वमादिषु यो च्याक्षेपः—च्याकुरुत्वं तसा30 द्वेतोः 'गच्छे' गच्छवासिनां 'सततं' निरन्तरं 'व्यानम्' एकामशुभाध्यवमायात्मकमात्मनो मण्डनकर्लं न मवति । जिनकरिपकस्य तु वयाद्वत्त्यादिच्याक्षेपरहितस्य निरपत्यक्षिया आत्मनो
मण्डनिमव निरन्तरमेव तथा तद् उपज्ञायते यथा मोक्तुमिष स्पृहा न मवति ॥ २११८॥

अथ गोवर्गद्वयदृष्टान्तमाह-

सद्लपोइयाओ, नस्संतीओ वि णेव घेणूओ। मोत्तूण तण्णगाई, दवंति सपरक्तमाओ वि ॥ २११९ ॥ न वि चच्छएस सर्जति वाहिओ नेव वच्छमाऊस । सवलमगृहंतीओ, नस्संति भएण वग्धस्स ॥ २१२० ॥

'धेनवः' अभिनवप्रसूता गावस्ताः 'शार्दूलेन' व्याष्ट्रेण 'पोतिताः' त्रासिताः सत्यो नश्य-न्त्योऽपि 'तर्णकानि' वत्सरूपाणि मुक्तवा 'सपराक्रमा अपि' समर्था अपि 'नैव द्रवन्ति' न शीव्रं परायन्ते, अपत्यसापेक्षत्वात् ॥ २११९ ॥

यास्तु ''वाहिओ'' वप्कयिण्यस्ता नापि वत्सकेषु 'सजन्ति' ममत्वं कुर्वन्ति, नापि 'वत्समातृषु' धेनुषु, किन्तु खवलमगृहमाना व्याघस्य भयेन नश्यन्ति, निरपेक्षत्वात् ॥ २१२० ॥ 10

एप दृष्टान्तः । अधार्थोपनयमाह-

आयसरीरे आयरिय-चाल-चुह्नेसु आवि सावेक्खा। कुल-गण-संघेसुं तहा, चेइयकजाइएसुं च ॥ २१२१ ॥

यथा धेनवस्तथा गच्छवासिनोऽप्यात्मशरीरे आचार्य-वाल-वृद्धेपु अपि च कुल-गण-सङ्घकार्येषु चैत्यादिकार्येषु च सापेक्षाः, अतः ससारन्याघ्रभयेन नश्यन्तोऽपि सहननादिवलोपेता अपि न 15 शीव्रं पलायन्ते । जिनकल्पिकास्तु भगवन्त आत्मशरीरादिनिरपेक्षा अधेनुगाव इव स्ववीर्यमगू-हमानाः ससारन्याघाद् निः भत्यूहं पलायन्ते । यद्येवं तर्हि जिनकल्पो महर्द्धिकतरं इत्यापन्नम्, मैवं वादीः, अनिजैनिजनिरुपमगुणैरुभयोरिप तुल्यकक्षत्वात् । तथाहि—अत्यन्ताप्रमादनिष्प्रति-कर्मतादिभिर्गणैर्जिनकरुपो महार्द्धिकः, परोपकार-प्रवचनप्रभावनादिभिश्च गुणैः स्थविरकरिपको महर्द्धिक इति ⊳ ॥ २१२१ ॥ अपि च-20

> रयणायरो उ गच्छो, निष्फादओं नाण-दंसण-चरित्ते । एएण कारणेणं, गच्छो उ भने महिह्वीओ ॥ २१२२ ॥

रताकर इव रताकरः-जिनकल्पिकादिरतानामुत्पत्तिस्थानं यतो गच्छो वर्तते, निष्पादकश्च ज्ञान-दर्शन-चारित्रेषु एतेन कारणेन गच्छो महर्द्धिकः ॥ २१२२ ॥ इदमेव भावयति—

> रयणेसु बहुविहेसुं, नीणिअंतेसु नेव नीरयणो । अतरो तीरइ काउं, उप्पत्ती सो य रयणाणं ॥ २१२३ ॥ इय रयणसरिच्छेसुं, विणिग्गएसुं पि नेव नीरयणो । जायइ गच्छो कुणइ य, रयणव्भूते वह अने ॥ २१२४ ॥

॥ मासकप्पो सम्मत्तो ॥

२ • ८ > एतदन्तर्गत पाठः मो० छे० पुस्तकयोरेन ॥ ३ यत आह १ °घे य तहा ता॰॥ मो॰ छे॰ विना ॥

न तरीतुं शक्यत इति 'अतरः' रक्षाकरः, स यया बहुविधेषु रेवषु निष्काव्यमानेष्विति वैव 'नीरकः' रक्षविरहितः कर्तु शक्यते, इतः ! इत्याह—यतः 'उत्यति' आकरोऽसी रक्षानाम् । ''इय' अनेनव प्रकारण गच्छग्बाकरोऽपि रक्षमद्वेषु जिनकल्पिकादिषु विनिर्गतेष्विति नेव नीरको जायते, आचार्यादिरकानां सर्वदेव तत्र सङ्गवात्, क्रगेनि च पश्चाद्रिप वहूनन्यान् साधृत् इर्वमृतानिति गच्छो जिनकल्पिकश्च उमावित महर्दिका इति ॥ २१२२ ॥ २१२८ ॥

॥ मानकल्यप्रकृतं नमाप्तम् ॥

चृणि-श्रीबृद्ध भाष्यप्रभृतिवर्द्धनियप्रन्यनायोमिरामा-ऽऽगर्माद्येप्रभुनेरुचितनवित्तेः मृक्तिसारम्यसारः । चेतःपद्दे नियाय सगुरुश्चित्रचन्त्रंसन्तानदृद्ये , श्रीकृत्ये सासकत्पप्रकृतविवरणवर्ग् मर्था निर्मितयम् ॥

॥ प्रन्याप्रम्— १५६०० मृत्यः. ॥

॥ इति श्रीकरेषे प्रथमः खण्डः समातः ॥

र् भा (इति अमुना प्रकार मा० ॥ २ व्हिनियप्र मो० २० हा० ॥ ३ भाद् वास्यप्र मो० हे० ॥ ४ नैस्विरितम द० हे० हाँ० ॥ ५ न्तुमिग्रिनेतेयं, मो० रे० दिन ॥ ६ था मध्योग्या द० हे० हाँ० ॥

॥ वर्हम् ॥ श्रीआत्मानन्दजैनग्रन्थरहामालायामचावधि सुद्रितानां ग्रन्थानां सूची।

प्रन्थनाम	मृत्यम् 🕻
× १ समवसरणस्तवः—तपाआचार्यश्रीधर्मघोपस्रिप्रणीतः सावचूरिकः	0-8-0
× २ क्षुस्रकभवाविस्प्रकरणम्—श्रीधर्मशेखरगणिगुम्फितं सावचूरिकम्	0-१-0
× ३ लोकनालिद्वात्रिंशिकाप्रकरणम्—तपाश्रीधर्मघोपस्रिस्त्रितं सावचूरिकम्	0-7-0
× ४ योनिस्तयः—तपाश्रीधर्मघोपसूरिविरचितः सावचूरिकः	0-8-0
× ५ कालसप्ततिकाप्रकरणम्—तपाश्रीमद्धर्मघोपाचार्यनिर्मितं सटीकम्	०-१-६
× ६ देहस्थितिस्तवः—तपाश्रीधर्मघोपसूरिविहितः सावचूरिकः	
लघ्यल्पयहुत्यप्रकरणं सटीकं च	0-9-0
× ७ सिद्धदण्डिकाप्रकरणम्—तपाश्रीमद्देवेन्द्रसूरिसदृव्धं सावचूरिकम्	0-8-0
× ८ कायस्थितिरतोत्रम्—तपाश्रीकुरुमण्डनस्रितस्त्रितं सावचूरिकम्	o- 7 -0
🗙 ९ भावप्रकरणग्—श्रीविजयविमलगणिविनिर्मितं खोपज्ञावचूर्ण्या समलङ्कृतस्	0-7-0
×१० नवतत्त्वप्रकरणम्—उपकेशगच्छीयाचार्यश्रीदेवगुप्तस्र्रिविहितं नवाङ्गी-	
वृत्तिकारश्रीमद्भयदेवाचार्यप्रणीतेन भाष्येण श्रीयगोदेवोपाध्यायस्त्रितेन	_
विवरणेन च विम्पितम् नवतत्त्वप्रकरणं मूलमात्रं च	०-१२-०
X११ विचारपञ्चाशिका—श्रीजयविमरुगणिगुम्फिता खोपज्ञावचूर्या समेता	0-7-0
×१२ परमाणुखण्डपट्त्रिंशिका पुद्गलपट्त्रिंशिका निगोदपट्र्त्रिंशिका च—	
श्रीरत्नसिंहसूरिविहितयाऽवचूर्या सहिता	०-३०
×१३ वन्धपट्त्रिंशिकाश्रीविजयविमलगणिपणीतयाऽवचूर्या समेता	०—१—०
×१४ श्रावकव्रतमङ्गप्रकरणं सावचूरिकम्—	
X१५ देववन्द्न-गुरुवन्द्न-प्रत्याख्यानभाष्यम्—तपाश्रीमहेवेन्द्रसूरिविहितं	.
	0-M-0
💢१६ सिद्धपञ्चाशिकाप्रकरणम्—तपाश्रीमद्देवेन्द्रसूरिसूत्रितं सावचूरिकम्	०२०
Х१७ अन्नायउञ्छक्तलकम् - श्रीआनन्दविजयगणिकृतयाऽवचूर्या सहितम्	०—२—०
X१८ विचारसप्ततिकाप्रकरणम् — श्रीमन्महेन्द्रसूरिसङ्गलितं श्रीविनयकुशरू- प्रणीतया वृत्त्या समेतम्	° 0-3-0
प्रणातया वृत्या समयप् ×१९ अल्पवहुत्विचारगर्भो महावीरस्तवः—समयसुन्दरगणिगुम्फितया	o ę o
स्त्रोपज्ञावचूर्योपेतः महादण्डकस्तोत्रं च सावचूरिकम्	o- ₹ -ó
X२० पञ्चसूत्रम्—याकिनीमहत्तरासूनुआचार्यश्रीहरिभद्रविनिर्मितया टीकयोपेतम्	° 0–€–0
🔀 २ १ : च्यानानानानानाम्य श्रीजयहोत्वरसरिप्रणीतं संस्कृतपद्यन्धनम्	o-8-o
×२२ रत्नपालनृपकथानकम्—वाचनाचार्यसोममण्डननिर्मितं संस्कृतपद्यबन्धनम्	o_4_o
२३ मन्द्रमञ्जली शोमहिलयसन्सारभणीता '	o-8-o^
२४ मेघदूतसमस्यालेखः—श्रीमन्मेघविजयोपाध्यायविनिर्मितः मेघदूतमहा-	(
कान्यचतुर्थचरणसमस्यापूर्तिरूपः	2-8-6
•	

₹	
प्रनथनाम	मूल्यम्
×५२ चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रन्थाः—	₹-6-6
१ कर्मविपाकः गर्भिपेमहिषेशणीतः पूर्वाचार्यप्रणीतया व्याख्यया	
श्रीपरमानन्दस्रित्त्रितया टीकया चोपेतः	
२ कर्मरतवः—श्रीगोविन्दाचार्यविरचितया टीक्रयोपेतः	
३ वन्यस्वामित्वम् — वृहद्गच्छीयाचार्यहरिभद्रकृतया टीकया समेतम्	
४ आगमिकवस्तु विचारसार्शकरणस्—पडशीतिरित्यपरनामकं श्रीमि	जनव छभगणि
प्रणीतम् आचार्यश्रीमलयगिरिपाटविहितया वृहद्वच्छीयाचार्यहरिभद्रकृत	ाया च टीकय
सहितम् चत्वारः कर्मग्रन्था मृलमात्राः कर्मस्तवमाप्यद्वयं पडर्ज	तिभाष्यं च
×५३ सम्बोधसप्ततिका—नागपुरीयतपागेच्छीयश्रीरत्नदोखरसूरिसङ्गलिता	
श्रीगुणविनयवाचकप्रणीतया व्याख्यया समलङ्कता	0-80-0
🔀 🛪 🛪 अन्य सालाकथा — श्रीरत्न प्रभस्रिपणीता आचार्यदाक्षिण्या इस्त्रित प्राकृत	-
कथानुसारिणीसस्कृतभापात्मका गद्यपद्यमयी	१-८-0
×५५ सामाचारीप्रकर्णम् आराधकविराधक्चतुर्भङ्गीप्रकरण् च—एतहृय	Į-
मपि न्यायविजारेटन्यायाचार्यश्रीमद्यज्ञोविजयोपाध्यायविनिर्मितं	
स्रोपज्ञटीकोपेतम्	0-6-0
×५६ करुणावज्रायुधं नाटकम्—श्रीवालचन्द्रसूरिप्रणीतम्	0-8-0
×५७ <mark>कुमारपालचरित्रमहाकाव्यम</mark> ्—श्रीचारित्रसुन्टरगणिप्रणीतं सस्कृतपद्यमय	म्०-८-०
×५८ महावीरचरियं—श्रीनेमिचन्द्रसूरिविनिर्मितं प्राकृतं पद्यवन्धं च	१-0-0
×५९ के। मुद्दीमित्राणन्द्रूपकम्—प्रवन्धशतकर्तृश्रीरामचन्द्रस्रिणीतम्	०-६-०
×६० प्रबुद्धरौहिणेयं नाटकम्—श्रीरामभद्रस्रिस्त्रितं प्रकरणम्	0-14-0
×६१ धर्माभ्युद्यं छायानाटकं स्कावली च—एतद्दितयमपि श्रीमेघपमा-	
चार्यकृतम्	0-8-0
×६२ पश्चनिर्ग्रन्थीप्रकरणं प्रज्ञापनोपाज्ञतृतीयपदसङ्ग्रहणी च—एत्रहितयमा	पे
नवाजीवृत्तिकारश्रीमटभयदेवाचार्यससूत्रितं सावचूरिकम्	०-६-०
×६२ रयणसेहरीकहा—श्रीजिनहर्पगणिप्रणीता पाकृतभाषामयी गद्यपद्यात्मका	०-६-०
६४ सिद्धप्राभृतं सटीकम्—	0-60-0
×६५ दानप्रदीप:महोपाध्यायश्रीचारित्ररत्नगणिगुम्फितः संस्कृतपद्यात्मकः	२-०-०
<६६ वन्धहेतुटयत्रिभद्भादीनि प्रकरणानि सटीकानि	0-60-0
१ चन्धहेतदयत्रिभङ्कीयकरणम्—श्रीहर्पकुरुगणिपणीतं श्रीविजयविमरु	-
गोणावराचेताववरणापतम्	
२ जघन्योत्कृष्टपदे एककालं गुणस्थानकेषु चन्यहेतुप्रकरणं सटीकम्	
3 जनर्र वाजीवस्थानेत जघन्योत्करपदे यगपद्वन्धहेतप्रकरणे सटीक	र्
४ वन्धोदयसत्ताप्रकरणम् अमिद्धिजयविमलगाणाविहित सविचूरिकम्	
६१० भ्रमेपनीश्चर—श्रीजितमण्डनगणित्रणाती	8-0-0
४६८ सम्बन्धित्वस्थानस्यवस्थामम्—बहत्तपागच्छीयश्रीसमितिरुकसीरीनामित राज	•
सूरिगच्छीयश्रीदेवविजयविरचितया दृत्या समेतम्	4-0-0

	·	
	्रन्थना म	मृत्यम्
६९	चेइयवंद्णमहाभासं — श्रीवान्त्याचार्यप्रणीत सङ्घाचारापरनामकम्	१-१२-०
90	प्रश्नपद्धतिः—नवाङ्गवृत्तिकारश्रीमद्भयदेवाचार्यद्याप्यशीहरिचन्द्रगणि-	
	विरचिता	०–२–०
X98	करपद्भवम् — दशाश्चतःकन्यस्याष्टममध्ययनं श्रीधर्ममागरोपाध्यायस्त्रितया	
•	किरणावस्यान्यया टीकया सहितम्	0-0-0
Ge)	योगद्रीनम्-महर्षिपतञ्जलिपणीतं श्रीमद्यशोविजयोपाच्यायायकृतया वृत्त्योप	तं
• (योगविद्यका च—आचार्यहरिमद्रविनिर्मिता न्यायविद्याग्दोपाध्याय	
	श्रीयज्ञाविज्ञयगणिगुन्भितया टीकया युता	१-८-0
103	मण्डलप्रकर्णम्—विनयकुश्रू व्यापन् सोपज्ञृष्ट्विसहितम्	o-Ę-o
1017	देवेन्द्रयकर्णं नरकेन्द्रकप्रकर्णं च—एनत्यकरणयुगं सुनिचन्द्रम्रि-	•
હજ	द्वन्द्रप्रकरण नरकन्द्रकप्रकरण च—एनतकरणञ्जून छापपन्द्रप्रर सृत्रितया वृत्त्या समेतम्	०-१२-०
	the contract of the contract o	
७५	चन्द्रवीरग्रुमा-धनधर्म-सिद्धद्त्तक्षिष्ठ-सुसुद्धनृपादिमित्रचतुष्केतिकथा	
	चतुष्ट्यम् — तपागच्छालङ्कारश्रीमुनियुन्द्रसमुरियणीतं सस्कृतपद्यात्मकम्	0-88-0
७६	जनमेघदृतकाव्यम्—अञ्चलगच्छीयाचार्यश्रीमस्तुङ्गपर्णातं श्रीगीलस्त-	
	सुरिविहित र्दाकोपेतम्	२०-
છછ	श्रावकथर्मविधिप्रकरणम्-हरिमद्रस्रिकतं मानदेवस्रिकृतवृत्त्युपेतम्	0-6-0
	गुरुतत्त्वविनिश्चयःन्यायविशारद्न्यायाचार्यश्रीमद्यशोविजयोपाध्याय-	
	विनिर्मितः स्त्रोपज्ञरीकोपेतः	₹00
७९	एन्द्रस्तुतिचतुर्विंगतिका-न्यायाचार्यशीयगोविजयोपाघ्यायविरचिता	-
	सोपज्ञविवरणयुवा परमच्योतिःपश्चविद्यतिका परमान्मपश्चविद्यतिका	
	श्रीविजयप्रमस्राध्यायं ऋपमदेवस्तवनं च	0-8-0
८०	वसुदेवहिण्डियथमखण्डम् — श्रीसञ्चनस्वाचकविरचितम्, पाकृतसाहित्य	_
	स्यापृर्वः माचीननरोऽयं ब्रन्यः, वसुदेवपरिश्रमणतिवृत्तगर्भितः, प्रथमाऽञः	3-6-0
د ۶	वसुद्वहिण्डिप्रथमखण्डम् — श्रीसद्वदासगणिवाचकविरचितः हिर्तायोंऽजः	3-/-0
	च्हत्फल्पस्त्रम् — श्रुतकेनिरुस्रविरायमह्नाहुस्रामिप्रणीतं स्रोपज्ञनिर्धुक्तरा	
•	टासगणिविनिर्मितन माप्यण युतं आचार्यश्रीम्ख्यगिरिपाडविहितयाऽर्धपी	
	नगर्यायम्बर्धानस्य स्थितः स्थानस्य स्य स्थानस्य स्य स्थानस्य स्य स्थानस्य स	।।८का <u>इ</u> स्या
/3	तपाश्रीवेमकीर्तिगृरिसृत्रितया दोपसमग्रवृत्त्या समतम् तस्यायं पाठिकारूपः	प्रथमा ऽशः
٠٩	बृहत्कल्पसूत्रम् — सनिर्युक्तिमाप्यवृत्तिकम् तत्सायं प्रथमोद्गकः प्रलम्बप्रकृत प्रकृतात्मको हिनीयोऽद्यः	-मासकरूप-
∠ 13		
C	नव्यकर्मग्रन्थचतुष्टयम् —श्रीमद्वेन्द्रस्रिप्पणीतं स्वीपज्ञटीकोपतम्	
~	× एतिचहिंद्विता त्रन्याः सम्प्रति न विद्यन्ते ।	
7	सुद्यमाणा प्रत्थाः	
	सुद्धमाणा प्रत्थाः — <mark>ब्हेत्कृत्प्पृत्रम् — सनि</mark> येक्तिमाप्यवृत्तिकम् तृतीयौंऽञ्चः १। वस्यत्वतिकित्वतिकारणाच्यः स्वर्णाः————————————————————————————————————	
9	<u>ा न्याराल्य अस्तान्य अस्तान्य महत्त्र</u>	ामखण्डापर-
	नामक्रम प्रथमांड्य.	